राजनीति शास्त्र

प्रथम भाग



आशीर्वादम्

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186785

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No H320·1/E26R Accession No H 2950
Author पुडी आमी. वि. ह.
Title राजनीति - शास्त्र / 1958
This book should be returned on or before the date last marked below.

राजनीति-शास्त्र

राजनीति-शास्त्र

प्रथम भाग

एडी आशीर्वादम्, पी-एच० डी०

लखनऊ
दि अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड
१९५८

सातवां अंग्रेजी संस्करण १९५८

प्रथम हिन्दी संस्करण १९५३
द्वितीय हिन्दी संस्करण १९५४
तृतीय हिन्दी संस्करण १९५७
चतुर्थ हिन्दी संस्करण १९५८

अनुवादक
नरोत्तम भार्गव

सर्वाधिकार सुरक्षित

Checked 1969

मुद्रक
दि अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड
लखनऊ

अनुवादकीय

डॉ० आशीर्वादम् के ग्रन्थ 'पोलिटिकल थ्योरी' ने विद्यार्थी-वर्गको जितना ज्ञान-लाभ दिया है, लेखकको उतना ही सम्मान-लाभ। यह ग्रन्थ उनकी महान् प्रतिभाका अच्छा प्रतिबिम्ब है। भारतीय विश्वविद्यालयों ने तो उन्हें आदरके साथ निमंत्रित किया ही; संयुक्त राज्य अमरीकाके बोस्टन विश्वविद्यालय ने भी वर्षों तक उन्हें प्रोफ़ेसरके पद पर सुशोभित करके अपनी गुण ग्राहकताका परिचय दिया। अत्यन्त विद्वान् होनेके अतिरिक्त डॉ० आशीर्वादम् एक आदर्श व्यक्ति भी हैं। जो उनके सम्पर्कमें आये हैं उन्हें उनकी महत्ताकी अनुभूति है। स्वतंत्र चिन्तन और सादा जीवन उनके स्वभावके अंग बन गये है। 'पोलिटिकल थ्योरी' में उन्होंने विषयोंका विवेचन किया है; विषय पर विद्वानोके मत देकर उनकी सत्यताको तर्कसे नापा है और फिर स्वयं अपने निर्णय किये है। इस ग्रन्थकी शैली सामान्य भारतीय पाठ्य पुस्तकोंकी शैलीसे भिन्न है क्योंकि इसका उद्देश्य परीक्षामें उत्तीर्ण कराने तक सीमित नहीं है। महान् विचारकोंके सम्पर्कमें आकर विद्यार्थी भी स्वतंत्र चिन्तनमें विश्वास करने लगें और 'स्वयंसिद्ध' के बजाय 'तर्क सिद्ध' को आदत डालें, यही इस पुस्तकका लक्ष्य है। महान् चिन्तकोंकी शैलीका अनुकरण करके हम भी महान् हो सकते हैं। मौलिकता ही महान् विचारकोंकी शैली है वह हमारी भी हो सकती है।

७०० से अधिक पृष्ठोंके इस ग्रन्थका अनुवाद करना सरल कार्य नही था। प्रत्येक वाक्य लिखनेके पहले यह सोचा गया है कि क्या इससे सरल भाषामें भी यह भाव व्यक्त हो सकता है। यदि हाँ तो उसे दुबारा लिखा गया है। कहाँ तक सफलता मिली है यह तो पाठक ही बतायेंगे। यह जरूर कहना चाहूँगा कि प्रेमचन्द की भाषामें राजनीति-शास्त्र नहीं लिखा जा सकता क्योंकि यह एक विज्ञान है। पारिभाषिक शब्दोंकी उपस्थितिसे ही कुछ तो भाषा कठिन लगने लगती है और विषयकी गहनता भी भाषाको क्लिष्ट बनाती है। अंग्रेजी पढ़नेके अभ्यस्त पाठकोंको हिन्दी पुस्तकें इसलिए कठिन लगती हैं क्योंकि वह अंग्रेजीके शब्दों और मुहावरोंके अभ्यस्त हो चुके होते हैं और हिन्दीके प्रत्येक शब्दको उन्हें फलांगना पड़ता है। फिर भी मुझे दृढ़ विश्वास है कि प्रस्तुत अनुवाद कठिन नही प्रतीत होगा। अनुवाद, अनुवाद न जान पड़े यह बहुत आवश्यक है; इसकी बड़ी चेष्टा की गयी है। मुद्रणके लिए देनेसे पहले पाण्डुलिपिको अच्छी तरह दोहराया गया है। यदि कोई विद्वान् अनुवादको अच्छा

बनानेमें मुझे सहायता दे सकें तो अवश्य लिखें। उचित पारिश्रमिक देकर साभार मैं उनके सुझावोंसे हिन्दी संस्करणको लाभान्वित करूँगा।

—नरोत्तम भार्गव

१ अक्टूबर, १९५८

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

१. राजनीति-शास्त्र का स्वरूप, विस्तार और पद्धतियाँ (The Nature, Scope and Methods of Political Science) १-२१

पारिभाषिक शब्दावली १, राजनीतिक चिन्तनका महत्त्व ५, राजनीति-शास्त्रका विस्तार और अन्य शास्त्रोंसे सम्बन्ध ६, राजनीति-शास्त्रकी पद्धतियाँ १५।

२. राज्य का स्वरूप (The Nature of the State) २२-४४

राज्यकी परिभाषाएँ २३, राज्य, समाज, सरकार, राष्ट्र और राष्ट्रीयतामें भेद २४, राज्यके सम्बन्धमें एक तरफ़ा या भ्रामक विचार २९, राज्यकी स्पष्ट यथार्थ व्याख्या ३३, राज्यके मूल तत्त्व ३६, राज्यका जैविक सिद्धान्त ३८।

३. राज्य की उत्पत्ति (The Origin of the State) ४५-६५

राज्यकी प्रारम्भिक या प्रागैतिहासिक उत्पत्ति ४५, दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त ४६, सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त ४९, शक्ति-सिद्धान्त ५५, पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक सिद्धान्त ५७, ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त ६१।

४. राज्य का ऐतिहासिक विकास (The Historical Development of the State) ६६-७८

राज्यका उदय ६६, यूनानके नगर राज्य ६७, रोमका विश्व साम्राज्य ६८, सामन्तिक राज्य ७१, आधुनिक युगका राष्ट्रीय राज्य ७३, विश्व संघ ७५, राज्यके विकासकी सामान्य रूप रेखा ७६।

५. हॉब्स, लॉक और रूसो का सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त (The Social Contract Theory of Hobbes, Lock and Rousseau) ७९-१००

प्राकृतिक अवस्था और प्राकृतिक नियम ७९, अनुबन्धका स्वरूप ८१, सम्प्रभुता ८३, राज्य और सरकारके प्रकार ८६, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अधिकार सिद्धान्त ८८, हॉब्स, लॉक और रूसो के सिद्धान्तोंमें सत्यका अंश ९०, लोक सम्मतिका सिद्धान्त ९३।

६. राज्य का उद्देश्य और औचित्य (The End and Justification of the State) १०१-१२१

अराजकतावादी दृष्टिकोण १०२, धार्मिक दृष्टिकोण १०४, शक्ति-सिद्धान्त १०५, अनुबन्ध-सिद्धान्तका दृष्टिकोण १०७, उपयोगितावादी दृष्टिकोण १०९, संगठनकी आवश्यकता ११०, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण १११, आदर्शवादी दृष्टिकोण १११, राज्यका उद्देश्य ११४, राज्य साध्य है या साधन ११८।

७. राज्य का उचित कार्य-क्षेत्र (The Proper Sphere of State Action) १२२-१४९

व्यक्तिवादी सिद्धान्त १२३, समाजवादी सिद्धान्त १३१, व्यक्तिवादी और समाजवादी सिद्धान्तोंका मूल्याकन १३३, आदर्शवादी सिद्धान्त १३४, गांधीवादी अर्थनीति १३९, अन्य सिद्धान्त १४२, सार्वजनिक कल्याण १४२, राजकीय कार्योंका वर्गीकरण १४७।

भारत में सामाजिक विधान-निर्माण (Social Legislation in India) १५०-१५५

समाजका समाजवादी स्वरूप १५४।

समाजवाद का मूल्यांकन (Appreciation of Socialism) १५६-१६४

समाजवादकी अनेकरूपता १५६, परिभाषा १५७, समाजवादी विचारोंका विकास १५७, समाजवाद तथा अन्य व्यवस्थाएँ

१५८, समाजवादसे लाभ १५९, समाजवादकी कठिनाइयाँ १६०, समाजवादका महत्त्व १६२।

८. अधिकार-सम्बन्धी सिद्धान्त (Theories of Rights) १६५-१८३

नैसर्गिक-अधिकार सिद्धान्त १६६, वैधानिक अधिकार सिद्धान्त १७२, अधिकारोंका ऐतिहासिक सिद्धान्त १७६, अधिकारोंका सामाजिक कल्याण या सामाजिक कार्यसाधन सिद्धान्त १७७, अधिकारोंका आदर्शवादी या व्यक्तिपरक सिद्धान्त १७९।

९. विशिष्ट अधिकार (Particular Rights) १८४-२३०

जीवनका अधिकार १८४, स्वतंत्रताका अधिकार १९२, स्वतंत्रताके विभेद १९४, स्वतंत्रता और सत्ता १९८, स्वाधीनता और कानून २००, स्वतंत्रता और समानता २०१, स्वतंत्रताका राजकीय नियमन २०३, सम्पत्तिका अधिकार २२२।

१०. सम्प्रभुता (Sovereignty) २३१-२५१

सम्प्रभुताकी परिभाषा २३१, सम्प्रभुताकी विशेषताएँ २३३, सम्प्रभुताके विभिन्न अर्थ २३६, सम्प्रभुताकी स्थिति २४०, जॉन-आस्टिन का सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त २४३।

११. राज्यों तथा संविधानों का वर्गीकरण (Classification of States and Constitutions) २५२-२७१

राज्योंका वर्गीकरण २५२, संविधानोंके स्वरूप तथा परिभाषा २५९, संविधानोंके भेद २६१, एकात्मक तथा संघात्मक राज्य २६५, प्रसन्धान २७०।

१२. सरकार का संगठन (Organization of Government) २७२-३५७

कार्यपालिका २७२, मंत्रिमण्डलीय, संसदीय अथवा उत्तरदायी कार्यपालिका २७८, अध्यक्षात्मक कार्यपालिका २८०, एकात्मक तथा बहुल कार्यपालिका २८२, कार्यपालिकाकी शक्ति और कर्त्तव्य २८४, प्रशासकीय-सेवा २८९, विधान-मण्डल ३०३,

विधान-मण्डलका संगठन ३०६, विधान-मण्डलकी शक्तियाँ और उसके कर्त्तव्य ३११, निर्वाचक मण्डल ३१७, मताधिकार के सिद्धान्त ३२२, राजनीतिक दल ३२९, न्यायपालिका ३३५, शक्तियोंके पृथक्करणका सिद्धान्त ३५०।

१३. लोकतंत्र (Democracy) ३५८-३९५

लोकतंत्र पर पुनर्विचार ३५८, लोकतन्त्रका अर्थ ३६०, लोकतंत्र के समर्थनमें शास्त्रीय तर्क ३६४, लोकतंत्रके विरुद्ध तर्क ३६८, लोकतन्त्रकी आलोचनाओंका मूल्यांकन ३७४, लोकतंत्रके सफल संचालनकी शर्तें ३८५, लोकमत पर टिप्पणी ३८८।

१४. स्थानीय स्वशासन (Local Self Government) ३९६-४०६

स्थानीय स्वशासनका अर्थ ३९६, स्थानीय स्वशासनका महत्त्व ३९८, स्थानीय शासनका ढाँचा ४०१, स्थानीय शासनके कार्य ४०४।

१५. लोक-कल्याणकारी राज्य (Welfare State) ४०७-४१२

कल्याणकारी राज्यका अर्थ ४०७। कल्याणकारी राज्यकी विशेषताएँ ४१०, भारत और कल्याणकारी राज्यकी धारणा ४१२।

१

राजनीति-शास्त्र का स्वरूप, विस्तार और पद्धतियाँ

(The Nature, Scope and Methods of Political Science)

राज्य और शासनकी समस्याओंका अध्ययन करनेवाले विज्ञानको राजनीति-शास्त्र कहते हैं। पाश्चात्य देशोंकी राजनीतिक विचारधाराका प्रारम्भ प्राचीन यूनानके नगर-राज्योंसे हुआ था। वैसे तो पूर्वके लोग यूनानियोंसे भी पहले राज्य और उसकी समस्याओं पर विचार करने लगे थे, पर उनकी विचारधारामें शुद्ध राजनीतिके अतिरिक्त धर्म, पुराण और अन्धविश्वासका समावेश था, इसलिए पूर्वमें राजनीतिक विचारधाराका विकास विशुद्ध राजनीति-शास्त्रके रूपमें नहीं हो सका। राजनीति और धर्म इतना अधिक परस्पर घुले-मिले थे कि राजनीतिको अलग करके उस पर विचार ही नहीं किया गया। फल यह हुआ कि इसे एक स्वतन्त्र विज्ञानके रूपमें विकसित करनेका प्रयत्न न हो पाया। राजनीति ही नहीं, समूचे समाज-शास्त्रको धर्म-शास्त्रका अंग समझा जाता था। यूनानियोंने ही सबसे पहले राजनीति-शास्त्रको धर्म-शास्त्र, अन्ध-विश्वास और पुराणोंसे अलग करके शुद्ध और व्यवस्थित विज्ञानके रूपमें विकसित किया। अपने युक्तिसंगत (rational) और सामाजिक दृष्टिकोणके कारण, यूनानी इस कामके लिए उपयुक्त भी थे।

पूर्वमें हिन्दुओंने आरम्भसे ही राजपद, ग्राम-गणतन्त्र, सरकार, शासक और शासितके विषयमें बहुत अधिक सोचा और विचारा है। पर इन सब विषयोंको मिलाकर भी सम्पूर्ण राजनीति-शास्त्र नहीं बन पाता। पूर्वके प्रसिद्ध विचारक चीनके कन्फ्यूशियस और भारतके कौटिल्य (चाणक्य) ने राज्य-सिद्धान्तकी अपेक्षा शासन-कलाके विषयमें कहीं अधिक सोचा-विचारा है।

पारिभाषिक शब्दावली (Terminology)

राजनीति-शास्त्रका अध्ययन आरम्भ करते ही हमारे सामने राजनीति, राजनीति-शास्त्र और तुलनात्मक सरकार जैसे शब्दोंके शुद्ध, सटीक अर्थ-ज्ञानकी कठिनाई आती है। इन शब्दोंके ठीक अर्थ जाने बिना हम राज्य-सम्बन्धी समस्याओंका अध्ययन ठीकसे नहीं कर सकते। यद्यपि राजनीति-विज्ञानका प्रारम्भ यूनानके प्राचीन इतिहासमें है, तथापि अपने वर्त्तमान रूपमें यह एक आधुनिक विज्ञान है। इसलिए

अभी इस शास्त्रकी एक निश्चित पारिभाषिक शब्दावलीका निर्माण नहीं हो पाया है। ऐंग्लो-सैक्सन देशोंकी अपेक्षा फ्रांस और जर्मनीमें यह शब्दावली अधिक पूर्ण है।

१. राजनीति (Politics)

पहलेके लेखकोंने समूचे राज्य-विज्ञानके लिए पॉलिटिक्स या 'राजनीति' शब्द का प्रयोग किया है। इस विषय पर अरस्तू के महान् ग्रन्थका नाम ही 'पॉलिटिक्स' अर्थात् 'राजनीति' है। यह शब्द ग्रीक भाषाके 'पोलिस' (Polis) अर्थात् नगर-राज्य और 'पॉलिटिया' (Politeia) नामक शब्दोंसे बना है। यूनानियोंके विचारसे 'पॉलिटिक्स' या राजनीतिमें राज्य से सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातोंका समावेश हो जाता है। जेलिनेक, हाज़ेनडार्फ़ और सिजविक आदि एक पीढ़ी पहलेके लेखक आजकल प्रचलित शब्द Political Science (राजनीति-विज्ञान) की अपेक्षा Politics (राजनीति) शब्द को अधिक पसन्द करते हैं। पर आधुनिक लेखक 'पॉलिटिक्स' शब्दका इतना व्यापक प्रयोग नहीं पसन्द करते कि उसमें राज्य और सरकारसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातों का समावेश हो जाय। आजकल साधारणतः 'पॉलिटिक्स' के निम्नलिखित अर्थ हैं—

(१) व्यावहारिक राजनीति; अर्थात् वह कौशल, जिसके द्वारा किसी दल विशेष के नियमन, संचालन, निर्वाचन या नामज़दगी अथवा किसी पद-विशेषके लिए व्यक्ति विशेषकी नियुक्ति आदिमें सफलता पाई जा सके। या फिर—

(२) शासन-कला अर्थात् सरकारी नीतिको किसी लक्ष्य-विशेषकी ओर संचालित करनेका कौशल।

व्यावहारिक ढंग पर कभी-कभी पॉलिटिक्स (राजनीति) को "समझौतेकी कला" कहा जाता है। इसका कारण यह है कि राजनीतिमें उच्च आदर्शकी गुंजाइश नहीं है। पक्के आदर्श-वादियोंको भी अपनेको कठोर तथ्यों, व्यावहारिक वास्तविकताओं और सार्वजनिक रुचि-अरुचिके अनुकूल बनाना पड़ता है।

सर फ़्रेडरिक पोलक ने 'पॉलिटिक्स' (राजनीति) शब्दका व्यापक प्रयोग करते हुए उसे निम्नलिखित दो भागोंमें बांटा है—

(क) सैद्धान्तिक राजनीति, और

(ख) व्यावहारिक या प्रयोगात्मक राजनीति।

सैद्धान्तिक राजनीतिमें उन्होंने निम्नलिखित विषय सम्मिलित किये हैं—

(क) राज्य-सिद्धान्त (Theory of the State),

(ख) शासन-सिद्धान्त (Theory of Government),

(ग) विधान-सिद्धान्त (Theory of Legislation),

(घ) कृत्रिम व्यक्तिके रूपमें राज्यका सिद्धान्त (Theory of the State as an artificial person)।

व्यावहारिक राजनीतिके निम्नलिखित विषय हैं—

(क) राज्य—सरकारका वास्तविक स्वरूप (The State—actual forms of Government),

(ख) सरकारकी कार्य-प्रणाली, शासन-प्रणाली आदि (Government—The working of Government Administration etc.),

(ग) क़ानून और विधान-निर्माण—प्रणाली, अदालतें आदि (Laws and Legislation—Procedure, Courts, etc.),

(घ) व्यक्तिरूपमें राज्य, कूटनीति, शान्ति, युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (The State personified—diplomacy, peace, war and international dealings)।

सर अर्नेस्ट बेन राजनीतिकी परिभाषा, परिहास की शैलीमें, इस प्रकार करते हैं—राजनीति, कठिनाइयोंको न्योता देने, उन्हें खोज निकालने—चाहे उनका अस्तित्व हो या न हो—उनका ग़लत कारण बताने और उनका ग़लत हल ढूंढ निकालनेकी कला है।

सैद्धान्तिक राजनीतिका सम्बन्ध राज्यकी मूल समस्यायोंसे है। उसका सम्बन्ध किसी सरकारके विशेष कार्यों और लक्ष्य तक पहुँचनेके साधनोंसे नहीं है। इसके विपरीत व्यावहारिक राजनीतिका सम्बन्ध उस वास्तविक कार्य-पद्धतिसे है जिसके द्वारा सरकारें अपने विभिन्न कार्योंमें सफलता प्राप्त करती हैं। राजनीतिका यह विभाजन सुविधाजनक और उपयोगी है। पर अधिकांश लोग इस सम्बन्धमें 'राजनीति' शब्द की अपेक्षा 'राजनीति-शास्त्र' शब्दको ही अधिक पसन्द करते हैं।

२. राजनीति-शास्त्र (Political Science)

आधुनिक प्रयोगमें 'राजनीति' की अपेक्षा 'राजनीति-शास्त्र' शब्द बहुत अधिक व्यापक (comprehensive) और अर्थपूर्ण है। इससे राज्य-सम्बन्धी हमारे समस्त ज्ञानका बोध होता है; समूचा राज्य-सिद्धान्त इसमें समाया हुआ है। इसमें सैद्धान्तिक राजनीति और व्यावहारिक अथवा प्रयोगात्मक राजनीति, दोनों ही सम्मिलित हैं। सिद्धान्त-पक्षमें इसका सम्बन्ध राज्यकी उत्पत्ति, स्वरूप, उद्देश्य और उपादेयता आदि प्रश्नोंसे है। इसे राज्य-सिद्धान्त या राजनीति-दर्शन कहते हैं। व्यावहारिक अथवा प्रयोगात्मक पक्षमें इसका सम्बन्ध राजनीतिक संस्थाओंके संगठन तथा उनके कार्यों और विभिन्न प्रकारोंसे है। इसे तुलनात्मक राजनीति या वैधानिक शासन कहते हैं।

विशिष्ट फ्रांसीसी लेखक पाल जेनेट का कथन है कि राजनीति-शास्त्र समाज-विज्ञानका वह अंग है, जो राज्यके मूल-आधार और शासनके सिद्धान्तों की विवेचना करता है (It is that part of Social Science which treats of the foundations of the State and the principles of Government.)।

गेटेल का कहना है कि राजनीति-शास्त्र हमें बतलाता है कि पिछले समयमें 'राज्य' का क्या-क्या रूप रहा है, इस समय उसका क्या स्वरूप है, और इसका आदर्श स्वरूप

क्या होना चाहिए (A historical investigation of what the State has been, an analytical study of what the State is, and a politico-ethical discussion of what the State should be.)।

सिजविक लिखते हैं कि राजनीतिक दर्शनसे अलग राजनीति-शास्त्रमें हम विविध कोटियों या प्रकारोंका अध्ययन करते हैं। पर इन कोटियोंका आदर्श रूप होना कुछ जरूरी नहीं है। राजनीति-शास्त्र समानताओं और असमानताओंको खोजता है तथा व्यवस्था, वर्गीकरण, कार्य या प्रभावकी छानबीन करता है।

३. राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy)

एक और शब्द है 'राजनीतिक दर्शन' (Political Philosophy), जिससे हमें राज्यतत्त्वके अध्ययनमें भ्रम उत्पन्न होता है। कुछ अंग्रेज विचारक राजनीतिक दर्शनको राजनीति-शास्त्र (Political Science) का प्रधान अंग मानते हैं। राजनीतिक दर्शन दर्शन-शास्त्रकी एक शाखा है। दर्शन-शास्त्र समस्त विश्वका विवेचन करता है, और राजनीति-शास्त्र विश्वके एक अंग—राज्य—का। इस दृष्टि-कोणका आधार यह विश्वास है कि दर्शन-शास्त्रमें समस्त ज्ञानका समन्वय है। अतः राज्यके अध्ययनको उसका एक उप-विभाग मानना चाहिए। इस दृष्टिकोणसे हमारा मतभेद इसलिए है कि विशेष अध्ययनके वर्तमान युगकी माँग समस्त मानव ज्ञानके समन्वय या एकीकरण (synthesis or union) की नहीं, बल्कि उसके विश्लेषण (analysis) की है। अन्य विषयोंकी तरह राजनीतिक चिन्तनके विकासके लिए भी विशेष अध्ययन और सीमा-निर्धारणकी आवश्यकता है।

जे० एच० हैलोवेल ने अपने ग्रन्थ "वर्तमान राजनीतिक चिन्तनकी प्रमुख धाराएं" (Main Currents in Modern Political Thought) में ठीक ही कहा है कि राजनीतिक दर्शनका सम्बन्ध राजनीतिक संस्थाओंसे उतना नही है, जितना उन संस्थाओंमें निहित विचारों और आकांक्षाओंसे। उन्हींके शब्दोंमें "इसकी दिलचस्पी इसमें नहीं है कि तथ्य कैसे घटित होते हैं, जितनी इसमें कि क्या घटित होता है और क्यों घटित होता है?"

योरोपके लेखकोंने प्रायः राजनीति-शास्त्र तथा राज्य-शास्त्र या राजनीतिक दर्शन में अन्तर किया है, यद्यपि इस विभेदका स्पष्ट निर्देश कर सकना कठिन है। अपने वर्तमान प्रयोगमें राजनीतिक दर्शनकी अपेक्षा राजनीति-शास्त्र अधिक व्यापक है और उसका अर्थ भी अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित है।

'राजनीतिक दर्शन राज्यकी मूलभूत समस्याओं, नागरिकता, अधिकार और कर्तव्यके प्रश्नों तथा राजनीतिक आदर्शोंका विवेचन करता है।' 'एक प्रकारसे यह राजनीति-शास्त्रसे प्राचीन भी है क्योंकि इसकी मौलिक मान्यताएं ही राजनीति-शास्त्रके आधार हैं'। फिर भी यदि राजनीतिक दर्शनको कल्पनात्मक और अस्पष्ट नहीं बन जाना है तो इसे राजनीति-शास्त्रकी विचार-विभूतिका उपयोग करना ही

होगा। राजनीति-शास्त्र और वास्तविक राजनीतिक परिस्थितियोंका पारस्परिक प्रभाव एक दूसरे पर बराबर पड़ता रहता है।

४. राज्य-सिद्धान्त (Theory of State)

राजनीतिक दर्शनकी अपेक्षा 'राज्य-सिद्धान्त' शब्द अधिक उपयुक्त है यद्यपि दोनोंका विषय एक ही है। 'राजनीतिक-दर्शन' से एक भाव-परक कल्पनात्मक (abstract and speculative) तत्त्व का बोध होता है। पर 'राज्य-सिद्धान्त' अथवा 'राजनीति-शास्त्र' अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित है। राज्य-सिद्धान्त न तो विभिन्न सरकारोंके स्वरूप-संगठनका अध्ययन है और न सरकारोंका तुलनात्मक अध्ययन। यह काम तो राजनीति-शास्त्रकी उस शाखाका है जिसे 'तुलनात्मक राजनीति' कहते हैं। इसी प्रकार राज्य-सिद्धान्त राज्य अथवा क़ानूनके ऐतिहासिक विकासका अध्ययन भी नहीं है। यह आदर्श राज्यके चित्रणका प्रयत्न भी नहीं है। यह शासन-कला या प्रशासनका अध्ययन भी नहीं है। यद्यपि राज्य-सिद्धान्तको समझनेके लिए इन सब विषयोंका साधारण ज्ञान आवश्यक है पर इसका सम्बन्ध किसी राज्य विशेषके स्वरूप-संगठन अथवा कार्योंसे नहीं है। यह राज्यके मूलभूत तत्त्वोंका अध्ययन करता है और इसका आधार है राज्यके अतीत और वर्तमान स्वरूपका अध्ययन।

राजनीतिक चिन्तनका महत्व (Value of Political Thought)

आजकल कुछ क्षेत्रोंमें राजनीति-शास्त्रके अध्ययनका महत्त्व कम करनेकी प्रवृत्ति है। वे लोग राजनीति-शास्त्रके अध्ययनको भावपूर्ण (abstract) और व्यर्थका अध्ययन बतलाते हैं। महत्व कम करनेकी इस प्रवृत्तिका कारण है सिद्धान्त-मात्रका मखोल उड़ानेकी आदत। और यह आदत आजके यथार्थवादी, यान्त्रिक, और औद्योगिक समाजकी विशेषता है। आइवर ब्राउन के इस कथनसे हम सहमत हैं कि सामाजिक जीवनके असली महत्वके प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण रखते हुए राजनीति-शास्त्रका अध्ययन सफल और सार पूर्ण दोनों ही हैं।

अपनी पुस्तक 'राजनीतिक चिन्तनका इतिहास' (History of Political Thought) में प्रोफेसर गेटेल ने राजनीति-शास्त्रके, अध्ययनके पक्ष और विपक्षमें किये जानेवाले तर्कोंका सावधानीसे संग्रह किया है। इन तर्कोंकी चर्चा हम संक्षेपमें करेंगे। राजनीति-शास्त्रके अध्ययनके विपक्षमें कहा जाता है कि राजनीति-शास्त्रका सम्बन्ध वास्तविकतासे बहुत कम रहता है; व्यवहारमें इसका प्रयोग हो ही नहीं सकता: यह वैधानिक कल्पनाओं और रूढ़ धाराओं (absolute concepts) का ही विवेचन करता है; यह अनिश्चित और विवाद-ग्रस्त प्रश्नोंका निश्चित उत्तर देने में असमर्थ है और यह बहुधा व्यावहारिक राजनीतिके लिए घातक है। राजनीति-शास्त्रके विरोधी इमर्सन की इस युक्तिका भलीभाँति प्रयोग कर सकते हैं कि इसमें 'कुछ भी नवीन, सत्य और सार पूर्ण नही है।'

ऊपर लिखे आरोपोंका खंडन करनेके लिए राजनीति-शास्त्रके अध्ययनकी कुछ उपयोगिताओंकी चर्चा भी ज़रूरी है। राजनीति-शास्त्रका अध्ययन राजनीतिक शब्दोंको सटीक और सुनिश्चित अर्थ देता है और हमारे विचारोंको स्पष्ट और खरा बनाता है। इससे इतिहासकी व्याख्यामें सहायता मिलती है। विगत राजनीतिक विचारधाराओंके ज्ञानसे वर्तमान राजनीति और अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंको समझनेमें बहुत बड़ी सहायता मिलती है। रचनात्मक राजनीतिक प्रगति (constructive political progress) का आधार ऐसा व्यापक राजनीति-शास्त्र ही है, जिसका प्रयोग वर्तमान परिस्थितियों और आवश्यकताओंमें किया जा सके। राजनीतिक चिंतन उच्च प्रकारकी बौद्धिक सफलताका प्रतीक है। अंतमें, यदि मानव कल्पना-शक्तिसे सरकारका संगठन और विकास सम्भव है तो राजनीति-शास्त्रके अध्ययनसे अधिक अन्य कोई भी अध्ययन उपयोगी नहीं है। इस प्रकार राजनीति-शास्त्र नितान्त व्यावहारिक और महत्वपूर्ण है। यह ठोस और व्यावहारिक विषयका सैद्धान्तिक अध्ययन है।

यह आरोप सही नहीं है कि राजनीति-शास्त्र वास्तविक परिस्थितियोसे अत्यधिक परे है। हमें शुद्ध सटीक परिभाषा (accurate definition) और गम्भीर विश्लेषणकी आवश्यकता है। विवेकपूर्ण राज्य-मर्मज्ञताके लिए अस्पष्ट और प्रायः परस्पर विरोधी सहज प्रेरणाओं (intuitions) से कुछ और अधिक की ज़रूरत है। उसे चाहिए गम्भीर दर्शन (sound philosophy) और नैतिक-मूल्योंकी संयोजना (scheme of moral values); और राजनीति-शास्त्र हमें यही देनेका प्रयास करता है। राज्य-मर्मज्ञता मुख्यतः एक नैतिक कार्य (moral task) है। चूंकि राजनीतिके कुछ सैद्धान्तिक विवेचक विद्या-दम्भी हो गये हैं इस कारण समूचे राजनीति-शास्त्रकी निन्दा करना उचित नहीं है। स्वभावतः राजनीति-शास्त्र हमेशा हमें स्पष्ट उत्तर नहीं दे सकता। इससे राजनीतिक विवादोंमें मतैक्य भले ही न हो पर इससे कमसे कम पारस्परिक सम्मान और सहनशीलतामें सहायता तो मिलती ही है। यदि यह सत्य है कि जहाँ व्यवहार-पक्ष है वहाँ सिद्धान्त-पक्ष भी होना चाहिए तो व्यावहारिक राजनीतिके लिए राजनीति-शास्त्रका अध्ययन नितान्त उपयोगी है।

राजनीति-शास्त्रका विस्तार और अन्य शास्त्रोंसे सम्बन्ध
(Scope of Political Science and its Relation to Allied Sciences)

प्रोफेसर गुडनॉउ का दावा है कि राजनीति-शास्त्रके निम्नलिखित तीन स्पष्ट भाग है—

(१) राज्येच्छाकी अभिव्यक्ति (The expression of the State will),

(२) अभिव्यक्त राज्येच्छाकी विषय-वस्तु (The contents of the State will as expressed), और

(३) राज्येच्छाका कार्यान्वय (The execution of the State will)।

पहले भागमें राज्य सिद्धान्त और वे सभी विधानेतर परम्पराएँ (extra legal customs) और संस्थाएँ शामिल हैं जो किसी देशकी राजनीतिक पद्धतिको प्रभावित करती हैं। दूसरा भाग वस्तुतः विधानका ही पर्याय है। तीसरेका सम्बन्ध शासन-व्यवस्थाके सही सिद्धान्तोंके निर्धारण और उनके व्यावहारिक प्रयोगसे है।

संक्षेपमें राजनीति-शास्त्रके सम्बन्धमें प्रोफेसर गुडनॉउ की धारणा कुछ संकीर्ण है। उनके विवेचनमें राज्यके स्वरूप और उसकी विशेषताओं तथा अधिकारों और कर्त्तव्योंके पारस्परिक सम्बन्ध जैसे प्रश्नोंको कोई स्थान नहीं है।

राजनीति-शास्त्रके अतिरिक्त अन्य शास्त्र भी मनुष्यके सामाजिक जीवनसे सम्बन्ध रखते हैं और इसलिए राजनीति-शास्त्र अन्य शास्त्रोंसे निरपेक्ष नहीं है। मानव-मात्र के पारस्परिक सम्बन्धोंका विवेचन करनेवाले अनेक शास्त्रोंमें से एक होनेके कारण राजनीति-शास्त्रका सम्बन्ध अन्य सामाजिक शास्त्रोंसे बहुत गहरा है। इसीलिए पॉलजेनेट का कहना है कि राजनीति-शास्त्रका गहरा सम्बन्ध है अर्थशास्त्रके साथ, विधानके साथ, चाहे वह प्राकृतिक विधान हो या सिद्ध या विध्यात्मक विधान (Law, either natural or positive) जो नागरिकोंके पारस्परिक सम्बन्धोंका विवेचन करता है, इतिहासके साथ जो इसे आवश्यक तथ्य देता है; दर्शन-शास्त्र और विशेषतः नीति-शास्त्रके साथ जिससे इसे अपने कुछ सिद्धान्त प्राप्त होते हैं (२३-२९)'।

१. राजनीति-शास्त्र और इतिहास

राजनीति-शास्त्र और इतिहासका आपसमें बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिसका अन्दाज़ा इस एक वाक्यसे लगाया जा सकता है कि "इतिहास विगत राजनीति है; राजनीति वर्तमान इतिहास है।" सीले का कहना है "राजनीति-शास्त्रके बिना इतिहास निष्फल है; राजनीति इतिहासके बिना निर्मूल है।" (History without politics has no fruit, Politics without History has no root)। वही फिर कहते हैं, "इतिहासके उदार प्रभावके बिना राजनीति बर्बर है और इतिहास राजनीतिके साथ अपना सम्बन्ध भुला देनेसे साहित्य मात्र रह जाता है।" इतिहास राजनीति-शास्त्रको वह तथ्य देता है जिसके आधार पर राजनीति-शास्त्र विकसित होता है। सीलेके कथनानुसार इतिहास और राजनीति-शास्त्र अन्तमें एक सम हो जायेंगे। पर यह असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य जान पड़ता है। यद्यपि दोनों विद्याएँ एक दूसरे पर निर्भर करती हैं और एक दूसरेकी पूरक है पर फिर भी दोनोंमें कुछ मौलिक अन्तर है।

(क) विवेचना-पद्धतिका अन्तर (Method of Treatment): इतिहास वर्णनात्मक (narrative) होता है और उसमें घटनाएं काल-क्रमके अनुसार दी जाती हैं पर राजनीति-शास्त्र केवल उन्हीं घटनाओंको लेता है जिनका सम्बन्ध राजनीतिके विकाससे होता है। राजनीति-शास्त्रकी पद्धति चिन्तनमूलक है। इतिहास द्वारा दी गयी सामग्रीका उपयोग करते हुए यह सामान्य विधानों और सिद्धान्तोंकी खोज करता है।

(ख) विस्तारका अन्तर (Difference in scope) : इतिहासका क्षेत्र अधिक व्यापक है क्योंकि यह सामाजिक जीवनके आर्थिक, धार्मिक, तथा सैनिक पहलुओं पर विचार करता है। पर राजनीति-शास्त्रकी इन विषयोंमें वहीं तक रुचि है जहां तक ये विषय राज्यके स्वरूप और राजनीतिक नियमनके विकास (development of political control) पर प्रकाश डालते हैं।

(ग) उद्देश्यका अन्तर (Difference in their end) : इतिहास राजनीति-शास्त्रकी अपेक्षा बहुत कम दार्शनिक है। इतिहासका सम्बन्ध ठोस तथ्योंसे रहता है। पर राजनीति-शास्त्रका सम्बन्ध आदर्शों और सूक्ष्म प्रकारान्तरों (abstract types) से रहता है। राजनीति-शास्त्र बतलाता है कि राज्यको कैसा होना चाहिए; पर इतिहास बतलाता है कि राज्य इस समय कैसा है और पहले कैसा था।

निष्कर्ष यह हुआ कि राजनीति-शास्त्रको इतिहासका उपयोग उसीका अतिक्रमण (to transcend it) कर जानेके लिए करना होता है। इतिहासकारका काम नैतिक निर्णय देना नहीं है।[1] पर राजनीति-शास्त्रके विद्वान्को ऐसे निर्णय देने ही होते हैं। इसी क्षेत्रमें राजनीति-शास्त्र धर्म-शास्त्रसे मिल जाता है और अर्थ-शास्त्र तथा समाज-शास्त्रसे अलग हो जाता है। लार्ड ब्राइस का कहना है कि राजनीति-शास्त्र इतिहास और राजनीति, अतीत और वर्तमानके बीचकी चीज़ है। एकसे तथ्योंको पाकर वह उन तथ्योंका प्रयोग दूसरे पर करता है।

२. राजनीति-शास्त्र और अर्थशास्त्र (Political Science and Economics)

राजनीति-शास्त्र और अर्थ-शास्त्रका सम्बन्ध बड़ा नज़दीकका है। दोनोंका एक दूसरे पर प्रभाव काफ़ी पड़ता है। और बहुत अंशों तक दोनोंका विषय क्षेत्र भी एक है। सम्पत्तिका उत्पादन और वितरण राज्यके विधानोंसे प्रभावित होता है। राज्यके भीतर सारे आर्थिक कार्य राज्यके क़ानून द्वारा निर्धारित विधि विधानोंके अनुसार ही हो सकते हैं। दूसरी ओर राजनीतिक गतिविधियों पर आर्थिक कारणोंका गहरा प्रभाव पड़ता है। हमारे आर्थिक जीवन पर राजनीतिक परिस्थितियों और विचारोंका प्रभाव पड़ता है। आजकलकी राजनीतिके कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंका सीधा सम्बन्ध अर्थ-शास्त्र से भी है—जैसे प्रशुल्क-विधान (tariff laws), श्रमिक-विधान (labour legislation) और शासन-स्वामित्व (government ownership) के प्रश्न। दोनों विद्याओंका सम्बन्ध इतना गहरा है कि एक शताब्दी पहलेके वैज्ञानिक लेखक

---

[1] सिजविकके शब्दोंमें राजनीतिक संस्थाओंके अन्तिम उद्देश्य या परिणाम और उनके सत्-असत्, भले-बुरे और सही-ग़लतके मानदण्डका निर्णय इतिहास नहीं करता।

अर्थ-शास्त्रको राजनीति-शास्त्रकी शाखा ही मानते थे। और अर्थ-शास्त्रका नाम ही राजनीतिक अर्थ-शास्त्र (Political Economy) रखा गया था। अठारहवीं शताब्दी तक अर्थ-शास्त्रको राजनीतिज्ञताका अंग माना जाता था। यद्यपि दोनों शास्त्रोंका बड़ा नज़दीकी सम्बन्ध है; पर फिर भी दोनोंमें कुछ मौलिक अन्तर हैं। इस अन्तर की चर्चा करते हुए आइवर ब्राउन का कहना है कि अर्थ-शास्त्रका सम्बन्ध वस्तुओंसे है और राजनीति-शास्त्रका सम्बन्ध व्यक्तियोंसे है। एक का सम्बन्ध भावों और दामों (prices) से है और दूसरेका सम्बन्ध मान और महत्व (values) से है। यदि अर्थ-शास्त्र व्यक्तियोंसे सम्बन्ध रखता है तो व्यक्तियोंके नाते नहीं बल्कि उन वस्तुओंके नाते जिन्हें वे उत्पन्न करते, बेचते और उपयोगमें लाते हैं। राजनीति-शास्त्र भी वस्तुओं पर विचार करता है पर केवल उसी हद तक जिस हद तक वस्तुओंका सम्बन्ध मानव और आचार-नीतिसे होता है। यही कारण है कि राजनीति-शास्त्र एक सैद्धान्तिक आदर्श-परक (normative science) विज्ञान हो जाता है, अर्थ-शास्त्र एक व्याख्यात्मक विज्ञान (descriptive science) ही रह जाता है। किसी ने विनोदमें ठीक ही कहा है कि अर्थ-शास्त्री वह व्यक्ति है जो दाम तो सब वस्तुओंका जानता है पर महत्व एक का भी नहीं।

इस युगका यह एक शुभ लक्षण है कि अर्थ-शास्त्र उत्तरोत्तर रूपमें एक आदर्श-परक सैद्धान्तिक विज्ञान (normative Science) बनता जा रहा है और सम्पत्तिके उत्पादनका ही विवेचन न करके उसके उचित वितरणका भी विवेचन करने लगा है।

३. राजनीति-शास्त्र और समाज-शास्त्र (Political Science and Sociology)

जो स्थान दर्शन-शास्त्रका मानसिक विज्ञानोंमें है, वही स्थान समाज-शास्त्रका सामाजिक विज्ञानोंमें है। दोनोंका उद्देश्य सम्बन्धित (related) विविध विषयोंकी विवेच्य-सामग्रीका एकीकरण है। इस प्रकार सार्वभौम व्यापकता दोनोंकी विशेषता है। राजनीति-शास्त्र समाज-शास्त्रकी अपेक्षा संकीर्ण है और साधारणतः समाज-शास्त्रका उपांग है। समाज-शास्त्र मौलिक सामाजिक विज्ञान है। समाज-शास्त्रका क्षेत्र इतना अधिक व्यापक है कि आजकल के लेखक उसके राजनीतिक पक्षको अलग करके उसका अध्ययन-क्षेत्र सामाजिक जीवनके कुछ पहलुओं तक ही सीमित कर देना पसन्द करते हैं। प्रोफ़ेसर गिडिंग्ज़ का कहना है कि "उन लोगोंको राज्य-सिद्धान्त सिखाना जिन्होंने समाज-शास्त्रके प्राथमिक सिद्धान्तोंका भी ज्ञान प्राप्त नहीं किया है वैसा ही है जैसे उन लोगोंको ज्योतिष या थर्मोडाइनिमिक्स की शिक्षा देना जिन्हें न्यूटन के गति सिद्धान्तका ज्ञान न हो।"[१]

(क) समाज-शास्त्र अपने अधिकतम् व्यापक अर्थमें समाजके सभी स्वरूपों और पक्षोंका अध्ययन है, जबकि राजनीति-शास्त्र केवल राज्य, शासन व

---

[१] प्रिन्सिपिल्स आफ़ सोशियालॉजी पृष्ठ ३७।

सरकारका अध्ययन है। इसी बातको हम दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार कह सकते हैं कि समाज-शास्त्र मनुष्यके सभी सामाजिक सम्बन्धोंका विवेचन करता है जबकि राजनीति-शास्त्र मनुष्यके केवल राजनीतिक सम्बन्धों का ही विवेचन करता है। प्रारम्भिक अवस्थाके राज्यके बारेमें यह भले ही सत्य न हो पर वर्तमान राज्यके बारेमें यह बिल्कुल सत्य है। राज्य अपनी प्रारम्भिक अवस्थाओंमें राजनीतिक संस्थाकी अपेक्षा सामाजिक संस्था अधिक था। गिल्क्राइस्ट के शब्दोंमें "समाज-शास्त्र समाजका विज्ञान है, राजनीति-शास्त्र राज्यका अथवा राजनीतिक समाजका विज्ञान है। समाज-शास्त्र मनुष्यका एक सामाजिक प्राणीके रूपमें अध्ययन करता है; और चूंकि राजनीतिक-संगठन एक विशेष प्रकारका सामाजिक-संगठन है इसलिए राजनीति-शास्त्र समाज-शास्त्रकी अपेक्षा अधिक विशिष्ट शास्त्र है।" या जैसाकि क्रेनेनबर्ग ने कहा है "जबकि समाज-शास्त्रमें विभिन्न वर्गों और संघोंका विवेचन होता है, राजनीति-शास्त्र में एक विशेष संघ अर्थात् राज्यका विवेचन होता है।"

(ख) समाज-शास्त्र संगठित समुदायोके अलावा असंगठित समुदायोंका भी अध्ययन करता है। पर राजनीति-शास्त्रका सम्बन्ध केवल संगठित समाजसे ही रहता है। यह केवल ऐसे समाजोंका ही अध्ययन करता है जिन पर राजनीतिक संगठनका प्रभाव पड़ चुका होता है। इस प्रकार समाज-शास्त्रकी अपेक्षा राजनीति-शास्त्रका जन्म बादमें हुआ है।

(ग) समाज-शास्त्र नागरिकोंके वैधानिक तथा विधियामी (Legal) या शक्ति साध्य (coercive) सम्बन्धोंके साथ-साथ परम्पराओं, आचारों (customs, manners), धर्म तथा आर्थिक जीवनके विकासका भी अध्ययन करता है। राजनीति-शास्त्रमें नागरिकोंके वैधानिक सम्बन्धों की ही विवेचना होती है।

(घ) राजनीति-शास्त्रमें, मनुष्योंके जानबूझकर किये गये कामोंका ही अध्ययन होता है। पर समाज-शास्त्र इसके साथ-साथ अनजानमें किये गये कार्योंका भी विवेचन करता है।

(च) राजनीति-शास्त्रका प्रारम्भ मनुष्यको राजनीतिक प्राणी मानकर होता है। पर समाज-शास्त्र इसके पहलेकी स्थितिका विवेचन करके बतलाता है कि मनुष्य कैसे और क्यों राजनीतिक प्राणी बन गया।

(छ) समाज-शास्त्र केवल इस बातका अध्ययन करता है कि क्या हो चुका है और क्या हो रहा है। क्या होना चाहिए इसका अध्ययन वह नहीं करता। राजनीति-शास्त्र कमसे कम अपने एक पहलूमें इस बातका

विवेचन करता है कि क्या किया जाना चाहिए।[1]

४. राजनीति-शास्त्र और आचार-शास्त्र या नीति-शास्त्र

राजनीति-शास्त्रमें राजनीतिक व्यवस्थाका और नीति या आचार-शास्त्र (Ethics) में नैतिक व्यवस्थाका विवेचन होता है। दोनों ही में न्याय-अन्याय, उचित और अनुचितका विचार होता है। दोनोंका सम्बन्ध इतना गहरा है कि प्लेटो राजनीति-शास्त्रको आचार या नीति-शास्त्रकी ही एक शाखा मानते थे। उनका विश्वास था कि राज्यको नागरिकोंको सद्गुणोंकी शिक्षा देना चाहिए। प्लेटो की विचारधारासे आगे अरस्तू (Aristotle) की प्रधान प्रगति (capital advance) इस बातमें मानी जाती है कि उन्होंने राजनीति-शास्त्र और आचार-शास्त्रको अलग-अलग कर दिया। पर यह पृथक्करण तात्विक (substantial) न होकर व्याख्या-पद्धति या रीति (methodology) का ही है। अरस्तू भी राजनीति-शास्त्र और आचार-शास्त्रमें बहुत नज़दीकी पारस्परिक सम्बन्ध मानते हैं। और राजनीतिक प्रश्नों पर मनुष्यके उच्चतम नैतिक निर्णयका प्रभाव पड़ने देते हैं। उनकी सम्मतिमें राज्यका उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण या अच्छा जीवन है। मेकियावेली (Machiavelli) पश्चिमके प्रथम प्रसिद्ध लेखक हैं जिन्होंने राजनीति-शास्त्रको स्पष्टतः आचार-शास्त्रसे अलग कर दिया। उनके अनुसार धर्म और नैतिकता (religion and morality) न केवल राज्यके नियामक (masters) नहीं हैं, बल्कि वे विश्वसनीय पथनिर्देशक भी नहीं हैं। वे केवल उपयोगी सेवक या एजेन्ट हैं।

आधुनिक विचारधारा सामान्यतः राजनीति-शास्त्र और आचार-शास्त्रमें घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखनेके पक्षमें है।[2] लार्ड ऐक्टन तो यहां तक कहते हैं कि यह पता लगाना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि सरकारें क्या निर्धारित (prescribe) करती हैं बल्कि यह कि सरकारोंको क्या निर्धारित करना चाहिए। एक दूसरे लेखकका कहना है कि राजनीति-शास्त्र और आचार-शास्त्रको अलग करना दोनोंके लिए ही घातक है। आचार-शास्त्रसे अलग होकर राजनीति-शास्त्र बालूकी अस्थिर नींव पर टिकता है; आचार-शास्त्र राजनीति-शास्त्रसे अलग होकर संकीर्ण और भाव-सूक्ष्म हो जाता है। इसका परिणाम होता है मान-मूल्योंका व्यावसायीकरण और उनकी विकृति। आइवर ब्राउन का मत है कि राजनीति-शास्त्र और आचार-शास्त्रके बीच परिमाणका अन्तर है, गुणका नहीं। क्योंकि 'राजनीति आचार-शास्त्रका ही व्यापक रूप है।' वह आगे

---

[1] हेमैंस का मत, जिनका उद्धरण क्रेननबर्ग ने दिया है इसके विपरीत है। उनका कहना है: यह आरोप कि समाज-शास्त्र हमें आदर्शोंके स्थान पर कोरे तथ्यों और पृथक् महत्त्व और उपयोगिताके स्थान पर एकरूप सिद्धान्तोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं देता, केवल एक इस वाक्यसे ही छिन्न-भिन्न किया जा सकता है कि "ऐसा नहीं है, हमारे आदर्श समान भावसे हमारे भीतर सक्रिय रहते हैं।"

[2] फ़ॉय के मतानुसार जो बात नैतिक दृष्टिसे अनुचित है वह कभी राजनीतिक दृष्टि से न्याय-संगत हो ही नहीं सकती। पर यह सर्वदा व्यावहारिक सत्य नहीं है।

कहते हैं : आचार-शास्त्र राजनीति-शास्त्रके बिना अपूर्ण है क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक जीव है और वह एक दम अकेला रह ही नहीं सकता। राजनीति-शास्त्र आचार-शास्त्र के बिना व्यर्थ है, क्योंकि उसके अध्ययन और उसकी सफलताका मूल आधार है हमारी नैतिक मानदण्डोंकी व्यवस्था, न्याय-अन्याय, उचित-अनुचितकी धारणाएँ।

राजनीति-शास्त्रको महात्मा गांधी की एक स्थायी देन है। और वह है राजनीति के अध्यात्मीकरणका उनका आग्रह अर्थात् इस बात पर ज़ोर देना कि सत्य, अहिंसा, प्रेम और अपरिग्रह जैसे नैतिक और आध्यात्मिक नियमोंका मनुष्यके सामाजिक जीवनमें पालन हो। राज्यके औचित्यका निर्णय अन्तमें इस बातसे होता है कि राज्य अपने लक्ष्यों और उद्देश्योंमें कहां तक सफल होता है। इस प्रकार राजनीति-शास्त्र और आचार-शास्त्रके आदर्शोंमें सामंजस्य होना जरूरी है। फिर भी दोनों शास्त्रोंकी विषय-सामग्रीमें बहुत अन्तर है। कैटलिन का कहना है कि आचार-शास्त्रसे एक राजनीतिज्ञ यह सीखता है कि अनेक मार्गोंमें से कौन मार्ग वांछनीय है और राजनीति-शास्त्र उसे बतलाता है कि कौन मार्ग अपनाना सुलभ होगा।

५. राजनीति-शास्त्र और मनोविज्ञान (Political Science and Psychology)

मनोविज्ञान अपने वर्तमान रूपमें एक नवीन विज्ञान है। और उसके समर्थक मनुष्यके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनके हर पहलूमें मनोवैज्ञानिक तरीकोंको इस्तेमाल करनेकी कोशिश कर रहे हैं। अर्नेस्ट बार्कर ने ठीक ही कहा है कि 'मनुष्यके क्रिया कलापोंकी गत्थी सुलझानेमें मनोवैज्ञानिक संकेतोंका प्रयोग करना आजकल का एक फ़ैशन हो गया है। यदि हमारे पूर्वज जैविकीय दृष्टिकोण से (biologically) सोचते थे, तो अब हम मनोवैज्ञानिक ढंगसे सोचते हैं।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल राजनीतिमें जिस मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणके प्रयोग पर इतना ज़ोर दिया जा रहा है वह बहुत उपयोगी है। हो सकता है कि राजनीति-शास्त्रने बहुत ही अधिक समय तक दर्शन-शास्त्रके प्रभावमें रहनेके कारण मानव व्यवहारके तथ्योंकी ओर काफी ध्यान नहीं दिया है। हमें अपने मस्तिष्कको अपने निरीक्षणके जरिये ही स्फूर्ति देनी है। जब तक हम यह न समझ लें कि मनुष्य व्यक्तिगत रूपमें और समाजके सदस्यके रूपमें विभिन्न परिस्थितियोंमें किस प्रकार व्यवहार करता है, तब तक हम राजनीति-शास्त्रके अध्ययनमें बहुत दूर तक नहीं जा सकते। मानव व्यवहारको ठीक-ठीक समझनेके लिए हमें प्रकृति, प्रवृत्ति, अनुकरण और सुझाव आदिको जानना होगा। "किसी भी सरकारको स्थायी और वास्तवमें जनप्रिय बननेके लिए यह जरूरी है कि वह जनताके मानसिक विचारों और नैतिक भावनाओंको प्रतिबिम्बित करे। संक्षेपमें सरकारको लुबों (Le Bon) के शब्दोंमें जातिके मानसिक विधान' के अनुकूल होना चाहिए (२२, ३८)। जन मनोविज्ञान, दलित वर्गका मनोविज्ञान तथा सम्मानकी भावना आदिके अध्ययनसे योरोपमें होनेवाली हालकी घटनाओंके समझनेमें सहायता मिलती है।

साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि राजनीति-शास्त्रमें मनोविज्ञानके महत्त्व को बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ा कर कह जाना आसान है। बार्कर ने अपनी पुस्तक 'इंगलैंड का राजनीतिक-चिंतन: स्पेंसरसे आज तक" (Political Thought in England : Spencer to Present Day) में मनोवैज्ञानिक तरीके की खामियां इस प्रकार बतलायी हैं—

(१) मनोवैज्ञानिक वस्तुओंका मूल्यांकन न करता है और न कर सकता है। मूल्यांकन तो नीति-शास्त्रियोंका काम है। मनोविज्ञान तो वस्तुओंके वास्तविक रूपसे सम्बन्ध रखता है और नीति-शास्त्र उनके आदर्श रूपसे। इसलिए राजनीति-शास्त्र को मनोविज्ञानकी अपेक्षा आचार-शास्त्रकी सहायता लेनी चाहिए।

(२) मनोविज्ञान सभ्य जीवनकी व्याख्या असभ्य प्रवृत्तियोंकी शब्दावलीमें करना चाहता है—उच्चतरकी निम्नतरसे। यह सही विकासकी पद्धति नहीं मालूम पड़ती। निम्नतरकी व्याख्या उच्चतर माध्यमसे करना सही तरीका है। मनुष्य बन्दरका विश्लेषण करता है न कि बन्दर मनुष्यका। सभ्य जीवनकी व्याख्या इतिहासके पहले के कालके जीवनकी परिस्थितियोंसे करना युक्ति-संगति नहीं है। युक्ति और तर्क सायास अनुमिति (conscious inference) न होने से बदल नहीं जाते। प्रकृति, प्रवृति, सुझाव और अनुकरणका अस्तित्व मनुष्यकी बुद्धिके नाते है। कोई भी बात आदि रूपमें होनेसे अन्तिम या सबसे अच्छी नही हो जाती।

(३) मैकडूगल जैसे नामी मनोवैज्ञानिक ने यह तो बतलाया है कि समाजमें काम करनेवाली प्रवृत्तियां कब और कैसे शुरू हुई पर वह यह नहीं बताते कि इन प्रवृत्तियोंका संचार समाजमें कैसे होता है। 'वह एक ऐसी यात्राकी तैयारी जोर-शोरसे करते हुए दिखाई देते हैं जिसे वह कभी शुरू नहीं करते (३)।" सभी मनोवैज्ञानिक तथ्योंका संकलन करनेके बाद भी एक मौलिक प्रश्न यह रह जाता है कि आखिर इन तथ्योंका किया क्या जाय? इस पर मनोविज्ञान खामोश है।

(४) कैटलिन के अनुसार मनोविज्ञानका सम्बन्ध मानसिक क्रियाओंसे है और उनका अध्ययन व्यक्तिके मन-मस्तिष्कको ध्यानमें रखकर उसीके सम्बन्धमें हो सकता है। राजनीति-शास्त्र सामाजिक प्राणियोंकी प्रवृति या इच्छा-जनित सम्बन्ध का अध्ययन करता है। अर्थात् मनोविज्ञानमें व्यक्तिका व्यक्तिके रूपमें और राजनीति-शास्त्रमें व्यक्तिका सामाजिक जीवके रूपमें अध्ययन होता है।

६. राजनीति-शास्त्र और विधान या क़ानून (Political Science and Law)

राज्य एक सामाजिक तथ्य (phenomenon) और वैधानिक संस्था दोनों ही है। और राज्यकी पूर्ण व्याख्यामें इन दोनों दृष्टिकोणोंका समावेश जरूरी है। वैधानिक दृष्टिकोणसे राज्य एक व्यक्ति इस मानेमें है कि अधिकारों और कर्तव्योंके बंधन उसके लिए भी हैं। राज्य द्वारा और राज्यके विरुद्ध अदालतोंमें मुकदमें चलाये जा सकते हैं। परिभाषाके रूपमें इसी बातको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि "राज्य किसी निश्चित क्षेत्रमें बसनेवाले मनुष्योंका

निगम (corporation) है जिसे शासनके मौलिक अधिकार प्राप्त हैं (१९)"।

न्याय-शास्त्रको परिभाषामें क़ानूनकी विद्या कह सकते हैं जोकि शुद्ध अर्थमें राजनीति-शास्त्रका ही भाग है। पर अपनी व्यापकता और टेकनिकल स्वरूपके कारण इसका अध्ययन एक पृथक् शास्त्रकी भाँति किया जाता है।

संविधान-शास्त्र (Constitutional Law) राज्यके विभिन्न अंगोंकी परिभाषा करता है, उनके आपसी सम्बन्धोंको और राज्य तथा व्यक्तिके सम्बन्धोंको तय करता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधान (International Law) राज्योंके पारस्परिक सम्बन्धोंका विवेचन करता है।

पश्चिमी विधान-शास्त्रके विकासमें स्टोइक[1] सिद्धान्तका और रोमके न्याय-शास्त्रका बहुत बड़ा हाथ है। हैलोवेल का कहना है कि पाश्चात्य सभ्यताको स्टोइक विचारधाराकी मुख्य देन है विश्व-बन्धुत्व (universal brotherhood) और विवेक-संगत सार्वभौम विधान (universal law of reason)। उन्हींकी राय है कि रोमवालोंके विचारोंके अनुसार राज्य एक वैधानिक साझेदारी है पर ईसाई मतके अनुसार यह प्रेमजन्य साझेदारी है।

७. राजनीति-शास्त्र और भूगोल (Political Science and Geography)

मनुष्य पर उन भौतिक परिस्थितियों और भौगोलिक दशाओंका काफी असर पड़ता है जिनके बीच वह रहता है। किसी देशकी जलवायु, प्राकृतिक विभागों और भौतिक विशेषताओंका वहाँकी जनता के चरित्र, संस्थाओं और सफलताओं पर पड़नेवाले असरको बढ़ा-चढ़ा कर बताना आसान है। यद्यपि मनुष्यके जीवनमें इन बाहरी परिस्थितियोंका महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है, पर यह याद रखना ज़रूरी है कि सभ्य मनुष्य प्रकृतिके हाथकी कठपुतली नहीं है। जानवरोंकी भाँति वह प्रकृतिका अंध-अनुकरण नहीं करता। अपनी बुद्धि और दूरदर्शिताके बल पर वह प्रकृतिको अपने अनुकूल बनाकर अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेता है।

किसी देशकी राजनीतिक संस्थाओं और वहाँकी जनताके राष्ट्रीय चरित्र पर भूगोल का क्या असर पड़ता है इस प्रश्नकी ओर ध्यान देनेवाले प्रारम्भिक लेखकोंमें अरस्तू भी एक थे। आधुनिक लेखकोंमें बोदाँ (Bodin) ने सोलहवीं शताब्दीमें इस विषयकी ओर ध्यान दिया। उनके बाद रूसो ने तो यहाँ तक कहा कि जलवायु और सरकारके स्वरूप एक दूसरेसे सम्बन्धित हैं। उनकी राय थी कि गरम जलवायुके लिए तानाशाही, ठंढी जलवायुके लिए जंगलीपन और समशीतोष्ण जलवायुके लिए अच्छी शासन प्रणाली (good polity) बिल्कुल स्वाभाविक है। उनकी यह भी राय थी कि छोटे देशोंके लिए लोकतंत्र और बड़े देशोंके लिए राजतंत्र सर्वोत्तम है।

पिछली शताब्दीके मध्यमें टॉमस बकल ने 'सभ्यताका इतिहास (History of

---

[1] यूनान की एक दार्शनिक विचार-पद्धति।

Civilisation)' नामक अपनी पुस्तकमें प्राकृतिक परिस्थितियों और राष्ट्रीय चरित्र के बीचके सम्बन्धको बहुत ही बढ़ा-चढ़ाकर बताया। उन्होंने ज़ोरदार शब्दोंमें कहा कि लोगोंके जातीय चरित्रों और संस्थाओंके निर्माणमें भूगोलका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। उन्होंने जलवायु, भोजन, धरती और प्रकृतिके सामान्य स्वरूपोंके प्रभावों पर खास तौरसे ध्यान दिया। उनकी इस उग्र रायसे आजकल बहुत कम लोग सहमत हैं।

अत्युक्तिके बावजूद, यह निस्सन्देह सही है कि भौगोलिक परिस्थितियोंने नीति-निर्धारण पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है। यह प्रभाव कुछ अंशों तक राजनीतिक संस्थाओंके स्वरूपों पर भी पड़ा है (२३, ४२-६६)। इसके साथ ही हम निश्चित रूपसे यह कह सकते है कि सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओंके निर्माणमें भूगोल का वह स्थान अब नहीं है जो पहले था।

राजनीति-शास्त्रकी पद्धतियाँ (Methods of Political Science)

सभी लेखक स्वीकार करते हैं कि राजनीति-शास्त्र एक अनिर्दिष्ट (inexact) विज्ञान है। यह परम सत्यको अपना लक्ष्य नहीं बनाता। यह आपेक्षिक सत्यकी खोज करता है। इसलिए लगभग सभी राजनीतिक प्रश्नोंके बारेमें मतभेद होना अवश्यम्भावी है। राजनीतिक तौर पर आज जो बात ठीक जान पड़ती है मुमकिन है वही बात आज से सौ साल बाद ठीक न जँचे। राज्यके बारेमें कोई भी सिद्धान्त अन्तिम सत्य नहीं माना जा सकता। इन्हीं प्रतिबन्धोंके कारण कुछ विचारक राजनीतिक सिद्धान्तोंके अध्ययन को विज्ञान या शास्त्र कहनेसे इन्कार करते हैं। यह सही है कि राजनीति-शास्त्र गणित, भौतिक-शास्त्र या रसायन-शास्त्रकी भाँति निर्दिष्ट (exact) नहीं है। पागल-खानेको छोड़कर दुनिया भरमें और सब कहीं दो और दो मिलकर चार ही होते हैं। हाइड्रोजन (Hydrogen) के दो अणु और ऑक्सीजन (Oxygen) के एक अणु जब कभी आपसमें रासायनिक तरीक़ेसे मिल जाते हैं तब पानी बन जाता है। यह विधान संसार भरमें सब कहीं और हर समयके लिए है। पर परिवर्तनशील मानव-स्वभाव और व्यवहारके कारण इस प्रकारका विधान हमें समाज-शास्त्रोंके अध्ययन में नहीं मिलता। राजनीतिक तथ्योंसे शुद्ध निष्कर्ष निकाल लेना और भविष्यके बारे में एक दम सही भविष्यवाणी कर सकना यदि असम्भव नहीं तो कठिन ज़रूर है। फिर भी काफी समय तक राजनीतिक तथ्योंका नज़दीकसे अध्ययन करनेके बाद हम ऐसे सामान्य विधान और सिद्धान्त निर्धारित कर सकते हैं जिनसे शासनकी व्यावहारिक समस्याओंको सुलझानेमें सहायता मिल सकती है।

हम मानव-समाज या राजनीतिक व्यवस्थाके साथ उस प्रकारके प्रयोग नहीं कर सकते जिस प्रकारके प्रयोग एक वैज्ञानिक भौतिक और रासायनिक द्रव्योंके साथ करता है। विभिन्न शासन प्रणालियोंके प्रभावोंको जाननेके लिए हम मनमाने ढंगसे एक राज्यमें लोकतंत्र और दूसरेमें कुलीनतंत्रकी स्थापना नहीं कर सकते। भौतिक

तथ्यों, और सामाजिक तथ्योंमें मौलिक अन्तर होता है। फिर भी प्रत्येक विधान एक प्रयोग ही है। और एक सतर्क विद्यार्थी विशेष तथ्यके आधार पर सामान्य निष्कर्ष निकाल सकता है। राजनीति-शास्त्रके अध्ययनसे हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं वे गणितके समान निश्चित नही होते। फिर भी इससे हमें सम्भाव्य सत्यों (probable truths) की खोजमें सहायता तो मिलती ही है। और 'सम्भाव्यका ज्ञान,' जैसा कि सैमुएल बटलर ने कहा है, 'जीवनका सुन्दर पथप्रदर्शक है।' भौतिक-शास्त्रमें भविष्यवाणी निश्चयात्मक हो सकती है। राजनीतिमें भविष्यवाणी किसी भी हालत में सम्भाव्यसे अधिक नहीं हो सकती (७)।

आजकलके बहुतसे विचारकोंने व्यावहारिक निष्कर्षकी प्राप्तिके लिए उन तरीकों पर विचार किया है जिनके द्वारा राजनीतिक तथ्योंका संकलन और वर्गीकरण किया जा सके। अगस्टस कॉम्ट के मतानुसार प्रधान रीतियाँ हैं—पर्यवेक्षण, प्रयोग, और तुलना। ब्लंश्ली का मत है कि दार्शनिक और ऐतिहासिक पद्धतियाँ सही पद्धतियाँ हैं। अनेक आधुनिक विचारकोंके मतमें निगमनात्मक-रीति (deductive) और स्वत: तुष्ट-सैद्धान्तिक पद्धति (dogmatic method) की अपेक्षा आगमनात्मक (inductive) या व्याप्तिमूलक (pragmatic) पद्धतियों द्वारा राजनीति-शास्त्रमें यथार्थ परिणाम अधिक यकीनी तौर पर निकाले जा सकते हैं। जिन पद्धतियोंको विचारक सामान्यत: पसन्द करते हैं वे ये हैं—

(१) प्रयोगात्मक पद्धति (experimental method),
(२) ऐतिहासिक पद्धति (historical method),
(३) तुलनात्मक पद्धति (comparative method),
(४) पर्यवेक्षणात्मक पद्धति (method of observation), और
(५) दार्शनिक पद्धति (philosophical method)।

इनमें से प्रथम चार पद्धतियोंमें बहुत अधिक समानता है और इसलिए ये चारों एक कोटिमें रखी जा सकती हैं। पाँचवी पद्धतिकी अपनी अलग श्रेणी है। इन दोनों पद्धतियोंके मिलनेसे ही महत्वपूर्ण नतीजा निकल सकता है। आगमनात्मक (inductive) और निगमनात्मक (deductive) पद्धतियाँ एक दूसरेकी पूरक हैं।

१. प्रयोगात्मक पद्धति (The experimental method)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है ऐसे शास्त्रमें जिसका विषय मानव समाज हो, जानबूझ कर प्रयोग करनेका मौका बहुत कम रहता है। मानव-प्रेरणाओं और मानवीय महत्वोंको एक रासायनिक द्रव्यकी तरह न तो तोला-नापा जा सकता है और न सरणि-बद्ध किया जा सकता है। फिर भी सभी विधान, नीतियाँ और राजनीतिक पद्धतियाँ प्रयोगके आवश्यक वृत्तके भीतर ही रहती हैं और इन प्रयोगोंके अध्ययनसे राजनीति-शास्त्र यथार्थ नतीजे निकाल लेता है। अपने चारों ओर लगातार होनेवाली राजनीतिक घटनाओं और नवीन प्रवर्तनों (innovations) पर ध्यान देकर उनसे नतीजा निकाल लेना उसका

काम है। सरकारें हमेशा जनसमुदायके साथ प्रयोग कर रही हैं। इतिहास बहुत बड़े पैमाने पर होनेवाला प्रयोग है।

आजकल हम अनजानमें किये गये प्रयोग पर भरोसा नहीं करते। जब और जहां परिस्थितियां मौक़ा देती हैं हम अपने पिछले अनुभवके आधार पर जानबूझकर राजनीतिक प्रयोग करते हैं। १८३९ ई० की डरहम रिपोर्टके आधार पर कनाडाको दिया गया उत्तरदायी स्वायत्त-शासन अथवा भारतको दिये गये वैधानिक सुधार और वैधानिक ढंगसे दी गयी पूर्ण स्वतंत्रता इसके उदाहरण हैं। इस प्रकार राजनीति-शास्त्रमें प्रयोगात्मक पद्धतिको स्पष्ट और निश्चित स्थान प्राप्त है।

२. ऐतिहासिक पद्धति (The Historical Method)

ऐतिहासिक पद्धतिको प्रयोगात्मक पद्धतिका ही एक स्वरूप समझना चाहिए। राजनीति-शास्त्रके विद्यार्थीके लिए इतिहासका ठीक तरहसे अध्ययन बहुत उपयोगी है। यह हमें राजनीतिमें जल्दबाजीमें किये गये एकतरफ़ा निर्णयोंसे बचाता है। राजनीतिक संस्थाओं और पद्धतियोंके जन्म, विकास और उत्थानके अध्ययन का महत्त्व इस बातमें है कि हम इससे भविष्यके पथ-प्रदर्शनके लिए निष्कर्ष निकाल सकते हैं। इतिहास हमें केवल बीती हुई बातें ही नहीं स्पष्ट करता; वह भविष्यकी व्यवस्था करनेकी कुंजी भी है।

ऐतिहासिक पद्धति प्रधानतः आगमनात्मक (inductive) है। इसका आधार पर्यवेक्षण और ऐतिहासिक तथ्योंका अध्ययन है। इस पद्धतिकी सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि यह महत्वों और मूल्योंका विचार न तो करती है और न कर सकती है। इस कमीको दार्शनिक या नैतिक पद्धतिसे पूरा करना पड़ता है जिनमें उद्देश्यों और महत्त्वोंका विवेचन रहता है। फिर भी अप्रत्यक्ष रूपमें ऐतिहासिक पद्धति हमें कार्योंकी भलाई व बुराईका फैसला करनेके लायक बना देती है। ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग करने में निम्नलिखित सावधानियां बरतना विद्यार्थीके लिए लाभदायक होगा—

(क) उसे ऊपरी समानताओं (superficial resemblances) और सादृश्यों (parallels) के भ्रम में न पड़ना चाहिए।

(ख) उसे वर्तमान और भविष्यका निर्धारण केवल अतीतसे ही न करना चाहिए। ऐतिहासिक पद्धतिको संकीर्ण रूढ़िवाद न बना देना चाहिए। कोई बात पहले कभी किसी एक खास ढंगसे हो चुकी है तो इसके माने यह नहीं है कि वर्तमान कालमें भी वह उसी ढंगसे हो।

(ग) उसे अपने पूर्व कल्पित विचारोंका इतिहास द्वारा समर्थन ढूंढनेके प्रलोभन से बचना चाहिए। उसका दृष्टिकोण एक दम वैज्ञानिक या निष्पक्ष होना चाहिए।

(घ) उसे याद रखना चाहिए कि "इतिहासकी पुनरावृत्ति होती है" वाली कहावत अर्ध-सत्य ही है। शेष अर्ध-सत्य यह है कि इतिहासकी पुनरावृत्ति कभी

नहीं होती। ऐतिहासिक परिस्थितियां कभी भी ठीक उसी प्रकार दुबारा नहीं उपस्थित होतीं 'हम नदीकी उसी धारामें दो बार डुबकी नहीं लगा सकते (७)'।

३. तुलनात्मक-पद्धति (The Comparative Method)

तुलनात्मक पद्धति ऐतिहासिक पद्धतिकी पूरक है। इस पद्धतिका प्रयोग अरस्तू के युगसे होता आ रहा है और आधुनिक युगमें डु टोक्वील, ब्राइस तथा अन्य विचारकोंने इसका सफल उपयोग किया है। यदि हम विभिन्न घटनाओंकी ठीकसे तुलना नहीं कर सकते तो इतिहासका अध्ययन व्यर्थ है। तुलनात्मक पद्धतिसे हमें घटनाओं का वर्णन करने, कारण और प्रभाव निश्चित करने और सामान्य सिद्धान्तकी स्थापना करनेमें सहायता मिलती है। इसमें हम बड़ी संख्यामें तत्वोंका संग्रह करते हैं, उन्हें क्रमबद्ध करते हैं और उन सबमें पाये जानेवाले समान तत्वोंको खोज निकालते हैं।

इस पद्धतिका लाभप्रद उपयोग करनेके लिए हमें समानताओंके साथ ही विभिन्नताओं पर भी ध्यान देना चाहिए। हमें निष्कर्ष निकालनेमें जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए। जिन तथ्योंसे हमें सामान्य तत्व निकालने हैं उनमें आपसमें बहुत अधिक विभिन्नता नहीं होनी चाहिए। तुलनाएँ बहुत दूर तक नहीं घसीटी जानी चाहिएँ और तुलनाएँ खींचतान कर नहीं करनी चाहिएँ। अस्पष्ट और अपूर्ण सामग्री पर निर्भर होकर सामान्य सिद्धान्त नहीं बनाने चाहिएँ। यह अधिक लाभप्रद होगा कि हम अपनी छानबीन उन्हीं राज्यों तक सीमित रखें जिनका विकास समान ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमिसे हुआ हो और जो समयके विचारसे नज़दीक हों।

सादृश्य पद्धति (analogical method) तुलनात्मक पद्धतिका एक विशेष रूप है। यह राजनीति-शास्त्रमे बहुत उपयोगी है बशर्ते कि सादृश्यको एकरूपता (identity) की सीमा तक न पहुँचा दिया जाय। दो चीज़ोंमें सादृश्य स्थापित करने का अर्थ उनमें एकरूपता क़ायम करना नहीं है। सादृश्य प्रमाण नहीं है। यह हमें सम्भाव्यका बोध करा सकता है निश्चयका नहीं।

४. पर्यवेक्षण-पद्धति (The Method of Observation)

तुलनात्मक पद्धतिकी तरह पर्यवेक्षण पद्धति भी आगमनात्मक (inductive) हैं। प्रेसीडेन्ट लोवेल का कहना है कि 'राजनीति एक पर्यवेक्षणात्मक विज्ञान है, प्रयोगात्मक नहीं। और पर्यवेक्षण पद्धति ही अनुसंधानकी सच्ची पद्धति है।' उनका कहना है कि एक पुस्तकालय राजनीति-शास्त्रकी प्रयोगशाला सीमित अर्थमें ही है। 'राजनीतिकी कार्यविधिके ज्ञान' के लिए पुस्तकें ज़्यादा-से-ज़्यादा उतना ही मौलिक स्रोत हैं जितना वे भूगर्भ-शास्त्र (Geology) या खगोल-शास्त्र (Astronomy) के लिए होती हैं। उनका यह भी कहना है कि 'राजनीतिक संस्थाओंकी वास्तविक कार्य-विधिकी प्रयोगशाला पुस्तकालय नहीं, बल्कि राजनीतिक जीवनका बाहरी संसार है।" इसी शालामें खोज और

पर्यवेक्षणका मौलिक काम होना चाहिए।[1] लार्ड ब्राइस ने पर्यवेक्षण पद्धतिका बहुत अधिक अनुसरण किया है। राजनीतिक संस्थाओंके वास्तविक कार्य-कलापोंका निकटसे पर्यवेक्षण इसका आधार है। अपने महान् ग्रन्थ *The American Commonwealth* और *Modern Democracies* के लिखनेके पहले लार्ड ब्राइस ने सम्बन्धित देशोंका भ्रमण किया, वहांके राष्ट्रीय नेताओंसे बातें कीं, सरकारोंकी कार्य-विधियोंका निरीक्षण किया और तब निष्कर्ष निकाले। निस्सन्देह ऐसी पद्धति जो स्वयं अपने पर्यवेक्षण और चिन्तन पर निर्भर हो ग्रहण करने और प्रशंसा करने योग्य है। इसका सीधा सम्बन्ध वास्तविकताओंसे रहता है और इसके विरुद्ध यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि यह भाव सूक्ष्म (abstract) और सैद्धान्तिक पद्धति है (It is in living touch with facts and is free from the charge of being abstract and doctrinaire)। फिर भी इस पद्धतिका प्रयोग सावधानीके साथ किया जाना चाहिए। जब तथ्य बहुत अधिक और परस्पर विरोधी हों तो शिक्षित और विवेक-सम्पन्न व्यक्ति ही सही निष्कर्ष निकाल सकता है। सही प्रमाणोंको बटोरने और संकलित-सामग्रीकी सही मतलब लगाने की सामर्थ्य उसमें होनी चाहिए। अपनी रुचिके अनुकूल चीजोंको देख लेने और अपनी रुचिके विपरीत चीजोंकी ओरसे आंखें बन्द कर लेनेकी आशंका रहती है। उसी प्रकार सारहीन चीजोंको ले लेने और तत्वपूर्ण सामग्रीको खो देनेका भी खतरा रहता है। निस्सन्देह तथ्योंका संग्रह करना पहला कर्तव्य है। पर तथ्य स्वयं और अकेले बहुत कम उपयोगी हैं। उनकी सही व्याख्या करनेके लिए और उन्हें सजीव और वास्तविक बनानेके लिए एक सूक्ष्मदर्शी और समर्थ दिमाग़की ज़रूरत है।

५. दार्शनिक-पद्धति (The Philosophical Method)

दार्शनिक पद्धति ऊपर बतायी गयी पद्धतियोंके विपरीत निगमनात्मक पद्धति है। रूसो, मिल और सिजविक इस पद्धतिके प्रधान पोषक और विवेचक हैं। यह पद्धति दार्शनिक और नैतिक कारणोंसे राज्यके स्वरूप और उद्देश्य पहले निश्चित करती है और फिर इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए सर्वोत्तम ढंगकी राजनीतिक संस्थाओं की खोज करती है। यह सूक्ष्म कल्पनाओंको (abstract concepts) लेकर चलती है और फिर इतिहासके वास्तविक तथ्योंसे उनका मेल मिलाने का प्रयत्न करती है। इस पद्धतिमें मुख्य खतरा यह है कि मूर की 'यूटोपिया' और प्लेटो की 'रिपब्लिक' की भांति ही, राजनीतिका विद्यार्थी कल्पना प्रधान और स्वप्नदर्शी बन जाता है। ऐतिहासिक तथ्योंसे दूर होकर खोखला आदर्शवादी बन जानेका भी खतरा रहता है। यूनानी दार्शनिकोंके युगसे लेकर मध्य-युगके शास्त्र-प्रेमियों और आधुनिक-युगके विचारकों ने एक आदर्श प्रकारके राज्यकी स्थापना पर यथेष्ठ ध्यान दिया है।

---

[1] 'The Physiology of Politics' American Political Science Review Vol. IV P. 8.

निष्कर्ष. एक सतर्क विद्यार्थी ऐतिहासिक और दार्शनिक पद्धतियोंको मिलानेका प्रयत्न करेगा। उसे निगमन द्वारा प्राप्त सिद्धान्तोंको अनुभव द्वारा प्राप्त वास्तविक तथ्योंकी कसौटी पर कसना चाहिए और जीवनके तथ्योंकी व्याख्या सूक्ष्म या कार्य-कारणानुगत तर्क-सिद्धान्तों (abstract or *a priori* principles) के आधार पर करनी चाहिए। उसे वास्तविकताकी कठोर भूमि पर क़दम जमाये हुए बुद्धिको आसमान तक ऊंची उड़ान भरने देना चाहिए। यथार्थ और आदर्शका सुन्दर सन्तुलन करनेका प्रयास करना चाहिए। उसे ऐसे यथार्थवादको ठुकरा देना चाहिए जो अपनी दृष्टि-परिधिके बाहर किसी तथ्यको स्वीकार न करे और ऐसे आदर्शको भी उसे कोई स्थान न देना चाहिए जो असाध्य हो। उसे अरस्तू और बर्क ऐसे विचारकोंका अनुकरण करना चाहिए जिन्होंने अपनी पुस्तकोंमें ऐतिहासिक और दार्शनिक पद्धतियोंका प्रयोग किया है।

इस निष्कर्षकी दृष्टिसे यह कुछ चिंताकी बात है कि आजकल बहुतसे अमरीकी लेखक प्राथमिक सिद्धान्तोंको छोड़कर पद्धतियों (methods), प्रविधियों (techniques) और कौशल (skills) पर अधिक ज़ोर देते हैं और महत्वोंके मूल्यांकन की परवाह नहीं करते हैं। इसके विपरीत जैसा कि डा० मैकफ़र्सन ने 'अमेरिकन पोलिटिकल साइन्स रिव्यू' (Vol. XLVIII, June 1954), में कहा है कि 'ग्रेट ब्रिटेनमें शुद्ध अव्यावहारिक प्रयोगोंको कम महत्त्व दिया जाता है और राजनीतिक संस्थाओं और पद्धतियोंका परीक्षण इस दृष्टिसे करनेकी प्रवृत्ति अधिक है कि इनसे कौन-सा उद्देश्य सिद्ध होता है और कौन-सा होना चाहिए।' ब्रिटेनके राजनीति-शास्त्री नई प्रविधियों (techniques) के पीछे अधिक परेशान नहीं होते। उस देशमें "मूल्यांकन प्राप्त निष्कर्षों का मान है और वास्तविकताओंसे अलग शुद्ध प्रयोगात्मक शैली पर स्पष्ट अविश्वास झलकता है।"

अमरीकामें भी प्रोफेसर जे० एच० हैलोवेल जैसे लेखक हैं जो कहते हैं "सामाजिक-शास्त्रोंको नयी शोध प्रविधियों (new research techniques) की उतनी ज़रूरत नहीं है जैसा कुछ लोग समझते हैं परन्तु उन्हें ऐसे विश्वासोंकी ज़रूरत है जो तर्क-संगत सिद्धान्तों पर आधारित हों।" (३१, २ पृष्ठ ४३६)।

Select Readings

Barker, E.—*Political Thought in England: Spencer to Present Day*—Chs. 5 and 6.

Barnes, H.E.—*Sociology and Political Theory*—Ch. 2.

Brown, Ivor.—*English Political Theory*—Ch. 1.

Catlin, G.E.G.—*The Science and Method of Politics*—Chs. 1-3.

Garner, J.W.—*Political Science and Government*—Chs. 1-3.

Gettell, R.G.—*Introduction to Political Science*—Ch. 1.

GETTELL, R.G.—*Readings in Political Science*—Introduction.
GILCHRIST, R.N.—*Principles of Political Science*—Ch. 1.
HALLOWELL, J.H.—*Main Currents in Modern Political Thought*—Chs. 1-3.
LEACOCK, S.—*Elements of Political Science*—pp. 3-12.
MERRIAM, C.E.—*New Aspects of Politics*—Chs. 3-4.
POLLOCK, G.—*Introduction to the History of the Science of Politics*—Ch. 1.
SEELEY, J.—*Introduction to Political Science*—Lectures 1 and 2.
SIDGWICK, H.—*Elements of Politics*—Ch. 1.
WILLOUGHBY, W.W.—*The Nature of the State*—Ch. 1.

२

राज्य का स्वरूप

(The Nature of the State)

सामाजिक संस्थाओंमें से राज्य सबसे अधिक व्यापक (universal) और शक्तिशाली है। जहाँ कहीं भी कुछ समय तक मनुष्य एक साथ रहे हैं वहीं हमें संगठन और सत्ताका प्रयोग देखनेको मिलता है और यही दोनों राज्यकी नींव हैं। ससारमें ऐसे लोगोंका एक ही उदाहरण है जिनका समाज तो है पर राज्य नहीं और ये लोग एस्किमो हैं, जिन्हें टॉएन्बी (Toynbee) ने 'कुंठित सभ्यतावाले' कहा है (७८)।

जैसा कि यूनानी लेखकोंने हमें बताया है, राज्य एक स्वाभाविक तथा आवश्यक संस्था है। सिरदर्द स्वाभाविक हो सकता है पर यह आवश्यक नहीं है। राज्य स्वाभाविक इस मानेमें है कि इसका जन्म मनुष्योंकी मूल प्रवृत्तियोंसे और इसका विकास क्रमशः हुआ है। अरस्तू का कहना है कि मनुष्य स्वभावतः राजनीतिक प्राणी है। उनकी राय है कि परिवारका विकास होनेसे गांव बनता है और जब कई गांव मिल जाते हैं तो नगर या राज्य बन जाता है। प्रत्येक नगर 'प्रकृतिकी ही रचना है'। अरस्तू का कहना है कि राज्यमें रहना और मनुष्य होना एक ही बात है; क्योंकि यदि कोई राज्यका सदस्य नहीं है या राज्यका सदस्य होने लायक नहीं है तो वह या तो देवता है या जानवर; वह या तो राज्यके ऊपर है या नीचे। आधुनिक लेखक कभी-कभी मनुष्यकी राजनीतिक प्रवृत्तियोंकी चर्चा करते हैं। इससे उनका मतलब है कि राज्य की जड़ें मनुष्यकी प्राकृतिक प्रेरणाओंमें हैं और उसे आसानीसे निर्मूल नहीं किया जा सकता। राज्यका विकास होता है, वह स्थायी है और एक बार नष्ट कर दिये जाने पर वह फिर प्रकट होता है। यदि यह कहा जाय कि राज्य परिवारकी तरह स्वाभाविक संस्था नहीं वरन् मनुष्यकी कुछ जरूरतोंका कृत्रिम रूप है तो हमारा उत्तर यह है कि 'मनुष्यके लिए कृत्रिम होना स्वाभाविक है (३७)।' पर हमारा विश्वास है कि राज्य कृत्रिम नहीं है। हम राज्यमें ही पैदा होते हैं। यह हमारी इच्छा पर नहीं है कि हम चाहें तो राज्यमें पैदा हों और न चाहें तो न हों या जिस राज्यमें चाहें पैदा हों। राज्यसे सम्बन्ध तोड़नेका अधिकार भी हमें नहीं है। स्पेंसर का यह कहना ग़लत है कि व्यक्तिको 'राज्यकी उपेक्षा करनेका अधिकार है'।

मनुष्यके उत्थान और विकासके लिए राज्य आवश्यक है। इसके बिना मनुष्य पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता। अरस्तू का कहना है कि राज्यकी स्थापना हमें जिन्दा

रखनेके लिए होती है और जीवनको सुखी बनानेके लिए वह क़ायम रखा जाता है। उन्हींके शब्दोंमें 'राज्यका जन्म जीवनकी साधारण आवश्यकताओंसे होता है और फिर अच्छे जीवनके लिए उसका अस्तित्व रहता है।' दूसरे शब्दोंमें आर्थिक आवश्यकताओंकी पूर्ति ही राज्यके जन्मका मुख्य कारण है। पर यह क़ायम इसलिए रहता है कि इसके बिना सुखी, सभ्य और सुसंस्कृत जीवन सम्भव नहीं है। अरस्तू के गुरु प्लेटो की रायमें राज्यकी आवश्यकता इसलिए है कि कोई भी मनुष्य स्वतः पूर्ण नहीं है। मनुष्यको अपने विकासकी मंजिलमें जिस सामाजिक सहयोग और प्रयासकी जरूरत पड़ी है राज्य उसी सहयोग और प्रयासका प्रकट रूप है।

राज्य सभी सामाजिक संस्थाओंमें सबसे अधिक व्यापक और शक्तिशाली है; यह स्वाभाविक और आवश्यक है। आइये अब देखा जाय कि राज्य है क्या?

राज्यकी बहुत-सी और विविध परिभाषाएँ देनेके प्रयत्न हुए हैं। सबसे अधिक संतोषजनक परिभाषाओंमें से हम कुछ का उल्लेख करेंगे।

राज्य की परिभाषाएँ (Definitions of the State)

हॉलैण्ड (Holland) राज्यकी परिभाषा करते हुए कहते हैं कि राज्य बहुसंख्यक मनुष्योंका एक समुदाय है जिसके अधिकारमें आमतौर पर एक भू-प्रदेश रहता है, जिसमें बहुमतकी इच्छाका या बहुमतके बल पर कुछ व्यक्तियोंके एक निश्चित वर्गकी इच्छाका बोलबाला उन लोगोंके ऊपर रहता है जो उस इच्छा का विरोध करते हैं। फ़िलिमोर (Philimore) ने अन्तर्राष्ट्रीय विधानकी दृष्टिसे विचार करते हुए राज्यकी परिभाषा इस प्रकार की है: 'राज्य वह जन समाज है जिसका एक निश्चित भू-भाग पर स्थायी अधिकार हो, जो सामान्य क़ानूनों, आदतों और रीति-रिवाजों द्वारा एक राजनीतिक संस्थामें बंधा हो, जो एक संगठित सरकार के द्वारा स्वतंत्र सम्प्रभुता उपभोग कर रहा हो, जिसका नियंत्रण अपनी सीमाके भीतरके सभी व्यक्तियों और वस्तुओं पर हो, और जो युद्ध छेड़ने व शांति स्थापित करने तथा संसारके सभी समुदायोंसे सब प्रकारके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ हो।'

बर्गेस (Burgess) राज्यको एक संगठित इकाईके रूपमें माना जानेवाला मानव जातिका कोई अंग विशेष बतलाते हैं। यह परिभाषा वही है जो ब्लंश्ली (Bluntschli) ने दी है जिसके अनुसार 'राज्य एक निश्चित भू-भागमें रहनेवाले राजनीतिक तौर पर संगठित लोगोंको कहते हैं।' विल्सन (Wilson) की परिभाषा सूक्ष्म और सरल दोनों है। उनके अनुसार राज्य 'एक निश्चित भू-भागमें क़ानून स्थापित करनेके लिए संगठित लोग हैं।'

आधुनिक लेखकों द्वारा दी गयी परिभाषाओंमें से गार्नर (Garner) और मैकाइवर (MacIver) की परिभाषाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

गार्नर कहते हैं: 'राजनीति-शास्त्र और सार्वजनिक विधानके विचारसे राज्य ऐसे लोगोंका समुदाय है जो साधारणतः अधिक संख्यामें हों, जिसका एक निश्चित

भू-प्रदेश पर स्थायी अधिकार हो, जो बाहरी नियंत्रणसे स्वतंत्र या लगभग स्वतंत्र हो और जिनकी एक संगठित सरकार हो तथा जिसकी आज्ञाओंका पालन अधिकांश जनता स्वभावतः करती हो (२३ : ५२)।'

बहुलवाद (pluralism) का पुट लिए हुए मैकाइवर (MacIver) की परिभाषा इस प्रकार है: 'राज्य एक संघ है जो क़ानूनकी सहायतासे ऐसे समाजमें पूर्ण बाह्य व्यवस्था बनाये रखता है जिसके निवासी एक निश्चित भूखंड पर बसे हुए हों और जिसके क़ानूनको ऐसी सरकारने लागू कर रखा हो जिसके पास उस क़ानूनको ज़बर्दस्ती मनवानेकी ताकत हो (५५)।' कई दृष्टियोंसे सर्वोत्तम इस परिभाषामें, क़ानून मनवानेकी शक्ति (coercive power), सामाजिक एकता, निश्चित भू-खंड और 'पूर्ण बाह्य व्यवस्था बनाये रखना' आदि उन तत्वों पर ज़ोर दिया गया है जिन पर राज्यकी स्पष्ट परिभाषा देते समय विचार होना ही चाहिए।

लास्की (Laski) राज्यकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं: "एक क्षेत्रीय समाज जो सरकार और प्रजामें बंटा हुआ हो और अपने निश्चित भू-प्रदेशके भीतरकी अन्य सभी संस्थाओंमें से सर्वोपरि हो (४७ : २१)।' अपनी एक दूसरी पुस्तकमें लास्की राज्यको एक ऐसा संगठन बतलाते हैं जो सामाजिक कल्याणके लिए शक्ति (coercive power) का उपयोग करता है (५० : ६९)। अर्नेस्ट बार्कर (Ernest Barker) का कहना है कि 'राज्य एक विशिष्ट (particular) और खास (special) संस्था है जिसका मुख्य उद्देश्य क़ानूनी व्यवस्थाकी अनिवार्य योजनाको क़ायम रखना ही है और इसीलिए जो निर्धारित और निश्चित अधिकारियों द्वारा लागू किये गये क़ानूनकी सहायतासे काम करती है।'[१]

हीगेल (Hegel) द्वारा की गयी परिभाषा तथा उसी प्रकारकी अन्य परिभाषाएं बहुत भावसूक्ष्म (abstract) और प्रायः एकतरफ़ा हैं। अभी हालके एक लेखकने राज्यकी निम्नलिखित परिभाषा यह दी है : "मनुष्योंका संगठित समुदाय जो एक ही सरकारके अधीन हो और एक निश्चित भू-प्रदेशमें रहता हो।"

राज्य, समाज, सरकार, राष्ट्र और राष्ट्रीयतामें भेद

राज्य और समाज एक नहीं हैं।[२] अर्नेस्ट बार्कर[३] लिखते हैं कि समाज और राज्य दोनोंका एक ही नैतिक उद्देश्य है। फलतः दोनों एक दूसरेकी ओर झुकते हैं

---

[१] प्रिंसिपुल्स आफ़ सोशल एण्ड पोलिटिकल थियरी, १९५०, पृष्ठ ३।

[२] प्रो० मैकाइवर ठीक ही लिखते हैं: "सामाजिक और राजनीतिक दोनोंको एक ही अर्थमें प्रयोग करना बहुत भद्दी भूल करनेका दोषी बनना है, ऐसी भूल जो समाज और राज्य दोनोंके अर्थ पर पूरा-पूरा पर्दा डाल देती है। (५४ : ४-५)

[३] पोलिटिकल थॉट फ़्रॉम स्पेन्सर टु द प्रेज़ेन्ट डे—पृष्ठ ६७।

और एक दूसरेसे लाभ उठाते हैं। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि 'समाजका क्षेत्र ऐच्छिक सहयोग है, उसकी शक्ति सद्भावना है और उसकी पद्धतिमें लचीलापन (elasticity) है, जब कि राज्य का क्षेत्र यंत्रवत् कार्य है, तथा उसकी शक्ति बल प्रयोग और उसकी पद्धति कठोरता है।' प्राचीन यूनानी विचारक राज्य और समाजमें अन्तर नहीं मानते थे। राज्य और समाजको एक माननेका कारण नगर राज्योंकी विशेष परिस्थितियां थीं। यह नगर-राज्य आकारमें छोटा और आबादीमें घना (compact) था। सभी नागरिक एक दूसरेको जानते-पहचानते थे और एक साथ सभाओंमें मिलकर क़ानून बनाते थे और मजिस्ट्रेटोंको चुनते थे। उनके हित समान थे। जिन समस्याओंका उन्हें मुक़ाबिला करना पड़ता था वे साधारण होती थीं। इन परिस्थितियोंमें नगरको ही मानवका कुल जीवन मान लेना यूनानियोंके लिए स्वाभाविक था। यूनानी अपने नगर या राज्यको अपना और अपनेको उसका मानते थे। नगरके कार्य बहुमुखी थे तथा वह, राज्य, धर्म-संघ (Church) और विद्यालय सभी था। यूनानियोंके लिए सामाजिक जीवन नागरिक जीवन था।

१. राज्य और समाज (The State and Society)

सर्वगुणसम्पन्न समाज-राज्यमें यूनानी निष्ठा रखते थे। आधुनिक युगमें हीगेल ने इससे उल्टा दृष्टिकोण अपनाया। उसने समाजके राज्यके बजाय राज्यके समाजकी धारणा सामने रखी। इस धारणाने तानाशाहीके लिए रास्ता साफ़ कर दिया।

राज्य और समाजको एक मानना यूनानियोंके लिए चाहे जितना उपयुक्त रहा हो पर हमारे लिए दोनोंको एक समझनेका अब कोई कारण नहीं रहा। शुद्ध अर्थमें राज्य एक राजनीतिक संस्था है। यह राजनीतिक ढंगसे संगठित समाज है। राज्यकी अपेक्षा समाज अधिक व्यापक भी है और संकीर्ण भी। समाज शब्दका प्रयोग गांवके एक छोटे समुदायसे लेकर कुल मानव-जाति तकके लिए किया जा सकता है। व्यापक अर्थमें समाज किसी एक राज्य या राष्ट्रकी सीमाओंसे परे है जैसे इस्लामी-समाज या 'फ्री मेसन ब्रदरहुड' (Free Mason Brotherhood)।

राज्य समाजका अंग है, उससे एकरूप (identical) नहीं। यह अनायास एक साथ रहनेवाले और आपसमें परस्पर सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियोंका झुण्ड नहीं है। राज्य व्यक्तियोंका ऐसा समूह है जो राजनीतिक सम्बन्धोंसे बँधा हो, जो किसी सरकारके अधीन और उसके द्वारा संगठित हो और जिसका आधिपत्य किसी निश्चित भू-भाग पर हो। समाज अधिकतर परम्पराओं द्वारा अपने अधिकारोंका प्रयोग करता है। राज्य अपने अधिकारोंका प्रयोग अपने द्वारा बनाये गये और सरकार द्वारा लागू किये गये क़ानूनोंके ज़रिये करता है। केवल राज्य ही क़ानूनन शक्तिका प्रयोग कर सकता है। समाज तो नैतिक दबाव या प्रभाव और सामाजिक बहिष्कारका प्रयोग करता है। सामाजिक कर्त्तव्योंका उल्लंघन करनेके अपराधमें समाज किसी भी व्यक्तिको जेलमें बन्द नहीं कर सकता। अर्नेस्ट बार्कर की भाषामें 'समाजका क्षेत्र है सहयोग, इसकी शक्ति है सद्भावना और लचीलापन इसकी पद्धति है। राज्यका क्षेत्र है यांत्रिक कार्य-

शीलता, शक्ति है बल-प्रयोग और कठोरता इसकी पद्धति है। मैकाइवर के शब्दोंमें 'राज्य एक संगठन है जो न तो समाजका समवयस्क है और न समाजके समान व्यापक। उसका संगठन समाजके भीतर निश्चित उद्देश्योंकी प्राप्तिके लिए किया जाता है (५५, ४०)'। समाजके लिए राज्यके महत्वको बार्कर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है "समाज राज्य द्वारा क़ायम रखा जाता है और यदि समाज इस प्रकार क़ायम न रखा जाय तो इसका अस्तित्व ही न रहे (३,११८-१९)" ईंटोंकी दीवारमें ईंटें यदि समाज हैं तो उनके बीचमें लगी सीमेंट राज्य, जो ईंटोंको यथा स्थान बनाये रखती हैं ताकि दीवार ज्योंकी त्यों क़ायम रहे।

बार्कर ने अपनी नई पुस्तक 'प्रिन्सिपुल्स ऑफ सोशल ऐन्ड पोलिटिकल थियरी' में राज्य और समाजके भेदोंको निम्नलिखित तीन शीर्षकोंमें साफ़-साफ़ बतलाया है: (१) उद्देश्य या कार्य, (२) संगठन और बनावट, (३) पद्धति। उद्देश्यकी दृष्टिसे राज्य एक वैधानिक संस्था है। विधान और व्यवस्थाको स्थायी ढंगसे निर्माण कर उसे लागू करना उसका उद्देश्य है। और वह इसके वैधानिक उद्देश्यको पूरा करने के लिए ही कार्य करती है। किन्तु समाज अनेक संस्थाओंसे बननेके कारण वैधानिक उद्देश्यसे भिन्न अन्य विविध उद्देश्योंकी पूर्ति करनेका प्रयत्न करता है। ये विविध उद्देश्य हैं: बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक, आर्थिक, कलात्मक और मनोरंजनात्मक। राज्य और समाजकी सदस्यता बिल्कुल एक-सी हो सकती है। पर उनके उद्देश्य भिन्न होते हैं। "राज्यका अस्तित्व एक ही महान् उद्देश्यके लिए होता है। समाजके उद्देश्य अनेक होते हैं, कुछ बड़े और कुछ छोटे; पर सब मिलकर व्यापक और गहरे हो जाते हैं।"[1]

संगठनके विचारसे राज्य एक अकेली वैधानिक संस्था है जबकि समाजके भीतर अनेक संस्थाएँ रहती हैं।

जहां तक पद्धतिका सम्बन्ध है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है,राज्य बल और दबावका प्रयोग करता है। समाज स्वतः सहयोगकी पद्धति अपनाता है। जिन उद्देश्यों के लिए समाजका अस्तित्व है वे उद्देश्य समझाने-बुझानेकी पद्धतिको आवश्यक बना देते है। समाजके भीतर अनेक संगठन होनेके कारण सदस्योंको मौक़ा रहता है कि बलका प्रयोग किये जाने पर वे एक संस्था को छोड़कर दूसरीमें शामिल हो जायं।

२. राज्य और सरकार (The State and Government)

अपने साधारण वार्तालापमें हम राज्य और सरकार शब्दोंका प्रयोग एक ही अर्थमें अदल-बदलकर किया करते हैं। पर थोड़ा-सा विचार करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों एक ही नहीं हैं। सरकार राज्यका यंत्र या साधन है 'राज्य स्वयं एक आदर्श व्यक्ति है जो अस्पष्ट, अदृश्य और स्थिर है। सरकार एजेन्ट है; सीमाके भीतर यह राज्यकी प्रतिनिधि है।

---

[1] बार्कर: प्रिंसिपुल्स ऑफ़ सोशल एण्ड पोलिटिकल थियरी, पृष्ठ ४२।

सीमाके बाहर हो जाने पर वह ग़ैरक़ानूनी है।'[1] रूसोके शब्दों में 'सरकार एक सजीव यंत्र है।' सरकार राज्यका व्यावहारिक संगठन है जो राज्येच्छा निर्धारित करता है, उसका प्रकाशन करता है और उसे पूरा करता है। सरकार राज्यके उद्देश्यों और लक्ष्योंकी पूर्तिका साधन है।[1] सरकारके बिना राज्य का कोई अस्तित्व नहीं है। राज्य अधिकतर सूक्ष्म धारणा है पर सरकार वास्तविक तथ्य है। राज्य स्थायी और स्थिर है, सरकार अस्थायी और परिवर्तनशील है। सरकारमें परिवर्तन होते रहंते हैं। पर इन परिवर्तनोंसे राज्यके स्थायित्वमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

राज्योंके अस्तित्व समाप्त होनेके मुख्य तरीक़े ये हैं:—

(१) पराजयके बाद विजयी राज्यमें मिला लिया जाना।

(२) स्वेच्छापूर्वक दूसरे राज्यमें मिल जाना।

(३) राज्यकी धरती या निवासियोंका विनाश।

इनके क्रमिक उदाहरण हैं:—

(१) १८६६ में पराजित हनोवर राज्यका प्रशाके राज्यमें मिला लिया जाना।

(२) इटलीके छोटे-छोटे राज्योंका इटालियन राज्यमें मिल जाना या मिस्र और सीरिया द्वारा संयुक्त अरब गणराज्यका निर्माण (१९५८)।

(३) विलियम ऑफ़ ऑरेंज (William of Orange) की यह धमकी कि वह नीदरलैन्डस् (Netherlands) के बांधोंको तोड़कर राज्यका विनाश कर देगा पर स्पेन वालोंसे पराजित न होने देगा।

सरकारके अधिकार मौलिक नहीं हैं। ये अधिकार उसे राज्यसे मिलते हैं। सरकारके कार्य तीन प्रकारके होते हैं: शासन-व्यवस्था सम्बन्धी (executive), विधि-निर्माण सम्बन्धी (legislative) और न्याय-व्यवस्था सम्बन्धी (judicial)। सरकारसे किसी राष्ट्रकी प्रतिभाका पता चलता है।

३. राज्य, राष्ट्र और राष्ट्रीयता (The State, Nation and Nationality)

राजनीति-शास्त्रमें राज्य, राष्ट्र या राष्ट्रीयता शब्दोंका प्रयोग बहुधा एक ही अर्थ में हुआ है। आज भी राजनीतिक विचारक साधारणत: 'राष्ट्र' और 'राष्ट्रीयता' शब्दोंका सावधानीसे अलग-अलग अर्थोंमें उपयोग नहीं करते। अर्थकी स्पष्टता तथा बिल्कुल सही प्रयोगके लिए इन शब्दोंका प्रयोग पृथक्-पृथक् चीज़ोंके लिए होना चाहिए। राज्य, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, एक राजनीतिक संगठन है। राज्य और राष्ट्रीयता एक हो भी सकते

---

[1] संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा पॉइन्डेस्टर बनाम ग्रीनशो के मुक़दमेमें (११४ यू० एस० २७०)।

[1] प्रोफ़ेसर लास्की (Laski) 'सरकारको राज्यका प्रतिनिधि या एजेन्ट कहते हैं। उसका अस्तित्व राज्यके उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए होता है। सरकार स्वत: दबाव डालनेवाली सर्वोपरि सत्ता नहीं है, वह तो केवल शासन-यंत्र है जो उस सत्ताके उद्देश्यों को कार्य-रूप देता है (५०, २३)।'

हैं और नहीं भी। जब एक राज्य में एक ही या करीब-करीब एक ही जाति (nationality) के लोग रहते हैं तो वह राष्ट्र-राज्य (nation-state) होता है। पर जब एक राज्यमें एकसे अधिक जातियां रहती हैं या एक जातिके लोग कई राज्योंमें रहते हैं तो राज्य और जाति एक नहीं रहते। राष्ट्रका मतलब है खुद अपना शासन करनेवाली जाति। गिल्क्राइस्ट (Gilchrist) के कथनानुसार राज्य और जातीयता दोनों मिलकर राष्ट्र बनता है। इन्हीं लेखकका कहना है कि आजकल राष्ट्र शब्दका निश्चित राजनीतिक अर्थ हो गया है। "इसका मतलब है एक राज्यमें ऐसा संगठित समुदाय जो स्वयं एक इकाईकी तरह काम करता हो।" राष्ट्रीयता मुख्यत: एक संस्कृति और एक रक्त-सम्बन्ध (ethnic) की द्योतक है। यह लोगोंकी आध्यात्मिक भावना (spiritual sentiment) पर निर्भर है। निम्नलिखित बातोंसे जातीयता या राष्ट्रीयता बनती है: भौगोलिक एकता, सामान्य जातीय उत्पत्ति, एक संस्कृति, एक भाषा, धर्म, रीति-रिवाज और परम्पराओंकी एकता, सामान्य इतिहास, सामान्य आर्थिक हित और राजनीतिक संस्थाएं, सामान्य आशाएं और अभिलाषाएं, इत्यादि राष्ट्र बननेके लिए किसी जनसमूहमें ऊपर बताई गयी सभी बातोंका पाया जाना जरूरी नहीं है। फिर भी इनमें से कुछके बिना राष्ट्रीयताकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। राजनीतिक दृष्टिसे राष्ट्रीयताका अर्थ है एक साथ मिलकर काम करनेकी प्रवृत्ति।

उन्नीसवीं शताब्दीके शुरूसे यह धारणा जोर पकड़ रही है कि एक जाति होनेका दावा करनेवाले प्रत्येक जनसमूहको स्वतंत्र राजनीतिक संगठन बनाने दिया जाय। इस आन्दोलनको प्रथम विश्व-युद्धके दौरानमें बहुत बल मिला और इसने 'राष्ट्रीय आत्मनिर्णय' और 'एक राष्ट्र, एक राज्य' जैसे सबल सिद्धान्तोंका रूप ले लिया।[1] इस नये सिद्धान्त या सूत्रको राजनीतिक प्रगतिका लक्ष्य माना जाय या नहीं इस प्रश्न पर बादमें विचार किया जायगा।

राष्ट्र और जातिमें हमने जो अन्तर बतलाया है इससे भिन्न अन्तर लोग प्राय: इन शब्दोंमें मानते हैं। गेटेल का कहना है—काफ़ी भ्रम इसलिए हो जाता है कि लेखकगणमें 'राष्ट्र' और 'राष्ट्रीयता' शब्दोंके प्रयोगके बारेमें एकमत नहीं हैं। कुछ लोग 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ लेते हैं ऐसा जन-समूह जिसमें रक्त, वंश या जातिकी एकता हो, राजनीतिक सम्बन्धोंकी वे लोग परवाह नहीं करते। कुछ लोग इसका अर्थ और व्यापक बनाकर इसमें राजनीतिक एकताको भी शामिल कर लेते हैं और 'राष्ट्र' तथा 'राज्य' को एक ही मानते हैं। कुछ लोग राष्ट्रीयतासे वह सिद्धान्त या विशेषता समझते हैं जिससे एक राष्ट्र बनता है। दूसरे लोग 'राष्ट्र' शब्दका अर्थ लेते हैं ऐसा जन-समूह जो एक ही जातिका हो, जिसकी एक ही भाषा हो, सामान्य परम्पराएँ हों, जो एकही भू-भागमें रहता हो, और जो उस भू-भागके समस्त निवासियोंमें बहुसंख्यक हो। इसके विपरीत वे लोग राष्ट्र शब्दका अर्थ बतलाते हैं किसी भू-भागमें बिखरा

---

[1] राष्ट्र शब्दका प्रयोग यहां राष्ट्रीयताके रूपमें हुआ है।

हुआ ऐसा समुदाय जिसमें रक्त या वंशकी एकता हो और जो समस्त निवासियोंका छोटा भाग हो (२६-१५९)।

राज्यके सम्बन्धमें एकतरफ़ा या भ्रामक विचार
(One-Sided or False Views of the State)

राजनीति-शास्त्रमें शायद ही किसी दूसरे शब्द ने इतना अधिक भ्रम पैदा किया हो जितना कि 'राज्य' शब्द ने। राजनीति-शास्त्रके प्रायः प्रत्येक लेखक ने 'राज्य' शब्दकी अपनी परिभाषा दी है। शायद ही कोई ऐसे दो विचारक हों जो 'राज्य' शब्दकी संतोषजनक परिभाषाके बारेमें एक मत हों। मैकाइवर ने अपनी पुस्तक 'मार्डन स्टेट' (Modern State) में राज्यके सम्बन्धमें प्रचलित उन सभी विचारोंका संकलन किया है जो या तो संकीर्ण और एकांगी हैं या बिल्कुल भ्रामक।

(१) 'दि स्टेट (The State)' नामक पुस्तकके लेखक ओपेनहीमर (Oppenheimer) जैसे लेखकोंकी रायमें 'राज्य' मूलतः एक वर्ग-व्यवस्था है, 'एक ऐसे वर्गका संगठन जो दूसरे वर्गों पर हावी हो।' या जैसाकि एक दूसरे लेखक का कहना है "राज्य उस वर्गके कर्मचारियों और अधिकारियोंका समूह (staff) है जिसके पास आर्थिक शक्ति हो।" यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि यह राज्यका मखौल है न कि सही विवेचन। राज्यके सम्बन्धमें यह धारणा कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के विचारोंसे मेल खाती है जिनकी रायमें आधुनिक राज्य अमीरों द्वारा गरीबोंके शोषणका साधन मात्र है। राज्यके सम्बन्धमें ओपेनहीमर की परिभाषा कुछ समय तथा कुछ राज्योंके लिए भले ही सही हो पर वह सभी राज्योंके बारेमें हमेशा सही नहीं हो सकती। यह व्याख्या एक साधारण राज्यकी अपेक्षा विकृत-राज्य पर अधिक लागू होती है। एक साधारण और सुव्यवस्थित राज्यमें व्यक्तिगत या वर्ग-स्वार्थोंकी अपेक्षा सार्वजनिक हितोंको प्रधानता दी जाती है।

(२) कुछ लोग राज्यको शक्ति-व्यवस्था ही मानते हैं। वे शक्तिकी भाषामें ही राज्यकी व्याख्या करते हैं। सबसे पहले मैकियावेली ने इस विचारधाराको जन्म दिया। त्रीत्श (Treitschke) जैसे अनेक जर्मन लेखक प्रथम महायुद्धके दिनोंमें इसी दृष्टिकोणका समर्थन करते थे। हम इस विचारधारासे एकदम असहमत हैं। निस्सन्देह शक्ति राज्यका एक अनिवार्य अंग है पर वह राज्यका आधार नहीं है। शक्तिसे ही कभी कोई बात न्याय-संगत नहीं बन सकती। न्यायके लिए ही शक्तिका प्रयोग ठीक कहा जा सकता है। टी० एच० ग्रीन ने ठीक ही कहा है: "राज्यका आधार शक्ति नहीं, इच्छा (will) है।" शक्ति राज्यका चिह्न है। विवेकशील नागरिक सुव्यवस्थित राज्यकी आज्ञा इसलिए मानते हैं कि वे महसूस करते हैं कि राज्यकी आज्ञा मानकर वे अपनी अच्छाइयों और स्वार्थरहित व्यक्तिगत इच्छाओं का अनुगमन करते हैं। राज्यकी आज्ञा मानना उस हालतमें बहुत ही उचित होता है जब

हम आज्ञाका पालन करते समय यह अनुभव करते हैं कि सुव्यवस्थित राज्यके कहने पर चलकर हम सबकी भलाई करते हैं और सबकी भलाईमें ही व्यक्तिगत भलाई भी है।

हैलोवेल (Hallowell) ने इस दृष्टिकोणकी ठीक ही आलोचना की है कि राजनीति केवल 'शक्तिके लिए संघर्ष' है। उनका कहना है कि इस विचारधारामें शक्तिका प्रयोग किया जाना तो माना गया है, पर इस पर विचार नहीं किया गया है कि शक्तिका प्रयोग क्यों किया जाता है।

(३) ग्रोशियस (Grotius) और अल्थ्यूशियस (Althusius) जैसे विचारक राज्यको कल्याणकारी व्यवस्था मानते हैं। इस सिद्धान्तका एक रूप यह है कि राज्य एक सार्वजनिक उपयोगिता कम्पनीकी भांति है। हम निस्संकोच कह सकते हैं कि राज्यके बारेमें यह अत्यन्त संकीर्ण दृष्टिकोण है। इसमें सन्देह नहीं कि सार्वजनिक कल्याण करना राज्यका महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। पर राज्यको यू० पी० एलेक्ट्रिक सप्लाई कम्पनी जैसी सार्वजनिक उपयोगिता कम्पनियोंके समान मान लेना बिल्कुल ग़लत है। राज्य किसी भी मानेमें कम्पनी नहीं है। राज्यका सदस्य होना या न होना हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं करता। हम जन्मना राज्यके सदस्य होते हैं। हम जब चाहें तब राज्यमें प्रवेश नहीं कर सकते और जब चाहें तब इसे छोड़ नहीं सकते। राज्यको कम्पनी माननेवाला दृष्टिकोण इस तथ्यको भुला देता है कि सार्वजनिक-कल्याणकी व्यवस्था होनेके साथ-साथ राज्यका अपना जीवन, अपनी इच्छा और अपना व्यक्तित्व होता है और ये चीजें राज्यके व्यक्तिगत सदस्योंके जीवन, इच्छा और व्यक्तित्वसे भिन्न होती हैं।

जब एक ओर संसारमें बहुतसे लोग 'कल्याणकारी राज्य' या 'मंगलकारी-राज्य' को अपना त्राता मानकर उसका स्वागत करते हैं, तब दूसरी ओर संयुक्त राज्य अमरीका के बहुतेरे लोग इसे अभिशाप मानते हैं। इसका कारण यह है कि अमरीकामें कल्याणकारी राज्यका अर्थ अगर साम्यवाद नहीं तो समाजवाद जरूर समझा जाता है। और इन दोनोंका वहां व्यक्तिवादी पृष्ठभूमिके कारण तीव्र विरोध है। पर इसके साथ ही अमरीकाकी अपनी सम्पूर्ण योजना भी है जिसमें सामाजिक सुरक्षा, कॉलेजके स्तर तक निःशुल्क शिक्षा और 'टेनेसी वैली अथॉरिटी' के नाम से प्रसिद्ध एक विशाल नदी घाटी (जलविद्युत्) योजना शामिल है। भारतमें अधिकांश लोग कल्याणकारी राज्यको एक सराहनीय लक्ष्य स्वीकार करते हैं। इस लक्ष्यमें अनेक दिशाओंमें, विशेषकर सामाजिक न्यायके क्षेत्रमें, राज्यके कार्य-क्षेत्रका विस्तार निहित है।

(४) कुछ ऐसे भी लेखक हैं जिनकी रायमें राज्य एक बीमा कम्पनी जैसी संस्था है जिसका उद्देश्य पारस्परिक सुरक्षा है। सौभाग्यसे ऐसे लोगोंकी संख्या घट रही है। हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) इस सिद्धान्तके प्रधान पोषक थे। उनकी सम्मति में राज्य 'पारस्परिक आश्वासनके लिए एक संयुक्त सुरक्षा-कम्पनी (Joint stock protection company) है।' हम पहले ही देख चुके हैं कि राज्यकी तुलना किसी कम्पनीसे नहीं की जा सकती, बीमा कम्पनीसे तो और भी नहीं। इस प्रकारके विचार

राज्यके प्रति न्याय नहीं करते। राज्यमें व्यक्ति और समाजके हितोंमें गहरा सम्बन्ध है और उन्हें एक दूसरेसे स्पष्ट तौर पर अलग नहीं किया जा सकता। यदि पारस्परिक सुरक्षामात्र राज्यके अस्तित्वका उद्देश्य है तो फिर समूचे समाजके विरुद्ध अपनी सुरक्षाके लिए एक होकर रहनेवाले डाकुओंके गिरोहको 'राज्य' कहने में क्या आपत्ति हो सकती है? इस प्रकार आत्म-रक्षा करनेवाला कोई भी दल अपने आपको 'राज्य' कह सकता है।

(५) कुछ लोग राज्यकी व्याख्या एक नितान्त वैधानिक संगठनके रूपमें करते हैं। उनकी सम्मतिमें 'राज्य एक ऐसा समुदाय है जिसका संगठन क़ानूनोंके अनुसार कार्य करनेके लिए हुआ है।' इस सिद्धान्तके बारेमें हमें फिर यही कहना पड़ता है कि राज्यकी यह बहुत संकीर्ण व्याख्या है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि राज्यका वैधानिक स्वरूप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है पर इसके अतिरिक्त राज्यके और भी स्वरूप हैं। राज्य अपने नागरिकोंको अधिकारोंकी गारन्टी देता है और उनसे कर्तव्योंका पालन कराता है। पर इतने से ही राज्यके स्वरूप या कार्योंका अन्त नहीं हो जाता। राज्य की वैधानिक व्याख्यामें राज्यके उच्चतर जीवनको बिल्कुल भुला दिया गया है। हीगेल (Hegel) का कहना है कि "राज्य एक संसार है जिसे आत्मा अपने लिए बनाती है।" अपनी पुस्तक 'न्यू स्टेट' (New State) में कुमारी एम० पी० फ़ॉलेट (Miss M. P. Follett) ने लिखा है: "मेरी आत्माका निवास राज्यमें है।" हमारे विचारसे राज्य उतना ही नैतिक या आध्यात्मिक संगठन है जितना वैधानिक। लेकिन यह राज्यकी आदर्श कल्पनाके रूपमें ही सत्य है।

(६) व्यक्तिवादी राज्यको एक आवश्यक बुराई (necessary evil) मानते है। वह राज्यके प्रत्येक कार्यको व्यक्तिकी स्वाधीनताका अपहरण मानते हैं इसलिए उनका कहना है कि राज्य एक बुराई है तथापि मनुष्यकी स्वार्थपरता और लोभ ने उसे आवश्यक बना दिया है। उनका तर्क है कि यदि प्रत्येक व्यक्तिको स्वतंत्र छोड़ दिया जाय तो वह दूसरेको हानि पहुँचाकर अपनेको लाभ पहुँचानेकी कोशिश करेगा और तब समाजमें शान्ति व व्यवस्था न रहेगी। इस प्रकार मनुष्यकी कमजोरियोंके कारण राज्यकी आवश्यकता पड़ती है। स्पेंसर ही नहीं, बेंथम (Bentham) जैसे विवेकशील विचारक भी इस दृष्टिकोणके पोषक हैं। जहां तक हमारा सम्बन्ध है, हम राज्यको एक बुराई या आवश्यक बुराई मानना भी भूल समझते हैं। हम उन आदर्शवादियोंसे सहमत हैं जो राज्यको निश्चित रूपसे एक अच्छाई (positive good) मानते हैं। राज्य मनुष्यका सबसे सच्चा मित्र इसलिए है कि राज्यकी सहायताके बिना मनुष्यके व्यक्तित्वका पूर्ण विकास असम्भव है।

(७) कुछ नरमदलके अराजकतावादी व्यक्तिवादियोंके सिद्धान्तमें थोड़ा परिवर्तन करके कहते हैं कि 'राज्य एक बुराई है, पर एक दिन इसकी आवश्यकता न रह जायगी।' उन्हें मानव-स्वभावकी परिवर्तनशीलता पर ज़रूरतसे ज्यादा भरोसा है। उनका विश्वास है कि ज्यों-ज्यों मनुष्यका नैतिक विकास होता जायगा त्यों-त्यों

राज्यकी आवश्यकता कम होती जायगी और अन्ततोगत्वा राज्य विलीन हो जायगा। अराजकतावादी साम्यवादके पोषक जैसे उग्र अराजकतावादी (extreme anarchists) राज्यको शत प्रतिशत बुराई मानते हैं और उनका कहना है कि जितनी जल्दी राज्यसे छुटकारा मिले उतना ही मनुष्यके नैतिक विकासके लिए अच्छा होगा। यद्यपि इस अराजकतावादी सिद्धान्तमें बहुत कुछ अच्छा मालूम देता है पर हमें यह तो मानना ही होगा कि इस सिद्धान्तमें इस तथ्यकी उपेक्षा की गयी है कि राज्यका मूल आधार मनुष्यके स्वभावमें है। हमारी प्रवृत्तियाँ (instincts) और हमारी तर्क-बुद्धि अराजकतावादीके इस कथनको माननेको तैयार नहीं हैं कि राज्य एक बुराई है और उसमें भला कुछ भी नहीं है। एक विचार, जिसकी पुष्टि एक अगले अध्यायमें की गयी है, यह है कि सत्ताकी आज्ञाओंका पालन स्वाभाविक है और सत्ता और स्वतन्त्रता एक दूसरेके विरोधी न होकर पूरक हैं।

(८) कुछ आधुनिक लेखक राज्यको निगम (corporation) जैसी संस्था मानना पसन्द करते हैं। सामान्यतः यह बहुलवादी दृष्टिकोण (pluralistic point of view) है। इस दृष्टिकोणके अनुसार राज्यको परिवार, गिरजाघर, ट्रेड यूनियन, सामाजिक क्लब आदि ऐसी स्थायी संस्थाओंके स्तर पर उतारना होगा जिनसे हमारी विभिन्न अभिरुचियोंकी पूर्ति होती है। हम इस विचारको माननेमें असमर्थ हैं क्योंकि हमारा विश्वास है कि राज्य अपनी विशेषताओंमें अद्वितीय है। अपने ढंगका यह अकेला है। राज्य स्वतः एक वर्ग है। यह सबको समेट लेनेवाली संस्था है। यह सर्वोत्कृष्ट संस्था है। यह सब कहनेका अर्थ यह नहीं है कि हम रूढ़िवादी अद्वैतवाद[1] (orthodox monistic point of view) का पूरा-पूरा समर्थन करनेको तैयार हैं। हम यह महसूस करते हैं कि अब वह समय आ गया है कि हमें स्वीकार कर लेना चाहिए कि समाजके विभिन्न स्थायी संघोंका मानव जीवनमें एक निश्चित और विशिष्ट स्थान है और उनको यथासम्भव अधिक-से-अधिक आन्तरिक स्वाधीनता मिलनी चाहिए ताकि वे अपने उद्देश्योंकी सन्तोषजनक पूर्ति कर सकें। फिर भी विभिन्न छोटी-बड़ी संस्थाओंके पारस्परिक सम्बन्धोंको और उनकी सही-सही स्थितिको क़ायम रखनेके लिए एक सर्वोच्च संगठनकी आवश्यकता है। उसी संगठनका नाम राज्य है।

(९) आधुनिक सर्वाधिकारवादी (totalitarian) व्यक्तिके समस्त जीवनको राज्यकी अधिकार-सीमाके भीतर मानते हैं। मनुष्यके जीवनका कोई भी भाग ऐसा नहीं है जिसे वह अपना कह सके। वह राज्यके लिए ही जीता है और राज्यके के लिए ही मरता है। मुसोलिनी ने सर्वाधिकारवादी दृष्टिकोणको इन शब्दोंमें व्यक्त किया है। 'सब कुछ राज्यके भीतर, राज्यके बाहर कुछ भी नहीं और राज्यके विरुद्ध

---

[1] इस सिद्धान्तके अनुसार राज्य ही समाजके सब संघोंमें सर्व-शक्ति-सम्पन्न है। अन्य संघोंका अस्तित्व राज्यकी इच्छा पर है।

कुछ भी नहीं।' उन्होंने देशके युवकोंके सामने आदर्श रखा था: "विश्वास, आज्ञा-पालन और युद्ध (to believe, to obey, to fight)"।

सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) दृष्टिकोणका मतलब है व्यक्तिके जीवन पर राज्यका पूर्ण नियन्त्रण (regimentation)। यह व्यक्तिके मूल्य और महत्त्वको स्वीकार नहीं करता जिसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति राज्य रूपी मशीनका एक पुर्जा बनकर रह जाता है।

राज्यकी स्पष्ट यथार्थ व्याख्या (A Positive Statement of the State)

राज्य मानवीय-संघोंका सर्वोच्च रूप है। राज्यके बिना मनुष्यका जीवन अपूर्ण है। व्यक्तिके आत्म-बोध और आत्म-विकासके लिए राज्य वातावरण तैयार करता है। जैसा कि अरस्तू ने कहा है 'परिवार और राज्यका अन्तर मात्राका नहीं है, क़िस्म का है।' परिवारका अस्तित्व जीवनकी भौतिक आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिए और राज्यका अस्तित्व नैतिक और मानसिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए है। अरस्तूका कहना है कि नगर (या राज्य) की कल्पना परिवार या व्यक्तिकी कल्पनासे पहले की है क्योंकि समूचेके बाद ही उसके अंगोंकी कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार राज्य व्यक्तिके पूर्वकी चीज़ है। मनुष्यका स्वभाव साथ मिलकर रहनेका है। अरस्तूके कथनको हम दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार कह सकते हैं कि सामाजिक जीवनकी पूर्णताके द्वारा ही मनुष्य सभी प्राणियों में श्रेष्ठ बना है। विधान और न्यायके बिना मनुष्य सभी प्राणियोंमें निकृष्ट हो जाता है। राज्यमें ही व्यक्ति वास्तवमें मनुष्य बनता है। राज्यके बिना वह मनुष्य बननेकी क्षमता रखते हुए भी पशु ही बना रहता है।

१. राज्यकी प्राथमिकता (Priority of the State)

अरस्तू ने राज्यके बारेमें जो बात कही है वही बात महात्मा गांधी ग्राम समुदाय के बारेमें कहते हैं। राज्यके जिस आदर्शवादी सिद्धान्तका ऊपर विवेचन किया गया है उसके मुक़ाबले महात्मा गांधी की विचारधारा दार्शनिक अराजकतावादसे अधिक मिलती है।

इस प्रकार, राज्य मनुष्यसे पूर्ववर्ती है। इसके माने यह नहीं हैं कि राज्यका उद्देश्य व्यक्तिके उद्देश्यसे पृथक् या विपरीत है। सही मानोंमें दोनोंका उद्देश्य एक ही है—मानव व्यक्तित्वका विकास। ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि यह विकास सबसे अलग रहकर एकान्तमें सम्भव नही है। कोई भी मनुष्य अपने आपमें पूर्ण नहीं है। इसका प्रमाण परिवार, विभिन्न सामाजिक संगठन और राज्य है। जैसा कि लार्ड (Lord) ने कहा है राज्य व्यक्तिकी इच्छाका ही नितान्त आवश्यक स्वरूप और उसीका तत्व है। राज्य कुछ अंशोंमें एक बाह्य संगठन है जो मनुष्यकी शाश्वत और स्थायी आवश्यकताएं

२. राज्य इच्छा और बुद्धि-रूपमें (The State as Will and Mind)

पूरी करता है और कुछ अंशोंमें राज्य व्यक्तिका ही सामाजिक स्वरूप है। व्यक्तिकी नैतिक और विवेकपूर्ण इच्छाओंका विकास और उनकी पूर्ति राज्य है। यह व्यक्तिके विभिन्न हितों और उद्देश्योंका विवेकपूर्ण संगठन है।

३. राज्यके रूपमें शक्ति (The State as force)

इस प्रकार राज्य एक रूपमें व्यक्तिका मस्तिष्क है। दूसरे रूपमें 'राज्य व्यक्तिका शरीर और शक्ति है (५४)'। राज्य नागरिकोंके शारीरिक बलकी पूर्णता है। राज्यके लिए भौतिक बलका प्रयोग अनिवार्य है। आखिरकार असामाजिक और दुराग्रह-पूर्ण इच्छाओंको दबाने के लिए राज्यके पास शक्ति होनी ही चाहिए। राज्य व्यक्तिको उसके सच्चे स्वरूपसे परिचित कराता है। राज्य द्वारा प्रयोग की गयी शक्ति ही व्यक्तिको उस निम्न-स्तरसे जिसकी ओर वह विवेक-रहित क्षणोंमें साधारणतः प्रेरित होता है, ऊपर उठाकर उस उच्च स्तर पर ले जाती है जहां व्यक्ति अपने व्यक्तिगत कल्याणको सामाजिक कल्याणका ही स्वाभाविक अंग समझनेमें समर्थ होता है। हीगेल (Hegal) का यह कथन कि अपराधीको दंड पानेका अधिकार है ऊपरसे जितना सही जान पड़ता है उससे कहीं अधिक सार-पूर्ण है।

४. राज्यकी अद्वितीयता (The uniqueness of the State)

राज्य ही एक ऐसा संगठन है जो वर्गोंसे ऊपर उठकर समूचे समाजका प्रतिनिधित्व करता है। अन्य कोई भी संगठन—सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक या शिक्षा सम्बन्धी—व्यक्तिके सम्पूर्ण व्यक्तित्वका समावेश नहीं कर सकता। कुमारी फ़ॉलेट (Miss Follett) के प्रभावपूर्ण शब्दोंमें "संघोंको मिला देनेसे राज्य नहीं बन सकता; क्योंकि कोई भी संघ या संघोंका समुदाय मेरे सम्पूर्ण व्यक्तित्वको स्थान नहीं दे सकता जबकि एक आदर्श राज्य मेरे सम्पूर्ण व्यक्तित्वकी मांग करता है। एक सच्चे राज्यको सभी हितोंका संकलन करना पड़ता है। विभिन्न वफादारियों (loyalties) को अपने अधिकारमें लेकर राज्य उन्हें एक बनाता है। मेरी विभिन्न निष्ठाएँ हैं। यदि मैं उन्हें एक न बना सकूं तो मेरा जीवन विभाजित और आकर्षणहीन हो जाय। एक सच्चे राज्यके प्रति मेरी भक्ति इसलिए है कि वह मेरे विविध स्वरूपोंको संकलित करता है, वह मेरे बहुमुखी व्यक्तित्व का प्रतीक है, वह इस बहुमुखी व्यक्तित्वको महत्व प्रदान करता है और इसके कारण हम अपनेको पहचानने लगते हैं। यदि आप मुझे मेरे बहुमुखी व्यक्तित्वके साथ यों ही छोड़ देते हैं तो आप मुझे निर्जन स्थानोंमें छोड़ देते हैं जहां मेरी आत्मा अपने लक्ष्य और आश्रयके लिए तरसती है। मेरी आत्माका निवास राज्यमें है।"

राज्यके सम्बन्धमें ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे एक निष्कर्ष यह निकलता है कि 'मनुष्यके सामाजिक सम्बन्धोंको यथास्थान रखनेके लिए हमें एक सर्वोपरि संगठन अर्थात् राज्यकी आवश्यकता है (५५)' राज्यके बिना हमारा जीवन अस्त-व्यस्त हो

जाता है। राज्य ही मतभेदोंको दूर करता है और मनुष्यके बहुमुखी जीवनको एकरूपता और महत्व प्रदान करता है। आजकी दुनियामें जहां निष्ठाओंका संघर्ष निरन्तर बढ़ रहा है, मनुष्यके विविध सम्बन्धोंको आपसमें ठीक रखनेके लिए राज्यकी अत्यन्त और अधिकाधिक आवश्यकता है। परिवार, धार्मिक संस्थान, ट्रेड यूनियन, सामाजिक क्लब आदिको यथास्थान क़ायम रखना और समाजकी शान्ति भंग न होने देना राज्यका काम है।

५. राज्य मानव-सम्बन्धोंका व्यवस्थापक (The State as an Adjuster of Relationships)

राज्य मनुष्यके उन्हीं हितोंकी चिन्ता कर सकता है जिनका सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष या समुदाय विशेषसे न होकर सबसे होता है। राज्य नागरिकोंके जातिगत या वर्गगत हितोंको पूरा करनेकी जिम्मेदारी नहीं ले सकता। इस कार्यके लिए परिवार, धर्म-संस्थान, ट्रेड यूनियन, और सांस्कृतिक संघ आदि हैं। गार्नर (Garner) के कथनानुसार स्वेच्छाजन्य संघका उद्देश्य एक या कुछ हितोंकी पूर्ति तक ही सीमित है, राज्य विशेष हितोंके बजाय सामान्य या सार्वजनिक हितोंके लिए उत्तरदायी होता है (२३:६३)। यही कारण है कि इंगलैंड में ट्रेड यूनियनोंको राजनीतिक कर लगानेकी इजाजत नहीं है। लास्की (Laski) के शब्दोंमें "राज्य समाज के सभी संकीर्ण स्वार्थोंसे ऊपर है और वह शक्तिका प्रयोग उन स्थायी हितोंकी वृद्धिके लिए करता है जिनके लिए मनुष्य एक साथ मिलकर रहते हैं (५०:२९)।"

६. राज्य और सार्वभौम हित (The State and Universal Interest)

अन्तमें, राज्य केवल बाहरी आचरण पर ही नियंत्रण रख सकता है। राज्य मनुष्यके मन्तव्यों (motives) का विचार नहीं कर सकता क्योंकि वे बिलकुल आन्तरिक या भीतरी होते हैं। राज्य अभिप्रायों (intentions) का विचार तो कर सकता है पर यह मालूम करना इसके लिए कठिन है कि कोई कार्य करते समय किसी व्यक्तिकी आन्तरिक भावना क्या थी। अभिप्राय पर विचार करते समय हमें यह सोचना होता है कि कार्य किसी उद्देश्यसे किया गया था या संयोगवश हो गया। पर जब हम मन्तव्यकी बात सोचते हैं तब हमें प्रश्नके आन्तरिक और नैतिक पक्ष पर विचार करना होता है। यद्यपि राज्य एक नैतिक और आध्यात्मिक संस्था है और वह व्यक्तिके व्यक्तित्वका ही विस्तृत रूप है पर उसके हाथमें जो साधन (शक्ति) है वह इस प्रकार की है कि राज्य मनुष्यके केवल बाहरी आचरण और अभिप्रायों पर ही विचार कर सकता है, मन्तव्यों पर नहीं। फलतः राज्य सीधे-सीधे न तो नैतिकताको लागू कर सकता है और न उसे प्रोत्साहित कर सकता है और न ही व्यक्तिके लिए नैतिक बनना सम्भव ही बना सकता है।

७. राज्य और नैतिकता (The State and Morality)

टी० एच० ग्रीन (T. H. Green) ने ठीक ही कहा है कि 'राज्य केवल उन्हीं कार्योंको करने या न करनेका आदेश दे सकता है जिनका करना या न करना समाजके नैतिक हितमें आवश्यक या अनावश्यक हो—उन कार्योंके करने या न करनेमें उद्देश्य चाहे जो भी रहे (२९)।' सीधी-सादी भाषामें इसका अर्थ यह हुआ कि राज्यको केवल ऐसे ही कार्योंकी जिम्मेदारी लेनी चाहिए जो समाजके अच्छे जीवनके लिए इतने अनिवार्य हों कि उन्हें करानेमें इस बातका भी खतरा उठाया जा सके कि कुछ लोग उन कार्योंको करेंगे और कुछ लोग ओछे और बुरे उद्देश्यसे उन्हें नहीं भी करेंगे। राज्य अपने सदस्यों के हितमें अपनी इच्छाको लागू करनेमें कभी-कभी यंत्रवत् कार्य करनेका खतरा भी उठाता है।

उक्त विवेचनका सारांश यह है कि राज्य अपने आपमें एक उद्देश्य नहीं है। वह एक साधन है जिसके द्वारा मनुष्यकी सामूहिक आवश्यकताएँ एक व्यवस्थित और न्यायपूर्ण तरीकेसे पूरी की जा सकती हैं। राज्यके बिना व्यक्ति तुच्छ और गौरवहीन हो जाता है। राज्य ही सामाजिक व्यवस्थाको कायम रखता है। बल-प्रयोग (compulsion), अनुनय (persuasion) और अधिकार आदिके विवेकपूर्ण प्रयोग से राज्य ऐसे सामाजिक कल्याणकी वृद्धि कर सकता है जिसमें व्यक्तिका सच्चा कल्याण निहित है। व्यक्तिके व्यक्तित्वको दबाने या कुचलनेका अधिकार राज्यको नहीं है। प्रत्येक व्यक्तिके अच्छे जीवनके लिए कुछ परिस्थितियाँ नितान्त आवश्यक होती हैं। यदि किसी राज्यमें ये न्यूनतम् परिस्थितियाँ न पायी जायँ तो उस राज्यके अस्तित्वका कोई औचित्य नहीं है।

राज्यके मूल तत्त्व (Essential Elements of the State)

राज्यके मूल तत्त्व हैं: जनसंख्या, भू-खंड, सम्प्रभुता और सरकार। यह तो स्पष्ट है कि जब तक लोग एक साथ मिल कर नहीं रहते तब तक राज्य नहीं बन सकता। यद्यपि राज्यके निर्माणके लिए आवश्यक निवासियोंकी संख्याका प्रश्न केवल एक सैद्धान्तिक प्रश्न है, फिर भी प्राचीन लेखकोंने इस पर बहुत जोर दिया है। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'लॉज' (Laws) में लिखा है कि एक आदर्श राज्य में रहनेवालोंकी संख्या ५,०४० होनी चाहिए। अरस्तू (Aristotle) की रायमें एक लाखकी संख्या बहुत अधिक थी। बादमें, यूनानी नगर-राज्यके महान् प्रशंसक रूसो (Rousseau) ने सुसंगठित जन-समाजवाले प्राचीन नगर राज्योंको फिरसे प्रचलित करना चाहा था। वह दस हजारकी संख्या आदर्श मानता था। आकार या निवासियों की संख्याके विचारसे आजकलके राज्योंमें इतना अधिक अन्तर है कि एक ओर तो ब्रिटिश-साम्राज्य, रूस और चीन ऐसे विशाल राज्य हैं और दूसरी ओर मोनाको (Monaco) तथा सेन मैरिनो (San Marino) जैसे बिलकुल छोटे राज्य। मैरिनो

१. जनसंख्या (Population)

राज्यकी आबादी १३,५०० तथा क्षेत्रफल केवल ३८ वर्ग मील है। और मोनाको राज्यकी आबादी २०,२०२ तथा क्षेत्रफल ३६८ एकड़ है।

वैधानिक दृष्टिकोणसे राज्यके निवासियोंमें मूल तत्त्वके रूपमें शासक और शासित दोनों शामिल हैं। राज्यके निवासियोंका दोहरा व्यक्तित्व होता है। राज्येच्छाका निर्माण करनेवालोंके रूपमें निवासी नागरिक होते हैं। राज्येच्छा माननेवालों के रूपमें वह राज्य की प्रजा होते हैं। नागरिक और प्रजामें भेद करनेका श्रेय रूसो (Rousseau) को है। नागरिकोंके रूपमें लोगोंको अधिकार प्राप्त हैं और प्रजाके रूपमें उनके कर्तव्य होते हैं।

इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि भू-खण्डके बिना राज्य हो ही नहीं सकता। फिर भी सभी राजनीतिक विचारक इस पर एकमत नहीं हैं।

२. भू-खण्ड (Territory)

आधुनिक राज्यके लिए तो निस्सन्देह धरतीका एक निश्चित भू-खण्ड जरूरी है जिस पर उसका एकछत्र अधिकार हो। प्राचीन राज्यके विपरीत आधुनिक राज्यका स्वरूप क्षेत्रीय है। खानाबदोश लोगोंका राज्य नहीं बन सकता, भले ही एक नेता या मुखियाके आधीन उनमें किसी प्रकारका राजनीतिक संगठन हो। प्रोफ़ेसर इलियट (Prof. Elliott) के शब्दोंमें 'क्षेत्रीय सम्प्रभुता, या अपनी सीमाओंके भीतर सर्वोपरि सत्ता तथा बाहरी नियंत्रणसे पूर्ण स्वतंत्रता आधुनिक राज्योंके जीवनका एक मौलिक सिद्धान्त रहा है (१९)।'

एक निर्दिष्ट भू-खंड आधुनिक राज्यके लिए इतना अधिक अनिवार्य है कि कोई भी दो पृथक् और असम्बद्ध राज्य एक ही भू-भाग पर अपने अधिकार-क्षेत्र का दावा नहीं कर सकते। केवल एक ही अपवाद जान पड़ता है। यह अपवाद है संघ-राज्य (Federal State), जहाँ दो 'राज्य' एक ही प्रदेश पर अधिकार रखते हैं। प्रोफ़ेसर इलियट का कहना है कि याद रखना चाहिए कि 'वे एक दूसरेसे सम्बद्ध राज्य हैं।' और 'दोनोंके अधिकार-क्षेत्र एक लिखित संविधानकी धाराओं द्वारा सावधानीसे तय कर दिये गये हैं'।

३. सम्प्रभुता (Sovereignty)

सम्प्रभुता और विधान या क़ानून राज्यकी दो विशेषताएँ (distinguishing characteristics) हैं। सम्प्रभुताके माने हैं सार्वभौम-सत्ता—अन्तिम अधिकार जिसके आगे कोई अपील न हो। राज्यके अतिरिक्त अन्य संघोंके पास जनता हो सकती है। भू-प्रदेश और किसी प्रकारका कोई दबावपूर्ण संगठन भी हो सकता है पर उनके पास सम्प्रभुता नहीं होती। अन्ततः राज्यके प्रत्येक व्यक्ति और समुदायको राज्येच्छाके आगे सर झुकाना पड़ता है। इसे हम आन्तरिक सम्प्रभुता कहते हैं। बाहरी सम्बन्धोंमें भी आधुनिक राज्य अन्तिम अधिकार रखनेका दावा करता है। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओं और समझौतोंका पालन भले ही करे पर जब तक विश्व सरकार एक वास्तविकता नहीं हो जाती तब तक पृथ्वी पर कोई दूसरी शक्ति नहीं है जो राज्यको उससे शक्तिशाली किसी संगठनका आज्ञाकारी बना सके। राज्यकी

इस विशेषताको हम वाह्य सम्प्रभुता कहते हैं। अपनी इस सम्प्रभु शक्तिके ही कारण आधुनिक राज्य आन्तरिक मामलोंमें सर्वोच्चता तथा अन्य सरकारोंके नियन्त्रणसे स्वतन्त्रता का दावा करते हैं। लास्की (Laski) की भाषामें: 'अपनी सम्प्रभुताके कारण ही राज्य अन्य सभी प्रकारके मनुष्यों द्वारा बनाये गये संघोंसे भिन्न है (५० : २१)।'

सम्प्रभुताके बारेमें (Hobbes), बेन्थम (Bentham) और ऑस्टिन (Austin) के परम्परागत विचार लिविस (Lewis) ने इस प्रकार प्रकट किये हैं: 'समाजके प्रत्येक सदस्यके जीवन, अधिकारों और कर्तव्यों पर सम्प्रभुका पूरा अधिकार है।" मैकाइवर (MacIver) तथा अन्य अनेक आधुनिक लेखक इस विचारसे सहमत नहीं हैं। मैकाइवर की रायमें राज्य एक संघ है, जो अपने ढंगका बेजोड़ और अत्यन्त महत्वपूर्ण है, पर फिर भी अन्य सब संघोंकी भाँति वह एक संघ ही है (५५, अध्याय १२)। किसी अगले अध्यायमें हम इस दृष्टिकोणकी आलोचना करेंगे।

४. सरकार (Government)

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, सरकार राज्यकी राजनीतिक संस्था है। यह राज्यकी सम्प्रभुता सम्पन्न इच्छाको कार्यान्वित करनेका साधन है। यदि जनतंत्रीय राज्यमें अन्तिम सम्प्रभुता जनताके हाथोंमें रहती है तो वैधानिक सम्प्रभु (legislative sovereign) सरकार है। सरकारके बिना राज्यकी कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि सरकारके द्वारा ही राज्य अपनी इच्छा प्रकट करता है और उसे कार्यान्वित करता है। यह जरूरी नहीं कि सरकार किसी खास किस्म की ही हो। सरकारका स्वरूप राज्यके स्वरूप पर निर्भर करता है और राज्यका स्वरूप राज्य-निवासियोंके चरित्र और राजनीतिक विचारधारासे बहुत कुछ निर्धारित होता है।

राज्यका जैविक-सिद्धान्त (The Organic Theory of the State)

प्लेटो के युगसे लेकर आजतक प्रायः सभी राजनीतिक विचारक सामान्यरूपसे समाज और राज्यकी तुलना एक सजीव शरीरसे करते आ रहे हैं। कुछ लोगोंने तो यह तुलना करनेमें बहुत सावधानी बरती है पर कुछ अन्य लोगोंने यह तुलना इस तरह बिना सोचे समझे की है कि राजनीति-शास्त्रके गम्भीर लेखकोंमें से अधिकांश इस धारणाको व्यर्थ मानकर अस्वीकार कर देनेके पक्षमें हैं।

प्लेटो ने राज्यकी तुलना एक बड़े डीलडौल वाले मनुष्यसे की थी। उनका कहना था कि राज्य और व्यक्तिके कार्य समानान्तर होते हैं। उन्होंने समाजको तीन भागोंमें बाँटा था: शासक, योद्धा और श्रमजीवी। उन्होंने इस विभाजनका आधार मनुष्यकी आत्माके तीन गुणों विवेक या बुद्धि (wisdom), साहस (courage) और वासनाको (appetite) बनाया था। वह व्यक्तिको राज्यका सूक्ष्म स्वरूप मानते थे—

यदि राज्य समस्त विश्व है तो व्यक्ति उसका सूक्ष्मतम अणु है। अरस्तू ने राज्यके गठनकी तुलना व्यक्तिके शरीरके गठनसे की है और उनका पक्का विश्वास था कि व्यक्ति वास्तवमें समाजका एक स्वाभाविक अंग है। सिसरो (Cicero) ने, जो अनेक बातोंमें अपने राजनीतिक विचारोंके लिए यूनानी विचारकों पर निर्भर करते थे, राज्यके प्रधानकी तुलना शरीर पर शासन करनेवाली आत्मासे की थी। ईसाई-धर्म के प्रसारके प्रारम्भिक दिनोंमें, सन्त पॉल (St. Paul) गिरजाघरको ईसामसीह का जीवित शरीर मानते थे। इसी उपदेशके आधार पर मध्यकालीन लेखकोंमें आध्यात्मिक (spiritual) और धर्म-निरपेक्ष (secular) मामलोंमें मनुष्यकी निष्ठा पर चर्च और राज्यके दावोंके बारेमें विवाद उठ खड़ा हुआ था।

आधुनिक युगके प्रारम्भिक लेखकोंमें से हॉब्स (Hobbes) और रूसो (Rousseau) ने राज्यके जैविक स्वरूप पर बहुत ध्यान दिया है। हॉब्स ने राज्यकी तुलना लेवाइथान (Leviathan) नामक एक ऐसे दैत्यसे की है "जो एक कृत्रिम मनुष्य है यद्यपि शक्ति और आकारमें साधारण मनुष्यसे बहुत बड़ा है।" उन्होंने राज्यकी कमजोरियोंकी मानव-शरीरकी बीमारियोंके साथ बड़ी बारीकीसे तुलना की है। राज्यको भी फोड़े, चर्मरोग, और प्लूरसी जैसी बीमारियाँ होनेकी कल्पना उन्होंने की है। राज्यके संगठनकी व्यक्तिके शरीर-गठनके साथ यह तुलना बहुत ही विनोदपूर्ण है क्योंकि यह एक ऐसे व्यक्ति द्वारा की गयी है जो उस सामाजिक समझौता सिद्धान्त (Social Contract Theory) का पोषक है जिसके अनुसार मनुष्यने अपनी इच्छासे जानबूझ कर राज्यका निर्माण किया है। रूसो का कहना है कि राज्य और मानव-शरीर दोनों 'शक्ति' और 'इच्छा' से ही संचालित होते हैं। राज्यकी वैधानिक शक्तिकी तुलना मनुष्यके हृदयसे और कार्य-कारिणी शक्तिकी तुलना मस्तिष्कसे की गयी है।

उन्नीसवीं शताब्दीके राजनीतिक चिंतनका प्रारम्भ प्रतिक्रिया स्वरूप इस धारणा के विरोधसे हुआ कि मनुष्यने कृत्रिम तौर पर राज्यका निर्माण किया है। इस प्रतिक्रियाने इस सत्यको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया कि राज्य मनुष्यकी कृति न होकर मानव-प्रकृतिका क्रमिक, अनायास और अवश्यम्भावी विकास है। इस प्रयत्नमें समाजकी जैविक स्वरूपवाली पुरानी धारणाने फिर जोर पकड़ा और यह धारणा विशेषकर जर्मन आदर्शवादियोंके चिंतनका एक मौलिक अंग बन गयी। फ़िख्ते (Fichte) इस प्रकारके सैद्धान्तिकोंमें से एक थे और उन्होंने साफ़-साफ़ बतलाया कि व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर आश्रित हैं। उनका कहना था कि समाजसे परे व्यक्तिका स्वतः और अपने आपमें कोई अर्थ और महत्त्व नहीं है। वह समूचे समाजका अनिवार्य अंग है। उन्हींके शब्दोंमें "शरीरमें उसका प्रत्येक अंग निरन्तर समूचे शरीरको क़ायम रखता है, और समूचे शरीरको कायम रखनेमें स्वयं भी कायम रहता है; ठीक यही सम्बन्ध व्यक्तिका राज्यसे है।" इस प्रकार प्रारम्भिक आदर्श-वादी राज्यको एक नैतिक गठन (moral organism) मानते थे।

जर्मन लेखकोंमें से ब्लंश्ली (Bluntschli) ने राज्यके इस जैविक-सिद्धान्त पर अपने पूर्ववर्ती लेखकोंसे भी अधिक जोर दिया। उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला कि व्यक्तियोंकी भाँति राज्यमें भी लिंग भेद होता है। उनका कहना था कि राज्य पुलिंग है और धर्म-संस्थान (चर्च) स्त्रीलिंग और इस आधार पर स्त्रियोंको राजनीतिक अधिकार दिये जानेका वह प्रबल विरोध करते थे। इस अत्युक्तिपूर्ण विवेचनके बावजूद राज्यकी जैविक-सिद्धान्त सम्बन्धी ब्लंश्ली की धारणामें सच्चाई भी है जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए। उनका कहना है कि राज्य एक नैतिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व है। वह कहते हैं कि 'जैसे एक तैल चित्र तेल-बिन्दुओंका संग्रह ही नहीं है उससे कुछ अधिक है, जैसे पत्थरकी एक मूर्ति पत्थरके टुकड़ोंका संग्रह-मात्र न होकर उससे कुछ अधिक है, जैसे मनुष्य कोषा (cells) और रुधिर-कोषाओं (blood corpuscles) का समुदाय ही न होकर उससे कुछ अधिक है, उसी प्रकार राज्य बाहरी विधियोंका संग्रह-मात्र नहीं है, उससे कुछ अधिक है (२२: ५९)।' राज्य मस्तिष्क और इच्छाका एकीकरण है। यह समाजका सक्रिय रूप है।

उन्नीसवीं शताब्दीके लेखकोंमें हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) एक ऐसे लेखक हैं जो व्यक्ति और समाजके गठनोंमें सूक्ष्म समानता तो बतलाते हैं; फिर भी तुलनाकी मौलिक बातोंको भूल जाते हैं। उन्होंने जैविक-समानताका उपयोग, अपनी पूर्व-निश्चित व्यक्तिवादी धारणाओंको सिद्ध करनेके लिए किया। पहलेके एक निबन्धमें इस सादृश्यका प्रयोग इतना अक्षरशः किया गया है कि रेलवे लाइनोंकी तुलना जीवित शरीरकी धमनियों और शिराओंसे की गयी है। धनकी तुलना रुधिर-कोषाओं (blood corpuscles) से और टेलीग्राफ़के तारोंकी तुलना स्नायुओंसे की गयी है। जिस सूत्र पर स्पेंसर अपना उपदेश देते हैं वह सूत्र यह है: "एक सजीव संगठनका विकास होता है, निर्माण नहीं।" उनका उपदेश यह है कि चूंकि राज्य एक सजीव संगठन है इसलिए उसे स्वतः अपनी इच्छाके अनुकूल विकसित होने देना चाहिए, उसे कृत्रिम साधनोंका आश्रित नहीं बनाना चाहिए। निःशुल्क शिक्षा, अनिवार्य-स्वच्छता, सार्वजनिक पुस्तकालय, सार्वजनिक उद्यान, आदि शरीर संगठनके स्वतः विकासमें बाधा डालते हैं और इसलिए अनुचित हैं। स्पेंसर यह भूल जाते हैं कि चूंकि राज्य एक अत्यन्त विकसित और संस्कृत संगठन (organism) है इसलिए इसकी सही तुलना क्षत्रिक (Jelly-fish) जैसे साधारण जीव-संघठन से नहीं की जा सकती, उसकी सही-सही तुलना एक विकसित और संवर्धित जीव-संगठनके साथ ही हो सकती है—जैसे उद्यानका एक पौधा या पालतू जीव। एक उच्च-स्तर के संगठनका विकास होता है और निर्माण भी। पर स्पेंसरका राज्य संघठन सदा क्षत्रिक-स्तर पर ही रहना चाहता है। इसके अतिरिक्त स्पेंसर की तुलनाको अक्षरशः मान लेनेका अर्थ तो यह होगा कि राज्यमें व्यक्तिकी प्रधानता न होकर समाजवाद के सिद्धान्तको अधिक बल मिलेगा और व्यक्तिके जीवनमें राज्यका हस्तक्षेप बढ़ जायगा। पर स्पेंसर अतिवादी व्यक्तिवादके पोषक हैं और नैसर्गिक अधिकारोंके

सिद्धान्तको मानते हैं। जैसा कि बार्कर (Barker) ने कहा है कि स्पेंसर राज्यके जैविक-स्वरूपवाले सिद्धान्तको जहाँ वह उपयोगी होता है वहाँ उसे स्वीकार कर लेते हैं और जहाँ वह उपयोगी नहीं होता वहाँ उसे छोड़ देते हैं।

जैविक सिद्धान्तमें सत्यांश (Elements of Truth in the Organic Theory)

राज्यकी उपर्युक्त धारणाके बारेमें जो पहली बात कहने की है वह यह है कि सादृश्य (analogy) और तर्क (argument) एक ही चीज नहीं है। दोनोंमें समानता स्थापित कर देनेसे दोनोंमे युक्ति-युक्त सम्बन्ध स्थापित हो जाना जरूरी नहीं है। इस साधारण सत्यको स्वीकार न कर सकनेके कारण ही ब्लंश्ली, स्पेंसर और शैफिल् (Schaffle) जैसे लेखकोंने राज्यकी जैविक-स्वरूप वाली धारणाका शब्दशः प्रयोग कर 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' की कहावत चरितार्थ की है। हमें यह याद रखना चाहिए कि आखिरकार तुलनासे केवल कठिन चीजें आसान और अस्पष्ट बातें स्पष्ट ही हो सकती हैं। तुलना प्रमाणका स्थान नहीं ले सकती।

समाज या राज्य शरीर-संस्थान नहीं है। वह कुछ बातोंमें शरीर संस्थान जैसा है और कुछ बातोंमें वैसा नहीं है।

(१) एक भौतिक जीवकी भाँति राज्यमें भी जीवन, विकास और उत्थानके नियम लागू होते हैं। कुछ लेखकोंकी हाँ में हाँ मिलाकर हम यह कहनेको तैयार नहीं हैं कि प्रत्येक राज्य युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था, पतन और नाशकी अवस्थाओंसे गुजरता है। समाजमें होनेवाले परिवर्तन प्रायः अदृश्य होते हैं और उनकी सही-सही नापतौल नही हो सकती; इसलिए प्रौढ़ावस्था, बुढ़ापा, और मृत्यु जैसे शब्दोंका प्रयोग हम ठीक तरह समाजके बारेमें नही कर सकते। फिर भी हमारा विश्वास है कि सभी समाज और राज्योंका अपना जीवन, अपनी इच्छा और अपना स्थायित्व होता है और यह सब उस समाज या राज्यके किसी भी समयके सदस्योंके जीवन और इच्छासे भिन्न होता है।

(२) व्यक्तिकी भाँति समाजके सभी अंग एक दूसरेसे सम्बन्धित रहते हैं और एक दूसरे पर निर्भर हैं। अंग एक दूसरे पर निर्भर रहनेके साथ ही साथ समूचे पर भी निर्भर रहते हैं और समूचा समाज अंगों पर आश्रित रहता है। प्रत्येकका कल्याण सबके कल्याणमें निहित है। व्यक्तिके कल्याणका समाजके कल्याणके साथ गहरा सम्बन्ध रहता है। जिस बातसे व्यक्तिका सम्बन्ध होता है उस बातसे शेष समाजका भी सम्बन्ध होता ही है, यद्यपि समाजमें अनुभूतिकी गहराई उतनी अधिक नहीं होती जितनी व्यक्तिमें होती है। समाज असम्बद्ध और बिखरे हुए व्यक्तियोंका जमघट नहीं है। वह शारीरिक इकाई और सजीव संगठन है। जीवनके उस क्षेत्रमें जिसे मिल (Mill) आत्मपरक (selfe-regarding) कहते हैं, समाजकी व्यक्तिके प्रति जिम्मेदारी होती है। जैसे परिवारको अपने सदस्योंके व्यक्तिगत हितोंका ध्यान रखना पड़ता है वैसे ही समाजको भी व्यक्तियोंके हितोंका ध्यान रखना पड़ता है।

(३) व्यक्ति और समाज दोनोंमें विभिन्न अंग होते हैं जो कि योग्यतानुसार विभिन्न कार्य करते हैं। सारा शरीर आँख, कान या पेट नहीं बन सकता। सन्त पॉल (St. Paul) के प्रभावशाली शब्दोंमें 'शरीर एक अंग नहीं है; वह अनेक अंग है। यदि पैर यह कहने लगें कि चूंकि हम हाथ नहीं हैं, इसलिए हम शरीर नहीं हैं तो क्या वह शरीर न रहेंगे? यदि कान कहने लगें कि चूंकि हम आँख नहीं हैं, इसलिए हम शरीर नहीं हैं तो क्या वह शरीर न रह जायंगे? यदि सारा शरीर आँखें बन जाय तो सुने कौन? यदि सारा शरीर कान बन जाय तो सूंघे कौन? वे सब अंग तो अनेक हैं पर शरीर एक है। आँखें हाथोंसे यह नहीं कह सकतीं कि हमें तुम्हारी जरूरत नहीं है और न सिर ही पैरोंसे यह कह सकता है कि मुझे तुम्हारी कोई जरूरत नहीं है। यदि एक अंगको कष्ट होता है तो सभी अंग उस व्यथाको झेलते हैं। यदि एक अंगको सुख होता है तो सभी अंग इस सुखका आनन्द लेते है।'

तुलनाको ऊपर कहे गये सामान्य सत्योंसे आगे ले जानेसे कठिनाइयाँ पैदा होना निश्चित है। राज्य एक संगठन तो है पर इसके माने यह नहीं हैं कि वह एक भौतिक शरीर है। वह एक मानसिक व्यवस्था है—एक सामान्य उद्देश्यके लिए विभिन्न मस्तिष्कोंका संगठन है (२)। राज्य मस्तिष्कोंकी आत्म-निर्णायक व्यवस्था है और मस्तिष्क स्वयं भी आत्म-निर्णय करनेमें समर्थ होते हैं। राज्य एक यांत्रिक एकता नहीं है।

महत्त्व और सीमाएं (Value and Limitations)

गेटेल (Gettell) ने जैविक सिद्धान्तके महत्व और सीमाओंके बारेमें नीचे लिखे निष्कर्ष निकाले हैं:

(१) यह सिद्धान्त ऐतिहासिक और विकासवादी दृष्टिकोणोंका महत्त्व बताता है।

(२) यह प्राकृतिक और सामाजिक वातावरणके प्रभावों पर जोर देता है।

(३) यह सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि नागरिक और राजनीतिक संस्थाएं एक दूसरे पर निर्भर हैं।

(४) यह सामाजिक जीवनकी मौलिक एकता और समाजके विभिन्न अंगोंके पारस्परिक सम्बन्धों पर जोर देता है।

(५) यह सिद्धान्त हमें सिखाता है कि समाज बिखरे हुए, सम्बन्ध-हीन व्यक्तियोंका समूह-मात्र नहीं है। यह साफ़-साफ़ बतलाता है कि एक प्रकारसे प्रत्येक व्यक्ति पृथक्-पृथक् रूपमें समाज पर और समूचा समाज प्रत्येक सदस्य पर निर्भर है।

(६) इस सिद्धान्तका विश्वास है कि मनुष्य स्वभावतः एक 'राजनीतिक प्राणी' है और सभी मनुष्योंमें पायी जानेवाली सामाजिक संगठनकी प्रवृत्ति ही राज्यका निर्माण करती है।

पर इसके साथ ही साथ राज्य और व्यक्तिके बीच बतायी गयी अनेक तुलनाएं खींच तानकर जुटाई गयी और परस्पर एक दूसरेके विरुद्ध जान पड़ती हैं। इनमें कुछ ये हैं:

(१) राज्यकी इच्छा हमेशा ही व्यक्तियोंकी इच्छाके समान नहीं होती।

(२) व्यक्तिके शरीरका विकास अपने आप स्वतः होता है। राज्यके विकास का बहुत अंशों तक संचालन और नियंत्रण हमें जानबूझ कर करना पड़ता है।

(३) राज्यके शरीर-सिद्धान्तमें यह खतरा है कि राज्यके महत्त्वको बढ़ाते-बढ़ाते हम राज्यको ही लक्ष्य न मान बैठें और यह भूल जायं कि राज्यके अस्तित्वका उद्देश्य उसके व्यक्तिगत सदस्योंका कल्याण है। दूसरे शब्दों में डर यह है कि समाजके लिए व्यक्तिका बलिदान न कर दिया जाय।

(४) राज्यमें व्यक्तिके जीवनका उद्देश्य समाजके जीवनको सदा बनाये रखना ही नहीं होता। प्रत्येक व्यक्तिको काफ़ी हद तक स्वयं अपने जीवनका निर्माण करना होता है। प्रत्येक व्यक्तिकी अपनी चेतना और अपनी इच्छा होती है। पशुओंके शरीरके कोशाओं (cells) के बारेमें यह सही नहीं है।

(५) एक भौतिक शरीरके अंगोंको यदि काटकर अलग कर दिया जाय तो शरीरका नाश हो जाता है। राज्यका अंग यानी सदस्य जब राज्यसे अलग हो जाता है तो राज्यका नाश नही होता।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे निष्कर्ष यह निकलता है कि राज्यका जैविक सिद्धान्त बहुत लचीला होनेके कारण इसका प्रयोग बहुत सावधानीसे किया जाना चाहिए। तुलनाको बहुत दूर तक नही घसीटना चाहिए। सभी जगह इसके प्रयोगसे अवश्य ही विवेकहीन और हास्यास्पद नतीजे निकलेंगे।

Select Readings

Barker, E.—*Political Thought in England: Spencer to Present Day*—pp. 175-183.

Follett, M.P.—*The New State*—Ch. 23-28.

Garner, J.W.—*Introduction to Political Science*—Ch. II.

Garner, J.W.—*Political Science and Government*—Chs. IV-VII.

Gettell, R.G.—*Introduction to Political Science*—Chs. II-IV.

Gettell, R.G.—*Readings in Political Science*—Chs. II-IV.

Gettell, R.G.—*Problems in Political Evolution*—Ch. III.

Gettell, R.G.—*History of Political Thought.*

Gilchrist, R.N.—*Principles of Political Science*—Ch. II.

Laski, H.J.—*The State in Theory and Practice*—Ch. II.

Leacock, S.—*Elements of Political Science*—Ch. I.

MacIver, R.M.—*The Modern State*—Introduction.

MacIver, R.M.—*The Web of Government*—Ch.XIII.
Rousseau, J.J.—*The Social Contract*—Chs. II, IX, and X.
Seeley, J.—*Introduction to Political Science*—Chs. I-II.
Willoughby, W.W.—*The Nature of the State*—Ch. II.

३

राज्य की उत्पत्ति

(The Origin of the State)

राज्यकी उत्पत्ति पर विचार करते समय राज्यकी प्रारम्भिक (प्रागैतिहासिक) कालकी उत्पत्ति और ऐतिहासिक कालके विकासके भेदको भली प्रकार समझ लेना आवश्यक है। प्रारम्भिक उत्पत्तिका प्रश्न बहुत कुछ काल्पनिक है। इसको समझने के लिए हमें प्रागैतिहासिक युग और आदिम मनुष्यका अध्ययन करना होगा। हमें इस बातका कोई प्रामाणिक ज्ञान नहीं है कि राज्यका जन्म कैसे हुआ। आधुनिक समाज-शास्त्र (sociology), जाति-विद्या (ethnology), मानव-विज्ञान (anthropology) और विधान-शास्त्र (law) के इतिहासके अध्ययनसे धुंधले अतीत पर कुछ प्रकाश पड़ता अवश्य है परन्तु उससे हमें राज्यकी प्रारम्भिक उत्पत्तिके सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इस अनिश्चित स्थितिके होते हुए भी हम इतना तो निस्संकोच कह ही सकते हैं कि जहां कहीं भी मनुष्य एक बड़ी संख्यामें साथ रहे हैं वहीं राज्यका अस्तित्व रहा है—चाहे वह प्रारम्भिक रूपमें रहा हो या कुछ विकसित रूपमें। प्रारम्भिक राजनीतिक संस्थाओंके विषयमें कोई निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण न मिलनेके कारण हम विवश हैं कि उस धुंधले अतीतका जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञान हमें है उसीके आधार पर हम राज्यकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अनुमान लगायें और उसके सामान्य सिद्धान्तोंकी विवेचना करें।

राज्यकी प्रारम्भिक या प्रागैतिहासिक उत्पत्ति

(The Primary or Pre-historical Origin of the State)

राज्यकी प्रारम्भिक अथवा प्रागैतिहासिक उत्पत्तिके सम्बन्धमें इतिहास और राजनीति-शास्त्रके लेखकोंने निम्नलिखित सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है:

(१) दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त (The Divine Origin Theory);

(२) सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त (The Social Contract Theory);

(३) शक्ति सिद्धान्त (The Force Theory);

(४) पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक सिद्धान्त (The Patriarchal and the Matriarchal Theories)।

पोलिटिकल थियरी (*Political Theory, 1939*) के लेखक क्रेनेनबर्ग (Kranenburg) ने उक्त सभी सिद्धान्तोंको तीन भागोंमें बांटा है: (१) धर्म प्रधान सिद्धान्त, (२) प्राकृतिक नियम सम्बन्धी सिद्धान्त और (३) शक्ति सिद्धान्त।

१. दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्त (The Divine Origin Theory)

राज्यके प्रारम्भिक उत्पत्तिके सम्बन्धमें यह सबसे पुराना सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार राज्यकी स्थापना स्वयं ईश्वर अथवा किसी अन्य दैवी-शक्ति द्वारा हुई है और वही उस पर शासन करता है। राज्यका शासन या तो ईश्वर स्वयं करे या किसी ऐसे शासक द्वारा कराये जिसे ईश्वरका प्रतिनिधि, महाक्षत्रप या पादरी माना जाता है ऐसे राज्यको धर्मतंत्रात्मक या ईश्वर-शासित राज्य कहते है। दैवी-उत्पत्ति या धर्मतंत्रका यह सिद्धान्त उतना ही पुराना है जितना कि राज्यका अस्तित्व और यह सिद्धान्त लगभग सभी आदिम जातियोंमें पाया जाता है। यह तो एक प्रामाणिक सत्य है कि राजशक्तिके प्रारम्भिक स्वरूप किन्हीं अदृश्य शक्तियोंसे सम्बन्धित माने जाते थे। उस समयके शासक धर्म-गुरु और राजा अथवा जादूगर और राजाके सम्मिलित स्वरूप होते थे।

प्रारम्भिक कालमें दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्तके प्रधान पोषक यहूदी थे। उनके धर्म-ग्रन्थ *Old Testament* में बराबर इस धारणाके उद्धरण मिलते हैं कि ईश्वर स्वयं राजाओंको चुनता है, नियुक्त करता है, बरखास्त करता है, और उनकी हत्या भी करता है। राजा अपने कामोंके लिए केवल ईश्वरके प्रति ही उत्तरदायी माना जाता है। यूनानी और रोमवासी राज्यको केवल अप्रत्यक्ष रूपमें ही दैवी मानते थे। यद्यपि उन्होंने धार्मिक विचारोंको राजनीतिसे अलग नहीं किया था किन्तु फिर भी वह राज्यको मनुष्यकी राजनीतिक प्रवृत्तियोंकी अभिव्यक्ति मानते थे।

शुरूके ईसाई धर्म-गुरु भी दैवी उत्पत्ति सिद्धान्तके प्रबल समर्थकोंमें से थे। उनके उपदेश सन्त पॉल (St. Paul) द्वारा रोमवासियोंको दिये गये निम्नलिखित उपदेश पर आधारित थे: "प्रत्येक प्राणीको दैवी शक्तिके अधीन रहना चाहिए क्योंकि परमात्मा के अलावा दूसरी कोई शक्ति है ही नहीं। जो भी शक्तियाँ हैं परमात्मा की ही हैं।"[१]

'ओल्ड टेस्टामेन्ट' और ईसाई धर्म-गुरुओंकी शिक्षाओंने मध्य युगमें धर्म और साम्राज्यके बीच होनेवाले विवादके सम्बन्धमें तत्कालीन लेखकों पर गहरा प्रभाव डाला। इन लेखकोंमें से कुछ ने तो दैवी उत्पत्तिके सिद्धान्तका प्रयोग राज्य पर धर्म का प्रभुत्व स्थापित करने और कुछ ने धर्म पर राज्यकी सत्ता स्थापित करनेके लिए किया।

प्रोटेस्टेन्ट-रिफ़ॉरमेशन (Protestant Reformation) ने दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्त

---

[१] रोमन्स १३: १ (Romans 13: 1). पर इस बातको आसानीसे भुला दिया गया कि उन्हीं धर्म-ग्रन्थोंमें यह भी कहा गया है कि हमें मनुष्यके बजाय ईश्वरकी आज्ञाओंका पालन करना चाहिए। (Acts 5: 29)

की और इससे सम्बन्धित राज्यके प्रति सविनय आज्ञापालन या राज्य-शक्तिके प्रति अविरोधके सिद्धान्तको बहुत बल दिया यद्यपि धार्मिक मामलोंमें यह आन्दोलन व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और वैयक्तिक विवेक शक्तिका पक्षपाती था। धीरे-धीरे दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्तने अधिकाधिक रूपमें राजाओंके दैवी अधिकार सिद्धान्त (Theory of the Divine Rights of Kings) का रूप ले लिया। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दीके इंगलैंडके बारेमें यह बात विशेष रूपसे सत्य है। इस सिद्धान्तके अन्य मुख्य समर्थक प्रथम स्टुअर्ट राजा जेम्स प्रथम (James I) और रार्बट फ़िल्मर (Robert Filmer) थे। फ़्रांस में बूसे (Bousset) ने भी चौदहवें लुई के निरंकुश शासनका समर्थन करनेके लिए इसी सिद्धान्तका सहारा लिया।

दि लॉ ऑफ़ फ़्री मोनार्कीज़ (*The Law of Free Monarchies*) नामक अपनी पुस्तकमें जेम्स प्रथम ने इस सिद्धान्तका स्पष्ट विवेचन किया है। उनका दावा है कि राजाको अपनी सत्ता सीधे ईश्वरसे प्राप्त हुई है इसलिए राजा अपनी प्रजा और विधान दोनोंसे ऊपर है। वह केवल ईश्वर और अपनी आत्माके ही आधीन है। प्रजाके प्रति उसका कोई वैधानिक उत्तरदायित्व नहीं है। उसका केवल यही उत्तरदायित्व है कि वह सुचारु रूपसे शासन करे। राजाका यह ईश्वरके प्रति नैतिक उत्तरदायित्व है। राजा विधान बनाता है, विधान राजाको नहीं बनाते। राजा प्रत्येक व्यक्तिका स्वामी है और उसके जीवन और मरण पर उसे पूरा अधिकार है। अपने सम्पूर्ण ग्रन्थमें जेम्स प्रथम यह मानता है कि राजा बुद्धिमान और अच्छे होते हैं परन्तु प्रजा मूढ़ और निर्बल होती है। उसका कहना है कि राजा सम्पूर्ण देशके लिए एक महान् शिक्षक होता है। उसका मत है कि स्वतन्त्र राजतन्त्र (free monarchy) वह राजतन्त्र है जो मनमाने ढंगसे शासन करनेके लिए स्वतंत्र हो।

यदि राजा बुरा हो तो भी प्रजाको उसके विरुद्ध विद्रोह करनेका अधिकार नही है। राजाके प्रति विद्रोह करना स्वयं ईश्वरके प्रति विद्रोह करना है क्योंकि राजा तो ईश्वरका ही प्रतिनिधि है। दुष्ट राजा प्रजाके पापोंके प्रायश्चित स्वरूप ईश्वर द्वारा प्रजाको दिया गया दण्ड है। इसलिए इस दण्डको समाप्त करनेका प्रयास करना ग़ैर-कानूनी है। अगले जन्ममें मिलनेवाले दण्डका भय ही दुष्ट राजा पर एकमात्र अंकुश है। यह दण्ड निश्चित रूपसे अत्यन्त भयानक होता है। जेम्स प्रथमने इस तथ्य की समीक्षा इन प्रभावशाली शब्दोंमें की है: "राजाओंको देवता कहना बिलकुल ठीक है क्योंकि वे पृथ्वी पर दैवी शक्तिकी तरह ही व्यवहार करते हैं।" जैसे ईश्वरकी शक्तिके बारेमें विवाद करना नास्तिकता और पाखण्ड है ठीक उसी तरह प्रजाके लिए यह विवाद कि राजा क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता दुस्साहस और मानहानि है। 'राजा पृथ्वी पर ईश्वरकी सजीव मूर्ति है।'

राजाओंके दैवी शक्ति सिद्धान्तकी प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं:

(१) राजसत्ता ईश्वर द्वारा नियुक्त है,

(२) वंशानगत अधिकार नहीं छोड़े जा सकते,

(३) राजा केवल ईश्वरके ही प्रति उत्तरदायी है, एवं

(४) नियमानुसार अधिष्ठित राजाके प्रति विद्रोह पाप है (G. P. Gooch)।

यह बहुत सम्भव है कि इस सिद्धान्तके समर्थकोंको स्वयं ही इसके सभी अतिशयोक्ति पूर्ण दावोंमें पूरा विश्वास न रहा हो। मध्य युगमें इस सिद्धान्तके इतने प्रबल समर्थनका एक मुख्य कारण यह था कि यह उग्र कैथोलिक सम्प्रदायके विरुद्ध राज्यको बल देता था और पोपके अधिकार क्षेत्रका जो अनुचित विस्तार हो रहा था उस पर इस सिद्धान्तसे रोक लगती थी। इस सिद्धान्तका समर्थन करते समय लोग यह भूल गये कि इसके कारण राजाके भी अत्याचारी हो जानेका भय है। आगे चलकर इसी सिद्धान्तका उपयोग जनताकी राजनीतिक जागृति व प्रजातंत्रात्मक विचारों को दबानेके लिए और निरंकुश शासनका समर्थन करनेके लिए किया गया। अठारहवीं सदीके अन्तमें जाकर इस सिद्धान्तको दोषपूर्ण और व्यवहारमें हानिकारक मानकर त्याग दिया गया। आस्ट्रिया, जर्मनी और रूस जैसे देशोंमें यह सिद्धान्त कुछ समय तक और माना जाता रहा।

आजकल राजनीतिक विचारकोंमें दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्त और दैवी अधिकार-सिद्धान्तके समर्थक नहीं हैं। इन सिद्धान्तोंकी अधिक विस्तारसे आलोचना करना व्यर्थ है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि यद्यपि सामान्यरूपसे विचारक परिवार और राज्य जैसी मानव-संस्थाओंको दैवी उद्देश्य और योजनाके अनुकूल ही मानते हैं फिर भी राज्य एक ऐतिहासिक विकास और मनुष्योंके राजनीतिक प्रयासोंका फल है। गिलक्राइस्ट के अनुसार इस सिद्धान्तके पतनके निम्नलिखित कारण हैं:

(१) सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्तका उदय और उसके अन्तर्गत स्वीकृति (consent) की महत्ता।

(२) आध्यात्मिक शक्ति (spiritual power) से अलग सांसारिक शक्ति (temporal power) की प्रधानता या दूसरे शब्दोंमें, धर्म संघ (Church) व राज्यका पृथक्करण।

(३) प्रजातंत्रके उदयसे निरंकुश शासनके सिद्धान्तका विरोध।

राजनीतिक दर्शनके एक सिद्धान्तके रूपमें इस विचारधारा पर ग्रोशियस (Grotius), हॉब्स (Hobbes) और लॉक (Locke) ने बड़े कड़े प्रहार किये। फिर भी दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्तमें कुछ सार तत्व थे; उनमेंसे कुछ निम्नलिखित हैं:

(१) जिस समय मनुष्य अर्धसभ्य अवस्थासे गुजर रहा था और एक धर्म-निरपेक्ष लौकिक सत्ता तथा स्वनिर्मित विधानकी आज्ञा-पालनका उसे अभ्यास नहीं था, तब सामाजिक व्यवस्था बनाये रखनेमें राज्यके दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्तने निस्संदेह महत्त्वपूर्ण योग दिया होगा। अराजकताको समाप्त करने और व्यक्ति, सम्पत्ति और सरकारके प्रति सम्मानकी भावनाको मजबूत करनेमें इसने बड़ी मदद की।

(२) इसकी व्याख्या इस अर्थमें भी की जा सकती है कि व्यवस्था और

अनुशासनकी प्रवृत्ति मनुष्यमें स्वाभाविक और बहुत गहरी होती है और यह राजनीतिक संगठनके रूपमें प्रकट होती है।

(३) इस सिद्धान्तका सबसे बड़ा महत्त्व इस बातमें है कि यह सिद्धान्त अप्रत्यक्ष रूपसे राजनीतिक व्यवस्थाके नैतिक आधार पर जोर देता है। यह इस बात पर भी जोर देता है कि सरकारका अस्तित्व प्रजाके कल्याणके लिए है, अपनी सत्ताके उपयोग करनेके तरीकोंके बारेमें निरंकुश शासककी भी ईश्वरके प्रति नैतिक जिम्मेदारी है।

२. सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त (The Social Contract Theory)

इस सिद्धान्तकी मान्यता यह है कि राज्यका जन्म जानबूझ कर किये गये समझौते से हुआ है। यह समझौता आदिम मनुष्योंने उस समय किया था जब वे प्राकृतिक स्थितिको पार कर रहे थे। यह सिद्धान्त मानता है कि मानव इतिहासमें ऐसा भी युग था जब राज्य या राजनीतिक विधानका अस्तित्व नहीं था। कुछ लेखकोंने इस पूर्व-नागरिक या पूर्व-राजनीतिक युगको पूर्व-सामाजिक भी माना है। इस प्राकृतिक अवस्थामें मनुष्योंके आपसी सम्बन्ध प्राकृतिक नियमके अनुसार चलते थे। सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तके समर्थक इस विषय पर एक मत नहीं हैं कि यह प्राकृतिक नियम वास्तवमें किस तरह का था; यह प्राकृतिक अवस्था या तो अत्यन्त आदर्श थी या बहुत असुविधाजनक व असह्य थी जिससे अधिक समय तक न रह सकी। इसलिए लोगोंने शीघ्र ही इस प्राकृतिक अवस्थासे छुटकारा पाकर समझौते द्वारा राजनीतिक समाजकी स्थापना की। समझौतेके फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्तिको अपनी प्राकृतिक स्वाधीनता अंशतः या पूर्णतः छोड़नी पड़ी और इसके बदलेमें उसे राजनीतिक विधान द्वारा मिलनेवाली राज्यकी छत्रछाया और सुरक्षा मिली।

इस अनुबन्धकी व्याख्या इस सिद्धान्तके समर्थक अनेक प्रकारसे करते हैं। कुछ लोग इसे सभ्य समाजकी स्थापनाका ही श्रेय देते हैं पर कुछ अन्य लोगोंकी रायमें इसके कारण सभ्य समाजकी स्थापना तो हुई ही, साथ ही शासकों और शासितोंमें एक ऐसा समझौता भी हुआ जिससे एक विशेष प्रकारकी सरकार बनी। पहले प्रकारके अनुबन्धको सामाजिक अनुबन्ध और दूसरे प्रकारके अनुबन्धको राजनीतिक या सरकार सम्बन्धी अनुबन्ध कहते हैं। प्रारम्भिक या सामाजिक अनुबन्ध तो व्यक्तियोंके बीच एक दूसरेके साथ या सम्मिलित रूपमें उस समय हुआ जब वे प्राकृतिक अवस्था पार कर रहे थे। दूसरे राजनीतिक या शासन-सम्बन्धी अनुबन्धके दो पक्ष हैं—(१) प्रजा, अपने सामूहिक रूपमें और (२) शासक या उसका प्रतिनिधि। एक दूसरा मतभेद सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तके समर्थकोंमें यह है कि कुछ लोग तो इस अनुबन्धको एक ऐतिहासिक तथ्य मानते हैं और दूसरे लोग इसे ऐतिहासिक कल्पना मानते हैं जिसका उद्देश्य एक दार्शनिक सत्यकी ओर संकेत करना है। प्रथम प्रकारकी विचार-धाराके समर्थक लॉक और दूसरे मतके पोषक कॉन्ट (Kant) हैं। काण्ट की सम्मतिमें यह अनुबन्ध केवल एक 'युक्ति-संगत विचार' है। इस सिद्धान्तके व्यावहारिक रूपके

सम्बन्धमें भी इसके समर्थकोंमें मतभेद है। हॉब्स इसको निरंकुश राजतंत्र, लॉक वैधानिक सरकार या सीमित राजतंत्र और रूसो लोकप्रिय सम्प्रभुता (popular sovereignty) के समर्थनमें प्रयोग करते हैं। सारांश यह है कि इस सिद्धान्तका प्रयोग इस धारणाके समर्थनमें किया गया है कि शासन सत्ताको न्याय-संगत होनेके लिए अन्तिम रूपमें शासितोंका समर्थन प्राप्त करना आवश्यक है। साधारणतः इस सिद्धान्तसे जनताके अधिकारों और उसकी स्वाधीनताकी रक्षा हुई है और शासकोंकी स्वेच्छाचारिता पर रोक लगी है। इस सिद्धान्तने राज्यके प्रति सामान्य अवहेलनाकी भावना भी उत्पन्न की है क्योंकि यह सिद्धान्त राज्यको एक कृत्रिम संस्था और शासन को व्यक्तिकी प्राकृतिक स्वाधीनता पर रोक मानता है।

सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तकी आलोचना. सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त पर ऐतिहासिक (historical), वैधानिक (legal) एवं दार्शनिक या विचारात्मक (philosophical or rational), इन तीन दृष्टिकोणोंसे प्रहार किये गये हैं।

क्रेनेनबर्ग (Kranenburg) के शब्दोंमें इस सिद्धान्तमें निगमनात्मक पद्धति (deductive system) का बहुत अधिक और आगमनात्मक (inductive system) विचार पद्धतिका बहुत कम प्रयोग हुआ है (४५ : ८)।

(क) ऐतिहासिक.

(१) सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तकी एक आलोचना जो स्वतः समझमें आती है यह है कि इस सिद्धान्तका कोई तथ्य-पूर्ण आधार नहीं है। यह अनुमान करना कि आदिम मनुष्योंने किसी खास समय इकट्ठा होकर आपसमें समझौतेसे राजनीतिक समाजकी स्थापना की, इतिहासको ग़लत पढ़ना है। अनुबन्धका विचार आदिम मनुष्यके वशके बाहरकी बात है। आज तक कोई इस बातका एक भी उदाहरण नहीं दे सका कि आदिम अवस्थाको पार करनेवाले मनुष्योंने कहीं जानबूझ कर आपसी समझौतेके द्वारा राज्यकी स्थापना की हो। यह सच है कि सन् १६२० के मेफ़्लावर कॉम्पेक्ट (Mayflower Compact) और सन् १६३६ के दैवी समझौता (Providence Agreement) जैसे उदाहरण सामाजिक अनुबन्धकी ऐतिहासिकताके पक्षमे दिये जाते हैं। पर यह याद रखना चाहिए कि जिन लोगोंने यह समझौते किये थे वे प्राकृतिक अवस्थाको पार नहीं कर रहे थे। वे लोग पहले दूसरे राज्योंमें रह रहे थे; वहाँ की राजनीतिक संस्थाओंसे भली-भाँति परिचित थे और जिन विचारों और संस्थाओंको वे पहलेसे जानते थे उन्हींको वे नये भू-भागोंमें प्रचलित भर कर रहे थे।

(२) शासकीय और राजनीतिक अनुबन्धोंके भी ऐतिहासिक उदाहरण हैं पर ये सब अनुबन्ध ऐसे लोगोंमें हुए हैं जो पहलेसे सभ्य सामाजिक जीवन बिता रहे थे। ऐसे उदाहरण राज्यकी ऐतिहासिक उत्पत्तिकी समस्याको किसी प्रकार भी हल नहीं

करते। वे तो केवल शासक और प्रजाके अधिकारों और कर्त्तव्योंकी व्याख्या भर करते हैं। शासकीय अनुबन्ध तो वास्तविकता है पर सामाजिक अनुबन्ध केवल कल्पना मात्र है।

(३) इस सिद्धान्तके अनुसार आदिम मनुष्यका दृष्टिकोण व्यक्तिगत ही अधिक था। यह सिद्धान्त मानता है कि वह एक स्वतंत्र व्यक्ति था और दूसरे स्वतंत्र व्यक्तियों के साथ स्वेच्छापूर्वक समझौता कर सकता था। परन्तु आदिम कालके सम्बन्धमें की गयी खोजोंसे यह सिद्ध नहीं होता। आदिकालके विधान व्यक्तिगतकी अपेक्षा सामुदायिक अधिक थे। व्यक्तिकी महत्ता बहुत कम थी। परिवार एक इकाई था। सम्पत्ति पर सबका स्वामित्व था। विधान रिवाजों या परम्परा (custom) के रूपमें था। व्यक्तिका समाजमें एक निश्चित स्थान था। ऐसी परिस्थितियोंमें राज्य जैसी एक महत्त्वपूर्ण संस्थाके सम्बन्धमें व्यक्तियों द्वारा स्वेच्छापूर्वक कोई समझौता करना एक विचारशून्य बात जान पड़ती है।

(ख) वैधानिक.

(१) यदि तर्कके लिये हम मान भी लें कि आदिम मनुष्य अपनी सामाजिक चेतनामें इतना आगे बढ़ चुका था कि वह अनुबन्ध कर सके, फिर भी ऐसे अनुबन्ध का किसी प्रकार भी वैधानिक महत्त्व नहीं है। किसी भी अनुबन्धके वैध होनेके लिये यह आवश्यक है कि उसके पीछे राज्यकी स्वीकृतिका बल हो। सामाजिक अनुबन्धके पीछे ऐसी कोई शक्ति नहीं थी क्योंकि समझौता राज्यकी स्थापनाके पहलेकी चीज थी बादकी नहीं। टी० एच० ग्रीन के शब्दोंमें: 'अस्थायी नागरिक सत्ताकी स्थापना करनेवाला अनुबन्ध वैध अनुबन्ध नहीं हो सकता। ऐसा समझौता करनेवाले व्यक्ति ऐसी स्थितिमें नहीं हैं कि वे कोई वैध समझौता कर सकें (२९: ६४)।' ऐसे अनुबन्ध के पीछे ऐसी कोई शक्ति नहीं होती जो उसे वैध बना सके।

(२) इस प्रकार यदि प्रारम्भिक अनुबन्ध ही अवैध है तो उसके आधार पर किये गये बादके सभी अनुबन्ध उसी प्रकार अवैध होंगे और ऐसे अनुबन्धोंसे प्राप्त होनेवाले अधिकारोंका कोई वैधानिक या क़ानूनी आधार न होगा।

(३) कोई अनुबन्ध केवल उन्हीं लोगों पर लागू होता है जो स्वेच्छापूर्वक इसे स्वीकार करते हैं। पर यह सामाजिक समझौता तो उन पीढ़ियों पर भी लागू मान लिया जाता है, जिनका उसमें कोई हाथ ही नहीं रहा। यदि पूर्वज खट्टे अंगूर खायें तो उनके वंशजोंके दाँत क्यों खट्टे हों? इसके उत्तरमें यह तर्क रखा जा सकता है, जैसा कि लॉक ने कहा है कि राज्यमें रहने के अर्थ यह हैं कि रहनेवाला इस मूल समझौतेको मौन स्वीकृति देता है। पर यह उत्तर तो स्पष्टतः कठिनाईसे बचकर निकलनेका एक उपायमात्र है। वास्तविकता तो यह है कि मूल समझौता करने वालोंके मरते ही राज्यको समाप्त हो जाना चाहिए था और प्रत्येक नई पीढ़ीको एक

नया समझौता करना चाहिए था। यह तो स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थितिमें राजनीतिके सत्ताका महत्त्व कम हो जाता और यह भी सम्भव है कि राज्यका ही अन्त हो जाता।

(ग) दार्शनिक.

सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तके विरुद्ध दार्शनिक आपत्तियाँ तो ऐतिहासिक और वैधानिक आपत्तियोंसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है अनुबन्ध-सिद्धान्तके अनेक समर्थक मानते हैं कि समझौता केवल ऐतिहासिक कल्पना (fiction) है पर फिर भी वे लोग इसका उपयोग कुछ दार्शनिक सिद्धान्तोंकी पुष्टिमें करते हैं। आलोचनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) इस सिद्धान्तमें यह मान लिया गया है कि राज्य और व्यक्तिका सम्बन्ध स्वेच्छापूर्वक किया गया सम्बन्ध है। सावधानीके साथ विचार करनेके बाद यह बात ठीक नही उतरती। हम ठीक उसी प्रकार राज्यके सदस्य हैं जिस प्रकार परिवार के। बच्चेकी परिवारकी सदस्यता और माता-पिताकी आज्ञा माननेका उसका कर्त्तव्य उसकी स्वेच्छा पर निर्भर नहीं होता। हम राज्यमें पैदा होते हैं और सामान्यतः राज्यको अपनी इच्छानुसार नहीं चुनते। यदि हम बादमें नागरिकता बदलते भी हैं तब भी हम राज्यमें ही रहते हैं। राज्य मनुष्यकी कृत्रिम रचना (artificial creation) नही है। राज्यकी सदस्यता ऐच्छिक नहीं है। यदि राज्य एक कम्पनी या व्यापारिक संस्थाकी तरह स्वेच्छासे बनाया गया संगठन होता तो व्यक्तिको यह स्वतंत्रता होती कि वह जब चाहे उसमें शामिल हो जाय और जब चाहे उससे अलग हो जाय। राज्यके प्रति नागरिकके कर्त्तव्य समझौते पर आधारित नही हैं। यदि राज्यके हर कामका औचित्य प्रत्येक नागरिककी स्वीकृति पर निर्भर हो तो राज्यका जीवन ही असम्भव हो जाय, क्योंकि शायद ही कोई ऐसा विषय हो जिसे समस्त नागरिकोंका समर्थन प्राप्त हो। व्यक्तिकी स्पष्ट स्वीकृतिको ही राजनीतिक कर्त्तव्यों का आधार माननेवाला स्पेंसर (Spencer) जैसा व्यक्तिवादी भी इस स्थितिकी व्यर्थता स्वीकार करता है। सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तके समर्थक इस कठिनाईको हल करनेके लिये कहते हैं कि मूल समझौतेके लिये तो सर्वसम्मत स्वीकृति आवश्यक है पर उसके बाद बहुमत ही का समर्थन पर्याप्त है। यह तर्क संगत नहीं है। यदि हम सर्वसम्मत स्वीकृतिसे प्रारम्भ करते हैं तो क्या अंत तक इसे निबाहना उचित नहीं है? एडमण्ड बर्क के प्रसिद्ध और प्रभावपूर्ण शब्दोंमें 'यह न समझना चाहिए कि राज्य भी मिर्च और कॉफी, कपड़ा या तम्बाकू जैसा व्यवसायमें साझेदारीका समझौता मात्र है और उससे अधिक कुछ नहीं जिसमें कि मौके पर लाभके लिये लोग जब मन चाहें शामिल हो जाएँ और जब चाहें छोड़ दें।' यदि राज्य किसी अर्थमें साझेदारी है तो वह एक उच्च कोटिकी और स्थायी साझेदारी है। पुनः बर्क के शब्दोंमें 'यह साझेदारी समस्त विज्ञानकी साझेदारी है, सभी कलाओंकी साझेदारी है, समस्त

सद्गुणोंकी साझेदारी है, और सब प्रकारकी पूर्णताकी साझेदारी है और क्योंकि इस साझेदारीके उद्देश्योंकी पूर्ति अनेक पीढ़ियोंमें भी नहीं हो सकती इसलिए यह साझेदारी केवल उन्हीं लोगोंके बीचकी नहीं है जो जीवित हैं, बल्कि यह साझेदारी उन सबके बीचकी है जो आज जीवित हैं, जो मर चुके हैं, और जो भविष्यमें जन्म लेंगे। इस प्रकार व्यक्ति राज्यका सदस्य स्वेच्छापूर्वक किये गये सम्बन्धके कारण नहीं है। वह जन्मसे ही राज्यका सदस्य है। उसके कर्त्तव्य 'किसी समझौते या स्वीकृति पर निर्भर नहीं हैं बल्कि उसके कर्त्तव्योंका आधार है सार्वजनिक हित या समाजकी आवश्यकताएं या उपयोगिताएँ (२२:११३)।'

(२) प्राकृतिक अवस्था एवं प्राकृतिक नियमोंकी पूरी धारणा ही युक्ति-संगत नहीं है। इस धारणामें यह मान लिया गया है कि राज्यकी स्थापनाके पहले जो कुछ था वह सब 'प्राकृतिक' या 'स्वाभाविक' था और उसके बाद जो कुछ हुआ वह (राज्यकी स्थापना सहित) सब कृत्रिम है। इस प्रकार एक तरहसे कुल्हाड़ी से इतिहासको दो हिस्सोंमें काट डालनेका कोई आधार नहीं है। हमारी आजकी सभ्यता उतनी ही स्वाभाविक है जितनी पिछले समयमें बर्बरता स्वाभाविक थी। मनुष्य स्वयं प्रकृतिका ही एक अंग है और राज्य मनुष्यकी प्रकृतिका सर्वोच्च विकास है। राज्यका विकास हुआ है, वह मशीनसे ढलकर नहीं बना। 'राज्यके सम्बन्धमें लोग जानबूझकर सौदा नहीं करते, बल्कि यह समझौता तो मनुष्यके स्वभावमें ही है (२८:६९)।'

डिग्वी (Duguit) सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तको तर्कसे सिद्ध न हो सकने वाली परिकल्पना कहकर अस्वीकृत करता है क्योंकि इस सिद्धान्तमें यह मान लिया गया है कि समझौतेका विचार प्राकृतिक अवस्था कही जानेवाली स्थितिमें भी मनुष्योंके दिमाग़में मौजूद रह सकता है। उसके अनुसार यह असम्भव है क्योंकि जो लोग पहलेसे समाजमें नहीं रह रहे हैं उन्हें समझौतेके सम्बन्धों और उत्तरदायित्वोंका बोध हो ही नहीं सकता।[१]

यदि हम यह मान भी लें कि एक प्राकृतिक राज्य था जिसका शासन प्राकृतिक नियमों अर्थात् स्वाभाविक नैतिक नियमोंके अनुसार होता था तो ऐसी हालतमें राज्यकी स्थापना करना आगे बढ़नेके बजाय पीछे हटना है। क्योंकि हृदयसे उत्पन्न और स्वीकृत नैतिक नियमोंके बदले राज्यकी शक्तिको अपनाना अवश्य ही एक क़दम पीछे हटना है। जैसा कि ग्रीन ने कहा है 'प्राकृतिक नियमों द्वारा शासित एक समाजको, जिसमें कि मनुष्यकी अन्तरात्माके अतिरिक्त किसी दूसरी शक्तिके नियंत्रणकी आवश्यकता न हो, छोड़कर एक राजनीतिक समाजकी ओर क़दम बढ़ाना अवश्य ही पतन होगा। वह समाज तो ऐसा है कि उसके स्थान पर एक नागरिक शासन कायम करनेका कोई कारण ही नहीं हो सकता (२८:७२)।'

---

[१] *Droit Constitutionael* Vol. I p. 13.

एक बात और है यदि प्राकृतिक अवस्था ऐसी थी कि जिसमें लोग आपसमें समझौता कर सकते थे तो इसके माने तो यही होते हैं कि लोगोंको सार्वजनिक हित का ज्ञान था। इसका अर्थ यह है कि लोगोंको समाजकी सत्ता और व्यक्तिके कर्त्तव्यों का भी ज्ञान था। यदि ये चीज़ें मौजूद थीं तो फिर उस अवस्था और नागरिक तथा राजनीतिक राज्यमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। फिर तो वह राजनीतिक राज्य ही है। भले ही उसका नाम कुछ और हो। एक राजनीतिक समाजके लिये जो तत्व आवश्यक हैं वे सब इस प्राकृतिक अवस्थामें मौजूद थे।

(३) सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तमें अधिकारोंके सम्बन्धमें एक भ्रान्त धारणा है। टी० एच० ग्रीन ने ठीक ही कहा है कि अनुबन्ध-सिद्धान्तमें सबसे बड़ी त्रुटि यह नहीं है कि यह अनैतिहासिक है बल्कि यह है कि इस सिद्धान्तमें अधिकारों और कर्त्तव्योंकी कल्पना समाजसे असम्बद्ध स्वतंत्र रूपमें की गयी है। किसी भी युक्ति-संगत विचारसे अधिकारोंका आधार समाजकी स्वीकृति ही है। अर्थात् समाज एक ऐसे सार्वजनिक कल्याणको स्वीकार करता है, व्यक्तिका कल्याण जिसका स्वाभाविक और अभिन्न अंग होता है। अधिकार उन्हीं लोगोंके बीच सम्भव है जिनकी प्रवृत्तियाँ और इच्छाएँ विवेकपूर्ण हों। पर सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तके अनुसार समाजके पूर्वकी अवस्थामें भी अधिकारोंका अस्तित्व सम्भव है। हमारी रायमें ऐसे अधिकार, अधिकार हैं ही नहीं। वास्तवमें शक्ति मात्र है। ग्रीन के ही शब्दोंमें: 'ऐसी प्राकृतिक अवस्थामें जो सामाजिक अवस्था नहीं है, प्राकृतिक अधिकारोंको अधिकार मानना एक आत्म-विरोधी आधारहीन बात है। समाजके सदस्योंमें सार्वजनिक कल्याणके ज्ञानके बिना अधिकार हो ही नहीं सकते (२९:४८)।' अनुबन्ध-सिद्धान्तके सर्वप्रथम आलोचकोंमें से एक जर्मन लेखक फ़ॉन हालर (Von Haller) इस सिद्धान्तकी आलोचना करते हुए कहते हैं कि यह कहना कि व्यक्ति और राज्यमें समझौता हुआ उतना ही युक्ति संगत है जितना यह कहना कि व्यक्ति और सूर्यमें समझौता हुआ कि सूर्य उसे गर्मी दिया करे।[1]

सिद्धान्तमें सत्यका अंश. यद्यपि राज्यकी उत्पत्ति तथा समाजमें मनुष्योंके पारस्परिक सही सम्बन्धोंकी व्याख्या करनेवाले एक सिद्धान्तके रूपमें सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है और आजकल इसका कोई समर्थक नहीं है, फिर भी इसमें सत्यका कुछ अंश है। यदि हम इस सिद्धान्तको ठीक-ठीक समझना चाहते हैं—विशेषकर जिस रूपमें सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दीमें इसकी व्याख्या की गयी थी—तो यह आवश्यक है कि हम यह समझ लें कि इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेमें इसके समर्थकोंका क्या उद्देश्य था। वे लोग राजनीतिक सत्ता और उसकी आज्ञा-पालन की—जिसे अब तक दैवी विधान कहा जाता था—अधिक संतोषजनक और मानवीय

---

[1] मेरियम द्वारा अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ़ सॉवरेन्टी सिन्स रूसो' (*History of Sovereignty since Rousseau*) से उद्धृत, पृष्ठ ६५।

व्याख्या करना चाहते थे। दैवी अधिकार-सिद्धान्त शासककी आज्ञाओंको चुपचाप पालन करनेके लिये प्रजाको मजबूर करता है। उसके स्थान पर सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्तने इस मौलिक सत्यकी स्थापना की कि राज्यको मनमाना शासन करनेका अधिकार नहीं है और प्रजा राज्यकी आज्ञापालन इसलिए करती है कि वह राज्य सत्ताको अपनी स्वीकृति दे चुकी है। इस सत्यकी व्याख्या करके सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्तने आधुनिक लोकतन्त्रकी स्थापनामें सहायता दी। इस सिद्धान्तने व्यक्तिकी महत्ता और इस सम्भावना पर बल दिया कि प्रत्यक्ष मानव प्रयत्नों द्वारा राजनीतिक संस्थाओंमें संशोधन हो सकते हैं। इस सिद्धान्तने यह भी घोषणा की कि राजनीतिक सत्ता अन्ततः जनताके हाथोंमें ही निहित है (२४:८५)।' यही कारण है कि 'स्वतंत्रताके समर्थकोंने इसे पसन्द किया क्योंकि इस सिद्धान्तने निरंकुश सत्ताके अधिकारों पर रोक लगानेके उपाय सुझाये। जो लोग तर्कमें रुचि रखते थे उन्होंने इस सिद्धान्तको अच्छा समझा क्योंकि अनुबन्ध वाद-विवादका विषय हो सकता है, उसकी आलोचना की जा सकती है उसमें संशोधन किये जा सकते हैं जब कि दैवी-विधानके सम्बन्धमें कुछ किया ही नहीं जा सकता। यदि हम इस सिद्धान्तके ऐतिहासिक पक्ष पर ध्यान न दें तो भी यह इसलिए आकर्षक है कि यह मानव अनुभव के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष पर प्रभाव डालता है (५४:४३)।'

३. शक्ति-सिद्धान्त (The Force Theory)

शक्ति सिद्धान्तके अनुसार राज्य उच्चतर शारीरिक बलका परिणाम है। राज्यका प्रारम्भ बलवानों द्वारा कमजोरोंको अपने अधीन कर लेनेसे होता है। यह कल्पना तो स्वाभाविक है कि आदिम कालमें अति बलवान मनुष्य दूसरोंको डरा कर उन पर एक प्रकारकी सत्ता क़ायम कर लेता था।[1] यही बात शायद उच्चतर जातियों एवं उपजातियोंके दूसरी जातियों और उपजातियोंके सम्बन्धोंके बारेमें भी सही है। इसी अनुमानके आधार पर शक्ति सिद्धान्तके समर्थकोंका कहना है कि सभी राज्योंका जन्म बल-प्रयोगके फलस्वरूप हुआ है।

इस सिद्धान्तके प्रबल समर्थक ओपनहीमर (Oppenheimer) ने अपनी पुस्तक 'दि स्टेट' में राज्यके उदयकी विभिन्न अवस्थाओंका वर्णन किया है। इस सिद्धान्तके दूसरे प्रमुख समर्थक जेंक्स (Jenks) ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ़ पोलिटिक्स (*History of Politics*)' में लिखा है कि यह सिद्ध करनेमें ज़रा भी कठिनाई नहीं है कि आधुनिक राजनीतिक समुदायोंके अस्तित्वका श्रेय सफल युद्धोंको है। इस सिद्धान्तके अनुसार युद्धसे ही राज्यका जन्म होता है। इस सिद्धान्तके समर्थकोंका कहना है कि जिस सैनिक राज्य-निष्ठा और प्रादेशिक विशेषता (military allegiance and territorial character) को हम आधुनिक राजनीतिक

---

[1] वॉल्टेयर (Voltaire) का सूत्र है: "पहला राजा कोई भाग्यशाली योद्धा था।"

समाजकी मौलिक विशेषताएँ मानते हैं, उसके दो आधार हैं—एक योद्धाके साथ उसके अनुयायियोंका सम्बन्ध और युद्धमें विजय जिसके द्वारा विभिन्न जातियों और देशोंके लोग एक ही शासककी प्रभुताके अधीन हो जाते हैं।

कुछ लेखक 'शक्ति' शब्दका प्रयोग इतने व्यापक अर्थमें करते हैं कि शारीरिक शक्तिके अलावा बुद्धि-बल और धर्म-तत्वसे प्राप्त होनेवाली शक्तियाँ भी इसमें शामिल हैं।

दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्त और सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तकी तरह इस सिद्धान्तके समर्थक भी इससे राज्यके ऐतिहासिक विकासकी व्याख्या और राज्यके अस्तित्वका तर्कपूर्ण औचित्य सिद्ध करते हैं। यह सिद्धान्त भी उन दोनों सिद्धान्तोंकी भांति दोनों ही मामलोंमें त्रुटिपूर्ण है। व्यावहारिक रूपमें शक्ति-सिद्धान्तका मतलब केवल यह है कि सरकार मनुष्यके बल-प्रयोगका परिणाम है। इस प्रकारके विचार हरबर्ट स्पेंसर की प्रारम्भिक रचनाओंमें मिलते हैं। वह कहते हैं कि "सरकारका जन्म बुराइयोंसे हुआ है और उन बुराइयोंकी छाप अब भी इस पर है।" हम मानते हैं कि शक्ति राज्यके निर्माणमें एक महत्वपूर्ण तत्व रही होगी परन्तु इसे ही एक मात्र कारण मान लेना स्पष्ट भूल है। प्रारम्भिक राजनीतिक समाजोंके निर्माणके अन्य कारण भी रहे होंगे। राज्यके विकासमें शक्ति और विजयका जितना हाथ रहा होगा उतना ही हाथ स्वेच्छासे आपसमें मिल जानेका भी रहा होगा। विजयके बाद राज्यका विकास शक्ति की अपेक्षा समझौते और मेल-मिलापसे अधिक हुआ होगा, शक्ति-सिद्धान्त पारस्परिक सहयोग तथा उसी प्रकारके उन अन्य शांतिमय तरीक़ोंका महत्त्व बहुत घटा देता है जिन्होंने राज्यके विकासमें निश्चय ही महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

आन्तरिक एकता (internal unity) और वाह्य आक्रमण (external attack) से सुरक्षाके हेतु राज्यके लिए शक्ति एक अनिवार्य तत्व है। शक्तिके बिना राज्य ध्वंसात्मक शक्तियोंका शिकार हो जायेगा और उसका अस्तित्व शीघ्र ही समाप्त हो जायेगा।[1] परन्तु अकेले शक्तिको ही राज्यकी ऐतिहासिक उत्पत्ति तथा आधुनिक कालमें उसके बने रहनेका कारण नहीं माना जा सकता। "न्याय-रहित शक्ति अपने सर्वोत्तम रूपमें भी केवल अस्थायी है: न्याय-युक्त शक्ति राज्यका स्थायी आधार है (२८ : ७९)।"

सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तकी भांति शक्ति-सिद्धान्तका प्रयोग भी विभिन्न उद्देश्योंसे किया गया है। कुछ लोगोंका कहना है कि चूंकि राज्यका जन्म शक्तिसे हुआ है इसलिए लोगोंको राज्यकी आज्ञा आंख मूंदकर माननी चाहिए। यह स्थिति तो बिलकुल युक्तिहीन मालूम होती है। जैसा कि रूसो ने साफ़-साफ़ कहा है (६७ : पु० १ : अ० ३) सबसे अधिक शक्तिवान व्यक्तिका अधिकार तो अधिकार है

---

[1] मार्क्स के सहयोगी ऐंजिल्सने लिखा है : "बिना शक्ति और लौह-कठोरताके इतिहासमें कभी कोई सफलता नहीं मिली।"

ही नहीं। शक्ति पर आधारित अधिकार तो तभी तक टिकता है जब तक शक्ति रहती है। परन्तु वह अधिकार ही क्या जो शक्तिके समाप्त होते ही समाप्त हो जाय? पुनः रूसो के शब्दोंमें: "शक्ति शारीरिक बल है, शक्तिके सामने झुक जाना विवशताकी बात है, स्वेच्छाकी नहीं, अधिकसे अधिक वह बुद्धिमानीका काम है।" शुरूके कुछ ईसाई धर्माधिकारियों (Church fathers) ने भी शक्ति-सिद्धान्तका उपयोग किया है, परन्तु उनका उद्देश्य राज्यको बदनाम करना था। उनका कहना था कि राज्यका आधार पाशविक शक्ति (brute force) है और चर्च या धर्म ईश्वरकी कृति है और इसलिए राज्यसे श्रेष्ठ है। व्यक्तिवादियों और समाजवादियोंने भी अपने-अपने सिद्धान्तोंके समर्थनमें शक्ति-सिद्धान्तका उपयोग किया है। व्यक्तिवादियोंका तर्क है कि जैसे राज्य प्रबल शक्तिका परिणाम है वैसे ही समाजमें भी सबसे तेज व्यक्तिको ही दौड़में विजय मिलनी चाहिए। इसका अर्थ है कि समाजमें अनियंत्रित प्रतियोगिता (unrestricted competition) और व्यक्तिगत उद्यमको खुली छूट मिले। समाजवादी इस तर्क पर यह कह कर चोट करते हैं कि व्यक्तिवादका अर्थ है शक्तिका अनुचित प्रयोग, इसलिए राज्यको अपनी उच्चतर शक्तिसे बलवानों द्वारा कमजोरोंका शोषण किया जाना रोकना चाहिए और श्रमिकोंके साथ न्याय करना चाहिए।

४. पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक सिद्धान्त

प्रायः सभी लोग इस बात पर एकमत हैं कि राज्यकी उत्पत्तिको विकासके रूपमें समझना चाहिए। परन्तु विकासके क्रमके सम्बन्धमें काफ़ी मतभेद है। इसी मतभेदके सिलसिलेमें हम पितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक सिद्धान्तोंकी चर्चा सुनते हैं।

पितृसत्तात्मक सिद्धान्त. सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) इस सिद्धान्तके मुख्य समर्थक हैं। वह इस सिद्धान्तकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं: "पितृसत्तात्मक सिद्धान्त वह सिद्धान्त है जो समाज का प्रारम्भ ऐसे पृथक् परिवारोंसे मानता है जो सबसे अधिक आयुवाले पुरुष वंशजके नियंत्रण व छत्रछायामें एक साथ रहते हैं।" उनका विश्वास है कि राज्य परिवारका ही विस्तृत रूप है। उनकी धारणा है कि प्रारम्भिक परिवार एक पुरुष, उसकी पत्नी और बच्चोंका था। इस एक परिवारसे जल्दी ही कई परिवार हो गये और प्रारम्भिक पिता, इस वंशका सबसे वृद्ध पुरुष, इस समग्र पितृसत्तात्मक परिवारका रक्षक और शासक हो गया। ऐसे परिवारमें पुरुषोंसे या एक ही पूर्वजसे व्यक्तियोंके सम्बन्ध जोड़े जाते हैं। राज्य केवल पितृसत्तात्मक परिवारका उत्तरोत्तर विकास-मात्र है। इस विकासको मेन ने इस प्रकार बताया है: "प्रारम्भिक इकाई एक ऐसा परिवार है जो सबसे बड़े पुरुष-पूर्वजके सामान्य शासनमें बंधा हुआ है। कई परिवारोंको मिलाकर वंश या कुटुम्ब बनता है। वंशों या कुटुम्बोंको मिलाकर एक क़बीला या जाति बनती है। क़बीलोंको मिलाकर राज्य बनता है (२८: ८५)।"

यह सिद्धान्त तीन मौलिक मान्यताओं पर आधारित है:

(१) पितृसत्तात्मक परिवारका आधार स्थायी विवाह और गोत्र-सम्बन्ध था,

(२) राज्य ऐसे व्यक्तियोंका समूह था जो प्रारम्भिक परिवारके एक सामान्य पूर्वजके वंशज थे, और

(३) पितृसत्तात्मक परिवारके प्रधानके व्यापक और असीमित अधिकार राजनीतिक सत्ताके मूल स्रोत थे। यह प्रधान मरते समय अपने तमाम क़ानूनी अधिकार अपने उत्तराधिकारीको दे जाता था।

सिद्धान्तके समर्थनमें प्रमाण. पितृसत्तात्मक सिद्धान्तके समर्थक हेब्रू, यूनानी, रोमवासी तथा भारतीय आर्योंके पारिवारिक इतिहासको उपस्थित करते हैं। हेब्रू लोगोंमें परिवारके सबसे बड़े पुरुषका परिवारके सभी लोगों पर निरंकुश अधिकार रहता था। उसकी सत्ता सर्वोपरि होती थी। उसका परिवार पर अधिकार मालिकके रूपकी अपेक्षा प्रतिनिधिके रूपमें अधिक होता था। एथेंसवालोंमें 'परिवार' तथा भ्रातृ संघ (brotherhoods) होते थे, रोममें पात्तृया पोतेस्ताज़ (patria potestas) यानी पिताके अधिकारने परिवारके मुखियाको परिवारके सदस्यों पर असीम अधिकार दे रखे थे।[1] भारतमें भी जहाँ संयुक्त परिवारकी प्रथा है एक परिवारमें ही बहुत सदस्य रहते हैं। इस परिवारमें पिता और माता, विवाहित लड़के और उनका परिवार, अविवाहित लड़के और अविवाहित लड़कियाँ, विधवाएँ और बूढ़े आश्रित सभी एक साथ रहते हैं। दूसरी और तीसरी पीढ़ीके चचेरे भाई भी भाई कहलाते हैं। ऐसे परिवारको आधार मानकर पितृसत्तात्मक सिद्धान्तके समर्थक यह अनुमान करते हैं कि समय बीतने पर परिवार बढ़कर नागरिक समाज बन गया और पिता या सबसे बड़ा पुरुष सदस्य राजा या प्रधान बन गया।

सिद्धान्तकी आलोचना.

(१) आदिम मनुष्यके इतिहासकी आधुनिक खोजोंसे पता चलता है कि पितृसत्तात्मक परिवारका रिवाज किसी भी हालतमें सार्वदेशिक (universal) नहीं था। कुछ लोगोंका कहना है कि मातृसत्तात्मक पद्धति जिसमें माताके माध्यमसे सम्बन्ध माना जाता है, पितृसत्तात्मक पद्धतिसे पहले की है। मातृसत्तात्मक सिद्धान्तके प्रबल समर्थक मैकलेनेन (McLennan) का दावा है कि बहुपतित्व (polyandry) और मातृसत्तात्मक परिवार समाजमें प्रारम्भसे ही थे और आगे चलकर बहुपतित्व एक पत्नीव्रतमें और मातृसत्तात्मक परिवार पितृसत्तात्मक परिवारमें बदल गये।

(२) मातृसत्तात्मक सिद्धान्तके एक और प्रबल पोषक जेंक्स का कहना है कि मेन की यह धारणा कि परिवार बढ़कर गोत्र और गोत्र बढ़कर क़बीले हो जाते हैं वास्तवमें उल्टी है (२२ : ११८)। जेंक्सका कहना है कि जाति या क़बीला ही

---

[1] सिजविक (Sidgwick) का कहना है कि स्त्री, बच्चों और अपने वंशजों पर पिताका अधिकार इतना अधिक होता था कि व्यक्तिगत सदस्योंका कोई वैधानिक अस्तित्व ही नहीं था। इस पूर्ण अधिकारके साथ इतना ही व्यापक उत्तरदायित्व भी था। परन्तु मृत्युके बाद पिताके इस अधिकारमें एक बहुत बड़ी पाबन्दी लग जाती थी (*Development of European Polity*, Page 47)।

प्रारम्भिक संगठन है, उसके बाद वंश या गोत्र है और सबके बाद परिवार है। अपने इस कथनकी पुष्टिमें जेंक्सने आस्ट्रेलिया और मलय द्वीप समूहकी आदिम जातियोंके कुछ समाजोंके उदाहरण दिये हैं।

(३) असभ्य जातियोंमें बहुपतित्व और अस्थायी विवाह-प्रथा (transient marriage relationships) और स्त्रियोंके जरिये सम्बन्ध जुटानेके रिवाजसे मालूम होता है कि पितृसत्तात्मक परिवार प्रथा हमेशासे नहीं थी।

(४) इस सिद्धान्तकी सबसे गम्भीर आलोचना यह है कि इससे यह नहीं मालूम होता कि राज्यकी उत्पत्ति कैसे हुई। यह सिद्धान्त केवल यह अनुमान करता है कि समाजका और विशेषरूपसे परिवारका प्रारम्भ कैसे हुआ।

मातृसत्तात्मक सिद्धान्त. मातृसत्तात्मक सिद्धान्तका संकेत उन प्रथाओंसे मिलता है जो आस्ट्रेलियाके आदिवासियों और भारतकी कुछ अर्द्धसभ्य जातियोंके समान समुदायोंमें प्रचलित हैं। जंगली लोगोंके जीवनसे ऐसे समाजका पता चलता है जो पितृसत्तात्मक सिद्धान्तसे अधिक आदिम और असभ्य हैं। इस समाजकी मौलिक विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

(१) अस्थायी विवाह-सम्बन्ध,
(२) स्त्रीके माध्यमसे सम्बन्ध-सूत्र,
(३) मातृसत्ता (maternal authority), और
(४) सम्पत्ति और अधिकार पर केवल स्त्रियोंको ही उत्तराधिकार।

मातृसत्तात्मक सिद्धान्तके कुछ लेखक ऊपर कही गई चारों विशेषताओंको आवश्यक समझते हैं परन्तु कुछ अन्य लेखक इस सिद्धान्तका अर्थ 'मातृसत्ता' (mother-right) और 'मातृ सम्बन्ध' (mother-relationship) से ही लगाते हैं, 'मातृशासन' (mother-rule) से नहीं। उक्त दोनों विचारोंमें से दूसरा विचार अधिक युक्ति-संगत मालूम देता है।

उक्त सीमित अर्थमें मातृसत्तात्मक सिद्धान्तके अनुसार मातृसत्तात्मक परिवार पितृसत्तात्मक परिवारसे पूर्वका है। यह मान लेना स्वाभाविक है कि आदि समाजमें एक पति और बहुपत्नीत्वकी प्रथाकी अपेक्षा बहुपतित्व और अस्थायी विवाहका अधिक प्रचलन था। वीमाह-विवाह (Veemah marriage) का भी रिवाज था, जिसके अनुसार पति पत्नीके ही परिवारमें मिला लिया जाता था। ऐसी परिस्थितियोंमें मातासे ही वंश माना जाता था क्योंकि जैसा जेंक्सने बतलाया है ऐसी हालतोंमें मातृत्व (motherhood) तो एक निश्चित तथ्य था परन्तु पितृत्व केवल अनुमानकी बात हो सकती थी। मैकाइवर (MacIver) का कहना है कि "स्त्री शक्तिकी प्रतिनिधि या माध्यम (agent of transmission) मानी गई है, शक्तिकी संचालिका या प्रयोक्ता (wielder) के रूपमें नहीं। इस प्रथासे स्त्रीको पत्नी और माताके रूपमें एक सामाजिक प्रतिष्ठा मिली जो व्यक्तिगत प्रतिष्ठासे अधिक थी (५५ : २९)।" कुछ समय बाद आदिम मनुष्य खानाबदोश और शिकारी जीवनके बजाय चरवाह और

खेतीहर जीवन व्यतीत करने लगा और तब मातृसत्तात्मक समाजका स्थान पितृसत्तात्मक समाज ने ले लिया (५१ : ४१)।

आलोचना.

(१) यद्यपि संसारके कई भागोंमें बहुपतित्वकी प्रथा पाई जाती है परन्तु इस बातका कोई प्रमाण नहीं है कि यह प्रथा सभी जगह प्रचलित थी या समाजकी प्रारम्भिक अवस्थामें आवश्यक थी।

(२) पितृ और मातृ सम्बन्धोंके अतिरिक्त और भी शक्तियों और तत्वोंका हाथ राजनीतिक संगठन बनानेमें रहा होगा।

(३) पितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक दोनों ही सिद्धान्त एक बहुत बड़ा काम करनेकी कोशिश करते हैं। ये दोनों सिद्धान्त यह बतलानेकी कोशिश करते हैं कि मानव-समाजका प्रारम्भ कैसे हुआ। परन्तु हम जिस प्राचीनसे प्राचीन समाजकी कल्पना कर सकते हैं मानव जातिकी उत्पत्तिमें और उसमें सदियोंका अन्तर जरूर रहा होगा।

(४) दोनों सिद्धान्त राजनीतिक होनेके बजाय सामाजिक अधिक हैं। वे राज्य की उत्पत्तिके बजाय परिवारकी उत्पत्तिका विवेचन करते हैं। संगठन, कार्य और उद्देश्यमें परिवार और राज्य पृथक्-पृथक् हैं।

पितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक सिद्धान्तोंके बारेमें हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह सबसे अच्छी तरह लीकॉक (Leacock) के शब्दोंमें इस तरह व्यक्त किया गया है: "आदिम परिवार या गुटका एक ही स्वरूप नहीं था। कहीं मातृसत्तात्मक सम्बन्धका प्रचलन रहा है तो कहीं पितृसत्तात्मक शासनका। इसमेंसे कोई भी एक दूसरेको हटा कर उसका स्थान ले सकता था। वास्तवमें हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि मानव समाजका 'प्रारम्भ' नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। अधिकसे अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि समय बीतने पर एक-पत्नी प्रथा पर आधारित परिवार सबसे अधिक प्रचलित हो गये, यद्यपि संगठनके अन्य प्रकार आज भी सबके सब समाप्त नहीं हो गये हैं। श्री रत्नस्वामीका कहना है कि "मातृसत्तात्मक और पितृसत्तात्मक समाजका विकास साथ-साथ समानान्तर रूपमें हुआ है परन्तु पितृसत्तात्मक सम्बन्ध-सूत्र लम्बे और प्रबल होते हैं।"

ऊपर जिन पांच सिद्धान्तोंकी चर्चा की गयी है वे बहुत कुछ कल्पना-मूलक हैं। इन पांचों सिद्धान्तोंके मुकाबलेमें ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त मान्य है जो राज्यकी उत्पत्तिकी ठीक-ठीक विवेचना करता है। इस सिद्धान्तके अनुसार राज्य ऐतिहासिक विकास या क्रमिक विकासका परिणाम है। यह विकास बराबर होता रहा है। इसका प्रारम्भ किसी एक विशेष समयसे हुआ ऐसा नहीं कहा जा सकता। बर्गेस (Burgess) के कथनानुसार 'मानव प्रकृति के सार्वभौम

(universal) सिद्धान्तोंकी क्रमिक पूर्णता ही राज्य है।' एक अकेले ऐसे कारणकी खोज करना ही व्यर्थ है जो सभी राज्योंकी उत्पत्तिकी समस्या एक दमसे हल कर दे। विभिन्न कारणोंसे राज्यकी उत्पत्ति हुई होगी। कहीं पर एक कारण रहा होगा और कहीं पर दूसरा। जो भी हो, राज्यको मनुष्य ने जानबूझ कर नहीं बनाया है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकारसे भाषा मनुष्य द्वारा जान बूझ कर नहीं बनाई गई है। राजनीतिक चेतनाके विकासमें बहुत समय लगा होगा और प्रारम्भिक राज्यका विकास धीरे-धीरे इस चेतनाके विकासके साथ-साथ हुआ होगा।

ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त (The Historical or Evolutionary Theory)

सभी राज्योंकी उत्पत्तिका एक ही कारण ढूंढ निकालनेकी कोशिश करना व्यर्थ है। उन तत्वोंकी खोज इससे अधिक लाभदायक है जिनसे प्रारम्भिक राज्य बना था। जैसा पहले कहा जा चुका है राज्य-निर्माणके विभिन्न कारण रहे होंगे और उनकी परिस्थितियाँ भी भिन्न रही होंगी। यह जानना कठिन है कि राज्यकी उत्पत्ति कब और कैसे हुई। निम्नलिखित तत्वोंका राज्यके निर्माण पर प्रभाव पड़ा है—

राज्य निर्माणके आधार (Factors in State Building)

(१) वंश सम्बन्ध (kinship),
(२) धर्म, और
(३) राजनीतिक चेतना।

१. वंश सम्बन्ध. इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि सामाजिक संगठनका उदय वंश सम्बन्धसे हुआ। रक्त-सम्बन्ध, चाहे वह वास्तविक रहा हो या कल्पित, एकता का सबसे महत्वपूर्ण सूत्र था। इसने जातियों एवं उपजातियोंको एक सूत्रमें बाँधा। लेकिन केवल वंश सम्बन्धसे ही राज्यका निर्माण नहीं हो सकता था। लोगोंमें सामान्य चेतना, सामान्य हित और सामान्य उद्देश्यका विकास भी ज़रूरी था। वंश-सम्बन्ध (kin relationship) ने बड़ी मुश्किलसे सामाजिक सम्बन्ध (social relationship) को अपना स्थान लेने दिया होगा। मैकाइवर का कहना है कि 'वंश-सम्बन्ध समाजका निर्माण करता है और समाज अन्ततः राज्यका निर्माण करता है (५५ : ३३)।'

सर्व प्रथम वंश-सम्बन्ध पिताके माध्यमसे न होकर माताके माध्यमसे था। मनुष्य शिकारी और खानाबदोश था अतएव बहुपतित्व और अस्थायी विवाहका रिवाज रहा होगा। फिर भी बच्चोंकी सुरक्षा और आर्थिक आवश्यकताके कारण माताएँ और बच्चे एक दूसरेसे घनिष्ठ रूपसे बँधे रहे होंगे। जैसे-जैसे सत्ता और संगठनका विकास होता गया मनुष्यने अपनी शारीरिक शक्तिके कारण समुदायों पर प्रधानता पाई। जिन अन्य कारणोंने पितृसत्तात्मक समाजकी स्थापनामें मदद पहुँचाई वह थे—जंगली जानवरोंका पालतू बनाया जाना, सम्पत्तिमें वृद्धि, जायदादका अधिकार, चरागाही व्यवसायोंका विकास और दास प्रथाका आरम्भ। इन सब कारणोंमेंसे जायदादका

अधिकार शायद सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। जायदादकी सुरक्षाके साथ ही उस पर अधिकार रखना और ठीक प्रकारसे उसका उपयोग करना बहुत ज़रूरी था और इसका मतलब था समाजमें पुरुषकी बढ़ती हुई प्रधानता।

पितृसत्तात्मक समाजका संगठन पुरुषोंके माध्यमसे निश्चित होनेवाले सम्बन्धोके आधार पर हुआ। स्त्रियाँ अधिकाधिक रूपसे सम्पत्ति मानी जाने लगीं। पत्नियोंकी खोज अपने गिरोहसे बाहर की जाने लगी जिससे विवाह-सम्बन्ध अधिक स्थायी हो गया और बहुपत्नी-प्रथाका चलन सामान्य हो गया। कुलपति या परिवारके पिताका अपने पुरुष वशजोंके शरीर और जीवन पर पूरा अधिकार था। उसके मरने पर यह अधिकार सबसे बड़े पुरुष वंशजको मिलता था। पुरुष वंशानुक्रमको क़ायम रखनेके लिये गोद लेनेकी प्रथा बहुत प्रचलित थी। इस पितृसत्तात्मक समाजका विकास इतना न हो सका कि वह राष्ट्रका रूप ग्रहण कर ले। यह समाज कई पितृसत्तात्मक समूहोंमें बँट गया जो अपने प्रारम्भिक समूहके प्रति किसी न किसी रूपमें वफ़ादार थे। इन समूहोंके प्रधानोंने बड़े लोगोंकी एक समिति बनाई होगी जो कुलपतिकी मदद करती होगी। यह कुलपति ही आगे चलकर जातिका प्रधान बन गया और उसके पास सेना, न्याय और धर्म तीनोंके अधिकार थे। वह शासक या प्रधान समाजके कल्याण की अपेक्षा कुछ इने-गिने लोगोंके विशेष अधिकारों और शक्तियोंकी सुरक्षाकी ओर अधिक ध्यान देते थे।

पितृसत्तात्मक समाजमें रिवाजों या प्रथाओंका बहुत महत्वपूर्ण स्थान था और उन्होंने विधानका स्थान ले लिया था। अभी तक नैतिकता या वैधानिकताकी कोई निश्चित भावना न थी। वैयक्तिक उद्योग (individual initiative) और जिम्मेदारी की भावना बिलकुल न थी। पितृसत्तात्मक क़ानून कुलपति या परिवारका पिता (Patriarch or House Father) ही लागू करता था जो न्यायाधीश भी था और फ़ैसले पर अमल करानेवाला भी। न्यायाधीश और अपराधी दोनों ही प्रथाओंसे बँधे थे। प्रथा ही मनुष्योंकी शासक थी। धीरे-धीरे प्रथाने क़ानून या विधानका रूप धारण कर लिया। उस समय तक राज्य अपने प्रचलित अर्थोंमें कहीं नहीं था; उसके कुछ विधायक तत्व ज़रूर थे। मैकाइवर ने ठीक ही कहा है कि यह सोचना बड़ी भारी भूल है कि 'जिस किसी भी जंगली जातिमें हमें कोई मुखिया मिले वहीं हम राज्य मान लें। हम यह नहीं कह सकते कि कब और कहाँ राज्यका आरम्भ हुआ। नेतृत्व और अधीनताकी विश्वव्यापी प्रवृत्तिमें यह निहित है। पर जब सत्ता सरकारका रूप धारण कर लेती है और प्रथा विधान बन जाती है तभी राज्यका जन्म होता है (५५:४२)।'

पितृसत्तात्मक समाज आजकलके समाजसे निम्नलिखित बातोंमें भिन्न था (३९, अध्याय ८):

(१) वह समाज प्रादेशिक (territorial) न होकर वैयक्तिक (personal) था। समुदायकी सदस्यताका आधार स्थान या प्रदेश (locality) न होकर रक्त सम्बन्ध—

वास्तविक या कल्पित—था। समूचा समुदाय अपना संगठन ज्योंका त्यों क़ायम रखते हुए एक जगहसे दूसरी जगह जाकर बस सकता था। प्रारम्भिक कालके राजा अपनी प्रजाके राजा होते थे, किसी निश्चित भू-भागके नहीं।

(२) उस समाजमें दूसरोंके लिए स्थान नहीं था और उसे अपने सदस्योंकी संख्या बढ़ानेकी लालसा नहीं थी। अजनबियोंको प्राचीन शहरकी चहार-दीवारीसे बाहर रहना पड़ता था। मोद लिये जाने पर ही वे समुदायमें सम्मिलित हो सकते थे।

(३) उस समाजमें प्रतियोगिताकी गुंजाइश नहीं थी। प्रथाएं ही समाजके जीवनकी आधार थीं। समाजका बन्धन सबके ऊपर एक-सा था और समाज ही सबके सामाजिक कर्त्तव्य और उसके प्रतिफल (rewards) निश्चित करता था। परिवर्तन या प्रगतिको बुरा माना जाता था।

(४) उस समाजका दृष्टिकोण सम्प्रदायवादी था; यह ज़रूरी नहीं कि उसे साम्यवादी कहा जाय। वह समाज ऐसे गुटोंका एक समुदाय था जिसका उद्भव एक ही था। इस समुदायका प्रारम्भ एक कुटुम्बसे हुआ और फिर क्रमशः गाँव या निकाय (guild) और अन्तमें जाति या नगरकी स्थिति तक विकसित हो गया। जीवनका आदर्श पारस्परिक सहयोग था, स्वाधीनता नहीं। अहस्तक्षेप नीति (laissez faire) समाज के लिए अपरिचित थी। उस समाजमें व्यक्तिगत उद्योगको कुचलने और बुद्धिबलके मनमाने प्रयोग पर बन्धन लगानेकी प्रवृत्ति थी। पितृसत्तात्मक समाजकी स्वाधीनता का अर्थ व्यक्तिगत स्वतंत्रता न होकर सामुदायिक स्वतंत्रता था। पितृसत्तात्मक समाज और आधुनिक समाजके बीचका समय सामन्तवादका युग था और पितृसत्तात्मक विचार राज्यके ठीक प्रकार विकसित हो जानेके बाद बहुत समय तक प्रचलित रहे।

२. **धर्म.** सामाजिक चेतनाके प्रादुर्भाव और इस चेतनाके फलस्वरूप राज्यके निर्माणका दूसरा कारण धर्म है। जैसा कि गेटेल (Gettell) ने कहा है कि वंश सम्बन्ध और धर्म एक ही बातके दो पहलू हैं। आदिम मनुष्यको सत्ता और अनुशासनका आदी बनानेमें और उसमें सामाजिक एकताकी भावनाका विकास करनेमें वंश सम्बन्धकी अपेक्षा सामान्य उपासना (common-worship) अधिक ज़रूरी थी। इस सामान्य उपासनाके बाहरके लोग अजनबी ही नहीं शत्रु तक माने जाते थे। जेंक्स (Jenks) का कहना है कि पितृपूजा (ancestor-worship) सर्वत्र पितृसत्तात्मक समाजका धर्म मानी जाती थी। पितृ पूजाका अर्थ है दिवंगत पूर्वजोंकी पूजा करना। पितृसत्तात्मक समाजके मनुष्यका विचार था कि उसके पूर्वजोंका अस्तित्व निरन्तर क़ायम है। क्योंकि वह सपनोंमें अपने पूर्वजोंको देखता रहता था। वह अपने पूर्वजके लिए बलि देता था, उसकी पूजा करता था और पूर्वजोंकी प्रथाओंका पालन करता था, ताकि उसके दिवंगत पूर्वज उससे रुष्ट न हो जाएँ। इस प्रकार पूर्वजोंको बलि देना पितृसत्तात्मक समाजके धर्मकी एक प्रमुख विशेषता बन गई। पूर्वजोंके बलि भाग ने धीरे-धीरे एक धार्मिक कृत्यका रूप धारण कर लिया। यह पितृसत्तात्मक धर्म समुदायके सभी लोगों पर दृढ़ताके साथ लागू किया जाता था।

वंश सम्बन्ध और धर्ममें आपसमें इतना गहरा सम्बन्ध था कि कुलपति ही—जो आगे चलकर जातिका प्रधान हो गया—महापुरोहित भी होता था। वह परिवारका (बादमें जातिका) प्रधान था। वह प्रथाओंकी रक्षा और उनकी व्याख्या करता था। वह महापुरोहित होनेके साथ ही बहुधा जादूगर या चिकित्सक भी होता था। ऐसे शासकको साधारण लोग भय और आदरकी दृष्टिसे देखते थे। उसका शासन अत्यन्त कठोर होता था और इसमें उसको धर्मसे बड़ी सहायता मिलती थी। उन प्रारम्भिक दिनोंमें निरंकुशता केवल बुरी ही नहीं थी, उसमें अच्छाई भी थी। उसने जाति संगठनको मजबूत बनाया और मनुष्योंको अधिकार और उत्तदायित्वका आदी बनाया। शुरूमें निरंकुशता ही प्रगति और स्वाधीनताकी सबसे बड़ी सहायक थी। यही कारण है कि धर्म और राजनीति बहुत समय तक एक साथ मिलकर चले और आज भी वह एक दूसरेसे बिलकुल अलग नहीं हैं।

जब पितृसत्तात्मक जाति नयी-नयी जातियोंके मिलनेसे या विजय प्राप्त करके बढ़ने लगी तब जो नयी स्थिति पैदा हुई उसका मुकाबला पितृसत्तात्मक धर्म न कर सका। इसी अवस्थामें प्रकृतिकी पूजा आरम्भ हुई। प्रारम्भिक अपरिष्कृत ब्रह्मवाद (crude animism) में प्रकृतिकी उपासना आदिम युगमें भी प्रचलित थी पर अब वह अपने विकसित रूपमें बड़ी आसानीसे पूर्वज उपासना में घुल-मिल गई और शासन तथा विधानके लिए निर्देश (sanction) का काम करने लगी। धार्मिक और राजनीतिक विचारोंमें कोई भेद नहीं किया जाता था और क़ानून तथा सत्ताकी आज्ञाओंका पालन अधिकतर इस विश्वासके कारण किया जाता था कि शासकमें दैवी शक्ति है और प्राचीन प्रथाएँ पवित्र हैं (२४:४५)।

३. **राजनीतिक चेतना.** राज्यके विकासका तीसरा कारण यह है कि मनुष्य ने प्रारम्भिक युगमें व्यवस्था और सुरक्षाकी बहुत अधिक जरूरत समझी और इसके साथ ही साथ बलवान और चतुर लोगोंमें शक्ति और अधिकारकी लालसा पैदा हुई।

जैसे ही मनुष्यने शिकार करनेकी और खानाबदोशीकी आदत छोड़ी और चरागाही और खेतिहर जीवनको अपनाया, वैसे ही उसके जीवनमें अनेक परिवर्तन हुए। आबादी बढ़ने लगी, पड़ोसियोंसे सम्बन्ध बढ़ने लगे, सम्पत्ति इकट्ठी होने लगी, जायदादकी भावना जड़ पकड़ने लगी और आर्थिक जीवनका विकास हुआ। इन सब परिवर्तनोंसे यह जरूरी हो गया कि कोई ऐसी व्यवस्था हो जिससे समाजमें आन्तरिक व्यवस्था कायम रहे और व्यक्ति तथा सम्पत्तिकी सुरक्षा हो सके। इस व्यवस्थाको और बल उस समय मिला जब मनुष्यने यह अनुभव किया कि परिवार तथा विवाह जैसे सामाजिक सम्बन्धोंका नियमन करनेके लिए एक अधिकारपूर्ण संस्था की जरूरत है। सार्वजनिक सुरक्षा और आक्रमणके समय जरूरी सामूहिक कार्यवाहियोंके लिए भी ऐसी संस्थाकी आवश्यकता प्रतीत हुई और इससे भी राज्यको बल मिला।

राज्य-संस्थाके निर्माणमें शक्तिकी आकांक्षाका बहुत बड़ा हाथ था। इस आकांक्षा को पूरा करनेके लिए सैनिक कार्यवाहियोंने सबसे अच्छा मौक़ा दिया। कमसे कम कुछ अवसरों पर तो 'युद्धने ही राजाको जन्म दिया'। प्रारम्भके पारिवारिक संगठनका स्थान धीरे-धीरे शुद्ध राजनीतिक संगठन लेते गये। सफल युद्ध-नायक राजा या सामन्त बन गये और समाजमें कई वर्ग पैदा हो गये। शक्ति अधिकाधिक रूपसे कुछ चुने हुए वर्गोंके हाथोंमें चली गई जो अपने लिए विशेष असामान्य अधिकारोंका दावा करने लगे।

इस प्रकार वंश-संगठन, धर्म, और व्यवस्था तथा सुरक्षाकी आवश्यकतासे 'वह संगठन बना जिससे साधारणतः राज्यका जन्म हुआ (२४)।' इन सबके कारण क़ानून की ज़रूरत पड़ी और इस कानूनको लागू करनेके लिए सरकारकी ज़रूरत पड़ी और राज्य इस राजनीतिक विकासका अगला क़दम था।

Select Readings

Gettell, R.G.—*Introduction to Political Science*—Ch. VI.
Gettell, R.G.—*Readings in Political Science*—Ch. VI.
Jenks, E.—*The Ship of State*—Ch. III.
Kranenburg, R.—*Political Theory*—pp. 3-19.
MacIver, R.M.—*The Web of Government*—Ch. II.
Lowie, R.H.—*Origin of the State.*
Oppenheimer, F.—*The State.*
Sidgwick, H.—*Development of European Polity*—Lecture III.
Willoughby, W.W.—*The Nature of the State*—Chs. III-VI.

४

राज्य का ऐतिहासिक विकास

(The Historical Development of the State)

राज्यका उदय

अभी तक हमने राज्यकी उत्पत्ति और प्रारम्भिक राज्यको बनानेवाले तत्वोंके सम्बन्धमें प्रचलित कल्पनामूलक सिद्धान्तोंका विवेचन किया है। अब हम ऐतिहासिक कालमें हुए राज्यके विकास पर विचार करेंगे। इस क्षेत्रमें विचार करनेके लिए हमारे पास ठोस सामग्री है।

१. पूर्व का प्रारम्भिक साम्राज्य (The early Empire in the Orient)

आदिम पितृसत्तात्मक अवस्थासे विकसित होनेवाले पहले राज्यका स्वरूप, विशेषकर पूर्वके देशोंमें, साम्राज्यवादी था। पितृसत्तात्मक समाजके पास न तो इतनी भूमि थी और न इतनी जनसंख्या कि वह एक राज्य बन सकता। सम्भवतः वास्तविक या कल्पित रक्त सम्बन्धोंसे परस्पर बँधे हुए क़बीलों या विभिन्न जातियोंके बीच लचर समझौते या सन्धियां थीं। परन्तु इनसे राज्यका निर्माण नहीं हो सकता था। कबायली मनुष्यकी स्वामिभक्ति को विस्तृत करने और उसे राजनीतिक सत्ता तथा उत्तरदायित्व का आदी बनानेके पहले विजय और प्रभुत्व क़ायम करनेकी ज़रूरत थी।

बड़ी-बड़ी नदियोंसे सींचे जानेवाले पूर्वके गर्म और उपजाऊ मैदानोंमें तथा मैक्सिको और पेरूके पठारोंमें आदि सभ्यता और आदिम राज्यका उदय हुआ। यह ऐसे क्षेत्र थे जहाँ कमसे कम मेहनतसे अधिकसे अधिक उत्पादन सम्भव था। यहांकी आबादी तेज़ीसे बढ़ी और बहुत जल्दी लोग प्रारम्भिक पारिवारिक और धार्मिक संगठन को पार करके नई राजनीतिक व्यवस्थामें आ गये। तेज़ीके साथ बढ़नेवाली जनसंख्या ने और इन गर्म प्रदेशोंकी दुर्बल बनानेवाली जलवायु ने एक बहुत बड़े दासवर्गकी उत्पत्तिमें योग दिया। जिसके पास आवश्यकतासे अधिक सम्पत्ति, अवकाश और शक्ति थी वे आसानीसे दूसरों पर हावी होकर निरंकुश सत्ता क़ायम कर सके। सामाजिक विभेदों और जाति प्रथाका प्रचलन शुरू हुआ। इस परिस्थितिसे बहुत जल्द विशाल साम्राज्योंका विकास हुआ। यह सभी साम्राज्य—सुमेरियन, असीरियन,

पर्सियन या फ़ारसका साम्राज्य, मिस्र और चीनके साम्राज्य—नगरोंको केन्द्र बनाकर विकसित हुए। फ़ारसके साम्राज्यको छोड़कर अन्य सभी साम्राज्योंका भौगोलिक सम्बन्ध और संगठन बहुत कमज़ोर था और उनकी सत्ता भय और निरंकुशता पर ही टिकी थी। फ़ारसके साम्राज्यमें ही एकता और स्थिरता कुछ हद तक पाई जाती थी। अन्य सभी साम्राज्योंका काम अधिकतर राजस्व वसूल करना और सैनिक भर्ती करना था। न तो कोई एक सामान्य उद्देश्य था और न एक सामान्य वफ़ादारी। सत्तारूढ़ राजवंशके कमज़ोर होते ही शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी शासन और सत्ताके लिए लड़ने लगते थे। व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सच्ची राजनीतिक प्रगतिके लिए गुंजाइश नहीं थी। प्रारम्भिक साम्राज्य इस प्रकार अस्थिर संस्था रहे। वह अधिकसे अधिक "अर्द्ध-स्वाधीन (semi-independent) राज्योंका एक शिथिल गठबन्धन थे और साम्राज्य-सत्ता केवल एक राजवंशसे दूसरे राजवंशमें ही नहीं बल्कि एक नगरसे दूसरे नगरके बीच बदलती रहती थी (५५ : ५८)।" इन सब त्रुटियोंके होते हुए भी प्रारम्भिक साम्राज्य ने लोगोंको सत्ताकी आज्ञा-पालनका आदी बनाकर राजनीतिक विकासमें बड़ी सहायता दी।

२. यूनानके नगर राज्य (The Greek City States)

राज्यके विकासकी दूसरी महत्वपूर्ण अवस्था यूनानमें मिलती है। यद्यपि यूनानमें सभ्यताका विकास पूर्वके देशोंकी अपेक्षा कुछ बादमें हुआ, फिर भी सभ्यताके प्रारम्भ हो जाने पर उसका विकास तेज़ीसे हुआ। यूनान देशकी भौगोलिक परिस्थितियां राजनीतिक अधिकार और उनके प्रयोगके लिए बहुत उपयुक्त हैं। सारा देश पर्वतों और सागरके कारण अनेक घाटियों और द्वीपोंमें बँटा हुआ है। उसकी प्राकृतिक अवस्था विभिन्न प्रकारकी है, देशमें बड़े-बड़े पहाड़ और नदियां नहीं हैं और न कोई ऐसा प्राकृतिक कारण है जो मनुष्यकी क्रियाशीलताको रोक सके। यूनानियोंका धर्म तथा जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण प्राकृतिक था। वह अपने देवताओंसे नहीं डरते थे। चूंकि वहाँ प्रकृति उष्ण कटिबन्धीय देशों (tropical countries) की भाँति उदार नहीं थी, इस कारण लोग उपनिवेश बसाते तथा व्यवसाय करते थे। पितृसत्तात्मक क़बीलों या जातियों ने छोटे-छोटे प्रदेशों पर अधिकार क़ायम किया और पहाड़ोंके आसपास गाँव बसाये जिससे उनकी रक्षा आसानीसे कर सकें। इनमेंसे कुछ क़बीले विजय द्वारा, शान्तिसे या रक्त या वंश सम्बन्धसे एकमें मिल गये। परन्तु उनमें राष्ट्रीय एकताकी भावना विकसित नहीं हो पाई। उनमें सिर्फ़ स्थानीय देशप्रेम (local patriotism) की भावना ही थी।

यूनानियों ने अपने स्वावलम्बी और स्वशासित नगर राज्यों या नगर समाजोंमें (या मैकाइवर के शब्दोंमें नगर समुदायोंमें) कई प्रकारके राजनीतिक संगठनोंको विकसित किया। इन सभी समाजोंमें विकासके तत्व निहित थे, केवल स्पार्टा (Sparta) ही बराबर रूढ़िवादी बना रहा और वह अपने यहाँ 'अपने शासन व

सरकारको ज्योंका त्यों बनाये रहा। इसके विपरीत दूसरे राज्योंमें राजनीतिक विकासका साधारण क्रम राजतंत्रसे कुलीनतन्त्र, कुलीनतन्त्रसे निरंकुशतन्त्र और तब प्रजातन्त्र था (२ : अ० १)।'

यूनानी नागरिक अपने राज्यके प्रति बहुत वफ़ादार होता था। नगरके जीवन में पूरा भाग लेना उसके जीवनका एक महत्वपूर्ण लक्ष्य था। 'नागरिकता एक कर्त्तव्य के रूपमें थी और लगभग एक व्यवसाय थी (५५ : ८४)।' यूनानी लोग नगरको एक नैतिक संस्था मानते थे। नगर उनके अनेक कार्यों और कर्त्तव्योंको पूरा करता था। वास्तवमें नगर समाजके पूरे जीवनसे मिलकर एक रूप हो गया। वह एक सर्वांगीण साझेदारी (all-inclusive partnership) था। यूनानियोंका विश्वास था कि राज्य से अलग रहकर कोई भी व्यक्ति जीवनकी पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। यूनानियोंके जीवनका दृष्टिकोण आरम्भसे अन्त तक सामाजिक था।

इस तरह जहाँ एक ओर यूनानके नगर-राज्य राजनीतिक विकास और व्यक्तिगत स्वाधीनताकी चोटी पर थे, दूसरी ओर उनमें गम्भीर त्रुटियां भी थीं। पहली बात तो यह थी कि वे दास-प्रथा पर आधारित थे और दूसरे यूनानी आपसमें मिलकर एक सम्मिलित राष्ट्र न बना सके। उनमें कभी भी एक सर्व-सामान्य राजनीतिक चेतना का विकास नहीं हो पाया जो सभी यूनानियोंको एक राजनीतिक सूत्रमें बाँध देती। नगर राज्योंने शिथिल और लचर संघ बनाया परन्तु इससे आगे अधिक कुछ न कर पाये। बहुधा होनेवाले युद्धोंने एक-एक करके सब बड़े-बड़े नगर राज्योंकी शक्तिको नष्ट कर दिया। नगरोंकी सीमाके भीतर बँधे रहनेके कारण ही लोगोंमें दूसरे नगरों और शेष दुनियाँके प्रति तीव्र उपेक्षा और निषेधात्मक भावना (attitude of bitter exclusiveness) थी। यही कारण था कि यूनानकी शक्ति कम होती गई और एक दिन वह आसानीसे मकदूनियाँ (Macedon) और फिर रोमका शिकार हो गया।

३. रोम का विश्व साम्राज्य (The World Empire of Rome)

यूनान के नगर राज्योंकी भाँति रोमके राजनीतिक जीवनका प्रारम्भ भी एक नगर-राज्यसे हुआ था। रोमके नगर-राज्यका निर्माण उन अनेक क़बीलोंसे हुआ जो टाइबर नदीके उपजाऊ मैदानमें स्थित आसानीसे रक्षा करने योग्य सात पहाड़ियों पर अपना कब्ज़ा किए हुए थे। प्रारम्भमें जब यह नगर-राज्य बना तब इसका कोई महत्त्व नहीं था, परन्तु अपनी केन्द्रीय स्थितिके कारण और देश की एक मात्र जहाज़रानीके योग्य महत्त्वपूर्ण नदीके ऊपर स्थित होनेके कारण यह नगर-राज्य बहुत शीघ्र एक प्रधान राज्य बन गया। वहाँ पर रहनेवाले कबीलोंमें एक सामान्य धार्मिक उपासनाके कारण शीघ्र ही एकताकी नींव पड़ गई। प्रारम्भमें वहांका शासन राजतन्त्रीय था। राजा ही न्यायकर्त्ता, शासक और धर्म-गुरू था। राजनीतिक-सत्ताके प्रयोगमें कुलीन-वर्गका भी हाथ था जो 'पैट्रीशियन्स' (Patricians) के नामसे जाना जाता था। प्रारम्भमें

भूमि और सम्पत्तिसे रहित निम्नवर्गको, जिसे 'प्लीबियन्स' (Plebeians) कहा जाता था, इन अधिकारोंमें कुछ हिस्सा न मिला, लेकिन बादमें उसने अपने विशेष अधिकार प्राप्त कर लिये।

यूनानकी भांति रोममें भी प्रारम्भिक प्रवृत्ति प्रजातन्त्रीय शासनकी ही ओर थी। सन् ५०० ई० पू० के लगभग राजतन्त्रका अन्त हो गया और दो प्रधान न्यायकर्त्ताओं को लेकर गणतन्त्रकी स्थापना की गई। इन न्यायाधीशोंको बादमें 'कॉन्सल्स' (consuls) कहा जाने लगा। इस परिवर्तनके बाद दो शताब्दियों तक पैट्रीशियन व प्लीबियन वर्गोंके बीच राजसत्ताके लिये आपसमें संघर्ष होता रहा। युद्धोंके आर्थिक परिणामोंसे इन संघर्षोंको और बल मिला। संघर्ष बढ़ता गया और अन्तमें दोनों वर्ग मिलकर एक नागरिक समाजमें परिणत हो गये जिसमें दोनोंको ही समान राजनीतिक तथा नागरिक अधिकार थे। इस परिवर्तनसे सरकारमें भी परिवर्तन हुआ जिसके अनुसार दो 'कॉन्सल्स' में से एक का प्लीबियन वर्गसे होना आवश्यक हो गया।

अब रोम अपनी सीमाके बाहरके प्रदेशोंको अपनेमें मिलानेकी सोचने लगा। इटली की प्राकृतिक परिस्थितियां यूनान पर विजय पानेमें सहायक थीं। सबसे पहले रोमने अपने पड़ोसी इटालियन राज्योंको अपनेमें मिलाया। सन् ९० ई० पू० तक—'सामाजिक युद्ध' (The Social War) के बाद (जो आठ इटालियन कबीलोंका रोम के प्रति गम्भीर विद्रोह था)—पो नदीके दक्षिणके सभी लोग पूर्ण नागरिकता पा चुके थे। यूनानकी अपेक्षा रोमकी नागरिकता अधिकारोंकी व्यवस्थामें अधिक स्पष्ट तथा समयानुसार बदल सकनेवाली थी। जैसाकि मैकाइवर ने कहा है: 'प्रारम्भसे ही रोम के लोग अपनी सूझके कारण नागरिक अधिकार (कानूनके समक्ष समानताके अधिकार) और राजनीतिक अधिकार (प्रभु-सत्ता युक्त संस्थाकी सदस्यताके अधिकार) में स्पष्ट भेद कर सके (५५:९७)।' इटली के कुछ नगरोंको नागरिक अधिकार तो दिये गये परन्तु राजनीतिक अधिकार नहीं दिये गये।

इटलीको जीत लेनेके बाद रोम बहुत जल्द पश्चिममें अपने एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी कार्थेज नगरको बरबाद कर एक बहुत बड़ी सामुद्रिक शक्ति बन गया। सिकन्दर के साम्राज्यके कई प्रदेश रोमके शासनमें आ गये। ईसा के पूर्वकी पहली शताब्दीके समाप्त होते-होते लगभग समस्त सभ्य पश्चिमी संसार एक राजनीतिक व्यवस्थामें बँध गया।

साम्राज्यको एक सूत्रमें बांधे रखनेके लिए एक प्रभावपूर्ण केन्द्रीय शासन और नियन्त्रण की व्यवस्थाकी गयी। जीते हुए भू-भाग प्रदेशोंमें बाँट दिये गये। हर प्रदेश में एक रोमन अधिकारी को जिसे 'प्रोकॉन्सल' (proconsul) कहते थे, राजनीतिक तथा नागरिक मामलोंमें पूर्ण अधिकार मिले हुए थे। उस पर केवल एक ही अंकुश था और वह अंकुश इस बातका डर था कि कहीं ऐसा न हो कि अपने कामसे अवकाश ग्रहण कर लेनेके बाद रोममें उस पर अभियोग लगाया जाय। स्वयं रोम में गणतन्त्र

का स्थान तानाशाही सैनिक शासन ने ले लिया था। सम्राट् सर्वशक्तिमान बन गया और जनप्रिय परिषदोंका कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं रह गया था। सीनेटको प्रमुख स्थान प्राप्त था परन्तु इस पर भी सम्राट्का नियन्त्रण रहता था क्योंकि वह ही सीनेट की मर्यादा और महत्ता निर्धारित करता था। अन्तमें सम्राट्के आदेश ही विधान माने जाने लगे।

दूसरी शताब्दीके अन्त तक विभिन्न प्रदेशोंके निवासियोंको भी रोमकी नागरिकता मिल गयी। राज्यके सभी सदस्य सम्राट्के शासनमें समान प्रजाके रूपमें आ गये। इसी बीच इस पुराने सिद्धान्तका स्थान कि शासकको प्रजासे ही अधिकार प्राप्त होते हैं, 'दैवी-उत्पत्ति सिद्धान्त' ने ले लिया। सम्राट्की सत्ता ईश्वर द्वारा प्रदत्त मानी जाने लगी। कुछ समय तक तो सम्राट्को ईश्वर ही मानकर पूजा जाने लगा। बाद में जब ईसाई धर्म राजधर्म हो गया तब दैवी उत्पत्ति सिद्धान्तकी व्याख्या इस प्रकार की गयी कि सम्राट् पृथ्वी पर परमात्माका प्रतिनिधि है। इस प्रकार प्राचीन प्रजातन्त्रीय नगर-राज्य एकतन्त्रीय विश्व-साम्राज्य बन गया। स्वतंत्रता, प्रजातन्त्र और स्थानीय स्वाधीनता (local independence) का मान घट गया और उनके स्थान पर एकता, व्यवस्था, विश्वविधान और विश्वबन्धुत्वके रोमन आदर्शोंकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी।

संसारको प्रथम सुव्यवस्थित और सुशासित राज्य देनेका स्थायी गौरव रोमको ही प्राप्त है। रोमका शासन पश्चिममें पांच सौ वर्ष तक और पूर्वमें डेढ़ हज़ार वर्ष तक क़ायम रहा। रोमन साम्राज्यकी व्यवस्था पद्धतिके अनुसार ही कैथोलिक धर्म-संघ (church) ने अपना संगठन किया। रोमकी व्यवस्थाको ही देखकर पूरे मध्ययुगमें एक विश्वव्यापी साम्राज्यकी भावना लोगोंके मस्तिष्कमें घूमती रही। रोमका विधान, उसके उपनिवेश और नगरपालिकाओंकी शासन-व्यवस्था आधुनिक युगको विरासतके रूपमें मिली हैं। प्रभुसत्ता और नागरिकताके सुगठित आदर्श और विभिन्न जातियोंमें राजनीतिक एकता स्थापित करनेकी पद्धतियाँ रोमकी कुछ महत्वपूर्ण सफलताएँ हैं।

इन महान् सफलताओंके बावजूद रोमका साम्राज्य स्थायी या दीर्घजीवी न हो सका। उसके पतनके कारणोंमें से कुछ थे: एकताकी प्राप्तिके लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रताका बलिदान, शासनकी हृदयहीन दक्षता (soulless efficiency) जो उसकी विशेषता थी, उच्चवर्गोंका नैतिक पतन, महामारियां, साम्राज्यका कमज़ोर आर्थिक आधार, सम्राटोंके उत्तराधिकारका निर्णय करनेवाले विधानका अभाव एवं धार्मिक अव्यवस्था और बर्बर जातियोंके हमले। यद्यपि इन तथा अन्य कारणोंसे रोमका पतन हो गया पर पतनके बाद उसके प्रभाव, नाम और यश पहलेकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हो गये। यूनान और रोमकी सफलताओं और असफलताओंकी तुलना करते हुए गेटेल ने ठीक ही कहा है: "यूनानने एकता-रहित प्रजातन्त्रका विकास किया और रोमने प्रजातन्त्र-रहित एकता क़ायम की (२४ : ५९)।"

रोमके पतनका मतलब हुआ पश्चिमी यूरोपमें 'राज्य' का अन्त। एक लम्बे अर्से तक अस्त-व्यस्तता रही। रोम पर उत्तरसे हमला करनेवाले बर्बर ट्यूटन अब भी क़बायली ज़िन्दगी बिता रहे थे और एक मज़बूत केन्द्रीय सत्ताकी कल्पना वे नहीं कर पाये थे। उन्हें स्थानीय स्वाधीनता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता बहुत प्रिय थी और उनके राजा केवल सफल युद्धनायक ही थे। स्वतंत्र व्यक्तियोंको समस्त सामाजिक कार्योंमें भाग लेनेका अधिकार था।

४. सामन्तिक राज्य (The Feudal State)

जब ऐसे लोगोंका सम्पर्क रोमकी राजनीतिक पद्धतिसे हुआ, जिसकी विशेषता—व्यवस्था, एकता और केन्द्रीयकरण थे, तब संघर्ष अनिवार्य हो गया। इस संघर्षसे समझौतेके रूपमें सामन्तशाहीका उदय हुआ। यह सामन्तशाही ट्यूटॉनिक लोगोंके क़बायली समाज और रोमन साम्राज्यके बीच समझौता थी। सामन्तशाहीकी निन्दा करना तथा राज्यके विकासमें इसके महत्वको कम करना तो बहुत आसान है। यह ठीक ही कहा गया है कि सामन्तशाही राजनीतिक पद्धति है ही नहीं। परन्तु रोमके पतनके बाद समाजमें जब अराजकता फैल गयी थी, तब सामन्तशाही ने ही योरोपके लोगोंको शान्ति और सुरक्षा दी और राज्य-यंत्रको बनाये रखा। सीमित अर्थमें यह संगठित अव्यवस्था थी। रोमन साम्राज्यवाद और आधुनिक राष्ट्रवादके बीच सामन्तशाही अन्तर्कालीन व्यवस्था रही है।

सामन्तशाहीका उदय और उसका अर्थ

रोमन साम्राज्यके पतनके बाद उसके विस्तृत प्रदेश शक्तिशाली कुलीन वर्गके अधीन हो गये। प्रत्येक सामन्त स्वयं एक सत्ता बन गया और उसने अपने अधीन प्रदेशको छोटे-छोटे जागीरदारोंमें बाँटकर अपना एक समाज तैयार कर लिया। प्रधान सामन्त (tenant-in-chief) ने अपनी जमीन जागीरदारोंमें बांट दी, जागीरदारोंने अपनी जमीन किसानोंमें बांटी और किसानोंने अपनी जमीनको नौकरों और दासों (vassals and serfs) में बांट दिया। इस प्रकार भूमि पर क्रमिक स्वामित्वके आधार पर शक्ति-सम्पन्न लोगोंका एक समाज उठ खड़ा हुआ। एक कठोर वर्ग व्यवस्था क़ायम हुई और राज्य समाजमें विलीन हो गया। सैनिक सेवा तथा अन्य प्रकारकी सेवाओंका अधिकारी निकटतम सामन्त होता था। राजा या प्रधान सामन्तका नौकरों व दासोंके निम्न वर्ग पर अप्रत्यक्ष और बहुत कम अधिकार होता था। समाजका प्रत्येक वर्ग अपने ऊपरके दूसरे वर्गका सबसे पहला सेवक और भक्त होता था। इस सीमित स्वामिभक्तिका परिणाम यह हुआ कि उस समयके लोग एक ऐसी सर्वोच्च सत्ताकी कल्पना नहीं कर सकते थे जिसका सार्वभौम प्रभुत्व हो। रोमके लोगोंने एक रूप और निष्पक्ष विधानकी स्थापनाके लिए इतनी मेहनत की थी परन्तु उनकी मेहनत व्यर्थ गई और परम्पराको फिर विधानके रूपमें स्वीकार किया गया। सामन्तवादी विचारोंके रहते हुए वास्तविक राजनीतिक प्रगति सम्भव नहीं थी। फिर भी सामन्तवादको अराजकताका समानार्थी (synonymous) नहीं

माना जा सकता। योरोपके लोगोंको शान्ति और सुरक्षा देकर उसने अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध कर दिया। वह व्यक्तिगत वफ़ादारी और समझौते पर आधारित थी। बादमें, विशेषकर इंगलैंडमें जहां अपने ऊपरके जागीरदारकी अपेक्षा सम्राट्के प्रति वफ़ादारीको अधिक महत्व दिया गया, सामन्तवादने एक राष्ट्रीय राज्यके विकासमें सहायता दी।

ईसाई धर्म-संघ (Christian church) एक दूसरी संस्था थी, जो अपनेको इस अव्यवस्थाके बाद भी जीवित रख सकी जो रोम साम्राज्यके पतनके बाद फैली थी। ईसाई धर्मका प्रारम्भ समाजके निम्न वर्गोंमें एक सामान्य धार्मिक विश्वासके रूपमें हुआ था, परन्तु कुछ ही शताब्दियोंमें वह एक प्रबल धर्म हो गया। सन् ३३७ ईसवी में रोमके सम्राट् कॉन्स्तांतीन (Emperor Constantine) के ईसाई-धर्म स्वीकार कर लेनेके पश्चात् चौथी शताब्दीके अन्त तक समूचे रोमन संसारमें यही एक स्वीकृत धर्म रह गया। ईसाई धर्म-संघ ने अपना संगठन रोमन साम्राज्यके ढंग पर किया था। जब रोमन साम्राज्यका पतन हो गया तब इसने साम्राज्यका स्थान ग्रहण कर योरोप में शान्ति और व्यवस्था क़ायम की। समूचे मध्ययुगकी लम्बी अवधिमें इसने राज्य पर अपना नियंत्रण रखा और स्वत: एक शक्तिशाली लौकिक सत्ता बन गया जिसके पास पर्याप्त सम्पत्ति, विशेषकर भू-सम्पत्ति थी। जैसाकि फिगिस (Figgis) ने कहा है: "मध्ययुगमें चर्च एक राज्य ही नहीं था बल्कि वास्तविक राजसत्ताके स्थान पर वही आसीन था। राज्य नामसे पुकारी जानेवाली जो राज्यसत्ता थी (क्योंकि धर्म-संघसे अलग किसी दूसरे समाजकी स्थिति तो स्वीकार ही नहीं की जाती थी), वह वास्तवमें इस धर्म-संघका पुलिस-विभागमात्र थी।"

सामन्तवाद धर्म-संघका बड़ा सहायक था क्योंकि धर्म-संघका राजनीतिक हित इसीमें था कि पश्चिमी योरोप बराबर विभाजित बना रहे ताकि एक ऐसी सामान्य राजनीतिक शक्ति स्थापित न हो सके जो धर्म-संघ से अधिक शक्तिवान् हो और उसके लम्बे-चौड़े दावोंका विरोध कर सके। जब तक पोप योग्य और शक्तिशाली और राजे-महाराजे कमजोर रहे और जब तक धार्मिक अधिकारियोंके प्रति जनताका अन्ध-विश्वास बना रहा, तब तक धर्म-संघकी प्रभुता भी बनी रही। परन्तु चौदहवीं शताब्दी के आसपास ही पोपकी सत्ताके बुरे दिन प्रारम्भ हो गये और उसके बाद फिर कभी पोपके पदको वह प्रतिष्ठा और अधिकार न मिले जो सातवें ग्रेगरी (Gregory VII—१०७३-१०८५) और तीसरे इनोसेंट (Innocent III—११९८-१२१६) को मिल चुके थे। बादकी दो ऐतिहासिक घटनाओं ने धर्म-संघके अधिकारों और उसकी प्रतिष्ठाको कम कर दिया। इनमें से पहली घटना थी फ़्रांसके बादशाह के द्वारा पोपका एविनॉन नामक स्थानमें बन्दी बनाकर रखा जाना, जिसे बैबीलॉनका बन्दीकाल (Babylonish Captivity—१३०३-१३७३) कहते हैं और दूसरी घटना इसके बादकी 'महान् मतभेद' (The Great Schism—१३७८-१४१५) थी जब कभी दो और कभी-कभी तीन प्रतिद्वन्द्वी पोप आपसमें झगड़ते रहे। उसके

बाद तुरन्त ही आनेवाले 'प्रोटेस्टेण्ट रिफ़ॉर्मेशन' (Protestant Reformation) ने चर्चकी लौकिक सत्ताको लगभग समाप्त ही कर दिया और इस प्रकार राष्ट्रीय राजतंत्रों के लिए मार्ग तैयार हो गया।

५. आधुनिक युग का राष्ट्रीय राज्य (The National State of Modern Times)

पुनरुत्थान (Renaissance) और सुधार (reformation) कालसे ही आमतौर पर आधुनिक युगका प्रारम्भ माना जाता है। इन घटनाओंने पश्चिमी योरोपके जीवनमें नई स्फूर्ति ला दी और उसने अद्वितीय विकास और महत्त्वपूर्ण सफलताओंके युगमें प्रवेश किया। ऐसी हालतमें सामन्तवाद बहुत दिन तक टिक नहीं सकता था। जब तक परिस्थितियाँ अनिश्चित रहीं और सब जगह अव्यवस्था और गड़बड़ी फैली रही तब तक सामन्तवाद बड़ा उपयोगी रहा पर परिस्थितियोके सुधरते ही, व्यवस्था स्थापित होते ही और जाति, धर्म, प्रदेश और भाषाके आधार पर लोगोंमें एकताकी भावना उत्पन्न होते ही सामन्तवादको समाजकी एक उच्चतर व्यवस्थाको जगह देनी पड़ी।

मध्ययुगके समाप्त होनेके पहले ही कई शक्तियां इस नये युगको लानेमें सहायक हुईं। रोमका धर्म-साम्राज्य (The Holy Roman Empire)—ईसाई धर्म-संघके पोपकी प्रभुता—अपने वैभवके सुनहरे दिनोंमें भी बहुत कुछ बनावटी ही था। उसके पीछे कोई असली अधिकार सत्ता नहीं थी। इस धर्म-साम्राज्य और पोपकी सत्ताके बावजूद इंगलैण्ड, फ़्रान्स और स्पेनमें राष्ट्रीय राज्योंका उदय हो रहा था। नगर बढ़ रहे थे और व्यापारकी वृद्धि हो रही थी। पोपकी अहंकार और उदण्डता भरी माँगोंसे राजाओंके आत्मसम्मान और स्वाभिमानको ठेस लगी और वे लोग पोपके अधिकारोंसे अपने आपको धीरे-धीरे मुक्त करके अपने-अपने देशोंके वास्तविक शासक बनने लगे। शन्ति और सुरक्षा चाहनेवाली जनताने भी पूरी वफ़ादारीसे अपने राजाओंका साथ दिया। लोगोंने अपने राजाओंको अपनी राष्ट्रीय भावनाका प्रतीक माना और वे राष्ट्रीय भावनासे प्रभावित होने लगे। बारूदके प्रयोग, राष्ट्रीय राजस्वमें वृद्धि और स्थायी सेनाके निर्माणके कारण राजाओंको अपने सामन्तों पर आश्रित रहनेसे मुक्ति मिली। शतवर्षीय-युद्ध (The Hundred Years' War) और गुलाबों के युद्ध (Wars of Roses) ने सामन्तोंके अधिकारोंको और उनकी राजनीतिक महत्ता को और कम कर दिया। पन्द्रहवीं शताब्दी खत्म होते-होते सामन्तशाही ताक़त बहुत कुछ समाप्त हो गयी।

इस प्रकार 'प्रोटेस्टेन्ट रिफ़ार्मेशन' के आते-आते युगान्तरकारी राजनीतिक परिवर्तनोंके लिए मैदान तैयार हो गया था। सुधारक मुख्यतः राजनीतिक उपदेशक थे। उन्होंने चर्चके भ्रष्टाचार, उसके झूठे उपदेशों, उसकी लौकिक सत्ता, और उसकी अतुल सम्पत्तिके खिलाफ़ घोर युद्ध छेड़ दिया। उन्होंने ऐसे सिद्धान्तोंका प्रचार किया जिनका मनुष्योंके धार्मिक जीवन पर ही नहीं, बल्कि उसके राजनीतिक

सम्बन्धों पर भी गहरा असर पड़ा। ये सिद्धान्त मुख्यतः यह थे—हर मनुष्यका मनुष्य होनेके नाते मान और महत्त्व, व्यक्तिगत विवेक और व्यक्तिगत स्वाधीनताका महत्त्व और पादरी या पुरोहितकी मददके बिना ईश्वरसे सीधा सम्बन्ध क़ायम करनेका हर व्यक्तिका अधिकार। इन उपदेशोंसे ही आधुनिक युगके राजनीतिक क्षेत्रमें व्यक्तिवाद और राष्ट्रवाद आदिके आन्दोलनोंका जन्म हुआ। मध्ययुगकी दो शक्तिशाली धारणाओं—विश्वव्यापी साम्राज्य और विश्वव्यापी धर्म संघ—पर इन उपदेशोंने घातक प्रहार किये।

सुधारकोंके उपदेशोंका तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय सम्राटोंके हाथ मज़बूत हो गये। सभी बड़े उपदेशकोंने अपने अनुयायिओंको राजाकी आज्ञा आंख मीचकर माननेका आदेश दिया। उनका कहना था कि "जो भी सत्ता है वह ईश्वर द्वारा नियुक्त है।" उनका कहना था कि राजनीतिक सत्ता अन्तिम तौर पर ईश्वरकी इच्छासे ही प्राप्त होती है और जिन राजाओंकी आज्ञा हम मानते हैं वे राजा दैवी अधिकारसे ही राज्य करते हैं। उनके उपदेशोंने इंगलैण्ड और फ़ान्समें ऐसा गहरा प्रभाव डाला कि इंगलैण्डमें ट्यूडर और स्टुअर्ट वंशका और फ़ान्समें कैपीशियन (Capetian) निरंकुश शासन स्थापित हुआ। फ़ान्सके चौदहवें लुइ ने तो यहां तक कह डाला 'मैं ही राज्य हूं।' सुधार आन्दोलनकी शिक्षा यह थी कि राजतंत्रीय देशोंमें राजतंत्र और कुलीनतंत्रीय देशोंमें कुलीनतंत्रका समर्थन किया जाय। दोनों ही स्थितियोंमें राजनीतिक सत्ताको निरंकुश बनाना ही इन उपदेशोंका सार था।

पर इस प्रकारकी निरंकुशताको शीघ्र ही चुनौती मिल गई। जैसे ही लोगोंमें जागृति फैली और उन्हें अपनी शक्ति और अपने महत्त्वका ज्ञान हुआ वैसे ही जनता राज्यकी बात चुपचाप माननेके कर्त्तव्य पर सन्देह और अधिकाधिक राजनीतिक अधिकारों और सुविधाओंकी मांग करने लगी। इसका नतीजा यह हुआ कि राजनीतिक अधिकारोंके लिए राजाओं और जनतामें एक लम्बा संघर्ष प्रारम्भ हुआ। निरंकुश राजतंत्र और लोकतंत्रके बीचके युगमें सुधार आन्दोलनके व्यक्तिगत महत्त्ववाले सिद्धान्तने बहुत ज़ोर पकड़ा। साधारण व्यक्तिमें अपने ऊपर एक नया विश्वास पैदा हो गया और वह यह अनुभव करने लगा कि शासनका अस्तित्व शासितोंकी भलाई के लिए है अपनी भलाईके लिए नहीं। इस प्रकार सुधार आन्दोलनके उपदेशोंका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि इससे व्यक्तिगत स्वाधीनता और लोकतंत्रको बल मिला।

जनताको एक सूत्रमें बाँधनेके लिए और सामन्तशाहीकी अव्यवस्था और फूटके स्थान पर व्यवस्था और एकता क़ायम करनेके लिए राजतंत्रीय निरंकुशता निःसन्देह आवश्यक थी पर इस लक्ष्यके पूरा होते ही उसके क़ायम रहनेका कोई कारण नहीं रह गया। इंगलैण्डमें बहुत पहले ही लोकतंत्रीय आन्दोलन शरू हो गया और वह क्रमशः शान्तिमय तरीक़ेसे बराबर बढ़ता ही रहा। फ़ान्समें इस आन्दोलन ने एक हिंसक क्रान्तिका रूप ले लिया। अन्य देशोंमें राजाओंने जनताकी इच्छाके आगे घुटने टेक

दिये और लोकतंत्रीय सरकारके अधीन नाममात्रके शासक बने रहनेको राजी हो गये। प्रजातंत्रके इस आन्दोलनने इतनी गहरी जड़ें जमा लीं और इतने अच्छे ढंगसे काम किया कि अबसे कुछ वर्षों पूर्व तक लोकतंत्रीय राष्ट्रीय सरकारको ही राज्यके विकासकी अन्तिम अवस्था माना जाता रहा। उदाहरण स्वरूप बेन्थम (Bentham) आशा करते थे कि 'वह बुराइयोंसे भरी इस दुनियांको गणराज्योंका जाल बिछाकर' ठीक कर लेंगे'।

६. विश्व-संघ (The World Federation)

निःसन्देह प्रजातंत्रीय राष्ट्रीय राज्य (Democratic National State) के पक्षमें बहुतसे तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं। जिस राज्यकी प्राकृतिक सीमाएँ निश्चित हों तथा जहांकी जनतामें एकता हो वहांके लोगोंको अपना शासन स्वयं करने तथा एक प्रभुता-सम्पन्न राज्यके अधिकारोंके प्राप्त करनेका अवसर मिलना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सद्भावना बनाये रखनेके लिए यह आवश्यक है कि इस प्रकारके स्वशासन (self-governing) और आत्म-निर्णय (self-determination) के अधिकारोंसे पूर्ण राज्योंकी स्थापना की जाय। परन्तु गत शताब्दीके इतिहाससे यह पता चलता है कि इस नीतिका परिणाम अवश्यम्भावी रूपसे प्रतिस्पर्द्धा, प्रतियोगिता और युद्ध भी होता है। इन औपनिवेशिक साम्राज्योंने उस भौगोलिक आधार और जातीय एकताको प्रायः समाप्त कर दिया है, जिन पर कि राष्ट्रीय राज्य आधारित हैं। राष्ट्रीयताके विचारों और राष्ट्रीय प्रभुताकी संकीर्णताको हटानेमें विज्ञानकी खोजों, आविष्कारों, यात्राकी सुविधाओं, परस्पर मेल-जोल, यातायात, विचारोंका आदान-प्रदान तथा विशाल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय और बड़ी-बड़ी समस्याओंने बहुत सहायता दी है। इन सबने तो संसारको बहुत छोटा बना दिया है और ये एक प्रकारके विश्वसंघकी स्थापनाकी ओर इंगित करते हैं। यह तो भविष्य ही बता सकता है कि इस विश्वसंघका क्या स्वरूप होगा। किसी न किसी रूपमें एक विश्व सरकार अवश्यम्भावी जान पड़ती है। विश्व संघके महान् समर्थक एच० जे० लास्की का विश्वास है कि घरेलू मामलोंको छोड़कर संसारके देशोंकी पारस्परिक सम्बन्धके लिये सामान्य नियमोंकी जरूरत बराबर बढ़ती जा रही है। उनका मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंमें राज्यकी प्रभुसत्ता धीरे-धीरे खत्म होती जा रही है क्योंकि अब उसकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। 'आजके व्यक्तिको साम्राज्यवादकी धारणाकी जरूरत नहीं, वरन् संघवाद की कल्पनाकी आवश्यकता है।'

क्लेरेन्स ए० स्ट्रीट (Clarence A. Streit) ने अपनी पुस्तक 'यूनियन नाउ' (*Union Now*) में वर्तमान लोकतंत्रीय देशोंकी संघीय एकताकी कल्पना की है। उनका तर्क यह है कि राष्ट्र संघ (League of Nations) की विफलताका कारण यह था कि वह संघ सरकारोंका संघ था जनताका नहीं। निरंकुश सत्ताको आधुनिक परिस्थितियोंमें बिल्कुल अनुपयुक्त मानते हुए वह संघीय ढंगकी एक विश्व सरकारकी

माँग करते हैं। यह नया संगठन अपने सदस्योंके सभी बाहरी सम्बन्धोंका नियमन करेगा। केवल घरेलू मामले सदस्योंके सुपुर्द रहेंगे। संसारके अप्रजातंत्रीय देश भी इसमें शामिल हो सकेंगे; पर उन्हें अपनेको लोकतंत्रके पक्षमें घोषित करना होगा और सबके साथ शान्तिपूर्वक रहनेकी इच्छा प्रकट करनी होगी। इस विश्वसंघमें सामान्य नागरिकता, सामान्य मुद्रा, सामान्य डाक-व्यवस्था, सामान्य आयात-निर्यात कर और सुरक्षाका सामान्य प्रबन्ध होगा। सदस्योंके उपनिवेशोंका प्रबन्ध नई संघ सरकार इस उद्देश्यसे करेगी कि उन्हें जल्दीसे जल्दी स्वशासनके योग्य बना दिया जाय। इस योजनाकी सामान्य रूपरेखाका समर्थन लायोनेल कर्टिस (Lionel Curtis) तथा इंगलैण्डके कुछ अन्य विचारकोंने किया है। इस योजनाको कार्यान्वित करनेके उपाय सोचनेके लिए और संसारके प्रभावशाली राजनीतिज्ञोंके सम्मुख उसे रखनेके लिए इन लोगोंने अपना एक संघ भी बना लिया है।

संसारके अन्य लोग प्रजातंत्रीय देशोंके इस विश्व संघको पवित्रताका ढोंग रचने वालोंका संघ कहेंगे क्योंकि इस गुटके कई देश जातीय भावनाओंसे भरे हुए, आक्रामक और साम्राज्यवादी हैं। दो शक्तियोंके संघर्षकी मौजूदा हालतमें पश्चिमके प्रजातंत्र-वादी राज्योंका संघ हास्यप्रद मालूम पड़ता है। फिर भी इन देशोंने 'नाटो' (N.A.T.O) की स्थापना कर ली है जिसकी उपयोगिताकी परीक्षा अभी तक नहीं की गयी है। यह भावी विश्वसंघका सैनिक-पूर्वगामी (military fore-runner) है परन्तु आजके संसारमें, विभिन्न देश परस्पर आश्रित हैं। स्पुतनिक (Sputnik), रॉकेट तथा गाइडेड मिसिल्स (guided missiles) के युगमें यह एक सामंजस्यहीन बात मालूम होती है।

राज्यके विकासकी सामान्य रूप-रेखा

राज्यके विकासके अध्ययनसे गेटेल के अनुसार निम्नलिखित पांच निष्कर्ष निकलते हैं (२४: ६५-६७) :

(१) अन्य संगठनोंकी तरह राज्यका विकास भी साधारणसे जटिलकी ओर हुआ है। पहलेकी अपेक्षा अब सरकार अधिकाधिक जटिल और पेचीदा हो गयी है। इसके साथ ही सरकारके विभिन्न अंगोंमें एकता बढ़ी है और वे एक दूसरे पर अधिक आश्रित रहने लगे हैं। सरकारके विभिन्न अंग विभिन्न कार्य सम्पन्न करते हैं पर उनके पीछे एक मौलिक एकता है। राज्यकी सत्ता जो पहले अनिश्चित और अनियमित थी अब अधिक निश्चित और नियमित हो गयी है। फलतः निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासनकी सम्भावनाएं बराबर घटती जा रही हैं।

(२) राज्यके विकासका अर्थ यह हुआ है कि 'राजनीतिक चेतना और उद्देश्यपूर्ण क्रियाशीलताका विकास हुआ है।' प्रथम राज्यका जन्म मनुष्य द्वारा जानबूझकर किये गये कार्योंसे नहीं हुआ था बल्कि उसकी उत्पत्ति प्राकृतिक

कारणोंसे हुई थी। चूंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अतः किसी ऐसी शासन सत्ताका संगठन उसके लिए स्वाभाविक था जो समाजको एक सूत्रमें बांधे रख सके। पर ज्यों-ज्यों राज्यका विकास होता गया और मनुष्य अधिकाधिक बुद्धिमान होता गया त्यों-त्यों उसमें यह योग्यता आती गयी कि वह राज्यके अस्तित्वके कारणों को खोज निकाले और राज्योंमें अपने आदर्शोंके अनुकूल सुधार करे। राज्यकी सत्ता का आधार अधिक युक्ति-संगत और स्थायी हो गया। जनतामें राजनीतिक चेतना के प्रसारसे लोकतंत्रोंका निर्माण हुआ।

(३) साधारणतः राज्यके विकासके फलस्वरूप एक राज्यके अधीन क्षेत्रफल का विस्तार हुआ और अधिक जन-समुदाय उस राज्यके अधीन हो गया। आज जिन बातोंने बड़े-बड़े राज्योंको सम्भव बनाया है उनमेंसे कुछ ये हैं: यातायात और संवहनके सुलभ और शीघ्रगामी साधन, अभूतपूर्व आर्थिक उन्नति, स्वायत्त शासन का विकास, तथा कानून और व्यवस्थाके प्रति आधुनिक नागरिककी बढ़ती हुई निष्ठा।

(४) राज्यके विकाससे कहीं-कहीं राज्यकी सत्ता कम हो गयी और कहीं-कहीं यह सत्ता उसी मात्रामें बढ़ गयी। शुरूमें राज्य और धर्मका विकास साथ-साथ हुआ था पर आजकल सभी सभ्य देशोंमें धर्म और राज्य एक दूसरेसे अलग हैं: यद्यपि नाजी जर्मनीमें धर्म राज्यका ही एक विभाग हो गया था। यह धारणा जोर पकड़ती जा रही है कि चूंकि धर्म और नैतिकता मुख्यतः मनुष्यके आन्तरिक जीवनसे सम्बन्ध रखते हैं इसलिए इन पर राज्यका सीधा नियंत्रण, जहां तक हो सके, कम से कम रहे। फिर भी उसके साथ ही साथ मनुष्यके जीवनको धार्मिक और नैतिक बनानेके लिये राज्य जो कुछ भी कर सके उसे करना चाहिए। इस प्रकार व्यक्तिका निजी जीवन राज्यके नियंत्रणसे अधिकाधिक मुक्त होता जा रहा है। आमतौर पर यह माना जाने लगा है कि राज्यको व्यक्तिके पारिवारिक जीवन, भोजन, वेशभूषा आदिकी रुचि-अरुचिमें तब तक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए जब तक कि ये चीजें समाजकी व्यवस्था और सुरक्षाके प्रतिकूल न हों।

दूसरी ओर यह माँग निरन्तर बढ़ती जा रही है कि राज्यको सामाजिक कल्याणके उस क्षेत्रमें अधिकाधिक हस्तक्षेप करना चाहिए जहाँ व्यक्ति या तो अपना कल्याण खुद नहीं कर सकते या नहीं करना चाहते। इस प्रकार सभी आधुनिक राज्योंमे शिक्षा, सफ़ाई, अपाहिजोंकी देखरेख, अपराधियोंको दण्ड देना और अपराधोंको रोकना आदि राज्यके उचित कार्य समझे जाते हैं। आजकल लोग यह पसन्द करते हैं कि राज्यका कार्य-क्षेत्र उस समय तक बढ़ता जाय जब तक कि राज्यके कार्योंको जनताका पूरा-पूरा समर्थन मिलता है और राज्यकी कार्यपालिका मनमाने ढंगसे काम नहीं करती।

(५) इस युगकी सबसे महत्वपूर्ण देन यह है कि राज्यकी प्रभुता और व्यक्ति की स्वाधीनताके बीच अधिकाधिक मात्रामें ममझौता हो गया है परन्तु आधुनिक

निरंकुश राज्य (totalitarian states) इस नियमके अपवाद हैं। आदिमें मनुष्यको नियम, क़ानून और सत्ताका महत्व समझानेके लिए परम्पराओंका कठोर पालन और निरंकुश शासन जरूरी थे परन्तु इस उद्देश्यके पूरा होते ही यही बातें व्यक्तिकी स्वाधीनता और राज्यकी एकतामें बाधक बन गयीं। पूर्वके साम्राज्योंमें उद्देश्य पूरा हो जानेके बाद भी निरंकुश शासन क़ायम रहा। यूनानके नगर राज्योंने व्यक्तिगत स्वाधीनताका विकास तो किया पर एकता प्राप्त न कर सके। रोममें संगठन और व्यवस्था तो कायम कर ली गयी परन्तु स्वतंत्रताको सीमित कर दिया गया। अन्तमें ट्यूटन जातिके लोगोंके जिम्मे यह आया कि वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता और राज्य प्रभसत्ताके बीच कोई संगठन ढूंढ निकालें। उन्होंने आधुनिक प्रजातंत्रवादी राष्ट्रीय राज्यकी स्थापना की जो दोनोंके बीच एक समझौता है। 'विस्तृत भू-प्रदेशोंमें प्रजातंत्रकी स्थापनाके लिए स्थानीय स्वशासन और प्रतिनिधित्वके सिद्धान्तोंको मिलाकर एक ऐसा संगठन बनाया गया जो सार्वजनिक कार्योंमें व्यक्तिकी स्वतंत्रताको नष्ट किये बिना एकता स्थापित कर सकता।' भविष्यकी यह समस्या है कि बदलती हुई परिस्थितियोंमें व्यक्तिकी स्वतंत्रता और राजसत्ताके बीच संतुलन कैसे क़ायम रखा जाय। 'आधुनिक युगमें राज्योंका उचित संतुलन क्या होगा और उसे कैसे प्राप्त किया जाय इस विषय पर कोई भी दो राज्य एकमत नहीं हैं।'

Select Readings

Dealey, J. A.—*The Development of the State*—Ch. II.
Fowler, W. W.—*The City-States of the Greeks and Romans*—Chs. IV-VI.
Gettell, R. G.—*Introduction to Political Science*—Ch. VI.
Gettell, R. G.—*Readings in Political Science*—Ch. VI.
Jenks, E.—*History of Politics*—Chs. VIII-XII.
Jenks, E.—*Law and Politics in the Middle Ages.*
MacIver, R. M.—*The Modern State*—Chs. I-IV.
Sidgwick, H.—*The Development of European Polity.*
Streit, C. A.—*Union Now.*

५

हॉब्स, लॉक और रूसो का सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त

(The Social Contract Theory of Hobbes, Locke and Rousseau)

राजनीति-शास्त्रका प्रारम्भिक ज्ञान रखनेवाले भी जानते हैं कि हॉब्स (१५८८-१६७९), लॉक (१६३२-१७०४) और रूसो (१७१२-१७७८) के नाम सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तके साथ अभिन्न रूपसे सम्बन्धित हैं। इंगलैंडमें हॉब्स तथा लॉक ने और फ्रान्समें रूसो ने इस सिद्धान्तको अन्तिम रूप दिया। सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तकी महत्ताको समझनेके लिए हम इन लेखकोंके विचारोंका संक्षेपमें विवेचन करेंगे।

(क) प्राकृतिक अवस्था और प्राकृतिक नियम
(The State of Nature and The Law of Nature)

हॉब्स. हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्थाका बड़ा दयनीय चित्रण किया है। रूसो ने अपने निबन्ध 'असमानता' (*Inequality*) में प्राकृतिक अवस्थाको आनन्दमय बतलाया है यद्यपि बादमें उसने अपने 'सामाजिक अनुबन्ध' (*Social Contract*) में इस विचारमें परिवर्तन कर दिया है। लॉक ने हॉब्स और रूसो के बीचका मार्ग अपनाया है। दूसरे शब्दोंमें हॉब्स प्राकृतिक अवस्थाको असहनीय, लॉक असुविधाजनक और रूसो सुखी और शन्तिमय मानते है। हॉब्स के विचारसे प्राकृतिक अवस्थामें मनुष्य लगातार संघर्ष करता रहता है क्योंकि मनुष्य स्वभावसे स्वार्थी है। उन्हीके शब्दोंमें मनुष्यका जीवन 'एकाकी, दरिद्र, गन्दा, बर्बर और बहुत ही सीमित' (solitary, poor, nasty, brutish and short) है। 'प्रत्येक मनुष्य दूसरेका दुश्मन है (३५)।' मनुष्य सुख चाहता है और सुखकी प्राप्तिके लिए वह दूसरों पर अधिकार जमाना चाहता है।[1] लेकिन वह दूसरों पर अपना अधिकार नही जमा पाता क्योंकि हॉब्स के

---

[1] क्रेनेनबर्ग (Kranenburg) के शब्दोंमें 'हॉब्सके मतानुसार मनुष्यकी चेतना में भय ही सबसे अधिक शक्तिशाली है और इसलिए भयके कारण ही मनुष्य राज्य और सरकारकी सष्टि करता है (४५)।'

अनुसार प्राकृतिक अवस्थाके सभी मनुष्य शारीरिक और मानसिक शक्तिमें क़रीब-क़रीब बराबर होते है। लोग एक दूसरेसे डरते हैं। इस भयके कारण हमेशा युद्ध की सी हालत बनी रहती है। इसका मतलब यह नही है कि लोग हर समय आपसमें लड़ते रहते हैं वरन् इसका अर्थ यह है कि संघर्षकी प्रवृत्ति हमेशा रहती है। ऐसी अवस्थामें उद्योगके लिए कोई गुंजाइश नही है। 'जिसे मार सको मारो, जो कुछ छीन सको छीनो' यही उस समयका नियम रह जाता है। ऐसे कार्योंकी रोकथाम करनेके लिए कोई विधान नही होता। हॉब्स यह अनुमान करनेके दोषी नहीं हैं कि मनुष्य इस स्थितिसे ही प्रारम्भ करके आगे बढ़ा है। वह तो केवल यह दिखाना चाहते हैं कि किसी देशमें भी यदि बहुत समय तक कोई व्यवस्थित सरकार न रहे तो यह स्थिति पैदा हो सकती है।

सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तके लेखकोंका अनुमान है कि प्राकृतिक अवस्थामें प्राकृतिक नियम थे। पर उन नियमोंका आधार क्या था इस बारेमें वह एकमत नहीं हैं। हॉब्स प्राकृतिक नियमोंको चालाकी या दूरदर्शिताके नियम मानते हैं जबकि लॉककी रायमें प्राकृतिक नियम मनुष्यकी आन्तरिक नैतिकताके नियम हैं। हॉब्स तो साफ़-साफ़ कहते हैं कि मनुष्यकी प्राकृतिक शक्ति ही उसके प्राकृतिक अधिकार हैं। उनका कहना है कि प्राकृतिक अवस्थामें न कोई नैतिकता हो सकती है और न उत्तरदायित्वका विचार। क़ानून और सरकारकी स्थापनाके बाद ही यह सम्भव हैं। जब तक कोई क़ानून नही है तब तक सभी काम एक समान अच्छे और उचित हैं। प्राकृतिक अधिकार यही है कि 'हर मनुष्यको अपने जीवन-रक्षाकी पूरी स्वतंत्रता है।' प्रकृतिका पहला विधान यह है कि हर मनुष्यको शान्तिकी स्थापनाका प्रयत्न करना चाहिए। दूसरा विधान यह है कि मनुष्यको दूसरोंके साथ मिलकर अपने प्राकृतिक अधिकारोंको छोड़नेके लिए तैयार रहना चाहिए। तीसरा विधान यह है कि मनुष्यको अपने अनुबन्ध पूरे करने चाहिए। चौथा और अन्तिम विधान यह है कि मनुष्यको कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए या भलाईके बदले भलाई करनी चाहिए। हैलोवेल (Hallowell) का कहना है कि हॉब्सकी पद्धतिमें कर्त्तव्य और स्वार्थ एक हो गये हैं।

लॉक. प्राकृतिक अवस्था और प्राकृतिक विधानोंके बारेमें लॉक के विचार बिल्कुल भिन्न हैं वह प्राकृतिक अवस्थाको युद्धकी अवस्था नहीं मानता। वह अवस्था 'शान्ति, सद्भावना, पारस्परिक सहायता और सुरक्षाकी अवस्था है।' वह स्वतंत्रता (liberty) की अवस्था है स्वच्छन्दताकी नहीं। इस अवस्थामें अधिकांश लोग प्राकृतिक विधानों अर्थात् आन्तरिक नैतिकताके नियमोंको मानते हैं। परन्तु कुछ हठी लोग भी होते हैं जो दूसरोंके लिए असुविधाएं पैदा करते हैं। फलतः शान्तिप्रिय लोगोंको मजबूर होकर क़ानून अपने हाथोंमें लेना पड़ता है और यह उस साधारण मनुष्यको हमेशा खलता है जो अपने धन्धेमें पूरी तरह स्वतन्त्र रहना चाहता है। इसके अतिरिक्त लोग अपने ही मामलेमें सही राय नहीं क़ायम कर सकते। इस प्रकार

प्राकृतिक अवस्थाकी यही एक बुराई है कि उसमें विधान और न्यायकी कोई सर्वमान्य पद्धति नहीं है।[1] इन कमियोंको दूर करनेके लिए लोग प्राकृतिक अवस्थाको छोड़कर समझौतेके द्वारा नागरिक समाजका निर्माण करते हैं। लॉक का यह सिद्धान्त हॉब्स के सिद्धान्तसे कहीं अधिक अवास्तविक है।

रूसो (Rousseau). रूसो ने अपनी पुस्तक 'डिस्कोर्स ऑन इनइक्वेलिटी' (*Discourse on Inequality*) में प्राकृतिक मनुष्यको एक 'भद्र बर्बर' (noble savage) के रूपमें चित्रित किया है। प्राकृतिक अवस्थामें लोग साधारणतः आत्मनिर्भर तथा संतुष्ट थे। उनका जीवन ग्रामीण जीवनकी भांति सुखी तथा सरल होता था। पर सभ्यताके उदयके साथ ही असमानता भी फैलती है। कला तथा विज्ञानका विकास होता है तथा निजी सम्पत्तिका प्रारम्भ होता है। श्रमका विभाजन भी शुरू होता है। इन सब बातोंके कारण नागरिक समाजकी स्थापना जरूरी हो जाती है। इस प्रकार राज्य एक बुराई है पर वह मनुष्योंकी असमानताओंके कारण आवश्यक हो जाता है। रूसो ने अपनी पुस्तक 'सोशल कॉन्ट्रैक्ट' (*Social Contract*) में राज्य सम्बन्धी अपने विचारोंमें संशोधन कर यह स्वीकार किया है कि नागरिक राज्योंके लाभ प्राकृतिक अवस्थाके लाभोंसे कहीं अधिक हैं। उन्हींके शब्दोंमें, 'सामाजिक अनुबन्धसे मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वच्छन्दताको और अपने द्वारा पसन्द वस्तुको अपने कब्जेमें कर लेनेके असीम अधिकारको खो देता है। इसके बदलेमें उसे नागरिक स्वतंत्रता मिलती है और अपनी सम्पत्ति पर अधिकार मिलता है। मूल्यांकन में भूल न होने देनेके लिए हमें प्राकृतिक स्वतंत्रता और नागरिक स्वतंत्रताका अन्तर तथा कब्जे द्वारा प्राप्त वस्तु और सम्पत्तिमें फर्क समझ लेना चाहिए। व्यक्तिकी अपनी शक्तिके अलावा प्राकृतिक स्वतंत्रताकी कोई सीमा नहीं होती है। नागरिक स्वतंत्रता लोकसम्मति (general will) से सीमित रहती है। कब्जे (possessions) का आधार किसी वस्तुको अपनी ताक़तसे हथिया लेना है। सम्पत्ति (property) का आधार एक निश्चित स्वत्व (अधिकार) होता है जिसे सब स्वीकार करते हैं (६७ : खं० १, अ० १३)।

(ख) अनुबन्धका स्वरूप (Nature of the Contract)

हॉब्स. हॉब्स एक अनुबन्धका होना बताते हैं जिसे प्रारम्भिक या सामाजिक अनुबन्ध कहते हैं; लॉककी सम्मतिमें दो अनुबन्ध होते हैं; एक सामाजिक और दूसरा शासकीय; रूसो की सम्मतिमें भी अनुबन्ध एक ही होता है। हॉब्स जब अनुबन्धकी

---

[1] लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्थाकी तीन कमियां यह हैं :
(१) एक व्यवस्थित, निश्चित और प्रतिष्ठित विधान,
(२) एक निश्चित और निष्पक्ष न्यायाधीश,
(३) सही दण्डको कार्यान्वित और उसका समर्थन करनेकी शक्ति।

चर्चा करते हैं तो इस बातकी चिन्ता नहीं करते कि अनुबन्धसे कोई सरकार बनती है या नहीं। वह अनुबन्धको बहुत कुछ एक ऐतिहासिक कल्पना मानते हैं पर यह कल्पना केवल इस सत्यकी ओर संकेत करनेका ढंग मात्र है कि सरकारका आधार केवल शक्ति ही नहीं है : इसका आधार बहुत कुछ जनताकी इच्छा या सम्मति है। इसके विपरीत लॉक अनुबन्धको एक ऐतिहासिक घटना मानते हैं उनका विचार है कि वास्तवमें लोग एक समय किसी स्थान पर एकत्रित हुए थे और आपसमें समझौता करके उन्होंने सरकारकी स्थापना की।

हॉब्स का विचार है कि यह अनुबन्ध प्राकृतिक अवस्थाको पार करनेवाले मनुष्यों के बीच हुआ था। यह अनुबन्ध जनता और शासकके बीच नहीं हुआ था वरन् इन लोगोंने आपसमें शासक नियुक्त करनेके लिए किया था। यह समझौता कुछ इस प्रकार हुआ 'हर व्यक्ति हर दूसरे व्यक्तिसे कहता है कि अपने ऊपर शासन करनेका अपना अधिकार मैं अमुक व्यक्ति या अमुक समितिको सौंपता हूँ और उसे अपने ऊपर शासन करनेका अधिकार देता हूँ बशर्ते कि तुम भी अपना अधिकार उसे सौंपो और उसे अपने ऊपर शासन करनेका अधिकार दो (३५, खं० २, अ० १७)।'

व्यक्ति अपने सारेके सारे प्राकृतिक अधिकार शासकको सौंप देता है। आगे चलकर हॉब्स ने अपने इस विचारमें कुछ परिवर्तन किये हैं। शासक स्वयं अनुबन्धमें भाग नहीं लेता, वह तो अनुबन्धका परिणाम-मात्र है। वह निरंकुश है। एक बार उसे शक्ति और अधिकार दे दिये जानेके बाद जनता उससे इन्हें वापस नहीं ले सकती इसलिए जनताको विद्रोह करनेका अधिकार नहीं रहता। नागरिक-समाजका निर्माण करनेवाला अनुबन्ध सरकारकी भी स्थापना करता है क्योंकि हॉब्स के मतानुसार राज्य और सरकारके बीच कोई अन्तर नहीं है। केवल एक अनुबन्ध स्वीकार करनेका परिणाम यह है कि जब कोई सरकार उलट दी जाती हैं तब राज्य भी नष्ट हो जाता है और समाजमें अराजकता फैल जाती है। यह धारणा युक्ति-संगत नहीं मालूम देती। इस भूलका सुधार लॉक ने दो अनुबन्धोंकी कल्पना करके किया है परन्तु यह दोनों अनुबन्ध प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष हैं।

लॉक. लॉक ने जिन दो अनुबन्धोंका उल्लेख किया है उनमेंसे पहले अनुबन्ध द्वारा नागरिक-समाजकी व दूसरे द्वारा सरकारकी स्थापना होती है अर्थात् पहला अनुबन्ध जनताके बीच हुआ था और दूसरा समझौता एक ओर समस्त जनता तथा दूसरी ओर शासकके बीच हुआ। हॉब्स के कथनानुसार, जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, सरकारकी स्थापनाके बाद ही नागरिक समाजकी स्थापना हुई थी। परन्तु लॉक के अनुसार सरकारकी स्थापना बादमें हुई और यदि सरकार भंग हो जाय तो उसका यह अर्थ नहीं कि नागरिक समाज भी छिन्न-भिन्न हो जाता है। साधारणतः एक सरकारके भंग होनेका अर्थ यही है कि समाजको उसके स्थान पर दूसरी सरकार बनानी पड़ेगी। लॉक के मतानुसार नागरिक अपने सम्पूर्ण प्राकृतिक अधिकारोंका समर्पण नहीं करते। वे अपने प्राकृतिक अधिकारोंमें से कुछको एक सामान्य सत्ताको

इसलिए दे देते हैं जिससे कि उनके शेष अधिकारों पर आँच न आये। यदि शासक इन अधिकारोंकी रक्षा नहीं कर पाता है तो जनताको अधिकार है कि उसको हटाकर दूसरी सरकार बना ले। इस तरह लॉक अपने सिद्धान्तको एक सीमित राजतंत्रका आधार बनाता है क्योंकि उसका उद्देश्य १६८८ ई० में हुई रक्त-हीन राज्यक्रान्ति (Bloodless Revolution) का समर्थन करना था। इस प्रकार लॉक की दृष्टिमें यह समझौता एक सीमित सौदा है। सम्पत्तिके अध्यायमें वह कहते हैं कि सरकारको उतना ही राजस्व इत्यादि लेना चाहिए जितना उसके कार्य संचालनके लिए आवश्यक हो। उससे अधिक लेनेका सरकारको तब तक अधिकार नहीं है जब तक कि सम्पत्तिका मालिक अपनी स्वीकृति न दे दे। सरकारके सम्बन्धमें यह धारण बिल्कुल अवास्तविक है। वैधानिक शक्ति ही अन्तिम शक्ति नहीं है।

रूसो. रूसो के मतसे यह अनुबन्ध नागरिकोंके वैयक्तिक स्वरूप तथा उनके सामूहिक स्वरूपके बीच हुआ। अर्थात् क, ख, ग, घ, आदि अपने प्राकृतिक अधिकारों (natural rights) को क+ख+ग+घ के सामूहिक स्वरूपको सौंप देते हैं। इस प्रकार कोई भी घाटेमें नहीं रहता वरन् प्रत्येकको लाभ ही होता है क्योंकि जब उनमें से किसी पर आक्रमण होता है तो सारा समाज उसकी रक्षा करता है। राज्यका प्रत्येक नागरिक राज्यकी सम्प्रभुताके एक अंशका स्वामी होता है। सबके लिए यह अंश बराबर होता है और उसको छीना नहीं जा सकता। रूसो कहता है 'हममें से हर एक अपने शरीर और अपनी शक्तिको समाजकी लोकसम्मतिकी देखभालमें समर्पित कर देता है और अपने सामूहिक स्वरूपमें हम हर सदस्यको संस्थाके अविभाज्य अंगके रूपमें मानते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनेको अन्य सब व्यक्तियोंके हाथोंमें समर्पित तो कर देता है परन्तु सच पूछा जाय तो वह पहलेकी तरह ही स्वतंत्र रहता है। रूसो इस अनुबन्धको सच्ची ऐतिहासिक घटना नहीं मानते हैं।

(ग) सम्प्रभुता (Sovereignty)

हॉब्स. हॉब्सका विचार है कि प्राकृतिक अवस्थामें रहनेवाले लोग असंगठित और परस्पर युद्ध-रत व्यक्तियोंके झुण्ड-मात्र थे। इसलिए हॉब्सके सामने यह एक समस्या थी कि व्यक्तियोंका एक ऐसा समुदाय कैसे बन सकता है जो एक ही प्रेरणा और लक्ष्यको लेकर आगे बढ़े। इसी समस्याका हल वह सामाजिक अनुबन्धके सिद्धान्तमें पाते हैं जिससे एक ऐसे राजाका निर्वाचन होता है जो एक ही सम्मति (will) के रूपमें समाजका शासन करता है। समझौतेकी शर्तोंके अनुसार यह एक सम्मति ही समस्त लोगों की सम्मतियोंका स्थान लेती और उनका प्रतिनिधित्व करती है।

शासक जनताका प्रतिनिधित्व कैसे करता है—इस प्रश्नके उत्तरमें हॉब्स ने प्राकृतिक व्यक्तित्व और कृत्रिम व्यक्तित्वके वैधानिक भेदका लाभ उठाया है।

अधिकार और उत्तरदायित्व-पूर्ण संस्थाको हम कृत्रिम व्यक्तित्व या 'कल्पित व्यक्तित्व' कहते हैं। ऐसी संस्था अपने प्रतिनिधि द्वारा ही कार्य करती है। हॉब्स इस प्रतिनिधि को कृत्रिम व्यक्तित्व मानते हैं। हॉब्स का कहना है कि यदि विभिन्न सम्मतियाँ मिलकर एक ही व्यक्तिको नियुक्त करें, (और हॉब्सके अनुसार वे लोग यही करते है) तो वे बहुत-सी सम्मतियाँ मिलकर एक हो जाती हैं। उनका प्रतिनिधि उनकी अनेक सम्मतियोंकी ओरसे बोलता व कार्य करता है। दूसरी जगह इस प्रतिनिधिको हम एक कल्पित व्यक्तित्व कह सकते हैं। मेरा प्रतिनिधि जो कुछ करता है, वह मेरे द्वारा किये गये के समान है और जो कुछ वह करता है उसका उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है। सारी जिम्मेदारी मुझे स्वीकार करनी चाहिए। इस प्रकार शासक द्वारा किया गया काम जनता ही करती है और इसलिए शासक अपने प्रतिनिधि स्वरूपसे अलग होकर कुछ नहीं कर सकता। हॉब्स का कहना है कि यही एक मात्र उपाय है जिससे समाजमें एकता रह सकती है। एकता सामान्य प्रतिनिधिमें ही निहित रहती है न कि व्यक्तियों में। इस प्रकार हम देखते हैं कि हॉब्स के सिद्धान्तमें अनेक सम्मतियोंके स्थान पर एक ही सम्मति है परन्तु रूसो के अनुसार अनेक सम्मतियाँ एक ही लोकसम्मति (general will) में बदल जाती हैं।

ध्यान देनेकी मुख्य बात यह है कि सत्ता चाहे जिसके हाथमें रहे, वह पूर्ण (absolute), अविभाज्य (indivisible) और अदेय (inalienable) होती है। सत्ताके निर्माणसे ही समाज बनता है। सम्प्रभुमें ही राज्यका मौलिक तत्व निहित है। हॉब्स का कहना है कि शासक एक, कुछ या अनेक हो सकते हैं यद्यपि वह स्वयं एक ही शासकका होना अधिक उपयुक्त समझते हैं। हॉब्स के अनुसार राजतंत्रके निम्नलिखित लाभ होते हैं:

(क) राजाका व्यक्तिगत स्वार्थ जनताके हितके साथ घुलमिलकर एक रूप हो जाता है।

(ख) अन्य प्रकारकी सरकारोंकी अपेक्षा राजतंत्र अधिक सुविधापूर्वक कार्य कर सकता है, और

(ग) राजाके अपने तौर-तरीक़ोंसे स्थायी रहनेकी अधिक सम्भावना है।

निस्सन्देह हॉब्स के इन तर्कोंमें कुछ बल है। हॉब्स का वास्तविक उद्देश्य शाही निरंकुशताका समर्थन करना था। लेकिन ऐसा करनेमें उन्हें अपने समयके निरंकुश राजतंत्रके दूसरे समर्थकोंसे कोई सहायता नहीं मिली क्योंकि यह लोग चाहते थे कि राजा दैवी सहायताके बल पर शासन करे। इन लोगोंका तर्क यह था कि यदि राजा की शक्तिका आधार जनताकी इच्छा ही है तो जिस जनताने राजाको सत्ता दी है वही जनता एक दूसरे समझौतेसे कुछ या अनेक लोगोंको सत्ता सौंप सकती है। राजतंत्रके विरोधियोंने भी हॉब्स से कोई सरोकार नहीं रखा क्योंकि वे लोग राजाकी शक्तिको सीमित करना चाहते थे।

हॉब्स का कहना है कि शासक सर्वोच्च विधायक (supreme law-maker) है।

वह अपनी प्रजाके साथ कोई अन्याय नहीं कर सकता क्योंकि वह उनका प्रतिनिधि है। वह नैतिक भूलें भले ही कर डाले पर वैधानिक अन्याय उससे हो ही नहीं सकता। वह अपने कामोंके लिए केवल परमात्मा के ही प्रति उत्तरदायी है। हॉब्स का यह कथन उस सिद्धान्तसे बहुत मिलता-जुलता है जो कहता है कि राजा कोई ग़लती कर ही नहीं सकता। राजा सर्वोच्च विधान-निर्माता होनेके कारण विधानसे ऊपर है। वह अपने को किसी भी प्रकारके वादोंसे नहीं बाँध सकता। वह सेनाका सर्वोच्च सेनापति होता है। समाजमें प्रचलित सिद्धान्तों या धार्मिक विश्वासोंका भी वही निर्णायक है।

लॉक. सम्प्रभुता सम्बन्धी लॉक का सिद्धान्त अत्यन्त अस्पष्ट है। एक आधुनिक लेखक लिखता है: "जितनी ही ज्यादा गहराईसे हम लॉक के सिद्धान्तका मनन करते हैं उतना ही अधिक हमें मालूम होता है कि लॉक ने सम्प्रभुताके विरुद्ध ज्यादा चोट की है और निरंकुश राजतंत्रके दावोंके खिलाफ कम (२९)।" सम्प्रभुताके सम्बन्धमें परम्परागत दृष्टिकोण यह है कि इसे अविभाज्य और सर्वोपरि होना चाहिए। हॉब्स, ऑस्टिन और अन्य लेखकोके भी यही विचार हैं। लेकिन लॉक का विचार इन सबके विचारोंसे अलग है। लॉक सम्प्रभुताको न तो सर्वोपरि मानते हैं और न अविभाज्य। वह एक ओर जनतामें और दूसरी ओर शासकोंमें बँटी हुई है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है मूल अनुबन्ध एक ऐसा समझौता है जिसके द्वारा प्राकृतिक अवस्थाके स्थान पर नागरिक समाजकी स्थापना हुई। इस मूल समझौतेके लिए समाजके प्रत्येक सदस्य की स्वीकृति आवश्यक है, चाहे वह प्रत्यक्ष रूपमें दी जाय चाहे मौन रहकर। किसी देशमें रहना राज्यको मौन स्वीकृति देना है। दूसरे अनुबन्धके अनुसार शासकोंकी शक्तिको सीमित किया जाता है और यदि वे अपने उत्तरदायित्व और कर्त्तव्यको पूरा करनेमें असमर्थ हों तो वे हटाये भी जा सकते हैं और उनके स्थान पर दूसरोको नियुक्त किया जा सकता है। इसके लिए समाजको फिरसे प्राकृतिक अवस्थामें नहीं जाना पड़ेगा।

लॉक के सिद्धान्तके अनुसार सम्प्रभुताका व्यावहारिक मतलब तो यह होगा कि यद्यपि सम्प्रभुता जनताके पास सुरक्षित रहती है परन्तु उसका वास्तविक उपयोग सरकार द्वारा किया जाता है। उदाहरण स्वरूप 'इंगलैण्डमें पार्लियामेंट और सम्राट्' (king and parliament) वास्तविक सम्प्रभु है। जब सरकार अपने विश्वास या कर्त्तव्यका उल्लंघन करती है तो यह आवश्यक हो जाता है कि जनता सरकारसे अपनी शक्ति वापस ले ले। इस तरहसे जनता निष्क्रिय साझीदारके समान है। इन अधिकारोंका दुरुपयोग होने पर प्रसुप्त जनता चैतन्य होकर उस सरकारको हटाकर दूसरी सरकारकी स्थापना करती है। यद्यपि समाजके पास सरकारको बदल देनेका एक विशेष अधिकार हर समय रहता है परन्तु इस अधिकारको प्रयोग करनेका कोई सवैधानिक मार्ग नहीं है। इसी कारण यह अधिकार किसी भी प्रकार की सरकारके अन्तर्गत एक विद्रोह या क्रान्तिका रूप ले लेता है। लॉक का विचार है कि यदि क्रान्ति सारे समाज द्वारा मान्य है तो वह न्यायोचित है। किन्तु यह निश्चित करना मुश्किल

है कि क्रान्ति पूरे समाज द्वारा मान्य है अथवा नहीं। जैसा कि टी० एच० ग्रीन ने कहा है, लॉक अपने सिद्धान्तको अपने समयकी त्रुटिपूर्ण अंग्रेजी शासन प्रणालीके सुधारमें नहीं लगाना चाहते हैं।

लॉक के सम्प्रभुता सिद्धान्तकी यह एक बहुत बड़ी भूल है कि वह शासककी शक्ति पर क़ानूनी रोक लगाते हैं। उदाहरणके लिए वह कहते हैं कि विधायिका (legislature) अनायास आज्ञप्तियों (extempore decrees) द्वारा राज्य नहीं कर सकती। ज्यादा अच्छा यह होता कि वह 'नहीं कर सकती' के स्थान पर 'नहीं करना चाहिए' कहते क्योंकि आमतौर पर माना जाता है कि क़ानूनी शासकको व्यक्तिके जीवन और सम्पत्ति-हरणका निरंकुश अधिकार है। परन्तु लॉक ने 'नहीं कर सकती' का प्रयोग किया है जिससे बहुत गड़बड़ी पैदा हो गयी है। यह एक ऐसी ग़लती है जिसका अधिकारोंकी घोषणा पर प्रभाव पड़ता है। लॉक प्राकृतिक अधिकारोंको समाजसे अलग मानते हैं।

रूसो. जैसाकि लिखा जा चुका है, अनुबन्धकी शर्तोंके अनुसार क, ख, ग, घ अपने प्राकृतिक अधिकारोंको क+ख+ग+घ की सामूहिक सत्ताको सौंप देते हैं। यहां हमें प्रजातंत्रीय और लोकतंत्रीय सरकारकी आधारशिला मिलती है। प्रत्येक नागरिकको सम्प्रभुतामें एक भाग मिला हुआ है और वह प्रजा भी है क्योंकि उसे उस क़ानूनको मानना पड़ता है जिसे उसने स्वयं सम्प्रभुताके रूपमें बनाया है। रूसो हॉब्स के इस विचारसे सहमत हैं कि सम्प्रभुता सम्पूर्ण, अविच्छेद्य और अदेय है किन्तु जहां हॉब्स ने सम्प्रभुताको ग़लत स्थान पर अर्थात् राजामें माना है वहां रूसो सम्प्रभुताका निवास पूरी राजनीतिक संस्थामें मानते हैं। यद्यपि लॉक की राजसत्ता और सरकार के विभेदको रूसो ग्रहण करते हैं, किन्तु लॉक के समान रूसो सरकारको उतनी अधिक शक्ति नहीं देते हैं। रूसो के अनुसार सरकार दूसरोंसे प्राप्त शक्ति है जो हमेशा प्रभुता-सम्पन्न जनता (sovereign people) की इच्छाके अधीन रहती है। लॉक के विपरीत उसका सम्प्रभु हमेशा कर्मशील और जागरुक रहता है। वह (सम्प्रभु) सरकारके अत्यधिक अत्याचार करनेके पहले ही सक्रिय हो जाता है।

लोकसम्मतिका सिद्धान्त राजनीति-शास्त्रको रूसो की सबसे बड़ी देन है। लोक-सम्मति सम्प्रभुताका प्रकट स्वरूप (manifestation) है और यह सम्पूर्ण राजनीतिक संस्थामें निहित है।

[लोकसम्मतिके सिद्धान्तका निरूपण इस अध्यायके अन्तमें किया गया है।]

(घ) राज्य और सरकार के प्रकार
(Type of State and Government)

राज्यके प्रकारके सम्बन्धमें हॉब्स, लॉक और रूसो के दृष्टिकोणोंमें मौलिक विभिन्नता है। हॉब्स का सिद्धान्त निरंकुश राजतंत्रका, लॉक का सिद्धान्त वैधानिक

सरकार या सीमित राजतंत्रका तथा रूसो का सिद्धान्त लोकप्रिय सरकार, विशेषकर प्रत्यक्ष प्रजातंत्रका, समर्थन करते हैं। सरकारके सम्बन्धमें भी इन तीनों विचारकोंकी धारणाएँ मौलिक रूपसे भिन्न हैं। हॉब्स ने राज्य और सरकारके बीच कोई भेद नहीं किया है। उसके अनुसार वास्तविक (de facto) सरकार सदैव ही क़ानूनी (de jure) सरकार है। हॉब्स के विपरीत लॉक और रूसो राज्य व सरकारके बीच भेद मानते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, हॉब्स के अनुसार सरकारके भंग होनेका मतलब है राज्यका भंग होना और पुरानी अराजक अवस्थामें फिरसे पहुंच जाना, जो कि बिल-कुल ग़लत है। लॉक का मत है कि सम्प्रभु जनताको अपनी सरकार चुनने और असन्तोषजनक होने पर उसे बदल देनेका अधिकार है। सरकार एक न्यास (trust) और नैतिक उत्तरदायित्व है। रूसो के अनुसार सरकार जनताकी प्रतिनिधि या एक जीवित-यंत्र (living tool) है। वह किसी अनुबन्धका परिणाम नहीं है। सरकारकी शक्ति सीमित तथा सम्प्रभु जनता द्वारा दी गई होती है। इसकी कोई अपनी मौलिक शक्ति नहीं है। लोकसम्मति किसी भी समय उसको शक्तिहीन कर सकती है। सरकार के इस आश्रित स्वरूपको रूसो ने इस प्रकार बताया है कि समय-समय पर होनेवाली व्यवस्थापिकाओंमें जनता दो प्रश्नोंका उत्तर चाहती है (६७ : खं० ३, अ० १८) :

(क) क्या हम वर्तमान ढंगकी सरकारको क़ायम रखना चाहते हैं?

(ख) अगर हम ऐसा चाहते हैं तो क्या वर्तमान अधिकारी ही कार्य करें?

जहाँ तक सरकारके अधिकारों और कर्त्तव्योंका प्रश्न है, हॉब्स ने सरकारको, जो कि सम्प्रभु भी है, निरंकुश अधिकार दिये हैं। लॉक ने सरकारको सीमित अधिकार दिये हैं क्योंकि उसके द्वारा बताये गये अनुबन्ध-सिद्धान्तके अनुसार जनता अपने प्राकृतिक अधिकारोंका उतना ही भाग सरकारको देती है जितना नागरिक-समाज के लाभ प्राप्त करनेके लिए आवश्यक है। लॉक ने सरकारके दो अंगों—विधायिका तथा कार्यपालिकामें भी भेद किया है, जो हॉब्स ने नहीं किया। लॉक ने विधि-निर्माणको ही सरकारका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य माना है जबकि हॉब्स ने व्यवस्था और सुरक्षा को। लॉक का कथन है कि सरकारको व्यवस्था रखनेके साथ-साथ ही अच्छी तरह शासन भी करना चाहिए। शासकोंको प्रजाके कल्याणको ध्यानमें रखते हुए शासन करना चाहिए। अतएव लॉक के विचार हॉब्स की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील हैं।

रूसो के अनुसार सरकार कार्यपालिका मात्र है। क़ानून बनानेका काम सम्पूर्ण जनताके हाथमें होना चाहिए। अपनी सम्प्रभु-सत्ताको सीमित किये बिना जनता अपने क़ानून बनानेकी शक्तिको नहीं छोड़ सकती। सम्मति ही विधि-निर्माणका सारतत्व है जो कि स्वभावतः किसी दूसरेको नहीं दी जा सकती और न इसका प्रतिनिधित्व ही किया जा सकता है। इसीके आधार पर रूसो ने प्रतिनिधि सरकारकी कटु आलोचना की है और प्रत्यक्ष प्रजातंत्र (direct democracy) के पक्षमें शक्ति-शाली तर्क दिये हैं। वह एक ऐसे प्रजातंत्रके पक्षमें है जो यूनानके छोटे नगर राज्योंमें प्रचलित था। उन्हींके शब्दोंमें: "जिन कारणोंसे सम्प्रभुता अविच्छेद्य है उन्हीं कारणों

से इसका प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता। सम्प्रभुता लोकसम्मतिमें ही निहित रहती है। लोकसम्मतिका प्रतिनिधित्व असम्भव है। लोक सम्मति या तो वही है या उससे भिन्न है, दोनोंके बीचकी बात सम्भव नहीं है। इसलिए जनताके प्रतिनिधि न तो जनताके प्रतिनिधि है और न हो सकते हैं (६७ : खं० ३, अ० १४)।"

अत: रूसो के अनुसार राजनीतिक संस्थामें ही सम्मतिका निवास है और कार्यपालिका इस सम्मतिको कार्यान्वित करती है। परन्तु इस भेदको बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जा सकता क्योंकि ऐसा करने पर तो यह मानना पड़ेगा कि कार्यपालिकाकी अपनी कोई सम्मति नहीं है, जो ग़लत है। कार्यपालिका एक पुलिसका सिपाही नहीं है जो केवल आज्ञापालन करती है। हर देशमें कार्यपालिकाको अपने विवेकसे काम करनेका अवसर दिया जाता है इस कारण कार्यपालिकाका लोकसम्मति में भी हिस्सा रहता है। दूसरी तरफ़, जनता क़ानून तो बनाती ही है साथमें यह भी निश्चय करती है कि क़ानून कैसे और किसके द्वारा लागू किये जायेंगे। इस तरह अपनी सम्मतिको लागू करनेमें उनका भी हाथ होता है। परिणामस्वरूप हमें यह पता चलता है कि सम्मति और उसे कार्यान्वित करनेमें जो भेद हम ढूंढते हैं वह भेद विस्तारमें लागू नहीं किया जा सकता। विधायिका और कार्यपालिकामें भेदकी कल्पना करना अच्छा है परन्तु कार्यपालिकाको हम इतना महत्त्वहीन स्थान नहीं दे सकते जितना रूसो ने बतलाया है।

रूसो ने सम्प्रभु जनतामें, जो विधायिका व कार्यपालिका (सरकार) का निर्माण करती है, दूसरी विशेषता यह बतलाई है कि विधायिकाको सामान्य बातों पर और कार्यपालिकाको विशेष बातों पर ध्यान देना चाहिए। इस दृष्टिकोणको अपनाने पर अनेक कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं। वास्तवमें सामान्य और विशेषके बीच सही भेद करना कठिन है। यदि हम यह मान लें कि जो बात समूचे समाजसे सम्बन्धित है वह सामान्य है तथा जो किसी व्यक्ति या वर्ग-विशेषसे सम्बन्धित है वह विशेष होती है, तो भी कठिनाई दूर नहीं होती। आधुनिक राज्यमें हर क़ानून एक विशेष प्रकारका होता है। शायद ही कोई ऐसी बात हो जिसका सम्बन्ध पूरे समाजसे एक-सा हो। इस कारण यदि हम विशेष और सामान्य क़ानूनमें रूसो द्वारा बताये गये भेदको मानते हैं तो हम रूसो के उस उद्देश्यको अपूर्ण रहने देते हैं जिसमें उन्होंने सम्प्रभुको सर्वोपरि बनानेकी कल्पना की थी। सरकारको हम एक अधीनस्थ संस्थाके बजाय क्रियात्मक रूपमें सबसे महत्वपूर्ण संस्था बना देंगे। इसके अतिरिक्त सरकारको बनाना भी एक विशेष कार्य ही है जिसे करनेका जनताको कोई अधिकार नहीं है। रूसो द्वारा इंगित भेदका प्रयोग केवल छोटे-छोटे नगर राज्योंमें ही किया जा सकता है।

(ङ) व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अधिकार-सिद्धान्त
(Individual Liberty and Theory of Rights)

हॉब्स अधिकारोंके वैधानिक सिद्धान्तको मानते हैं और लॉक प्राकृतिक अधिकारों

के सिद्धान्तको अपनाते हैं। रूसो समाजकी सदस्यतासे अधिकारोंकी उत्पत्ति मानते हैं और इस प्रकार अधिकारोंके आदर्शवादी या व्यक्तित्ववादी सिद्धान्त (personality theory) के लिए मार्ग तैयार करते हैं।

हॉब्स के सिद्धान्तमें प्रजाको वे सभी अधिकार प्राप्त हैं जो उसे क़ानून द्वारा मिलते हैं। जहां क़ानूनका कोई प्रतिबन्ध नहीं है वहां प्रजाके अपने प्राकृतिक अधिकार बने रहते है। इसका यह मतलब नही है कि जीवन और मृत्यु पर सम्प्रभु (sovereign) के अधिकारको सीमित कर दिया जाता है। सम्प्रभु किसी भी समय हस्तक्षेप करके प्रजाकी स्वतंत्रताको सीमित कर सकता है। जहां क़ानूनका नियंत्रण नहीं है वहां प्रजाको अधिकार प्राप्त हैं। हॉब्स के विचारमें सत्ता और स्वतंत्रता परस्पर विरोधी हैं।

हॉब्स की रायमें सम्प्रभुके अधिकारोंकी कोई सीमा नहीं है। यद्यपि कभी-कभी विशेष परिस्थितियोंमें, व्यक्तिके आज्ञापालनकी सीमाएं होती हैं। यह बात अनुबन्ध की शर्तोंमें ही निहित है क्योंकि सम्प्रभुताकी स्थापना जीवनकी सुरक्षा व समृद्धिके लिए हुई थी।

(१) इसलिए यदि शासक व्यक्तिके जीवन पर हमला करता है तो आज्ञा-पालनका महत्व समाप्त हो जाता है। यह एक विरोधाभासकी स्थिति है। भले ही व्यक्तिको न्यायपूर्वक मौतकी सजा दे दी गई हो फिर भी उसका अपनी जानकी रक्षा का प्रयत्न करना न्यायसंगत माना जायगा। जब किसी व्यक्तिके जीवन पर ही हमला किया जा रहा है तो उसे यह मौलिक अधिकार है कि वह बच निकले। जब दूसरेके जीवन पर हमला हो रहा हो तब वह हस्तक्षेप तो कर सकता है पर इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता।

(२) कुछ परिस्थितियोंमें व्यक्ति सैनिकका काम करनेसे इन्कार कर सकता है—क्योंकि अनुबन्ध उसके जीवनकी रक्षा करनेके लिए हुआ था।

(३) जब सम्प्रभु अपनी शक्ति क़ायम रखने और व्यक्तिकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं रह जाता है, अनुबन्ध समाप्त हो जाता है। इससे पता चलता है कि हॉब्स का सिद्धान्त अकाट्य तर्कों पर आधारित है। इन कुछ असाधारण स्थितियोंको छोड़ कर शासकका अधिकार हमेशा निरंकुश माना गया है।

लॉक सरकारको शासितोंकी स्वीकृति पर आधारित बताते हैं। व्यक्तिको वह सब अधिकार प्राप्त हैं जो उसने राज्यको नहीं सौपे हैं। राज्यका अस्तित्व मुख्य रूपसे जीवन और स्वतंत्रताकी रक्षा करना ही है। फिर भी लॉक ने सार्वजनिक अधिकारों पर इतने अधिक प्रतिबन्ध लगा दिये हैं कि उनका अस्तित्व नहीं के बराबर हो जाता है।

रूसो के सिद्धान्तके अनुसार व्यक्ति नागरिक राज्यमें उतना ही स्वतंत्र है (यदि उससे ज्यादा नहीं) जितना कि वह प्राकृतिक अवस्थामें था क्योंकि वह अपने अधिकार किसी बाहरी व्यक्तिको नहीं देता है। वह इन अधिकारोंको अपने आप

को और उन दूसरे व्यक्तियोंको सौंपता है जिनको मिलाकर राजनीतिक संस्था बनती है। रूसो के कथनानुसार समस्या यह है कि एक ऐसी संस्था बनाई जाय जो समूची सामान्य शक्तिसे हर सदस्यके जीवन और सम्पत्तिकी रक्षा करे और जिसमें हर सदस्य दूसरोंके साथ मिलकर भी स्वयं अपना ही आज्ञाकारी बना रहे और साथ ही उतना ही स्वतंत्र बना रहे जितना पहले था। इस समस्याका हल रूसो ने सामाजिक अनुबन्धमें पाया है इस अनुबन्धके अनुसार 'हममें से प्रत्येक अपने शरीर और अपनी समूची शक्तिको सार्वजनिक रूपमें लोकसम्मतिके सर्वोच्च नियंत्रणके अधीन कर देता है और अपनी सामूहिक सत्तामें हम हर सदस्यको समष्टिका अविच्छिन्न अंग मानते हैं।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसो के अनुसार मनुष्य नागरिक राज्यमें एक स्वतंत्र व्यक्ति है। जो कुछ भी प्रतिबन्ध हैं वे स्वयं उसीके अपने द्वारा लगाये हुए हैं। वह अपने ही द्वारा लागू किये गये क़ानूनको मानता है और यह स्वतंत्रताका अपहरण नहीं है। 'ऐसे क़ानूनको मानना जिसे हमने स्वयं अपने ऊपर लागू किया है, स्वतंत्रता ही है।'

स्वतंत्रताके इस विचारकी हम एक ही आलोचना करना चाहते हैं। वह आलोचना यह है कि रूसो पूर्ण प्रजातंत्रको पूर्ण स्वतंत्रता मान लेते हैं। हमारा अनुभव हमें बताता है कि यह हमेशा सही नहीं है। रूसो बहुमतके अत्याचारकी सम्भावनाको भूल जाते हैं, जिसकी आशंका आधुनिक प्रजातंत्रोंके बारे में जे० एस० मिल (J. S. Mill) ने पूरी तरह की है। उनकी यह धारणा कि जहाँ लोकसम्मति है वहाँ व्यक्तिको स्वतंत्र होने के लिए मजबूर किया जा सकता है, आसानी से बहुमत के अत्याचारका पर्याय बन सकती है। आधुनिक प्रजातंत्रोंमें ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ लोकसम्मतिके अभावमें भी बहुमत अल्पमत पर अत्याचार करता है। कभी-कभी अधिक वाचाल और कट्टर अल्पमतके लोग भी भयभीत तथा अकर्मण्य बहुमत पर अत्याचार करते हैं। इस आलोचनाके बावजूद भी हमें यह कहनेमें संकोच नहीं है कि रूसो ने स्वतंत्रताकी सर्वोत्तम व्याख्या की है। उनकी व्याख्यामें राजनीति-शास्त्रके एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नका उत्तर हमें मिलता है और वह प्रश्न है सामाजिक शक्ति और व्यक्तिगत उत्तरदायित्वका आपसी सम्बन्ध।

हॉब्स, लॉक और रूसो के सिद्धान्तों में सत्य का अंश
(Truth in the Theories of Hobbes, Locke and Rousseau)

हॉब्स. हॉब्स ने अपने पूरे सिद्धान्तको एक निश्चित व तर्क-संगत रूपसे विकसित किया है। यदि उसके सिद्धान्तकी आधारभूत मान्यताओंको हम स्वीकार कर लेते हैं तो निष्कर्ष अपने आप निकल आते हैं। हॉब्स एक महान् विचारक थे। कानूनी सम्प्रभुता (legal sovereignty) का सिद्धान्त, राजनीति-शास्त्रको उनकी

एक महत्त्वपूर्ण देन है। उनकी सबसे बड़ी भूल केवल यही है कि उन्होंने क़ानूनी सम्प्रभुताकी पूर्ति राजनीतिक सम्प्रभुता (political sovereignty) से नहीं की। आधुनिक लेखक राजनीतिक सम्प्रभु या लोकमतको कानूनी राजसत्तासे श्रेष्ठ मानते हैं। हॉब्स ने राज्यकी इच्छा और शासककी इच्छाको एकमें मिलाकर बड़ी भारी ग़लती की है। इस एकीकरणके कारण ही उसे राज्य और सरकारके बीच भेद करनेमें कठिनाई हुई है। उसने तो यहां तक भी कहा है कि शासककी मृत्युके बाद राज्य समाप्त हो जाता है।

हॉब्स के कथनानुसार सम्प्रभु प्रजाका प्रतिनिधि है। हम यह मान सकते हैं कि जो सरकार जनताकी आवश्यकताओंको पूरा करनेकी कोशिश करती है, मौलिक रूपसे वह जनताकी प्रतिनिधि है। परन्तु सच तो यह है कि हॉब्स ने 'प्रतिनिधि' शब्दको उसके साधारण अर्थमें प्रयुक्त नहीं किया है। यह ज़रूरी नहीं है कि तथाकथित प्रतिनिधि सम्प्रभु जनताका सही प्रतिनिधित्व अर्थात् उनके कल्याणके लिए कार्य करे। हॉब्स का उत्तर यह होगा कि सम्प्रभुके कानून बनानेके अधिकारों पर हम कोई रोक नहीं लगा सकते क्योंकि वह सर्वोच्च क़ानून निर्माता है। लेकिन प्रश्न तो यह है कि शासकके क़ानूनी अधिकारोंका संगठन कैसे किया जाय कि एक अच्छी सरकारकी स्थापना हो सके। शक्तिके केन्द्रीकरणसे निस्सन्देह सरकार कार्यकुशल बनायी जा सकती है परन्तु आवश्यकता तो इस बातकी है कि शक्तिके केन्द्रीकरण और अत्याचारसे मुक्ति—इन दोनोंके बीच समन्वय कैसे किया जाय।[1]

यह कहा जा सकता है कि हॉब्स का सिद्धान्त व्यक्तिको किसी बातकी स्वतंत्रता नहीं देता वरन् उसे शासककी दया पर छोड़ देता है। इस सिद्धान्तके अनुसार तो व्यक्तिको उस समय तक शासकके आदेशोंका पालन करना चाहिए जब तक उसका जीवन संकटमें न पड़े। जनताके अधिकारोंके समर्थक कह सकते हैं कि जब शासक निरंकुश हो जाता है और जनताके कल्याणकी अवहेलना करता है तब उसका विरोध करनेका अधिकार (right of resistance) होना चाहिए। इस तर्कके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि हॉब्स के ही अनुसार जब सरकारका शासन न्यायपूर्ण नहीं होता तभी समझौता भंग हो जाना चाहिए। परन्तु महत्त्वकी बात तो यह है कि हॉब्स ने शक्तिशाली सरकारकी मौलिक आवश्यकताकी ओर संकेत किया है। उन्होंने 'विरोध करनेके अधिकार' से होनेवाले खतरोंको अच्छी तरह समझा है। एक कर्त्तव्यशील नागरिकको स्वयं अपनेसे पूछना चाहिए: "क्या समय ऐसा है कि इसमें गृह-युद्ध और अव्यवस्थाका खतरा मोल लेना उचित होगा?" सरकारके विरोध करनेका परिणाम गृह-युद्ध हो सकता है। एक बार सरकारका विरोध शुरू

---

[1] हैलोवेल के कथनानुसार हॉब्स ने राज्य और समाज, राज्य और सरकार अथवा क़ानून और नैतिकताके बीच कोई भेद नहीं माना है (३१:७८)।

करनेके पश्चात् यह नहीं बताया जा सकता कि परिणाम क्या होगा। विरोध करते समय भले ही लोगोंके मनमें गृह-युद्धकी भावना न हो पर यह सम्भावना अधिक है कि इसका अन्त गृह-युद्धमें ही होगा। इसी कारण सरकारके न्यायकारी होनेकी अपेक्षा यह आवश्यक है कि वह शक्तिशाली ही अधिक हो। कभी कभी हो जानेवाले अन्यायपूर्ण कार्योंकी अपेक्षा शान्ति और सुरक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हॉब्स हमारा ध्यान इसी सत्यकी ओर आकर्षित करना चाहते थे कि किसी भी प्रकारका विरोध सरकारको कमजोर ही बनाता है। जैसा कि आइवर ब्राउन (Ivor Brown) ने कहा है—हॉब्स अनुशासनके पहले महान् दार्शनिक हैं।

हॉब्स जैसे पूर्ण व्यक्तिवादी विचारकके लिए समाजका सही अध्ययन बहुत कठिन है। हॉब्स का अपने सिद्धान्तको प्रारम्भ करनेका ढंग ही ग़लत है। उनकी धारणा है कि मनुष्य मूलतः स्वार्थी है और वह सुख-दुखकी भावनाओंसे ही प्रेरित होता है। परन्तु यह धारणा ग़लत है। इसके विपरीत प्लेटो की यह धारणा तर्क-संगत है कि व्यक्ति अपनेमें पूर्ण नहीं है और समाजसे अलग उसका कोई महत्त्व नहीं है। हॉब्स के इस सिद्धान्तमें अराजकताका सामान्य भय ही लोगोंको एक सूत्रमें बाँधनेवाला तत्त्व है, इसलिए वह समाजकी एकताको सम्प्रभुकी इच्छासे मिलाने के लिए बाध्य हो गये हैं और उन्होंने जनताकी इच्छाको अधिक महत्त्व नहीं दिया है।

लॉक. लॉक १६८८ ई० में होनेवाली अंग्रेजी राज्यक्रान्तिके दार्शनिक हैं। उनकी पुस्तक *Second Treatise on Civil Government* ऐतिहासिक दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें यह बहुत अच्छी तरह बताया गया है कि राज्यक्रान्तिके समय लोगोंके क्या विचार थे। इस पुस्तकको हम राजनीतिके एक वैज्ञानिक लेखके बजाय राजनीतिक प्रचार-पत्र (pamphlet) कह सकते हैं। इसमें हॉब्स की पुस्तक *Leviathan* की भाँति तर्कपूर्ण विवेचन नहीं किया गया है। लॉक के सिद्धान्तका सार यह है कि सरकारका मूल उद्देश्य जनताकी आवश्यकताओंको पूरा करना है। यदि कोई बात जनताके हितमें होती है तो लॉक इस बातकी चिन्ता नहीं करते कि वह बात दार्शनिक दृष्टिसे कितनी उचित है। हॉब्स की दृष्टिमें व्यवस्था और सुरक्षा सबसे ज़्यादा जरूरी हैं जब कि लॉक व्यवस्थाके साथ ही अच्छे शासनकी आवश्यकता भी बताते हैं। इसी कारण लॉक को राजनीतिक सम्प्रभुताके अस्तित्वको स्वीकार करना पड़ता है हालांकि वह क़ानूनी सम्प्रभुताके अर्थको पूरी तरहसे नहीं समझ पाये हैं। इस विषयमें गिलक्राइस्ट (Gilchrist) हॉब्स और लॉक के अन्तरको समझाते हुए कहते हैं: "हॉब्स ने राजनीतिक सम्प्रभुताके महत्त्व और शक्तिको माने बिना ही क़ानूनी सम्प्रभुताका सिद्धान्त बनाया है, लॉक ने राजनीतिक सम्प्रभुताके महत्वको तो स्वीकार किया है लेकिन क़ानूनी सम्प्रभुताको पूरी तरह नहीं माना है (२८:६३)।" लास्की के विचारमें लॉक ने राजनीति-शास्त्रमें स्वीकृतिके सिद्धान्त (Theory of Consent) को एक स्थायी स्थान दिया है।

रूसो. (१) यद्यपि रूसो ने अनुबन्धको तो माना है परन्तु उनके विचार कहीं-कहीं पर अनुबन्ध-सिद्धान्तके विचारोंका अतिक्रमण कर जाते हैं।

(२) रूसो के सिद्धान्तमें हॉब्स और लॉक के सिद्धान्तोंके सर्वोत्तम तत्त्वोंका समन्वय है। जैसा कि एक लेखक ने कहा है कि उन्होंने हॉब्स की प्रारम्भिक मान्यता और विचार शैलीके साथ लॉक के निष्कर्षोंका समन्वय कर दिया है।

रूसो ने हॉब्स से एक निरंकुश, अविभाज्य और अदेय राजसत्ताका विचार लिया है और लॉक से यह सिद्धान्त लिया है कि जनताका हित अच्छे शासनकी कसौटी है। इन दोनों सिद्धान्तोंके समन्वयसे ही लोकसम्मतिका सिद्धान्त उत्पन्न होता है। रूसो लॉक की तरह जनहित पर ज़ोर देकर ही चुप नहीं हो जाते वरन् वह पूरी जनताका नियंत्रण चाहते हैं। "इस तरहसे रूसो के हाथमें यह सिद्धान्त मौलिक रूप से प्रजातंत्रीय हो जाता है और इस बातका दावा किया जाता है कि प्रजा सैद्धान्तिक रूपमें ही नहीं वरन् वास्तविक रूपसे शासन करेगी। रूसो ने ही राजनीतिके संसारमें प्रजातंत्रको एक सजीव सिद्धान्तके रूपमें प्रतिष्ठित किया (Cole)।"

लोकसम्मति का सिद्धान्त
(Doctrine of the General Will)

आधुनिक राजनीतिक विवादोंमें लोकसम्मतिका सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है। कुछ विचारकोंके अनुसार यह सिद्धान्त यदि खतरनाक नहीं तो अर्थहीन अवश्य है। लेकिन इसके विपरीत अन्य विद्वानोंकी सम्मतिमें लोक-सम्मतिका सिद्धान्त प्रजातंत्र तथा राजनीतिक दर्शनकी आधारशिला है।

लोकसम्मतिकी धारणाको ठीक तरहसे समझनेके लिए 'व्यावहारिक इच्छा' (actual will) और 'वास्तविक इच्छा' (real will) का अन्तर समझना आवश्यक है। यहाँ पर यह कह देना ज़रूरी है कि 'व्यावहारिक' और 'वास्तविक' शब्दोंका प्रयोग पारिभाषिक अर्थमें दो विभिन्न विचारोंको प्रकट करनेके लिए किया गया है। इस कारण इन शब्दोंका प्रयोग एक दूसरेके लिए करना जैसा कि हम सामान्य बात-चीतमें किया करते हैं, उचित नहीं है। एल० टी० हॉबहाउस (L. T. Hobhouse) ने अपनी पुस्तक *Metaphysical Theory of the State* में यही भूल की है। वह तो यहाँ तक कह गये हैं कि जो व्यावहारिक है वही वास्तविक है ; जो वास्तविक है वही व्यावहारिक है।

जो व्यक्ति इन शब्दोंका प्रयोग एक पारिभाषिक अर्थमें करते हैं और इनके आपसके भेदको लोकसम्मतिका आधार बनाते हैं वे मनुष्यके भीतर होनेवाले उस संघर्षका उपयोग करते हैं जो मनुष्यकी 'मैं' (I) और 'मुझसे अच्छा' (better than I) की भावनाके बीच चला करता है। वे 'व्यावहारिक इच्छा' का प्रयोग मनुष्यकी

प्रेरणात्मक और अविचार-पूर्ण सहज या स्वाभाविक इच्छा (compulsive and unreflective will) के रूपमें करते हैं। यह मनुष्यकी क्षण-क्षण पर बदलनेवाली इच्छा है। यह पूरे जीवनका कोई ध्यान नहीं रखती। यह स्वार्थका ही ध्यान रखती है और समाजके कल्याणको ध्यानमें नहीं रखती। यह व्यक्तिकी विद्रोहात्मक, परिवर्तनशील व तुच्छ इच्छा है। यह इच्छा संकीर्ण तथा आत्म-विरोधिनी है। यदि मनुष्य विचारशील है तो वह अपनी इस इच्छासे छुटकारा पानेकी चेष्टा करता है। वह इच्छा चाहे कितनी ही प्रबल क्यों न हो गयी हो मनुष्य उससे छूट कर 'वास्तविक इच्छा' को अपनानेका प्रयत्न करता है। 'वास्तविक इच्छा' ही मनुष्यकी सच्ची स्वतंत्रता व्यक्त करती है। यह इच्छा स्थायी होती है; और स्थायी होनेके साथ ही स्थायी सन्तोष भी देती है। यह इच्छा स्वार्थकी बुराईसे मुक्त होकर शुद्ध हो चुकी होती है। यह मनुष्यकी 'सत्' इच्छा है। यह मनुष्यके स्वार्थका भी ध्यान रखती है परन्तु इसमें व्यक्तिगत स्वार्थ आगे चलकर सामूहिक स्वार्थ या सामान्य हित (common good) में परिवर्तित हो जाता है। यह इच्छा कभी भी किसी लालसाके पूरा हो जानेसे सन्तुष्ट नही हो जाती। यह सम्पूर्ण जीवनका ध्यान रखती है। यह एक युक्ति-सगत इच्छा है। व्यक्ति और समाजके समन्वयके रूपमें यह प्रकट होती है। यह कभी भी किसी व्यक्ति-विशेषमें पूर्णरूपेण नहीं पायी जाती।

ऊपर बताये गये 'व्यावहारिक इच्छा' और 'वास्तविक इच्छा' के भेदकी हॉबहाउस ने बड़ी कड़ी आलोचना की है। उनका कहना है कि यदि 'वास्तविक इच्छा' को कार्यान्वित किया जा सके तो उसका स्वरूप इतना भिन्न हो जायगा कि हम उसको पहचान भी न सकेंगे। इस तर्कसे हम सहमत नहीं हैं क्योंकि 'वास्तविक इच्छा' का ऐसा आदर्श केवल कल्पना-मात्र ही है। यह तथ्य कि हम अपना निरीक्षण स्वयं अपनी आलोचना, अपने तर्क, अपने विवेक और या फिर अपने अनुभव द्वारा किया करते हैं, यह सिद्ध करता है कि व्यावहारिक और वास्तविक इच्छाका यह भेद प्रामाणिक है। इस भेदको मान्यता देनेका यह अर्थ नही कि हम 'व्यावहारिक इच्छा' को भ्रममें डालनेवाली समझते हैं, जैसा कि हॉबहाउस का मत है। इसे स्वीकार करनेका अर्थ सिर्फ़ यही है कि यह इच्छा अपूर्ण होती है। इस पर पुनः विचार करना आवश्यक होता है। हॉबहाउस तो एक शब्द-जाल रचते हैं और कहते हैं कि व्यक्तिकी इच्छा हर समय 'वास्तविक इच्छा' होती है। बोसांके (Bosanquet) तथा अन्य आदर्शवादियोंके प्रति, जो 'व्यावहारिक' और 'वास्तविक' शब्दोंका प्रयोग पारिभाषिक अर्थमें करते हैं, यह आलोचना उचित नहीं जान पड़ती। हॉबहाउस मनुष्यके कार्योंका ऐसा विभाजन करते हैं मानो उनमें आपसमें जरा भी सम्बन्ध न हो। हॉबहाउस चाहे कुछ भी कहें परन्तु एक साधारण नागरिकमें 'वास्तविक इच्छा' काफी अंशमें सदा पायी जाती है यद्यपि हम यह माननेको तैयार हैं कि उसका पूर्ण विकास तो सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियोंमें भी नहीं हो पाता है। व्यक्तिकी किसी इच्छाका बहुत अधिक तीव्र होना ही 'वास्तविक इच्छा' नहीं है। व्यक्तिकी

इच्छाका सार्वजनिक हितसे सम्बन्ध ही उसे 'वास्तविक इच्छा' बनाता है। व्यक्तिका कल्याण भी सार्वजनिक कल्याण पर निर्भर है। साधारण मनुष्योंमें 'व्यावहारिक' और 'वास्तविक' इच्छा मिली हुई होती हैं और विकसित होते हुए धीरे-धीरे वे 'वास्तविक इच्छा' में बदल जाती हैं।

इसी 'वास्तविक इच्छा' और 'कल्याण' की भावना पर ही दार्शनिकोंने लोकसम्मतिके सिद्धान्तकी स्थापना की है। 'लोकसम्मति' (general will) की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है: समाजका निर्माण करनेवाले व्यक्तियोंकी वास्तविक इच्छाओंका समन्वय ही लोकसम्मति है। बोसांके ने लोकसम्मतिकी 'सार्वजनिक हित चाहनेवाली विभिन्न व्यक्तिगत इच्छाओं' के रूपमें परिभाषा की है। यह सार्वजनिक कल्याणकी सामान्य चेतना है (It is the common consciousness of a common end or good)। यद्यपि रूसो के विचार लोकसम्मतिके सम्बन्धमें सदैव स्पष्ट नहीं हैं फिर भी उनकी राजनीतिक धारणाओंमें यह धारणा सबसे अधिक मौलिक है। रूसो के अनुसार नागरिक-समाजका निर्माण करनेवाले मूल अनुबन्धके लिए तो सबकी स्वीकृति आवश्यक है लेकिन उसके बाद लोकसम्मति ही काफ़ी है। लोकसम्मति शब्दसे रूसो दो बातें समझते हैं—मतदाताओंकी संख्या और उससे व्यक्त होनेवाला सार्वजनिक हित। एक स्थान पर उन्होंने साफ़-साफ़ कहा है कि सार्वजनिक हित अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके शब्द इस प्रकार हैं: "लोकसम्मतिके लिए मतदाताओंकी संख्याकी अपेक्षा सार्वजनिक हित अधिक ज़रूरी है (What makes the will general is less the number of voters than the common interest uniting them) (६७, खं० २, अ० ४)।" फिर भी कभी-कभी वह लोकसम्मतिको बहुमतका पर्याय समझने लगते हैं, परन्तु रूसो की विचारधारा तभी तर्कसंगत होती है जब वह संख्याके बजाय सार्वजनिक कल्याण या सामान्यहितको अधिक महत्त्व देती है।

इसका मतलब यह होता है कि लोकसम्मतिको बहुमत या जनमतका पर्याय नहीं समझना चाहिए। जब तक वास्तविक सार्वजनिक हित मौजूद है बहुमतसे और यहाँ तक कि एक व्यक्तिके मतसे भी लोकसम्मति व्यक्त की जा सकती है। क्योंकि हो सकता है बहुमत सामूहिक स्वार्थसे शायद ही ऊपर उठ पाये। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि एक व्यक्तिकी इच्छा या कुछ व्यक्तियोंकी इच्छाओंकी अपेक्षा बहुमतकी इच्छा ही लोकसम्मति हो सकती है। यह केवल सम्भावनाकी ही बात है। इस प्रकार लोकसम्मतिका सिद्धान्त व्यावहारिक तौर पर प्रजातंत्रीय सरकारकी स्थापना करता है। कुलीनतंत्र या राजतंत्रकी अपेक्षा लोकतंत्रीय संगठनमें ही लोकसम्मति अधिक अच्छी तरह व्यक्त हो सकती है। परन्तु कुलीनतंत्रीय या राजतंत्रीय संगठनमें भी जब तक समाज एक सूत्रमें बँधा हुआ रहता है और उसमें कोई हिंसक संघर्ष नहीं होता है, यह कहा जा सकता है कि लोकसम्मति अप्रत्यक्ष रूपसे विद्यमान है।

लोकसम्मति कैसे बनती है. रूसो के अनुसार किसी भी समाजमें सबकी सम्मति (will of all) यानी समाजके सदस्योंकी व्यक्तिगत इच्छाएँ होती हैं। समाज का हर सदस्य हर सार्वजनिक प्रश्न पर अपने दृष्टिकोणसे विचार करता है। परन्तु यदि समाज सभ्य है और उसमें नागरिकताकी भावना मौजूद है तो व्यक्तियोंकी इच्छाओंके स्वार्थपूर्ण तत्व एक दूसरेको नष्ट कर देते हैं और इस प्रकारके पारस्परिक संगठनके परिणाम स्वरूप लोकसम्मतिका निर्माण हो जाता है। इस प्रकार 'सबकी इच्छाओं' (will of all) की परिणति 'लोकसम्मति' (general will) में होती है। इसका मतलब यह नहीं है कि लोकसम्मति एक निम्नकोटिका समझौता है। वह हर मनुष्यकी सर्वोच्च भावनाका प्रतीक है—नागरिकताकी भावनाका मूर्त रूप है। लोकसम्मतिके निर्णय एक आदर्श समितिके निर्णयोंकी तरह है। ये निर्णय समझौते न होकर उन सब सदस्योंके सर्वोत्तम रूपका प्रकाशन हैं। वाद-विवाद और परामर्श के फलस्वरूप प्रत्येककी इच्छाका परिवर्तन, परिवर्धन और शुद्धीकरण हो जाता है।

रूसो इस प्रकारकी लोकसम्मतिको ही सम्प्रभुता (sovereignty) का एकमात्र प्रकट स्वरूप मानते हैं। जब सम्प्रभुता सार्वजनिक हितमें काम करती है तो वास्तविक लोकसम्मति ही काम करती है। जब तक क़ानून सार्वजनिक हितमें होते हैं, वे लोकसम्मतिके प्रकट स्वरूप ही होते हैं। लोकसम्मति स्वशासनकी आधार-शिला है। जब लोकसम्मति क्रियाशील होती है तब व्यक्तिको 'बरबस स्वतंत्र' बनाया जा सकता है। ऐसी हालतोंमें व्यक्तिको निम्नस्तरीय जीवन व विचारसे स्वतंत्र करके ऊँचे स्तरके जीवन और विचारकी स्थितिमें लाया जाता है। इस स्वतंत्रताकी तुलना हम या तो उस व्यक्तिकी स्वतंत्रतासे कर सकते है जो एक खतरनाक पुल पर जानेसे रोक दिया गया हो, जिसके खतरेको वह नहीं जानता था या फिर उस व्यक्तिकी स्वतंत्रतासे कर सकते हैं जिसे दासताका जीवन स्वीकार करनेसे रोका जा रहा हो।

लोकसम्मति की विशेषताएँ
(Characteristics of the General Will)

लोकसम्मतिकी पहली विशेषता उसकी एकता (unity) है। लोकसम्मति कभी भी आत्मविरोधिनी नहीं हो सकती, क्योंकि वह युक्ति-संगत है। उसमें विभिन्नता होती है परन्तु वह विभिन्नतामें एकताका प्रयास करती है। "वह राष्ट्रीय चरित्रकी एकताका निर्माण और रक्षा करती है और एक राज्यके नागरिकोंमें जिन सार्वजनिक गुणोंको पानेकी हम आशा करते हैं, उनमें उसका विकास होता है (५४: १४०)।"

लोकसम्मतिकी दूसरी विशेषता उसका स्थायित्व (permanence) है। उसे हम प्रत्यक्ष रूपमें न तो "सार्वजनिक भावना रूपी तूफ़ानमें पा सकते हैं और न

राजनीतिज्ञोंकी दुश्कल्पनाओंमें। वह हमें राष्ट्रीय चरित्रमें मिलती है। लोकसम्मति उन कार्यों या आन्दोलनोंकी अपेक्षा अधिक स्थायी होती है जिनके द्वारा उसका प्रकाशन होता है (५४: १४०)।"

लोकसम्मतिकी तीसरी विशेषता है उसका हमेशा उचित या सही (right) होना क्योंकि वह हमेशा समूचे समाजके कल्याणकी भावनासे प्रेरित होती है। प्रत्येक परिस्थितिमें उसका लक्ष्य वही होता है जो उस परिस्थितिमें उचित और सर्वोत्तम होता है। इसका मतलब यह नहीं है कि लोकसम्मतिमें भूलकी सम्भावना होती ही नहीं। जैसा कि रूसो ने बताया है सम्मति हमेशा सही होती है लेकिन उसका निर्देशन करनेवाला विवेक त्रुटिपूर्ण हो सकता है। इसलिए उसके निर्णयमें भूल हो सकती है परन्तु उसमें नैतिक दुर्भावना नहीं हो सकती। जनता सही लक्ष्यको लेकर चलती है भले ही वह बादमें पथभ्रष्ट कर दी जाय। रूसो के ही शब्दोंमें: "जनता प्रेरित तो हमेशा अच्छाईसे ही होती है परन्तु उस अच्छाईको वह देख नहीं पाती। लोकसम्मति हमेशा ठीक होती है पर उसका पथ-प्रदर्शन करनेवाला विवेक हमेशा ठीक नहीं होता (६८: दूसरी पुस्तक, छठा अध्याय)।"

आलोचना.

लोकसम्मतिके सिद्धान्तकी कई तरहसे आलोचना की गयी है:—

(१) लोकसम्मतिको लोग व्यावहारिक जीवनसे भिन्न और एक सीमित तथा भावसूक्ष्म धारणा कहते हैं। इसके आलोचकोंका कहना है कि यदि लोकसम्मति बहुमतसे नहीं बनायी जाती तो वह अर्थहीन है। ऐसी अवस्थामें न तो वह लोक-व्यापी है और न सम्मति ही। उपर्युक्त आलोचनासे हमें निराशा नहीं होती क्योंकि सूक्ष्म (abstract) धारणाओंके विरुद्ध हमेशा ही ऐसी आलोचनाएँ की जाती हैं। इसके समर्थकोंका कहना है कि इस सिद्धान्तका महत्त्व वहीं तक है जहाँ तक इससे जनहित होता है। इस सिद्धान्तकी यह विशेषता ही इसकी शक्ति है। हम आदर्श के पास पहुँचनेकी आशा तो कर सकते हैं परन्तु उसको पूरी तरह पा लेना और कार्य रूप दे पाना कठिन है। लोकसम्मति व्यावहारिक (actual) और आदर्श (ideal) दोनों ही है। व्यावहारिक रूपमें उसे किसी भी राज्यमें नहीं पाया जा सकता।

(२) कुछ लेखकोंका मत है कि इस सिद्धान्तसे राज्यमें आसानीसे निरंकुशता आ जानेका भय है। लोकसम्मतिके नाम पर सर्वाधिक निरंकुशता हो सकती है। 'स्वतंत्र बनानेके लिए विवश करना' (forced to be free) इस कथनकी सबसे अधिक आलोचना हुई है क्योंकि इसमें अत्यधिक निरंकुशताकी सम्भावना है। इस आलोचनामें काफ़ी बल है परन्तु यह अकाट्य नहीं है। रूसो निरंकुश सम्प्रभुताका समर्थन करते हैं परन्तु साथ ही उस पर कुछ नैतिक बन्धन भी लगाते हैं। क्योंकि लोकसम्मति सदैव उचित और न्यायपूर्ण होती है, इसलिए वह तभी राज्य-कार्यमें

हस्तक्षप करती है जब ऐसा करना उचित होता है। रूसो का कथन है—'सम्प्रभु समाजके ऊपर ऐसा कोई बन्धन नहीं लाद सकता जो समाजके लिए निरर्थक हो और न वह ऐसा करनेकी इच्छा ही कर सकता है।' इसलिए हम कह सकते हैं कि रूसो नागरिक स्वतंत्रता (civil liberty) की प्राप्तिके लिए व्यक्तिका बलिदान नहीं करते हैं। बन्धनोंका अभाव ही स्वतंत्रता नहीं है। राज्यके हर हस्तक्षेप का यह अर्थ नहीं कि व्यक्तिकी स्वतंत्रता छीनी जा रही है।

(३) लोकसम्मतिका सिद्धान्त सार्वजनिक हित पर आधारित है लेकिन सार्वजनिक हितकी परिभाषा करना बहुत मुश्किल है। एक निरंकुश तानाशाह भी अपने कार्यों को सार्वजनिक हितके लिए उचित ठहरा सकता है। यह भी पहलेसे नहीं कहा जा सकता कि लोकसम्मति द्वारा व्यक्त कोई कार्य विशेष सार्वजनिक हितमें ही होगा। यह तो उसके परिणामसे ही जाना जा सकता है कि वह हितमें होगा या नही। हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि लोकसम्मतिके सिद्धान्तकी कुछ सीमाएँ हैं परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि ये सीमाएँ ही इस सिद्धान्तको शक्तिशाली भी बनाती हैं। ये शिथिलताएँ यह प्रमाणित करती हैं कि यह सिद्धान्त सिर्फ़ कल्पनाकी उड़ान या कोरा आदर्श नही है। हमें मनुष्य व उसकी संस्थाओं (जिस हालतमें भी वह हैं) से काम करना है परन्तु इसके साथ ही हमारा कोई लक्ष्य भी होना चाहिए जिसको सामने रखकर हम आगे बढ़ सकें। हम दावेके साथ कह सकते है कि लोकसम्मतिका सिद्धान्त राजनीतिक प्रयत्नोंके लिए सर्वोत्तम सम्भव लक्ष्य है। यह लक्ष्य 'हमसे कोशिश तथा शायद कुछ सीमा तक आत्मबलिदान भी चाहता है (५ : १०६)।'

(४) कुछ लोगोंका यह कहना है कि यदि हम यह मान भी लें कि लोकसम्मति उचित व न्यायसंगत होती है, फिर भी यह ज़रूरी नहीं है कि सरकार हमेशा ठीक और न्यायपूर्ण ढंगसे ही कार्य करेगी। इस आपत्तिके उत्तरमें हम यह माननेको तैयार है कि राज्यका शासन-यंत्र हमेशा अपूर्ण ही रहता है। परन्तु हम यह भी तो नहीं कहते कि हम लोकसम्मतिको पूरी तरह व्यावहारिक रूपमें प्रयुक्त कर सकते हैं। अपने हाथोंमें हमें जो अपूर्ण शासन-यंत्र मिला है, उससे हम यही आशा कर सकते हैं कि वह लोकसम्मतिको कार्यान्वित करनेका यथासम्भव प्रयत्न करेग। एक शिक्षित या प्रबुद्ध जनमत (educated or enlightened public opinion) से ही हमें लोकसम्मतिकी निकटतम स्थितिकी सम्भावना माननी चाहिए।

लोकसम्मतिके सिद्धान्तमें सत्यांश
(Truth in the Doctrine of the General Will)

(१) यह सिद्धान्त हमारे राजनीतिक प्रयत्नोंको एक नया मार्ग और उद्देश्य देता है जिनकी प्राप्तिके लिए अनेक कठिनाइयों और असफलताओंके होते हुए भी हम प्रयत्नशील रहते है।

(२) यह सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि समाज असम्बद्ध व्यक्तियोंका समूह मात्र ही नही है बल्कि उसमें एक आन्तरिक एकता भी होती है। इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट होता है कि राज्यकी भी अपनी एकता और इच्छा होती है जो उसके सदस्योंके व्यक्तिगत एकता और इच्छासे भिन्न होती है। "निस्सन्देह अपने सदस्योंसे अलग होकर राज्यका कोई अस्तित्व नहीं होता परन्तु राज्यका जीवन किसी एक नागरिक अथवा किसी एक पीढ़ीके जीवनसे अधिक स्थायी, विस्तृत और परिपूर्ण होता है (५४: १३९)।"

(३) यह सिद्धान्त इस सत्यका स्पष्टीकरण करता है कि 'राज्यका आधार शक्ति नही वरन् इच्छा है' (will, not force, is the basis of the state)। लोकसम्मति की धारणाका यह अर्थ नही है कि अल्पमतवाले समुदायों पर दबाव डाला जाय। यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि बहुमतकी नीतिका सुधार अल्पमतकी शक्ति और सूझबूझ द्वारा भी किया जा सकता है।

(४) यह सिद्धान्त बताता है कि राज्य एक स्वाभाविक संस्था है जिसका आधार मनुष्यकी इच्छा व स्वाभाविक आवश्यकता है। 'राज्यका अस्तित्व और हमारा उसकी आज्ञाओंका पालन इस कारण है कि वह हमारे व्यक्तित्वका ही विस्तार है' (कोल)।

(५) यह सिद्धान्त यह भी स्पष्ट करता है कि प्रजातंत्रका सच्चा आधार, न तो शक्ति है और न स्वीकृति वरन् हमारी सक्रिय इच्छा ही इसका आधार है।

लोकसम्मतिको हमे इसलिए नहीं मानना चाहिए कि वह हमारे ऊपर थोपी जाती है बल्कि इसलिए कि वह हमारा ही एक अविच्छेद्य अंग है। राज्यकी लोक-सम्मतिकी आज्ञा माननेमें हम अपनी ही आज्ञा मानते हैं और हमारे अन्दर जो कुछ भी सर्वश्रेष्ठ है, उसका अनुगमन करते हैं। लोकसम्मति व्यक्तिको उसका महत्त्व बताती है। वह व्यक्ति और व्यक्तिके बीच एकताकी समर्थक है।

Select Readings

Bosanquet, B.—*The Philosophical Theory of the State*—Ch. IV, pp. 264-66.

Garner, J. N.—*Political Science and Government*—pp. 222-28.

Gettell, R. G.—*Introduction to Political Science*—pp. 81-87.

Gilchrist, R. N.—*Principles of Political Science*—pp. 60-65.

Hallowell, J. H.—*Main Currents in Modern Political Thought*—pp. 77 *ff*; 102 *ff*, 175 *ff*; 180-89, 248 *ff* and 280.

Hobbes, T.—*Leviathan*—Chs. 13, 14, 16, 17, 18 and 21.

Joad, C. E. M.—*Modern Political Theory*—Ch. I.

Leacock, S.—*Elements of Political Science*—pp. 24-31.

Locke, J.—*Second Treatise on Civil Government.*

LORD, A. R.—*Principles of Politics*—Chs. II-V.
MACIVER, R. M.—*The Web of Government*—pp. 17-20 and 449-50.
ROUSSEAU, J. J.—*Social Contract*—Bks. I and II, Bk. III Chs. 15-17.
Essays in Political Theory Presented to George H. Sabine (1947)—pp. 113-129.

६

राज्य का उद्देश्य और औचित्य

(The End and Justification of the State)

राज्यकी उत्पत्ति और उसके विकास पर विचार करनेकी अपेक्षा उसके औचित्य और उद्देश्यका विवेचन करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। केवल यह बतलाना काफ़ी नहीं है कि राज्यका निर्माण किन कारणोंसे हुआ। सबसे अधिक आवश्यक प्रश्न तो यह है कि राज्यकी ज़रूरत ही क्या है। क्या राज्यका कोई युक्ति-संगत आधार है? क्या हम अपना काम राज्यके बिना नहीं चला सकते? अरस्तू ने बहुत समय पहले ही इन प्रश्नोंका महत्व समझ लिया था और इसीलिए उन्होंने कहा था कि राज्य पहले-पहल इसलिए क़ायम किया गया कि हम जिन्दा रह सकें और फिर यह इसलिए बना रहा कि हम सुखी रह सकें। इस प्रकार अरस्तू ने राज्यको मनुष्यके अच्छे जीवनके लिए अनिवार्य बता कर उसका औचित्य सिद्ध किया था। इस तर्कके बावजूद हमें यह मानना पड़ता है कि अच्छे से अच्छे यूनानी लेखकों ने भी राज्य द्वारा प्रयोग की जानेवाली शक्तिका औचित्य ठीक प्रकार सिद्ध नहीं किया। हमें उनकी यह बात तो माननी पड़ती है कि मनुष्यका पूर्ण और स्वतंत्र विकास अकेलेमें सबसे अलग रहकर नहीं हो सकता और मनुष्यको अपने उद्देश्य की प्राप्तिके लिए समाजकी आवश्यकता है। लेकिन राज्य द्वारा प्रयोग की जाने वाली शक्ति पर उन्होंने बहुत कम विचार किया है, शायद इसलिए कि शक्तिका प्रश्न एक आधुनिक समस्या है।

राज्य मानव व्यवहारको व्यवस्थित करता है—भले ही इस कार्यमें उसे बल प्रयोग करना पड़े। राज्यकी इच्छा बहुत-सी बातोंमें अन्य सभी इच्छाओंसे श्रेष्ठ है। व्यक्तिके जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति ले लेनेका राज्यको अधिकार है। राज्य करोंके रूपमें व्यक्तिकी सम्पत्ति लेता है; युद्ध-क्षेत्रमें या अपराधके दण्ड स्वरूप उसके प्राण लेता है। क्या यह सब उचित है? सभी युगोंमें राज्यके औचित्यका अस्तित्व सिद्ध करनेके अनेक प्रयत्न हुए हैं और साथ ही राज्यको अनुचित सिद्ध करनेके भी प्रयत्न हुए हैं। हम उनका निम्नलिखित शीर्षकोंमें संक्षिप्त वर्णन करेंगे:

अराजकतावादी राज्यके अस्तित्वका औचित्य बिल्कुल ही नहीं मानते। उनका विश्वास है कि राज्यका कोई युक्ति-संगत उद्देश्य नहीं है और जितनी ही

१. अराजकतावादी दृष्टिकोण (The Anarchist View)

जल्दी हम राज्यका अस्तित्व मिटा सकें उतना ही मनुष्यके विकास और उन्नति के लिए अच्छा होगा। क्रान्तिकारी अराजकतावादी (revolutionary anarchists) मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को हिंसात्मक तरीकोंसे उलट देना चाहते हैं। राजनीति-शास्त्र के अध्ययनमें इन अराजकतावादियोंसे हमारा अधिक सम्बन्ध नहीं है। अराजकतावादियोंमें से टॉल्सटॉय (Tolstoy) और क्रोपॉटकिन (Kropotkin) जैसे दार्शनिक अराजकतावादियों पर हमें विचार करना है। वे राज्यके इतने अधिक विरोधी नहीं हैं जितने राज्य द्वारा प्रयोग किये जानेवाली शक्तिके। उनका दावा है कि मनुष्य अपने ही प्रयत्नों से वास्तविक नैतिक जीवन प्राप्त कर सकता है और नैतिकताके विकासमें राजसत्ता बाधा है। उनके विचारमें इस शक्ति प्रयोगसे सभी नैतिक मान्यताएँ नष्ट हो जाती हैं। सच तो यह है कि अराजकतावादी राज्यकी कल्पना-मात्रसे ही भड़क उठते हैं। उनका कहना है कि राज्य मनुष्यको नैतिक बनानेके बजाय अपनी शक्ति के प्रयोगसे अनैतिक बना देता है। सही बात करनेके लिए, व्यक्ति पर विश्वास करनेके बजाय राज्य उस पर अविश्वास करता है और दण्ड देनेकी धमकी देता है। उनका कहना है कि सरकार व्यर्थ ही नहीं हानिकारक भी है। उनकी रायमें स्वेच्छासे बनाया गया संगठन समाजका काम अच्छी तरह कर सकता है अतएव यदि राज्यको क़ायम रखना ही हो तो उसे एक ऐच्छिक संगठनके रूपमें रखना चाहिए। विधानोंको सुझाव और परामर्श, तथा करोंको स्वेच्छा-दानके रूपमें होना चाहिए। दार्शनिक अराजकतावादियोंका विश्वास है कि समाज पर युक्ति-विहीन शक्तिके बजाय प्रेमका शासन होना चाहिए। मनुष्यको ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए कि वह स्वयं अपनी प्रेरणासे 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का मार्ग अपनाये। उनकी धारणामें आदर्श समाज प्रेमसे बँधा हुआ परिवार है जिस पर अधिकार तथा शक्तिकी छाया भी नहीं पड़ी है। एक ही प्रकारकी सरकारका वह समर्थन करने को तैयार हैं और वह है व्यक्तिका पूरा-पूरा स्वतंत्र स्वशासन। आधुनिक अराजकतावादी व्यक्तिगत सम्पत्तिके उतने ही विरोधी हैं जितना कि धार्मिक संगठित सत्ताके। बाकुनिन (Bakunin) एक ऐसा समाज चाहते थे जो अराजकतावादी (anarchistic), समष्टिवादी (collectivistic) और अनीश्वरवादी (atheistic) हो।

आलोचना.

(१) हम अराजकतावादियोंकी यह बात माननेको तैयार हैं कि सच्ची नैतिकता अधिकतर स्वयं ही अर्जित होती है परन्तु हम यह माननेको तैयार नहीं कि राज्यके कार्योंसे नैतिक मान्यताएँ पूर्णतः नष्ट हो जाती हैं। राज्य सीधे सीधे न

तो नैतिकताको लागू कर सकता है और न उसकी उन्नति ही कर सकता है। फिर भी राज्य ऐसी बाहरी परिस्थितियाँ पैदा कर सकता है कि व्यक्तिके लिए अच्छा जीवन सम्भव हो जाय। इसलिए हमारा कहना है कि राज्य नैतिक मान्यताओंका विनाश नहीं करता—उनका महत्व कुछ कम भले ही कर देता है। हममें से सबसे अच्छे व्यक्तिके लिए भी पुलिसका भय कभी-कभी अच्छा जीवन बितानेमें सहायक होता है। अच्छे कार्योंकी आवश्यकता नैतिकताके विकासमें बाधा नहीं डालती। हम राज्यकी आज्ञा पालन करके अच्छे काम कर सकते हैं।

(२) अराजकतावादियोंका यह विचार ग़लत है कि स्वतंत्रता ही सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक वरदान है। हमें यह न भूलना चाहिए कि स्वतंत्रता अपने आपमें कोई उद्देश्य नहीं है—यह तो उद्देश्यको प्राप्त करनेका केवल एक साधन है। स्वतंत्रता और सत्ता एक दूसरेके विरुद्ध नहीं हैं जैसा कि अराजकतावादी उन्हें समझते हैं। वे एक दूसरेके सहायक व पूरक हैं। कोई भी मानव-संस्था व्यक्तिको पूरी तरह स्वतंत्र नहीं छोड़ती। प्रत्येक समूह या संगठनसे व्यक्तिकी स्वतंत्रता पर कुछ-न-कुछ बन्धन लग जाता है।

(३) अराजकतावादी मानव स्वभावका एक भ्रामक चित्र खींचते हैं। उनकी धारणा है कि संगठित राजनीतिक समाज ने व्यक्तिके चरित्रको नीचे गिरा दिया है और यदि एक बार उसे हटा दिया जाय तो मनुष्य फिर पवित्र-आत्मा हो जायगा। यह धारणा बहुत-कुछ रूसो की उस धारणासे मिलती-जुलती है जो उन्होंने अपने निबन्ध 'असमानता' (*Inequality*) में व्यक्त की है और जिसके अनुसार मनुष्य प्राकृतिक अवस्थामें आनन्दमय ग्रामीण-जीवन बिता रहा था। यह धारणा इस विश्वासको लेकर चलती है कि सभ्यताका विकास हमारी सभी मौजूदा बुराइयोंकी जड़ है। परन्तु बादमें रूसो ने 'सामाजिक अनुबन्ध' (*Social Contract*) नामक पुस्तकमें अपनी इस धारणामें सुधार कर लिया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि नागरिक-राज्य में ही अधिक लाभ हैं। एक 'भद्र बर्बर' (noble savage) के गुणोंकी काव्यमय प्रशंसा करना तो बड़ा आसान है परन्तु मानव स्वभाव और आदिम मानवके इतिहासका हमें जो ज्ञान है उससे यह प्रशंसा झूठी ही साबित होती है। यह कहना बिल्कुल सही है कि मनुष्य अपनी उन्नतिकी वर्तमान स्थिति तक संगठित राजनीतिक समाजमें ही और उसीके द्वारा पहुँच सका है।

अराजकतावादियोंकी धारणा है कि शिक्षा, समझाने-बुझाने और नैतिक उपदेशसे हम मनुष्यके स्वभावको इतना अधिक सुधार सकते हैं कि भविष्यमें एक दिन ऐसा आयगा जब हम अपने आपको राज्यसे बिल्कुल मुक्त कर सकेंगे। हम यह अस्वीकार नहीं करना चाहते कि ऊपर बताये गये तरीक़ोंसे मानव-स्वभाव का सुधार किया जा सकता है। मनुष्यके स्वभावका कहाँ तक सुधार किया जा सकता है इसका अभी तक पूरा-पूरा पता नहीं लग सका है परन्तु वर्तमान समयमें

या हमारी कल्पनामें आनेवाले भविष्यमें राज्यके न रहनेसे व्यापक रूपमें अव्यवस्था और गड़बड़ी ही फैलेगी। मनुष्यके भीतरकी पशु प्रवृत्तियोंका विनाश सरल नहीं है और राज्यकी सत्ता ही उन्हें नियंत्रणमें रखती है।

(४) अराजकतावादियोंकी कल्पना है कि एक आदर्श परिवारमें प्रेमका ही साम्राज्य रहता है। यह एक ग़लत धारणा है। यद्यपि सत्ता, नियम और नियंत्रण एक आदर्श परिवारमें होते हैं फिर भी वे वाह्य रूपमें नही दिखाई देते। जैसा कि हर्नशॉ (Hearnshaw) ने कहा है 'मनुष्योंके स्वभावकी अपराधी प्रवृत्तियोंको काबूमें रखनेके लिए राज्यकी शक्तिका सुरक्षित रहना ज़रूरी है।' इसलिए हम कम-से-कम वर्तमान समयमें सरकारकी अधीनता और क़ानूनकी बुद्धिमत्ताको छोड़ नहीं सकते।

(५) अराजकतावादी राज्यकी सत्ताको समाप्त करके उसके स्थान पर व्यक्ति के विवेककी सत्ता क़ायम करना चाहते हैं। लेकिन जैसा कि ठीक ही कहा गया है, व्यक्तिका विवेक बहुत ही अस्थिर, अनिश्चित और अविश्वसनीय होता है।

२. धार्मिक दृष्टि-कोण (The Religious View)

प्रारम्भिक कालसे ही राज्यके अस्तित्वका समर्थन इस काल्पनिक आधार पर किया गया है कि राज्यको ईश्वर ने बनाया है और राज्यकी आज्ञाओंका पालन दैवी उद्देश्यके अनुकूल है। पूर्वके अधिकांश राजतंत्र धर्मतंत्र ही थे। राज्यकी सदस्यताका मतलब था धर्म-संघकी सदस्यता। क्योंकि राज्यका प्रधान धर्म-संघका भी प्रधान होता था इसलिए राज्य और धार्मिक समुदाय एक रूप थे। हेब्रू लोगों (Hebrews) में धर्मतंत्रकी धारणा सबसे अधिक विकसित हुई। हेब्रू लोग अपने आपको परमात्माका सर्वाधिक प्रिय मानते थे। यहूदी राज्य (Jewish state) भी दैवी इच्छाका प्रत्यक्ष परिणाम माना जाता था और धार्मिक आधार पर ही उसका औचित्य सिद्ध किया जाता था।

यूनानी लोग भी राज्यका औचित्य धार्मिक आधारों पर ही सिद्ध करते थे, यद्यपि उनमें धर्मतंत्रकी धारणा अधिक विकसित नहीं हुई थी। यूनानी सामान्य देवताओंकी पूजा करते थे और यह पूजा ही राज्यकी नींव थी। राज्यकी स्थापना का श्रेय किसी-न-किसी देवताको दिया जाता था और हर नगरका अपना देवता होता था। प्लेटो और अरस्तू ने, जो यूनानी राजनीतिक विचारकोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, एक दूसरा ही दृष्टिकोण रखा। वे राज्यको स्वाभाविक तथा आवश्यक मानते थे परन्तु उन्होंने राजनीतिक सत्ताके साथ व्यक्तिगत स्वतंत्रताके सामंजस्यकी समस्या हल नहीं की। वे इस विचारसे ही सन्तुष्ट हो गये कि राज्यकी उत्पत्ति स्वाभाविक कारणोंसे हुई है और राज्यसे अलग मनुष्यका जीवन अपूर्ण और अर्थहीन है।

यूनानी नगर-राज्योंकी तरह रोमन राज्यकी उत्पत्ति भी धार्मिक ही थी।

रोमन लोगोंके भी अपने विशेष देवता होते थे और इन सामान्य देवताओंकी पूजा ही उन्हें एक सूत्रमें बाँधे थी। आगे चलकर जब रोम एक साम्राज्य हो गया तो सम्राटमें दैवी गुण प्रतिष्ठित कर दिये गये।

'प्रोटेस्टैण्ट रिफॉर्मेशन' का प्रारम्भ करनेवाले मार्टिन लूथर ने लिखा है: 'एक ईसाई के लिए यह किसी तरह भी उचित नही है कि वह अपनी सरकारका विरोध करे—चाहे वह सरकार उचित काम कर रही हो या अनुचित।' दुर्भाग्यवश पश्चिमी देशोंमें बहुतसे ईसाई अब भी यही मानते हैं।

आलोचना.

आधुनिक वैज्ञानिक युगमें यह तर्क कोई बल नही रखता कि हमें राज्यकी आज्ञा केवल इसलिए माननी चाहिए कि उसकी उत्पत्ति ईश्वर द्वारा की गयी है। इस बातका कोई सबल प्रमाण नही है कि किसी भी राज्यको सीधे ईश्वर ने बनाया है। धार्मिक प्रवृत्तिके लेखक भी अधिक-से अधिक यह माननेको तैयार हैं कि राज्यके अधीन जीवन दैवी उद्देश्यके अनुकूल है। यदि हम तर्कके लिए मान भी लें कि राज्यको ईश्वरने बनाया है तो भी यह सिद्धान्त राजसत्ताके सही और ग़लत स्वरूपोंके निर्णयमें कोई मदद नही देता।

३. शक्ति-सिद्धान्त (The Physical Force)

राजनीतिक चिन्तनके प्रारम्भिक कालसे ही राज्यके अस्तित्वका औचित्य इस आधार पर सिद्ध करनेकी कोशिश की गयी है कि राज्य के पास प्रबल शक्ति होती है। सोफिस्टों (Sophists) की धारणा थी कि राज्य या तो शक्ति-सम्पन्न लोगोंका दुर्बल लोगों पर अत्याचार करनेके लिए शासन है या बहुसंख्यक दुर्बलोंका शक्तिशाली अल्पसंख्यकोके विरुद्ध संगठन है। प्रारम्भिक ईसाई धर्म-गुरुओं और मध्यकालीन धर्म-शास्त्रियों ने राज्यके ऊपर धर्मकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिए राज्यकी भौतिक शक्ति पर अधिक बल दिया। मैकियावेली राज्यको केवल एक शक्ति-व्यवस्था (power-system) मानते हैं। फिर भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तकके अन्तमें वह स्वीकार करते है कि राज्यकी शक्ति, राज्यके स्वार्थके लिए न होकर जनताकी प्रतिष्ठा, सम्मान और कल्याणके लिए है। आधुनिक युगमें स्पिनोजा (Spinoza), मार्क्स (Marx), ऐंजिल्स (Engels), नीत्शे (Nietzsche) और स्पेंसर (Spencer) ने इस विचारका प्रचार किया है कि राज्य शक्तिका मूर्त्तिमान स्वरूप है। स्पिनोज़ा का कहना है कि राज्य प्रबलतर भौतिक शक्तिका द्योतक है और उसका अधिकार केवल उसकी शक्ति द्वारा ही सीमित है। मार्क्स और ऐंजिल्स राज्यको शासक-वर्गके हाथोंका केवल एक यंत्र मानते हैं। नीत्शे ने शारीरिक शक्तिके आधार पर ही अपने महामानव सिद्धान्त (Theory of the Superman) का

प्रतिपादन किया है। स्पेंसर का मत था कि राज्य बर्बर शक्तिका ही द्योतक है और व्यक्तिगत स्वतंत्रताके हितमें उसका नियंत्रण होना चाहिए।

आलोचना.

यह कथन सारहीन है कि राज्यकी आज्ञा हमें इसलिए माननी चाहिए कि वह सर्वाधिक शक्तिशाली लोगोंका शासन है। इस सिद्धान्तकी सार-हीनता रूसों ने इस प्रकार साफ-साफ़ व्यक्त की है, 'जंगलके एक कोनेमें लुटेरोंका एक दल मुझ पर हमला करता है। निश्चय ही मुझे मजबूर होकर अपने रुपयों की थैली उन्हें दे देनी होती है। पर यदि मैं उनके विरुद्ध उसकी रक्षा कर सकूं तो क्या मैं अपनी विवेक बुद्धिसे अपनी थैली उन लुटेरोंको दे देनेके लिए बाध्य हूँ क्योंकि लुटेरेके हाथकी पिस्तौल निश्चय ही शक्तिका प्रतीक है (६७, पु० १, अ० ३)।' शक्तिके आगे सर झुका देना अधिक-से-अधिक चतुराईका काम कहा जा सकता है पर वह नैतिक कर्त्तव्य नहीं है। जैसा कि लास्की ने कहा है शक्ति अपने आपमें नैतिक तत्वसे हीन है (४८: ६४)। राजनीतिक पराधीनताको उचित सिद्ध करनेके लिए उसके पीछे प्रजाकी सम्मति आवश्यक है। ऐसी सम्मतिके अभावमें राज्य दासोंका समूह है, नागरिकोंका समाज नहीं। शक्तिका औचित्य वहीं तक है जहाँ तक यह मानव अधिकारोंको क़ायम रखती है और उन्हें बढ़ाती है।[१] टी० एच० ग्रीन के प्रभावशाली शब्दोंमें राज्यका निर्माण केवल सर्वोपरि शक्ति मात्रसे नहीं होता बल्कि उसका निर्माण किसी निश्चित उद्देश्यके लिए, एक निश्चित तरीक़ेसे प्रयोग की गयी शक्तिसे होता है। यह प्रयोग लिखित या परम्परागत विधानके अनुसार अधिकारोंकी रक्षाके लिए किया जाता है।

यह सिद्धान्त वास्तवमें एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त है क्योंकि इस सिद्धान्तको पूरी तरह अपना लेनेका तो यह अर्थ होगा कि किसी भी वर्गके लिए शक्तिशाली होकर सरकार पर अधिकार कर लेना न्याय-संगत है। राज्यकी शक्तिका प्रयोग तभी न्यायोचित है जब तक वह दूसरी शक्तियोंको पराजित कर सके। परन्तु राज्य की शक्तिका अधिकार उस समय समाप्त हो जाता है जबकि राज्यसे भिन्न कोई भी एक शक्ति आगे बढ़कर सरकार पर अधिकार जमा लेती है और तब वह शक्ति स्वयं न्याय-संगत और अधिकारपूर्ण हो जाती है। रूसो की तरह हम भी यह प्रश्न

---

[१] शक्ति और न्यायके पारस्परिक सम्बन्धकी विवेचना करते हुए पैस्कल (Pascal) ने लिखा है, "शक्तिके बिना न्याय व्यर्थ है, न्यायविहीन शक्ति अत्याचार है। शक्तिविहीन न्याय एक कपोल कल्पना मात्र है क्योंकि बुरे आदमियोंका कभी अभाव नहीं रहता। इसलिए हमें शक्ति और न्यायका सामंजस्य करना होगा तथा कुछ ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि जिसमें न्याय और शक्ति एक दूसरेके पोषक हों।"

रक सकते हैं कि 'वह कौन-सा अधिकार है जो शक्तिकी असफलताके साथ ही नष्ट हो जाता है?' रूसो के कथनानुसार 'यदि शक्ति ही अधिकारका आधार है तब तो कारणके साथ ही परिणाम भी बदल जाता है: प्रत्येक प्रबल शक्ति पहलेकी दुर्बल शक्तिके अधिकारकी उत्तराधिकारिणी हो जाती है। शक्तिके बल पर अवज्ञा न्यायोचित हो जाती है और शक्तिशाली ही हमेशा सही रहता है इसलिए शक्तिवान बनना ही एक मात्र लक्ष्य हो जाता है.....। यदि शक्तिके कारण ही हम आज्ञा मानते हैं तो अपने विवेकसे आज्ञापालन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती और इसके साथ ही यदि हमें आज्ञापालन करनेके लिए विवश न किया जाय तो आज्ञापालन हमारा कर्त्तव्य नहीं रह जाता। यह ज़ाहिर है कि शक्तिमें 'अधिकार' शब्दको कोई महत्व नहीं—इस प्रसंगमें यह शब्द बेकार है।

यद्यपि इस विचारसे सरकारके अस्तित्वका औचित्य तो सिद्ध हो जाता है परन्तु राज्यके अस्तित्वका औचित्य सिद्ध नहीं होता। यह किसी शासक विशेष के शासनको सही बताता है लेकिन किसी भी संगठित राजनीतिक समाजकी सत्ता को नहीं।

४. अनुबन्ध-सिद्धान्त का दृष्टिकोण (The Contract View)

पश्चिमी योरोपमें सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दीमें अनुबन्ध-सिद्धान्तका प्रयोग राज्यके अस्तित्वका औचित्य सिद्ध करनेके लिए बहुत अधिक किया गया था। इसके अनुसार राज्यकी सत्ता इसलिए ठीक मानी जाती है कि इस सत्ताको हमने अपनी स्वेच्छासे राज्यको दिया है। ऐसा लगता है कि इससे अच्छा कोई और तरीक़ा राज्यके अस्तित्वका औचित्य साबित करनेके लिए नही था। अब यह कहा जा सकता है कि राज्यकी उत्पत्ति हम लोगोंकी सम्मतिसे हुई इसलिए इसकी आज्ञा मानना हम लोगोंका कर्त्तव्य हो जाता है।

आलोचना.

थोड़ा-सा विचार करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुबन्धको राजनीतिक सत्ताका आधार बनाना युक्ति-संगत नही है।

(१) इतिहासके अध्ययनसे हमें किसी ऐसे राज्यका पता नहीं चलता जिसकी स्थापना पारस्परिक समझौते द्वारा हुई हो। राज्यका क्रमिक विकास हुआ है, यह लोगों द्वारा जानबूझ कर स्थापित नही किया गया है।

(२) यदि राज्यकी आज्ञा मानना इसलिए उचित माना जाय कि वह हमारी पूर्ण स्वीकृति पर आधारित है तो किसी भी क़ानूनको लागू करनेसे पहले सबकी सहमति ज़रूरी होगी। बहुमत ही काफ़ी नही है। अल्पमत समुदायोंका बहुमत द्वारा दबाया जाना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। इस विचारको हरबर्ट स्पेंसर ने अपनी

राजनीतिक व्याख्यामें अच्छी तरहसे समझाया है। एक सच्चे व्यक्तिवादीकी भांति स्पेंसर का कहना है कि राज्यको केवल वही कार्य करने चाहिए जिन्हें जनता ने राज्यको इसलिए सौंपा हो कि वह स्वयं उन्हें नहीं कर सकती। उनके अनुसार वह कार्य हैं—(क) बाहरी शत्रुओंसे रक्षा (ख) आन्तरिक शत्रुओंसे रक्षा (ग) भूमिका राष्ट्रीयकरण (स्पेंसर ने अपने बादमें लिखे ग्रंथोंमें अन्तिम कार्यको हटाकर उसकी जगह समझौतोंका कार्यान्वित करना रखा है)। कार्योंको निश्चित करनेके बाद ही स्पेंसर ने कुछ ऐसे बन्धन भी लगाये हैं जो युक्तिपूर्ण नहीं जान पड़ते हैं। वह यह महसूस करते हैं कि इन तीन महत्त्वपूर्ण कार्योंके सम्बन्धमें भी हम किसी भी समाजमें सर्वसम्मत स्वीकृति नहीं पा सकते। उनका कहना है कि युद्धको नैतिक दृष्टिसे बुरा समझनेवाले व्यक्ति तथा क्वेकर समाज (Quakers) अपनी रक्षा हेतु किये गये युद्धका भी विरोध करेंगे। अपराधी वर्ग आन्तरिक सुरक्षाके लिए किये गये कार्योंका भी विरोध करेगा और ज़मींदार वर्ग भूमिके राष्ट्रीयकरण को पसन्द नहीं करेगा। इस कारण इन मामलोमें सर्वसम्मतिका सिद्धान्त लागू नहीं किया जा सकता। अब प्रश्न यह उठता है कि जब इन मामलोमें सर्वसम्मति को नहीं माना जाता है तो अन्य विषयोंमें भी उसका बहिष्कार क्यों नहीं किया जा सकता। स्पेंसर सार्वजनिक शिक्षा और फ़ैक्टरी क़ानून आदिके विरोधी हैं। आज के युगमें ऐसे बहुतसे लोग मिलेंगे जो अनिवार्य सैनिक भर्तीको फ़ैक्टरी क़ानूनसे बुरा मानते हैं। अगर किसी तरहका दबाव डालना ही हो तो अनिवार्य सैनिक भर्ती के बजाय फ़ैक्टरी क़ानूनमें शक्तिका प्रयोग करना अधिक न्याय-संगत और उचित है। परिणामतः यह पता लगता है कि राजनीतिक सत्ता और व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की समस्याके लिए सर्वसम्मतिका सिद्धान्त बेकार है।

(३) यदि कोई विषय ऐसा हो जिसमें सर्वसम्मति पाना सम्भव हो तो भी आधुनिक राज्योंमें यह नहीं हो सकता क्योंकि प्रतिनिधि सरकारके द्वारा ही राज्य की इच्छा या सम्मतिकी अभिव्यक्ति हो सकती है। वर्तमान परिस्थितियोंमें प्रत्यक्ष प्रजातंत्र असम्भव है। यह कहना कि ऐसे मामलोंमें मौन सहमति ही ठीक है, जैसा कि अनुबन्ध-सिद्धान्तके समर्थक कहते हैं, उचित नहीं है। "क्योंकि सहमतिका अर्थ है मनुष्यकी इच्छाका प्रकाशन, परन्तु उसके लिए मौन सम्मतिकी अपेक्षा व्यक्तिको सक्रिय होकर कार्य करना आवश्यक है (४८: ३१)।"

(४) अगर सम्मति स्वेच्छासे दी गयी हो तो वह स्वेच्छासे वापस भी ली जा सकती है और फिर यह हो सकता है कि सहमतिको वापस लेनेवाले स्वतंत्रतापूर्वक एक नये राज्यकी स्थापना कर दें। हॉब्स ने इस कठिनाईको समझा था और उसको सुलझानेके लिए उसने कहा था कि मनुष्योंको अपने द्वारा किये गये समझौतोंका पूरी तरह पालन करना चाहिए। इस प्रकारके तर्कमें कोई बल नहीं है। यह तो हॉब्स की कोरी कल्पना ही है जिसका समर्थन हमारे अनुभव या बुद्धिसे नहीं होता। अनुबन्ध-सिद्धान्तके अन्य समर्थकोंका कहना है कि जो लोग स्वीकृति वापस लें उन्हें 'राज्यके

भीतर विदेशी' माना जाय। यह एक मूर्खतापूर्ण बात है। हम स्पेंसर के इस तर्कको स्वीकार नहीं कर सकते कि व्यक्ति जब चाहे अपनेको 'विधानसे परे' (outlaw) बनाले और फिर भी राज्यमें ही रहे। इस तरहके 'अधिकार' से तो शासन असम्भव हो जायगा और परिणाम-स्वरूप अराजकता फैल जायगी।

(५) डेविड ह्यूम (David Hume) ने अनुबन्ध-सिद्धान्तकी सबसे अधिक कठोर आलोचना की है। उनके अनुसार यह सिद्धान्त क्रान्तिमूलक है क्योंकि इसमें किसी ऐसी शक्तिको स्थान ही नहीं है जो व्यक्तिको अपने अनुबन्धसे बांधकर रख सके। टी० एच० ग्रीन का भी यही मत है। उनका कहना है कि प्राकृतिक अवस्थामें रहनेवाले मनुष्योंने जिस अनुबन्धकी कल्पना की थी वह वास्तवमें अनुबन्ध नही है क्योंकि उसमें कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो उस अनुबन्धको लागू कर सके। सम्प्रभु-सत्ता इस अनुबन्धके बाद स्थापित हुई न कि पहलेसे मौजूद थी, जैसा कि वास्तवमें होना चाहिए था।

५. उपयोगितावादी दृष्टिकोण (The Utilitarian View)

बहुतसे विचारकोंने राज्यके अस्तित्वका औचित्य उपयोगिताके आधार पर सिद्ध करनेकी कोशिश की है। उनका कहना है कि राज्यका मौलिक औचित्य इस बातमें है कि वह व्यवस्था स्थापित करता तथा क़ानून बनाता है, व्यक्तिकी बाहरी और आन्तरिक शत्रुओंसे रक्षा करता है, अनुबन्धोंका पालन करवाता है, व्यक्ति और विभिन्न संघोंका सम्बन्ध व्यवस्थित करता है, साहित्य, कला और विज्ञानका विकास करता है और संक्षेपमें वह उस वातावरणकी रचना करता है जिसमें समाजका जीवन कमसे कम संघर्ष और अधिक-से-अधिक कल्याण पूर्वक बीते। लास्की ने अपनी पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन टु पॉलिटिक्स' (*Introduction to Politics*) में कहा है कि राज्यकी शक्तिका अस्तित्व उन उद्देश्यों द्वारा ही न्यायोचित ठहराया जा सकता है जिन्हें वह पूरा करना चाहता है। राज्यका कानून ऐसा होना चाहिए कि वह अपने उन उद्देश्योंको पूरा कर सके जिन्हें पूरा करना उसका लक्ष्य है। राज्यको विभिन्न हितोंके समुदायोंको व्यवस्थित करना पड़ता है। इनमेंसे कुछ हित व्यक्तिगत और कुछ सामूहिक होते हैं, इनमें आपसमें प्रतियोगिता भी होती है और सहयोग भी। राज्यकी यह मांग कि प्रजा उसकी आज्ञाका पालन करे उस शक्ति पर आधारित होना चाहिए जिसके द्वारा राज्य क्रान्तिकारी सामाजिक मांगोंको पूरा करने में समर्थ होता है। राज्यको विभिन्न हितोंका ऐसा सन्तुलन करना चाहिए कि उसके परिणामस्वरूप सन्तोष इतनी मात्रामें प्राप्त हो सके जो अन्य किसी योजनासे प्राप्त होनेवाले सन्तोषसे अधिक हो।

आलोचना.

यह ठीक है कि राज्यके अस्तित्वका इस प्रकारका औचित्य अन्य सिद्धान्तोंसे,

जिनका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं, कहीं अधिक सन्तोषप्रद हैं, फिर भी इसकी आलोचना इस प्रकार की जाती है :—

(१) उपयोगितावादका सिद्धान्त राज्यके सम्बन्धमें एक अत्यन्त संकुचित और भौतिकवादी दृष्टिकोण बना देता है तथा राज्य एक 'उपयोगी कम्पनी' मात्र बनकर रह जाता है। पिछले एक अध्यायमें हमने यह स्पष्ट कर दिया था कि राज्य भौतिक कार्योंकी पूर्तिके लिए ही स्थापित नहीं हुआ है। यह ठीक है कि राज्यको अपने सदस्योंका भौतिक कल्याण भी करना चाहिए परन्तु इसके साथ ही उसका एक नैतिक और आध्यात्मिक कर्त्तव्य भी है। राज्य समस्त सद्गुणोंकी एक साझेदारी (a partnership in all virtue) है। राज्यके अनेक उद्देश्योंमें से एक उद्देश्य और सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह है कि वह मानव 'आत्माकी श्रेष्ठता' का विकास करे (५)। राज्य समाजकी प्रमुख नैतिक संस्थाओंमें से एक है। राज्यका औचित्य केवल उपयोगिताके आधार पर सिद्ध करना कुछ उसी प्रकारका तर्क है जैसे यह कहना कि परिवारका अस्तित्व केवल दाम्पत्य सुखके लिए, बच्चे पैदा करनेके लिए और मानव जातिको बढ़ानेके लिए है। राज्य और परिवार दोनोंका एक नैतिक उद्देश्य है। दोनों ही व्यक्तिके लिए परस्पर सहयोगका जीवन सम्भव बनाते हैं और व्यक्तिके लिए आत्मानुभूति (self-realization) आसान हो जाती है।

(२) उपयोगितावादी राज्यको व्यक्तिके कल्याणका एक साधन-मात्र समझने की भूल कर सकते हैं जबकि राज्य साध्य और साधन दोनों ही है। राज्य वर्तमान पीढ़ीके साथ ही साथ भावी पीढ़ियोंके कल्याणकी भी चिन्ता करता है। इस तरहसे वह स्वयं साध्य माना जा सकता है।

इन सब त्रुटियोंके होते हुए भी हम डा० अप्पादोराय (Dr. Appadorai) के इस कथनसे सहमत हैं कि यह सिद्धान्त हमें एक ऐसा नारा देता है जो शीघ्र ही लोकप्रिय हो जाता है और जो राज्यके द्वारा किये गये कार्योंको परखनेकी एक कसौटीका काम दे सकता है।

६. संगठन की आवश्यकता (Necessity of Organization)

राज्यके उपयोगितावादी औचित्यका दूसरा प्रकार उन लोगों द्वारा स्पष्ट किया गया है जो संगठनकी आवश्यकता पर बहुत अधिक जोर देते हैं। आदिम मानव संगठनका महत्त्व नहीं समझता था। उन दिनों जो भी संगठन था वह साधारण ढंगका था और बहुत कुछ प्रेरणा पर ही आधारित था। लेकिन सभ्य युगमें संगठनकी स्थापना प्रत्येक सम्भव उद्देश्यकी पूर्तिके लिए हुई है। हमने अनुभवसे यह सीखा है कि कुछ कार्योंको एक व्यक्तिकी अपेक्षा समूह अच्छी तरह कर सकता है। व्यवसाय के लिए, सुखको बढ़ानेके लिए, कला, विज्ञान और धर्मके विकासके लिए एवं युद्ध और शान्तिके लिए हम संगठन करते हैं। हम शान्तिको शक्तिपूर्वक स्थापित करनेके लिए भी संगठित होते हैं। आधुनिक समाजमें संगठनोंकी संख्या अत्यधिक

है परन्तु राज्य इन सबमें सर्वश्रेष्ठ, महत्त्वपूर्ण और व्यापक है। यह एक ऐसा संगठन है जो अन्य सभी संगठनोंको अपने अधीन कर लेता है और जो अन्य संगठनों को सहायता देता है। ऐसे संगठनको अपने उद्देश्योंकी प्राप्तिके लिए कुछ नियम और क़ानूनोंकी आवश्यकता होती है। साथ ही अपनी इच्छाओंको कार्य रूप देने के लिए उसे पर्याप्त भौतिक शक्तिकी आवश्यकता होती है।

आलोचना.

यद्यपि इस सिद्धान्तके विरूद्ध हमें कोई आपत्ति नहीं है फिर भी उपयोगितावादी सिद्धान्तकी आलोचनाएँ इसके लिए भी लागू होती हैं।

अरस्तू के समयसे ही यह स्पष्ट करनेकी कोशिश की गई है कि मनुष्यमें एक स्वाभाविक राजनीतिक प्रवृत्ति होती है और शासनके अधीन मनुष्य स्वभावतः रहता है। यह कहा गया है कि मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है।

आलोचना.

७. मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण (The Psychological View)

(१) यदि यह बात मान ली जाय तो भी इस तथ्यका समाधान कैसे होगा कि समाजमें ऐसे व्यक्ति भी हैं जो यह नहीं मानते कि उनके अन्दर कोई प्रवृत्तिमूलक सामाजिक या राजनीतिक भावना मौजूद है। एस्किमो लोगों (Eskimoes) के इतिहासको आधार मानने पर तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि राज्य एक सार्वभौम आवश्यकता कभी नहीं रहा—क्योंकि एस्किमो लोगोंका एक समाज तो है पर उनका कोई राज्य नहीं है।

(२) केवल यह कहना ही काफी नहीं है कि राज्यकी उत्पत्ति मानव प्रवृत्तिसे हुई है। यह ज़रूरी नहीं है कि जो कुछ भी किसी प्रेरणासे उत्पन्न हुआ है वह कल्याणकारी है और बनाये रखने योग्य है। जैसा कि विलोबी (Willoughby) ने कहा है: राजनीति-शास्त्रमें हमारे सामने यह समस्या है कि मनुष्य द्वारा व्यवहृत राजनीतिक सत्ताका औचित्य कैसे सिद्ध करें और मनुष्यकी वैयक्तिक स्वतंत्रतासे उसका सामंजस्य कैसे करें। इस समस्याको सुलझानेमें मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण हमारी कोई सहायता नहीं करता क्योंकि इसमें यह स्पष्ट नहीं है कि राजनीतिक सत्ताका प्रयोग कैसे तथा किसके द्वारा हो और वैयक्तिक स्वतंत्रताके साथ उसका समन्वय कैसे हो।

८. आदर्शवादी दृष्टिकोण (The Idealistic View)

आदर्शवादी सिद्धान्त सबसे अधिक सन्तोषप्रद जान पड़ता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार राज्यकी आज्ञा मानना इसलिए उचित है कि राज्य हमारे सर्वश्रेष्ठ आन्तरिक गुणोंका प्रतीक है। राज्य न तो व्यक्तिका शत्रु है और न वह एक तटस्थ पर्यवेक्षक ही है। वह तो व्यक्तिका सच्चा मित्र है। राज्यकी इच्छा मानकर हम अपनी उन इच्छाओंका पालन करते हैं जो स्वार्थ रहित

तथा परिष्कृत हो चुकी होती हैं। अपने सच्चे रूपमें राज्य और व्यक्ति एक रूप हैं। हीगेल के शब्दोंमें 'राज्य स्वतंत्रताका यथार्थ रूप' (actualisation of freedom) या स्वतंत्रताका मूर्त रूप (embodiment of concrete freedom) है।

आदर्शवादी दृष्टिकोणसे राज्य एक नैतिक संस्था है। राज्य ऐसे स्वतंत्र सामाजिक जीवनको सम्भव बनाता है जिसके बिना मनुष्यका पूरा विकास नहीं हो सकता। राज्य हमारा ही दूसरा रूप है। यह व्यक्तिका स्वाभाविक विकास और प्रसार है। यह मनुष्यकी अपनी इच्छा और विवेकको प्रकट करनेका मौका देता है। यह नैतिक जीवनकी बाहरी परिस्थितियोंको तैयार करता है। यह 'पूरे समाजको एकता, स्थिरता और अधिकाधिक आत्म-चेतना प्रदान करता है (८१ : १४८)'। राज्य अधिकारोंका संगठन करनेवाला और सामाजिक न्यायका संरक्षक है (८१ : १४८)। अतः राज्यकी आज्ञापालन करना एक नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है।

टी० एच० ग्रीन ने इसी प्रकार राज्यकी आज्ञा मानना उचित ठहराया है। वह इस प्रचलित विश्वासका विरोध करते है कि नैतिकताका आधार मनुष्यका विवेक है और राजनीतिक अधीनताका आधार शक्ति है। उनकी यह धारणा बिल्कुल ठीक है कि नैतिकता और राजनीतिक अधीनता दोनोंका एक ही स्रोत है। वह स्रोत है कुछ व्यक्तियों द्वारा सामान्य कल्याणकी धारणाका विवेकपूर्वक विचार किया जाना। यह कल्याण व्यक्तियोंका भी कल्याण है और व्यक्ति उसे अपना कल्याण मानते भी हैं। भले ही उनमेंसे कुछ व्यक्ति किन्हीं विशेष परिस्थितियोंमें उस कल्याणकी ओर प्रेरित हों या न हों। सार्वजनिक कल्याणकी यह स्वीकृति ऐसे नियमोंके रूपमें भी प्रकट होती है जिनके द्वारा व्यक्तिगत प्रवृत्तियोंको नियंत्रणमें रखा जाता है। यह भी नैतिकता और राजनीतिक अधीनताका स्रोत है। इस नियंत्रणके अनुपातमें ही सार्वजनिक कल्याण करनेवाले कार्योंको करनेकी स्वतंत्रता मिलती है (२९ : १२४-१२५)। नैतिकता और राजनीतिक अधीनतामें दोहरी धारणाएं होती हैं (क) 'मुझे करना ही होगा यद्यपि मैं पसन्द नहीं करता' (ख) 'मुझे करना ही होगा क्योंकि यह सामान्य कल्याणके लिए है जिसमें मेरा भी कल्याण सन्निहित है', (२९ : १२४-१२५)। ग्रीन आगे कहते हैं कि केवल भय ही राज्यको आज्ञापालनका वास्तविक कारण नहीं है। नागरिक अधीनताका आधार केवल भयको मानना नागरिक और दासके भेदको मिटा देना होगा। भय पर आधारित अधीनताका अभ्यास कभी भी राजनीतिक या स्वाधीन समाजका आधार नहीं बन सकता।

आलोचना.

(१) इतना तो निस्सन्देह कहा जायगा कि उपर्युक्त विचार केवल कल्पना ही है ; क्योंकि जैसे राज्यका चित्र इसमें खींचा गया है वैसा राज्य कहीं है ही नहीं। ग्रीन की भाँति यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'क्या आधुनिक राज्यमें राजनीतिक

अधीनताको प्रजाकी इच्छा पर आधारित बताना शब्दोंके साथ खिलवाड़ करना नहीं है? (२९: १२४-१२५)।' लेकिन जैसा कि ग्रीन ने स्वयं कहा है व्यक्ति राज्यका वफ़ादार उसी हद तक बन सकता है जिस हद तक वह यह अनुभव करता है कि राज्यसे सामान्य कल्याणकी सिद्धि होती है और उसका अपना कल्याण उस सामान्य कल्याणका ही एक अभिन्न अंग है। उसकी राज्य-भक्ति तभी सच्ची और स्थायी हो सकती है जब उसके हृदयमें राज्यके प्रति वैसी ही भावना हो जैसी भावना उसके हृदयमें अपने घर और परिवारके लिए है। हम यह स्वीकार करते हैं कि अच्छेसे अच्छे राज्यमें भी इस प्रकारकी भावना कि एक आदर्श राज्य उस समयके प्रशियन हम हीगेल की तरह यह नहीं कह सकते केवल आंशिक रूपमें ही पायी जाती है। राज्यकी तरह या अन्य किसी राज्यकी तरह ही हो सकता है। फिर भी हमारा कहना है कि राज्य सार्वजनिक कल्याणकी भावनाका मूर्त्तरूप है वह चाहे जितना पूर्ण क्यों न हो। यह भावना ही राजनीतिक अधीनता का सच्चा स्रोत है।

(२) राज्यके आदर्शवादी औचित्यके विरोधी सम्भवतः यह तर्क करेंगे कि राज्यका निर्माण शक्तिसे होता है, अभ्याससे वह स्थायी बन जाता है; अथवा राजनीतिक अधीनता सामाजिक सुविधा (social expediency) के हितमें है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि राज्यकी उत्पत्ति और उसके स्थायी होनेमें स्वार्थ शक्ति और भय ने बहुत बड़ा काम किया है। परन्तु इन सबसे तभी तक अच्छे परिणाम निकले हैं जब तक कि वे स्वार्थ-रहित रहे हैं (२९: १६)। 'राज्यमें एक दबाव डालनेवाली शक्तिकी उपस्थितिने ही इस विचारधाराको बल दिया है कि राज्य दबाव डालनेवाली शक्ति (coercive power) पर आधारित है, जबकि असलियत यह है कि दबाव डालनेवाली शक्ति केवल इसलिए सर्वोपरि होती है कि उसका उपयोग राज्य द्वारा अर्थात् किसी लिखित या परम्परागत विधानके अनुसार किया जाता है (२९: १६)।'

(३) यह भी कहा जा सकता है कि यदि हम तर्कके लिए यह मान भी लें कि लोगोंकी इच्छा या सम्मति ही राज्यका आधार है तो यह आधार तो केवल लोकतंत्रीय राज्यका ही हो सकता है। जब तक लोग राज्यके विधान-निर्माण और शासन-प्रबन्धमें सक्रिय भाग न लें तब तक उनमें राज्य और सार्वजनिक हितके प्रति इस प्रकारकी भावना कैसे उत्पन्न हो सकती है। इस आलोचनामें पर्याप्त बल है और हम इसे साधारणतया ठीक माननेको विवश हैं। फिर भी हमारा विश्वास है कि जिस देशमें लोकतंत्रीय शासन न हो उसमें भी जनताकी सम्मति अप्रत्यक्ष रूपसे प्राप्त की जा सकती है बशर्ते कि उस देशमें शान्ति और व्यवस्था क़ायम है और कोई व्यापक उलट-फेर नहीं होता।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसे ध्यानमें रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राज्यकी आज्ञा मानना अपने ही उच्चतर व्यक्तित्वकी आज्ञा मानना है और

यदि किसी विशेष अवस्थामें ऐसी स्थिति न हो तो ऐसी स्थिति पैदा करनेकी कोशिश हमें बराबर करनी चाहिए।

राज्यका उद्देश्य
(The End of the State)

राज्यके उद्देश्यका विवेचन किये बिना राज्यके औचित्यका विवेचन अधूरा ही रह जाता है। इस विषय पर विचार करते समय प्रायः तात्कालिक उद्देश्य (immediate or proximate end) और अंतिम उद्देश्य (final or ultimate end) के बीच अन्तर किया जाता है। पहले प्रकारके उद्देश्यको निश्चित करना तो सरल है पर दूसरे प्रकारके उद्देश्यको समझनेके लिए हमें ज्ञानकी अपेक्षा निष्ठाकी अधिक आवश्यकता है।

यूनानी लोग राज्यका उद्देश्य आत्म-निर्भरता मानते थे। उनका कहना था कि राज्यको उन सभी बातोंका प्रबन्ध करना चाहिए जो नागरिकोंके सर्वोच्च विकास और सुखके लिए आवश्यक हैं। प्लेटो के अनुसार राज्य एक अणु-विश्व (macrocosm) है, जिसमें व्यक्तिको अपने लिए उचित स्थान मिल सकता है और व्यक्ति उन कार्योंको कर सकता है जिनके लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त है। शासकों और योद्धाओंको राज्यके अधिकतम कल्याणके लिए एकाग्रचित्तसे प्रयत्न करना चाहिए। इस उद्देश्यसे प्लेटो ने उनके लिए साम्यवादी ढंगके जीवनकी व्यवस्था की थी। प्लेटो के विचारसे राज्य एक ऐसा संगठन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक वर्गके लिए एक निश्चित स्थान है जिसे वह पूरा करता है और ऐसा करनेमें उसे सुख मिलता है।

अरस्तू का विश्वास था कि राज्यका उद्देश्य नागरिकोंमें सद्गुणोंका विकास करना है। पर वह भी यूनानके नगर राज्योंकी आत्म-निर्भरता जिसका उद्देश्य व्यक्तिको अधिकसे अधिक सुखी बनाना था पर विश्वास करते थे। अपनी पुस्तक पॉलिटिक्स (*Politics*) में उन्होने एक अध्यायमें इस विषय पर विचार किया है। उस अध्यायकी व्याख्या इस प्रकार है:

राज्यका अस्तित्व सम्पत्ति, समाज तथा सुरक्षाके लिए न होकर अच्छे जीवनके लिए है। यदि केवल जीवन ही राज्यका उद्देश्य होता तो दास और जंगली जीव भी राज्य बना लेते। पर वह ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि वह सुखी तथा स्वतंत्र जीवनसे होनेवाले लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। यदि सन्धि और अन्यायसे सुरक्षा या विनिमय और पारस्परिक सम्बन्ध ही राज्यके उद्देश्य होते तो व्यावसायिक सन्धियाँ करनेवाले सभी लोग राज्यके नागरिक हो जाते। उनके सामान्य न्यायालय नहीं होते, दूसरे राज्योंके दोषों और अन्यायोंसे उनका कोई सरोकार नहीं होता और वे नागरिकोंको उनके आदर्श रूप तक पहुँचानेका प्रयत्न नहीं करते। राज्य सद्गुणों और बुराइयों

पर भी ध्यान देता है। वह जीवन और सम्पत्तिकी रक्षाके लिए किये गये समझौते मात्रसे अधिक है।

राज्यमें केवल अन्तर्विवाह, पारस्परिक सम्बन्ध, विनिमय और सामान्य निवास स्थान ही निहित नही हैं। राज्यका अर्थ इन सबसे कहीं अधिक है और वह अर्थ है सामाजिक कल्याणकी भावना। राज्य केवल एक ऐसा समाज नहीं है जिसमें सामान्य प्रदेश हो और जिसकी स्थापना अपराधोंको रोकने और विनिमयके लिए की गयी हो। यह परिवारों और परिवार समूहोंके बीच कल्याणकी सामाजिक भावना है जिसका उद्देश्य पूर्ण और आत्म-निर्भर जीवन है। कल्याणकी यह सामाजिक भावना उन्ही लोगों में सम्भव है जो एक ही स्थानमें रहते हों और जिनमें आपसमे विवाह आदि होते हों। उसका उद्देश्य सुन्दर जीवन है और उसे प्राप्त करनेके निम्नलिखित साधन हैं—पारिवारिक सम्बन्ध, भाई चारा, सम्मिलित पूजा, मनोरंजन, इत्यादि। परिवारों और गाँवों को मिलाकर राज्य बनता है और उसका उद्देश्य होता है पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन।

इस प्रकार राजनीतिक समाजका अस्तित्व अच्छे कार्योंके लिए होता है केवल साथ रहनेके लिए नही और जो लोग ऐसे समाजके लिए सबसे अधिक योगदान देते हैं वही शासन करनेके अधिकारी हैं।

रोमवालोंने राज्यके उद्देश्य पर बहुत अधिक विचार नहीं किया। उनकी शक्ति अधिकतर रोमन साम्राज्यके निर्माणमें लगी रही। रोम पश्चिमी संसार और पश्चिमी सभ्यताका केन्द्र बन गया—इतना अधिक कि साम्राज्यके पतनके बाद भी रोमका नाम और गौरव कई सदियों तक बने रहे।

मध्य-युगमें भी राज्यके उद्देश्य पर अधिक विचार नहीं किया गया। धार्मिक लेखकोंने तो आमतौर पर राज्यको नास्तिकोसे ईसाई धर्मको बचानेका केवल एक साधन माना। एक्वाइनस (Aquinas) का विचार था कि राज्यका अस्तित्व प्रजामें शान्ति व एकताकी स्थापना और अच्छे जीवनकी वृद्धिके लिए था। राज्यका महत्त्व इस बातमें माना जाता था कि वह धार्मिक या आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे निश्चित किये गये लक्ष्योंकी प्राप्तिमें सहायक हो।

आधुनिक युगमें राज्यके उद्देश्यके बारेमें गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाना प्रारम्भ हुआ। यह उस समय हुआ जब लोगोंमें उदार विचार फैले और यह धारणा समाप्त हो गयी कि राज्य-राजाकी बपौती है। जबसे लोगोंने यह अनुभव किया कि राज्य प्रजाकी थाती है, तभीसे राज्यके उद्देश्यके बारेमें अनेक सिद्धान्तोंका विकास हुआ।

हॉब्स के अनुसार व्यवस्था और सम्पत्तिका अधिकार क़ायम रखना राज्यका उद्देश्य था। नागरिक समाज क़ायम होनेके पहले जो प्राकृतिक अवस्था थी उसके सम्बन्धमें हॉब्स का दृष्टिकोण इतना निराशापूर्ण था कि राज्य न होनेकी अपेक्षा किसी प्रकारका भी राज्य होना उन्हें अच्छा जान पड़ता था। अराजकताकी अपेक्षा निरंकुश अत्याचारी शासन उनके विचारोंमें अच्छा था। इसी प्रकार लॉक के विचारसे राज्य का उद्देश्य एक निश्चित विधान और सामान्य न्यायाधीशकी सहायतासे जीवन,

सम्पत्ति और स्वतंत्रताकी रक्षा करना है। रूसो में हम फिर इस विचारको पाते हैं कि राज्यका अस्तित्व व्यक्तिके जीवनको सुन्दर बनानेके लिए है यद्यपि वह इस बातको इसी रूपमें नही कहते। उनका विश्वास है कि राज्य केवल उपयोगी उद्देश्योंकी प्राप्ति को सुविधाजनक बनानेका साधन मात्र नहीं है बल्कि वह मनुष्यके सर्वोत्तम रूपका उच्चतम प्रकाशन है।

१. राज्यका उद्देश्य-सार्वजनिक सुख (The End as General Happiness)

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जेरेमी बेन्थम (Jeremy Bentham) ने इस विचारका प्रचार किया कि राज्यका उद्देश्य अधिकसे अधिक लोगोंकी अधिकसे अधिक सुखकी वृद्धि करना है। आज भी इस उपयोगितावादी विचार को बहुत माना जाता है। १९वीं शताब्दीके इंगलैंडमे अनेक सामाजिक और राजनीतिक सुधारोंका श्रेय इसी विचारको है। विशेष रूपसे दरिद्रोंके बारेमें बनाये गये कानून, ज़मीन सम्बन्धी क़ानून, जेल-व्यवस्था, तलाक़-क़ानून, मताधिकार और सामाजिक शिक्षाके क्षेत्रमें इस सिद्धान्तकी प्रेरणासे ही सुधार हुए। कुछ लेखकोंने 'अधिकतम सुख' के स्थान पर 'अधिकतम कल्याण' लिखा है। इस सुधारके बावजूद इस सिद्धान्तमें बहुमतके हितमें अल्पमतके हितोंके बलिदानकी आशंका है और अल्पसंख्यकोंकी योग्यताका बहुसंख्यक लोगोंकी अयोग्यता के अधीन किये जानेका भय है। समाजमें वैयक्तिक उत्कृष्टताके स्थान पर सामान्यता को इस सिद्धान्तसे बल मिलता है। इसके अतिरिक्त आनन्दके अर्थमें सुखकी परिभाषा करना बड़ा कठिन है। कोई भी दो व्यक्ति इस प्रश्न पर एकमत नही है कि सुख क्या है। इसलिए लोगोंके आनन्दकी नाप-जोख करने और सार्वजनिक सुखकी वृद्धि करने का काम राज्यको सौंपना एक असम्भव कार्य है। हर व्यक्ति यह जानता है कि उसे किस बातसे आनन्द या सुख मिलता है परन्तु यह कोई नही जानता कि सार्वजनिक आनन्दका स्वरूप क्या होगा। इसके अतिरिक्त उपयोगितावादी सिद्धान्तका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी ही है और वह समाजके जैविक-स्वरूप (organic nature) पर विचार नही करता। इन सब त्रुटियोंके बावजूद इस सिद्धान्तने सुखका मुक्त और प्रचलित अर्थोंमें प्रयोग करके अनेक मानवतावादी विधानोंके निर्माणमें योगदान दिया है। जैसा कि गिलक्राइस्ट ने कहा है: 'यह सिद्धान्त विधानोंके उद्देश्यकी एक व्यावहारिक अभिव्यक्ति है परन्तु राज्यके उद्देश्यकी पूरी अभिव्यक्तिके रूपमें यह कसौटी पर खरा नहीं उतरता (२८:४२७)।'

राज्यके उद्देश्यके बारेमें १९वीं शताब्दीमें अन्य अनेक सिद्धान्त प्रचलित हुए थे। यह व्यक्तिवादी सिद्धान्त इनमें से सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ कि राज्यका अस्तित्व केवल क़ानूनकी व्यवस्था बनाये रखनेके लिए है।[1] कुछ लेखकों

---

[1] कान्ट के विचारमें राज्यका उद्देश्य है क़ानूनको बनाये रखना और प्रत्येक सदस्यकी वैयक्तिक स्वतंत्रताकी सुरक्षा।

ने इस सिद्धान्तका विस्तार करके क़ानूनके साथ व्यवस्था और सुरक्षाको भी जोड़ दिया है। यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि हर व्यक्तिको अपने कल्याणके लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाय और राज्य उसमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप न करे। राज्यका काम तो लोगोंको वाह्य तथा आन्तरिक संकटोंसे सुरक्षित रखना है जिससे लोग शान्ति-पूर्वक रह सकें। राज्यके उद्देश्यके सम्बन्धमें यह बड़ा संकीर्ण दृष्टिकोण है। जीवन तथा सम्पत्तिकी रक्षा करना निस्सन्देह राज्यका कर्त्तव्य है परन्तु यही राज्यका एकमात्र उद्देश्य नहीं है। यह सिद्धान्त अपने व्यावहारिक रूपमें उसी स्थितिको उचित सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है जो इस समय मौजूद है और इस तरह प्रगतिका विरोध करता है। इस बातकी बहुत सम्भावना है कि यह सिद्धान्त मौजूदा हालतको ही ज्योंका त्यों क़ायम रखेगा चाहे वह हालत क़ायम रखने योग्य हो या न हो।

२. राज्यका उद्देश्य—व्यवस्था बनाये रखना (The End as Maintenance of Order)

कुछ लोगोंने प्रगतिको राज्यका उद्देश्य ठहराया है। इससे अधिक यह कुछ नहीं चाहते। यह पता नही चलता कि राज्यके उद्देश्यसे ये लोग क्या समझते हैं। यदि हमें वह लक्ष्य न मालूम हो जिस लक्ष्यकी ओर प्रगति करना है तो प्रगतिका कोई अर्थ नहीं रह जाता। प्रगति को सम्भव बनानेके लिए पहिले उद्देश्य निश्चित कर लेना आवश्यक है।

३. राज्यका उद्देश्य—प्रगति (The End as Progress)

समाजवादी विचारधारावाले कुछ लोगोंका कहना है कि राज्यका अस्तित्व इसलिए है कि वह 'उन सामाजिक सेवाओंको प्रोत्साहित करे, जिनका सम्बन्ध सामाजिक हितोंकी प्राप्तिसे है न कि केवल वाह्य आक्रमणसे व्यक्तिकी रक्षा और राज्यके नागरिकोके बीच व्यवस्था क़ायम रखनेसे (१९)।' हम देखते हैं कि 'आधुनिक राज्योंमें यह उद्देश्य दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक महत्त्व प्राप्त कर रहा है।' आधुनिक राज्य सार्वजनिक स्वास्थ्य, आचरण और आर्थिक हितोंकी सुरक्षाकी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेते हैं। इनमें से अधिकांश राज्यकी शक्तियोंका विस्तार इस प्रकार करना चाहते हैं कि उत्पादन और वितरणके साधनोंकी व्यवस्था और उनका स्वामित्व भी राज्यके अधिकारमें आ जाय (उदाहरणके लिए आजकल भारतमें प्रचलित कल्याणकारी राज्य (welfare state) का आदर्श)। इस सिद्धान्तकी मुख्य आलोचना यह है कि यह राज्यके कार्योंकी सीमाका सिद्धान्त है, राज्यके उद्देश्यका नहीं।

४. राज्यका उद्देश्य—सामाजिक सेवा (The End as Social Service)

आजकलके बहुतसे लेखक न्यायको ही राज्यका उद्देश्य मानते हैं। ये लेखक प्रायः आदर्शवादी हैं। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि सभी आदर्शवादी लेखक न्यायको ही राजनीतिक उद्देश्यके रूपमें स्वीकार करते है। हेर्दरिंगटन एवं

५. राज्यका उद्देश्य—न्याय (The End as Justice)

म्योरहेड (Hetherington and Muirhead) ने अपनी पुस्तक *Social Purpose* में यह मत प्रकट किया है कि राज्यका प्रधान कर्त्तव्य सदैव न्यायका संगठन ही रहा है। न्याय की व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है: 'जीवनकी एक ऐसी व्यवस्था जिसमें मनुष्यके व्यक्तित्व और आदर्शोंकी पूरी-पूरी प्राप्ति हो सके।' उन्होंने आगे फिर लिखा है: 'राज्य अपने मौलिक रूपमें लोगोंके अच्छे जीवन सम्बन्धी विचारोंकी अभिव्यक्ति है। इस व्यापक अर्थमें हम फिर भी यह कह सकते हैं कि राज्यका उद्देश्य न्यायका संगठन ही है और इसलिए राज्य मुख्यतः एक नैतिक संस्था है (८१ : १४६)।'

हम साधारणतः यह माननेको तैयार हैं कि राज्यका उद्देश्य नैतिक है परन्तु हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि न्यायको ही राजनीतिक उद्देश्य मानना एक बहुत संकीर्ण विचार है। हेदरिंगटन एवं म्योरहेड ने 'न्याय' शब्दका प्रयोग इतने व्यापक रूपमें किया है कि समूची नैतिक धारणा उसके अन्तर्गत आ गई है परन्तु 'न्याय' शब्द का आमतौर पर यह अर्थ नहीं माना जाता और फिर जैसा कि गिलक्राइस्ट ने कहा है: न्याय एक ऐसी स्थिति है जो वास्तविक सच्चे उद्देश्यकी पूर्ति पर निर्भर करती है। पूर्ण न्यायके लिए पूर्ण ज्ञान जरूरी है और यह केवल ईश्वर को ही प्राप्त है (२८ : ४७)।

राज्य साध्य है या साधन (Is the State an End or Means)? राज्यके उद्देश्यके सम्बन्धमें और भी अनेक सिद्धान्त है, उन सबका विवेचन करना जरूरी नहीं है। एक प्रश्न जिस पर आधुनिक लेखकोंका बहुत ध्यान गया है यह है—'राज्य अपने आपमें एक साध्य है या वह केवल साधन है?' पुराने लोग, विशेषकर यूनानी, राज्यको मानव जीवनकी सर्वोच्च सफलता और अपने आपमें एक उद्देश्य मानते थे। आजकल व्यक्ति और राज्यमें जो अन्तर माना जाता है वह उन्हें ज्ञात न था क्योंकि जिन परिस्थितियोंमें वे रहते थे वह हमारी आजकी परिस्थितियोंसे बिल्कुल भिन्न थीं। आधुनिक कालमें हीगेल ने यह सिद्धान्त पुनर्जीवित किया कि राज्य स्वयं एक उद्देश्य है। उन्होंने व्यक्तिकी इच्छाको राज्य की इच्छाके साथ एकरूप बना दिया। इस सिद्धान्तका परिणाम फ़ासिस्टवाद (Fascism) है। इटली के लेबर चार्टरकी पहली धारा इस प्रकार है—'इटालियन राष्ट्र एक संगठन है, जिसके अपने उद्देश्य, अपना जीवन और अपने साधन हैं, जो शक्ति और स्थायित्वमें उन व्यक्तियों अथवा व्यक्ति समूहोंसे श्रेष्ठ है जिनको मिला कर राष्ट्र बनता है। राष्ट्र एक नैतिक, राजनीतिक और आर्थिक इकाई है जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति फ़ासिस्ट अवस्था में होती है।'

व्यक्तिवादी सिद्धान्त इस तरहकी पूर्ण निरंकुशताके विरुद्ध है। अधिकांश व्यक्तिवादियोंके विचारसे राज्य जनताकी अधिकतम संख्याके कल्याणका एक साधन है। इस विचारके विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि राज्य किसी विशेष पीढ़ी

का ही कल्याण करनेकी चिन्ता नहीं करता—वह तो भावी पीढ़ियोंके कल्याणका भी ध्यान रखता है और इस तरह इस लक्ष्यकी प्राप्तिमें राज्य नागरिकोके ऊपर एक बहुत बड़ा भार लाद देता है। यह स्पष्ट है कि व्यक्तिका कल्याण ही राज्यका एकमात्र उद्देश्य नहीं है।

राज्य और व्यक्तिमें साध्य और साधनका सम्बन्ध बतलाना इन दोनों शब्दोंकी प्रकृतिको ग़लत समझना है। ये दोनों आपसमें इतने घनिष्ठ रूपसे सम्बन्धित है कि हम यह कह सकते हैं: अपनी निम्नतर स्थितिमें राज्य और व्यक्ति इस लक्ष्यके साधन हैं कि राज्य और व्यक्ति दोनों ही की स्थिति उच्चतर हो सके। दोनों ही एक साथ एक ही लक्ष्यकी ओर चलते हैं।

इस कारण आजकल यह एक सर्वमान्य धारणा है कि राज्य साध्य भी है और साधन भी। विलोबी (Willoughby) ने अपनी पुस्तक 'राज्यका स्वरूप' (*The Nature of the State*) में लिखा है कि यदि हम राज्य पर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से ही विचार करें तो राज्य एक साधनमात्र—एक यंत्र ही प्रतीत होगा जिसके द्वारा मानवता का सर्वाधिक विकास होता है। परन्तु यदि राज्यका एक ऐसी संस्थाके रूपमें अध्ययन करें जिसकी सत्ता उसमें रहनेवाले नागरिकोंसे अलग हो, तो राज्य स्वयं एक साध्य बन जाता है (८१ : ७०)। ब्लंश्ली ने राज्यके दोहरे स्वरूपको बहुत सुन्दर रूपसे इस प्रकार स्पष्ट किया है: 'एक चित्र किसी चित्रकारके जीवकोपार्जनका साधन होता है, उसके साथ ही सच्ची कलाकृति कलाकारके उच्चतर प्रयत्नोंका लक्ष्य भी होती है। उस कलाके द्वारा वह अपनी भावनाओंकी सजीव अभिव्यक्ति करता है—उसे उसमें अपना आदर्श दिखाई देता है। इस तरह उसकी वह कला स्वयं एक साध्य बन जाती है।' ठीक इसी प्रकार राज्य व्यक्तिके कल्याणका साधन भी है और स्वयं एक साध्य भी क्योंकि राज्यका उद्देश्य किसी एक पीढ़ीके व्यक्तियों या समुदायोंके कल्याणसे भिन्न होता है।

राज्यके उद्देश्योंका विवेचन करते समय यह उचित होगा कि हम उसके विशिष्ट या मौलिक (general or fundamental) उद्देश्य एवं उसके दूरस्थ या चरम (ultimate or remote) उद्देश्यों तथा तात्कालिक या आसन्न (immediate or proximate) उद्देश्योंके अन्तरको अच्छी तरह समझ लें। हॉल्जेनडॉर्फ़ (Holtzendorff) ने राज्यके व्यावहारिक एवं आदर्श उद्देश्योंके बीच भेद बतलाने की चेष्टा की है। उनके अनुसार राज्यको सबसे पहले अन्य राज्यों तथा अपने निवासियों और निवासियोके समूहोंकी अपेक्षा अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिए, राज्य का दूसरा कर्त्तव्य व्यक्तिकी स्वतंत्रताकी रक्षा करना है। इस कार्यकी पूर्तिके लिए राज्यको व्यक्तिका कार्यक्षेत्र निश्चित कर देना चाहिए जिससे वह अपना विकास सरकार या अन्य व्यक्तियोके हस्तक्षेपसे स्वतंत्र होकर कर सके। राज्यका अन्तिम कर्त्तव्य राज्यमें शान्ति और व्यवस्था क़ायम करना, प्रजाको शिक्षित करना एवं सर्वसाधारणका कल्याण करना है।

ब्लंश्ली के अनुसार राज्यका उद्देश्य यह है: 'राष्ट्रीय शक्तिका विकास, राष्ट्रीय जीवनकी पूर्णता तथा उसकी कार्यरूपमें परिणति। लेकिन राजनीतिक तथा आत्मिक विकासका तरीका मानवताके लक्ष्यके विरुद्ध नहीं होना चाहिए।' इस कथनसे यह स्पष्ट है कि राज्यका तात्कालिक उद्देश्य राष्ट्रीय शक्तिको बनाये रखना और उसका विकास करना है एवं उसका अन्तिम उद्देश्य मानवता है। यह एक मजेदार बात है कि प्रथम और द्वितीय महायुद्धके समय राष्ट्रीय विचारधाराकी अपेक्षा मानवतावादी विचारों ने लोगोंको अधिक प्रभावित किया। ब्लंश्ली ने अपनी परिभाषाके प्रथमांश में जिस राष्ट्रीयताका जिक्र किया है उससे वही कठिनाइयाँ सामने आती हैं जो व्यक्तिवादी दृष्टिकोणको अपनानेसे होती हैं। इन दोनों ही विचारधाराओंमें समाजके हितोंको हानि पहुँचानेवाले स्वार्थका विकास होता है। जैसाकि गिलक्राइस्ट ने कहा है: 'आजकल हम राष्ट्रीय सीमाओंका उल्लंघन कर एक आदर्शकी खोजमें आगे बढ़ रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीयतावादी विचार क्रमशः राष्ट्रीयतावादी विचारोंका स्थान ले रहे हैं (२८ : ४३०)।'

अमेरिकाके एक आधुनिक लेखक बर्गेस (Burgess) ने राज्यके प्रारम्भिक, माध्यमिक और अन्तिम उद्देश्योंका विवेचन किया है और इन सबको क्रमशः एक दूसरेकी पूर्तिका साधन माना है। बर्गेस के कथनानुसार राज्यका तात्कालिक उद्देश्य शासन एवं स्वतंत्रता है। राज्यका प्रारम्भिक और मुख्य कर्त्तव्य अपनी एवं अपने सदस्योंकी रक्षा है परन्तु जब यह उद्देश्य पूरा हो जाता है और लोग क़ानूनके अन्तर्गत रहकर जीवन बितानेके आदी हो जाते हैं तभी राज्यको वैयक्तिक स्वतंत्रताके क्षेत्रको सुनिश्चित कर देना चाहिए और हर तरहके हस्तक्षेपोंसे उसको बचाना चाहिए एवं समय-समय पर उसका विकास करते रहना चाहिए। इसी उद्देश्यसे विकसित माध्यमिक उद्देश्य राष्ट्रीयताकी पूर्ति तथा राष्ट्रीय प्रतिभाका विकास है। इस उद्देश्यकी पूर्तिका सर्वोत्तम साधन नैसर्गिक, भौतिक और जातीय आधारों पर स्थापित राज्य है। राज्यका अन्तिम उद्देश्य मानवताकी पूर्णता या संसारमें सभ्यताका विकास है।

इस सिद्धान्तकी आलोचना करते हुए गार्नर लिखते हैं, 'यहां भी साध्य और साधनके भेदको भुला दिया गया है। उदाहरणके लिए, यह समझना कठिन है कि सरकारके संगठनको लक्ष्यकी पूर्तिका साधन माननेके बजाय, स्वयं एक उद्देश्य क्यों न माना जाय (२३ : ७३)' गार्नर राज्यके उद्देश्योंको तीन भागोंमें बाँटते हैं—व्यक्तिके कल्याणका विकास, व्यक्तिके सामूहिक हितोंका विकास एवं संसारमें सभ्यता की प्रगति।

Select Readings

Garner, J. W.—*Introduction to Political Science*—Chs. IX & X.
Garner, J. W.—*Political Science and Government*—pp. 69-74.
Gettell, R.G.—*Introduction to Political Science*—pp. 377-379.
Gilchrist, R.N.—*Principles of Political Science*—pp. 424-431.

GODWIN, W.—*An Enquiry Concerning Political Justice.*
STEPHEN, L.—*English Thought in the Eighteenth Century*—Vol II.
WILDE, N.—*The Ethical Basis of the State*—Ch. VII.
WILSON, W.—*The State*—Ch. 15 & 16.
WILLOUGHBY, W. W.—*Nature of the State*—Ch. 12.

७

राज्य का उचित कार्य-क्षेत्र

(The Proper Sphere of State Action)

राज्यके उचित कार्य-क्षेत्रका प्रश्न राजनीतिक चिन्तनके प्रारम्भिक दिनोंमें इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था, जितना आजकल है। यूनानियोंके लिए अच्छे जीवनका अर्थ था 'नगर-राज्य' (polis) के भीतर स्वतंत्रता। व्यक्तिके कल्याण तथा राज्यके कल्याणमें वे कोई अन्तर नहीं समझते थे। कभी-कभी व्यक्ति और राज्यके बीच संघर्षके उदाहरण भी मिलते थे, जैसे सुकरातके मामलेमें, पर प्रचलित विश्वास यही था कि राज्यके कार्य-क्षेत्रमें वे सब बातें आ जाती थीं जिनका सम्बन्ध व्यक्तिके जीवन और उसके उच्चतम विकाससे था।

राजनीतिक विचारकोंने राज्यके उचित कार्य-क्षेत्रके प्रश्नको न तो रोमन युगमें और न उसके बादकी अव्यवस्थित परिस्थितियोंमें ही अधिक महत्त्वका समझा। मध्य-युगमें चर्च या धर्मसंघ और राज्यके बीच होनेवाले लम्बे और कटु संघर्षमें अन्तमें नवीन राष्ट्रोंको विजय मिली। राष्ट्रीय राज्योंका उदय मध्य-युगके अन्तमें हुआ। फूट डालनेवाली सामन्तवादी व्यवस्थाको समाप्त करके राजाओं ने जल्दी ही अपनी स्थिति मज़बूत करली और अपनी-अपनी प्रजा पर अपना निरंकुश शासन क़ायम किया। कुछ प्रोटेस्टेन्ट सुधारकोंके दैवी-अधिकार सिद्धान्तकी शिक्षाने इस निरंकुशताको उचित ठहराया। इसी समयसे आगेके लिए शासकों और शासितोंके हितोंमें एक तीव्र संघर्ष प्रारम्भ हो गया। जनताने इसके विरुद्ध एक संघर्ष छेड़ दिया जिसके दौरानमें प्राकृतिक-विधान (natural law) के सिद्धान्तने बहुत महत्त्वपूर्ण योग दिया।

जॉन लॉक (सत्रहवीं शताब्दी) इस आन्दोलनके दार्शनिक थे। उन्होंने कहा कि राज्यके कार्य-क्षेत्रकी सीमाएँ व्यक्तिके प्राकृतिक और जन्मजात अधिकारों द्वारा निर्धारित होती हैं। अठारहवीं शताब्दीमें यह सिद्धान्त सर्वमान्य रहा और उन्नीसवीं शताब्दीके हस्तक्षेप न करनेके (*laissez faire*) सिद्धान्तका इसे दार्शनिक आधार बनाया गया। यह सिद्धान्त आधुनिक युग तक किसी न किसी रूपमें चला आ रहा है। स्पेंसर ने अपने 'मनुष्य बनाम राज्य' (*Man Versus the State*) वाक्यांशमें जो भावना व्यक्त की थी वह आज समाप्त हो चुकी है और अब समुदाय बनाम राज्यकी भावना उसका स्थान ले रही है।

१. व्यक्तिवादी सिद्धान्त (The Individualistic Theory)

अठारहवीं शताब्दीके पहले राज्य द्वारा व्यक्तिके मामलोंमें जो हस्तक्षेप होता था उसीकी प्रतिक्रिया स्वरूप ही 'हस्तक्षेप न करने' (*laissez faire*) के सिद्धान्तका उदय हुआ। उदाहरणके तौर पर उस समय ऐसे भी क़ानून थे जिनमें निश्चित कर दिया गया था कि विशेष दिनोंमें लोग किस प्रकारका भोजन करें और मुर्दोंको किस प्रकारके कपड़ोंमें दफनाया जाय। व्यापारकी स्वतंत्रता पर भी अनुचित बन्धन लगे हुए थे। अठारहवीं शताब्दीमें औद्योगिक क्रान्ति होने पर इस प्रकारके सभी राजकीय कार्योंका बिल्कुल नापसन्द किया जाना अवश्यम्भावी हो गया। जनताके आर्थिक जीवनमें क्रान्ति करनेवाले नये आविष्कार हुए। वस्तुओंका उत्पादन बहुत बड़े पैमाने पर होने लगा और इन वस्तुओंको बेचनेके लिए नये-नये बाज़ारों पर अधिकार किया जाने लगा। ऐसी परिस्थितियोंमें उद्यमी, उत्साही और मौलिक प्रतिभावाले लोगोंकी यह मांग स्वाभाविक थी कि जहाँ तक सम्भव हो उन्हें स्वतंत्र होकर काम करनेका अधिकार मिले जिससे वह अपनी शक्तियोंका उपयोग अधिकसे अधिक लाभके लिए कर सकें। अठारहवीं शताब्दीके व्यक्तिवादका नारा था: 'संसार जैसा चलता है चलने दो, उसके कार्योंमें हस्तक्षेप मत करो क्योंकि वह अपना नियंत्रण स्वयं कर लेता है।'

इस पृष्ठभूमिको ध्यानमें रखते हुए इसमें कोई आश्चर्य नहीं जान पड़ता कि व्यक्तिवाद राज्यको एक बुराई मानता है। यह बुराई मनुष्यकी स्वार्थ-परता और लुटेरेपनके कारण आवश्यक हो गयी है। इसके बने रहनेका कारण मनुष्यकी कमज़ोरी है। व्यक्तिवाद मानता है कि यदि राज्यकी नियामक शक्ति न हो तो सामाजिक शान्ति और व्यवस्था नहीं रह सकती। इसलिए राज्यको व्यक्तिकी सुरक्षा पर पूरा ध्यान देना चाहिए। परन्तु व्यक्तिका कल्याण राज्यके कार्य-क्षेत्रके बाहर है। राज्यका मुख्य काम है हिंसा और जाल-फ़रेबको रोकना। व्यक्तिवाद व्यक्तिको अधिकसे अधिक स्वतंत्रता तथा राज्यके कमसे कम हस्तक्षेपके पक्षमें है। उसका कहना है कि यदि राज्य स्वयं अपनी रक्षाके लिए व्यक्तिकी स्वतंत्रतामें दखल देता है तो वह अपनी सीमाके अन्दर ही काम करता है। परन्तु जहाँ केवल व्यक्तिके हितका ही प्रश्न हो वहाँ राज्यको हस्तक्षेप करनेका कोई अधिकार नहीं है। जे० एस० मिल (J. S. Mill) के शब्दोंमें 'व्यक्तिका अपने ऊपर, अपने शरीर और मस्तिष्कके ऊपर पूर्ण अधिकार है।'

सभी व्यक्तिवादी इस बात पर एकमत नही हैं कि राज्यके उचित कार्य क्या हैं। स्पेंसर जैसे उग्र व्यक्तिवादी राज्यके कार्य-क्षेत्रको निम्नलिखित विभागों तक ही सीमित रखते हैं:

(क) बाहरी शत्रुओंसे व्यक्तिकी रक्षा करना;

(ख) घरेलू शत्रुओंसे व्यक्तिकी रक्षा करना; और

(ग) क़ानूनी तौर पर किये गये अनुबन्धों (contracts) का लागू करना।

नरम विचारके व्यक्तिवादी इससे बहुत आगे जानेको तैयार हैं। उनके विचारसे राज्यका जो कार्य-क्षेत्र है उसे गिलक्राइस्ट ने इस प्रकार व्यक्त किया है:

(१) बाहरी आक्रमणोंसे राज्य और व्यक्तिकी रक्षा करना,

(२) व्यक्तियोंकी एक दूसरेके विरुद्ध रक्षा करना अर्थात् शारीरिक आघात, निन्दा और शारीरिक बन्धनसे रक्षा करना,

(३) चोरी, डकैती या अन्य प्रकारकी हानिसे सम्पत्तिकी रक्षा करना,

(४) अवैध अनुबन्धों या अनुबन्धोंके भंग किये जानेसे व्यक्तिकी रक्षा करना,

(५) असमर्थ व्यक्तियोंकी रक्षा करना,

(६) प्लेग, मलेरिया, जैसी निवारणीय (preventable) बीमारियोंसे व्यक्तियोंकी रक्षा करना (२८ : ३९७-९८)।

व्यक्तिवादी अपने विचारोंका निम्नलिखित तीन दृष्टिकोणोंसे समर्थन करते हैं: नैतिक, आर्थिक और वैज्ञानिक।

१. नैतिक तर्क (The Ethical Argument)

यह माना जाता है कि चरित्रके विकासके लिए काम करनेकी स्वतंत्रता (freedom of action) अनिवार्य है। इस स्वतंत्रताके बिना मनुष्य एक स्वयं-चालित यंत्र मात्र रह जाता है। जीवनको सार्थक बनानेवाली और आनन्द देनेवाली जो बात है वह यह कि हमें अपने जीवनको अपने आदर्शोंके अनुकूल बनानेकी स्वतंत्रता हो। व्यक्तिका उच्चतम विकास तभी सम्भव है जब उसे आत्मनिर्भर बननेका अवसर मिले। जब व्यक्तिको स्वयं अपने ही पैरों पर खड़ा होना होता है, तब उसे अपने उत्साह, अध्यवसाय और मौलिकताकी शक्तियोंका प्रयोग करनेके लिए प्रत्यक्ष प्रेरणा मिलती है। यदि उसमें वास्तवमें कोई अन्तर्निहित योग्यता (intrinsic worth) है तो उसकी अभिव्यक्तिके लिए उसे अवसर मिल जाता है।

सरकारका हस्तक्षेप एक हद तक उचित है। पर उससे आगे बढ़ने पर वह व्यक्ति को दबा देता है। अतिशासन (over-government) व्यक्तिकी उद्योगशीलताको समाप्त कर देता है और व्यक्ति आत्मनिर्भरताके बजाय सरकार पर आश्रित होना सीख जाता है। इससे याचक मनोवृत्ति (pauper mentality) बढ़ती है, क्योंकि व्यक्तिको आलसी बननेका अवसर मिलता है क्योंकि जो काम उसे स्वयं करना चाहिए उसको दूसरोंके द्वारा किये जानेकी आशा करता है। अपनी प्रतिभाका विकास करनेके लिए उसे कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता। परिणाम स्वरूप व्यक्ति और समाज दोनोंकी ही हानि होती है। अतिशासन न केवल स्वावलम्बनकी शक्तिको नष्ट कर देता है बल्कि वह समाजको अकर्मण्य कर देता है। लोग एक ही सांचेमें ढल जाते हैं और एक खास तरहके ही व्यक्ति बन जानेको ही महत्ता दी जाने लगती है। एक ही साँचेमें ढलनेसे इनकार करना (non-conformity) बड़ा भारी अपराध माना जाता है समाज

का विकास रुक जाता है और हर प्रकारकी नवीनताको गहरी शंकाकी दृष्टिसे देखा जाता है। इसलिए यह दलील दी जाती है कि यदि व्यक्तिकी शक्तियोंका अधिकसे अधिक विकास करना है तो राज्यका कार्य-क्षेत्र बहुत ही सीमित होना चाहिए। सरकारको, अनुबन्धोंको लागू करने, शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने और अपराधों के लिए दण्ड देनेके अलावा, और अधिक कुछ नहीं करना चाहिए।

२. आर्थिक तर्क (The Economic Argument)

आर्थिक दृष्टिकोणसे व्यक्तिवादकी रायमें हर मनुष्य स्वार्थ-परायण है और अपने हितोंको वह सबसे अच्छी तरह जानता है। इसलिए यदि हर मनुष्य पूरी तरह स्वतंत्र छोड़ दिया जाय तो वह अपने अवसरोंका अच्छे से अच्छा उपयोग करेगा और परोक्ष रूपमें अपना स्वार्थ सिद्ध करते हुए अप्रत्यक्ष रूपमें समाजका भी हित करेगा। इस प्रकार यदि पूंजीपतिको स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो वह अपने चारों ओर इस बातकी खोज करेगा कि वह अपनी पूंजी कहां पर लगाये जिससे उसे ज्यादासे ज्यादा लाभ हो सके। इसी प्रकार मज़दूर भी अपने चारों ओर इस बातकी खोज करेगा कि कहां पर उसे अधिकसे अधिक सुविधाजनक मज़दूरीकी शर्तें मिल सकती हैं और वह वही मजदूरी करेगा। इस प्रकार स्वतन्त्र प्रतियोगिता, मांग और पूर्तिके सिद्धान्तका बन्धनहीन व्यवहार समाजके आर्थिक स्वार्थोंके लिए हितकर है। कीमत, वेतन, किराया और ब्याज पर किसी प्रकारका नियंत्रण नहीं लगाना चाहिए। ताकि वह स्वयं अपने आपको तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियोंके अनुकूल बना ले। इसी प्रकार विदेशी व्यापारको भी खुली छूट देनी चाहिए। छोटे-छोटे प्रारम्भिक व्यवसायोंको ऊँचे आयात-निर्यात करों और सरकारी सहायता आदिके द्वारा कृत्रिम सहायता देना कम करना चाहिए। बाजारको खुला और स्वतन्त्र रखने तथा धोखा-धड़ी और जालसाजी आदिको रोकने के अलावा आर्थिक क्षेत्रमें सरकारको बहुत कम काम करना होता है।

३. वैज्ञानिक-तर्क (The Scientific Argument)

जीव-विज्ञानके अनुसार जीवन-संघर्ष (struggle for existence) में योग्यतम ही बच पाता है (survival of the fittest)। यह कहा जाता है कि व्यक्तिवाद इस नियमसे पूरी तरह सामंजस्य रखता है। हरबर्ट स्पेंसर इस तर्कके प्रधान व्याख्याता हैं। उनका कहना है कि जीवन संघर्ष और योग्यतम की विजयके नियमसे ही निम्न कोटिके जीवोंका विकास हुआ है और यदि मनुष्य जातिको सबल, समर्थ और क्रियाशील बनाना है तो इसी नियमको मनुष्योंमें भी काम करने देना चाहिए। विकास और प्रगतिका स्वाभाविक मार्ग यह है कि ग़रीब, कमज़ोर और अयोग्य व्यक्ति विलीन हो जायँ। यद्यपि इससे कुछ व्यक्तियोंके साथ अन्याय होता है पर समाजका हित इसीमें है। स्पेंसर के ही शब्दोंमें 'समूची प्रकृतिमें हम एक कठोर अनुशासनको क्रियाशील पाते हैं। यद्यपि इस अनुशासनमें निर्दयता है फिर भी यह निर्दयता एक तरहकी दयाशीलता ही है। निम्न कोटिकी सृष्टिमें जो

सर्वव्यापी युद्ध चल रहा है और जिससे अनेक व्यक्ति चकित रह जाते हैं वह वास्तव में परिस्थितियोंको देखते हुए सबसे अधिक दयापूर्ण व्यवस्था है (७४:३२२)।' स्पेंसर के अनुसार इन बातोंका निष्कर्ष यह है कि यदि व्यक्तियोंको स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो समर्थ और योग्य लोग बच रहेंगे और असमर्थ तथा अयोग्य समाप्त हो जायंगे। इसका अर्थ यह होता है कि राज्यको केवल वही काम करने चाहिए जिनका लक्ष्य 'निषेधात्मक नियंत्रण' (negatively regulative) हो। राज्यको सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, उद्यान, सार्वजनिक पुस्तकालय, तथा ग़रीबोंकी सहायता, डाकखानों की व्यवस्था, मुद्रा चालू करना आदि कार्योंको नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करना प्रकृतिकी व्यवस्था (wise provision of nature) में हस्तक्षेप करना है।

४. व्यावहारिक कारण (Practical Reasons)

व्यक्तिवादके समर्थक उपर्युक्त सैद्धान्तिक तर्कोंके अलावा कुछ व्यावहारिक कारण भी बताते है। यह कहा जाता है कि जब सरकार बहुत-से काम करनेकी कोशिश करती है तो वह उन्हें बुरी तरहसे करती है, जिसका नतीजा यह होता है कि काममें बहुत देरी और रुपयोंकी बर्बादी होती है। बहुत-सा ज़रूरी काम किया ही नहीं जाता। अनुभव बतलाता है कि सरकारी हस्तक्षेपका नतीजा बहुत ही बुरा होता है। अनेक मामलोंमें व्यक्तिगत व्यवस्था और नियंत्रणकी अपेक्षा सरकारी व्यवस्था और नियंत्रणमें अधिक असफलताएं होती हैं और इससे स्वार्थपरता तथा भ्रष्टाचार बढ़ जाता है। सरकारें क़ानूनोंको बनाती हैं और फिर उन्हें रद्द कर देती हैं। स्पेंसर का कहना है कि इससे यह बात सिद्ध होती है कि इनमें से अनेक क़ानून कभी बनाये ही नहीं जाने चाहिए थे।

इसके अलावा क़ानूनके लागू किये जानेसे बहुधा जनताको कष्ट होता है। इस कष्टका कारण या तो सरकारी हस्तक्षेपके विरुद्ध मनुष्यकी स्वाभाविक अरुचि होती है या यह कि क़ानून स्वयं बुरा होता है।

आलोचना.

व्यक्तिवादी सिद्धान्तमें एक महत्त्वपूर्ण सत्य छिपा हुआ है पर उसमें उस सत्य को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया है। यह सिद्धान्त मनुष्यके सामाजिक जीवनके एक पहलू पर इतना अधिक ज़ोर देता है कि दूसरा पहलू बिल्कुल भुला ही देता है। इसमें निम्नकोटिके क़ानूनों और हस्तक्षेपकारी विधानोंके विरुद्ध आवश्यकतासे अधिक कहा गया है। इसके पक्षमें दिये गये ऊपरके तर्क निश्चित रूपसे एक-पक्षीय और कुछ हद तक असत्य भी हैं।

व्यक्तिवादियोंके इस विचारसे तो सभी सहमत होंगे कि आत्मनिर्भरता सबसे अच्छी सहायता है जो व्यक्तिको मिल सकती है और सरकारकी नीति ऐसी होनी चाहिए कि हर मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सके। परन्तु इसका मतलब यह नहीं

है कि राज्य केवल सुरक्षाकी व्यवस्था करे और अपराधोंका दमन करे। आधुनिक सभ्यताने व्यक्तिके लिए यह असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य बना दिया है कि वह अपनी सभी शक्तियोंका सामंजस्य-पूर्ण विकास कर सके। आजकलके जीवनमें अनेक ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं जिन पर व्यक्ति अकेले क़ाबू नहीं पा सकता और उसे राज्यकी सहायताकी जरूरत पड़ती है। राजकीय कार्य-क्षेत्रका विस्तार किये बिना अधिकांश लोगोंके लिए अपना पूर्ण विकास करना सम्भव नहीं है। विशुद्ध व्यक्तिवाद प्रतिभाशाली व्यक्तियोंका निर्माण करनेकी अपेक्षा व्यक्तित्वहीन मनुष्योंका निर्माण करता है। बोसांके के शब्दोंमें: 'आलोचना-रहित व्यक्तिवाद (uncriticized individualism) के अन्ध समष्टिवाद (uncritical collectivism) में बदल जाने का खतरा हमेशा रहता है।'

व्यक्तिवादका आधार ही कमज़ोर है। यह मनुष्यको मौलिक रूपमें स्वार्थी मानता है। इसका आधार वह सुखवादी सिद्धान्त (hedonistic theory) है जिसे बहुत पहले ही असत्य सिद्ध किया जा चुका है। मनुष्य केवल अपना ही भला नहीं चाहता बल्कि वह दूसरोंकी भलाई भी चाहता है। हर व्यक्तिमें स्वार्थ और परमार्थ की भावना विभिन्न परिमाणोंमें पायी जाती है। अतः मानव स्वभावके केवल एक पक्षके आधार पर ही राज्यके कार्य-क्षेत्रके बारेमें कोई सिद्धान्त बनाना उचित नहीं है। व्यक्तिगत कल्याण और पारस्परिक कल्याण परस्पर विरोधी नहीं हैं वह एक दूसरे पर आश्रित हैं। एच० जी० वेल्स (H. G. Wells) का यह कहना ग़लत नहीं है कि 'स्वार्थ किसी भी व्यक्ति या देशको निन्दनीय पतनके अतिरिक्त किसी दूसरे परिणाम पर कभी नहीं ले गया है।'

व्यक्तिवादकी एक मान्यता यह है कि हर मनुष्य अपना हित भली-भाँति समझता है। अनुभव हमें यह बताता है कि यह बात अनेक व्यक्तियोंके बारेमें सही नही है। व्यक्ति अपने वर्तमान स्वार्थको भले ही ठीक प्रकार समझ ले पर इस बात का कोई भरोसा नहीं किया जा सकता कि वह अपने भावी हितोंको भी समझता है और फिर यदि व्यक्ति अपने हितोंका सबसे अच्छा पारखी हो तो भी इसके मतलब यह नही हैं कि वह उन हितोंकी सिद्धिके साधनोंका भी अच्छा पारखी है। गार्नर का कहना है कि हर देशमें ऐसे बुद्धिहीन मनुष्य होते हैं जो अज्ञात संकटोंके विरुद्ध सावधानी नही बरत सकते। कभी-कभी राज्य व्यक्तिकी मानसिक, नैतिक और शारीरिक आवश्यकताओंका स्वयं उस व्यक्तिकी अपेक्षा अधिक पारखी होता है—उदाहरणके लिए—सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफ़ाईके मामले। सार्वजनिक कल्याणकी रक्षा तभी हो सकती है जब राज्य स्वास्थ्यको हानि पहुँचानेवाली परिस्थितियोंको दूर कर दे, खाद्य पदार्थोंका सरकारी निरीक्षण हो और बेईमान व्यापारियों और धोखेबाज़ोंको सरकारकी ओरसे दण्ड दिया जाय। समाजका यह कर्त्तव्य है कि वह व्यक्तियोंकी मूर्खता और नैतिक कुटिलतासे स्वयं उन्हींकी रक्षा करे। व्यक्तिगत

स्वतंत्रताके प्रबल समर्थक जे० एस० मिल भी मानते हैं कि यदि कोई व्यक्ति एक खतरनाक पुलको पार करना चाहता है या गुलामी स्वीकार करने जा रहा है तो समाजको हस्तक्षेप कर उसकी इच्छाके विरुद्ध उसकी रक्षा करनी चाहिए।

व्यक्तिवादी यह दलील देते हैं कि यदि हर मनुष्य अपना हित साधनेको स्वतंत्र हो तो हर कोई सुखी होगा। यह बात तब सही हो सकती है जब हर व्यक्तिका हित दूसरेके हितके समानान्तर हो और उनमें परस्पर कोई विरोध न हो। पर अनुभव यह बताता है कि मनुष्योंके लक्ष्य प्रायः परस्पर विरोधी होते हैं। इसलिए झगड़ोंको सुलझानेके लिए और यह देखनेके लिए कि किसी व्यक्तिकी व्यक्तिगत दुर्बलताका लाभ कोई दूसरा न उठा पाये, राज्यकी शक्तिकी आवश्यकता होती है।

व्यक्तिवादकी प्रथम मान्यता है 'अपनी अधिकार-परिधिके भीतर पूर्ण व्यक्तित्व' (the atomic individual with a fringe of right)। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ऐसा व्यक्ति केवल कल्पनाकी ही वस्तु है। समाज एक संगठन (organism) है इसलिए व्यक्तिके हित उसके सहयोगियोंके हितोंसे एकदम भिन्न नहीं हैं। राज्य एक बुराई नहीं है ; वरन् एक निश्चित अच्छाई है। राज्य एक कृत्रिम सृष्टि नहीं है बल्कि वह स्वाभाविक विकास है। सरकारी नियमनका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रताका अवश्यमेव अपहरण हो। यातायातका नियंत्रण करनेवाले पुलिसके सिपाहीकी तरह राज्य द्वारा व्यक्तिकी इच्छाओं और प्रेरणाओंका विवेकपूर्ण नियंत्रण सभीके अधिकारोंको सुरक्षित और विस्तृत कर देता है। राज्य स्वतंत्रताका विरोधी नहीं है और न सभी प्रकारका नियंत्रण बुराई ही है। 'राज्य प्रतिबन्ध लगानेके साथ ही हमें स्वाधीन और प्रगतिशील भी बनाता है (२२ : २९१)।' समाजकी सामूहिक आवश्यकताएं सामूहिक कार्योंके द्वारा ही पूरी हो सकती हैं।

व्यक्तिवादी 'मांग और पूर्ति' तथा खुली प्रतियोगिता (free competition) के सिद्धान्तमें पूरा-पूरा विश्वास रखता है। यह एक जानी-बूझी बात है कि मांग और पूर्तिका सिद्धान्त उतना वैज्ञानिक नहीं है जितना कि उसे बताया जाता है। प्रायः उसमें गड़बड़ी पैदा होती रहती है। जहां तक खुली प्रतियोगिताकी बात है वह व्यवहारमें बहुत कम दिखायी देती है। उसका परिणाम एकाधिकार (monopoly), ट्रस्ट और व्यावसायिक एके (trade combinations) आदि होते हैं, जो खुली प्रतियोगिताके उल्टे हैं। औद्योगिक मामलोंमें हस्तक्षेप करनेकी नीतिकी आवश्यकता जितनी औद्योगिक क्रान्तिके समय थी आज उसकी आधी भी नहीं है। अब परिस्थितियां बिल्कुल भिन्न हैं और जगह-जगह नये शहर बस गये हैं। फैक्टरियोंमें काम करनेके लिए देहातोंसे मजदूर शहरोंमें खिंचे चले आते हैं। पुराने घरेलू उद्योग-धन्धोंका स्थान बड़े पैमानेके उत्पादन (large-scale production) ने ले लिया है। यातायातके साधनोंका तेजीसे विकास हो रहा है। आज व्यक्ति अपने सहयोगियों पर जितना अधिक निर्भर है उतना पहले कभी नहीं था। इन बदली हुई परिस्थितियोंमें यह दलील देना मूर्खता है कि हस्तक्षेप न करनेकी नीति सबसे अच्छी है। 'मकानोंके

सम्बन्धमें ऐसे कानून जो बीमारियों व घनी आबादियोंको दूर कर सकें, ऐसे मजदूर-विधान जो बच्चोंसे काम लेने और अत्यधिक मेहनत लेनेकी रोक थाम कर सके और फ़ैक्टरियोंके बारेमें ऐसे कानून जो अरक्षित मशीनों और जीवनके लिए अनुचित खतरोंका नियत्रण कर सकें (२८ : ४०६)', इन सबकी हमें आवश्यकता है और ऐसे कानून हम समाजमें पाते भी हैं।

स्पेंसर के वैज्ञानिक तर्कके विरुद्ध तो अनेक अपत्तियाँ की जा सकती हैं।

'योग्यतम' (fittest) एक आपेक्षिक शब्द है। जो आज योग्य या उपयुक्त है, सम्भव है वही कल उपयुक्त न रहे। जो एक स्थितिमें उपयुक्त है जरूरी नहीं है कि वह दूसरी स्थितिमें भी उपयुक्त हो। योग्यतमकी विजयका मतलब यह नहीं कि वह जरूर ही श्रेष्ठतमकी विजय हो। 'योग्यतम' के बच रहनेका मतलब जान पड़ता है कि जो बच रहता है वह बच रहनेके योग्य है। स्पष्टतः यह एक अर्थहीन तर्क है। क्योंकि 'यदि बच रहनेकी योग्यताकी एक अकेली कसौटी यही हो कि जो बच रहे वही योग्यतम है तब तो सेंध काटकर मौज उड़ानेवाला चोर हमारी प्रशंसाका और भूखों मरनेवाला शिल्पी हमारी निन्दाका पात्र हो जाता है (५१ : ३४६)।' हैलोवेल (Hallowell) लिखते हैं, 'स्पेंसर ने एक बहुत बड़ी भूल की है और बहुतसे लोग यही भूल अब तक करते चले आ रहे है। वह भूल यह है कि जो बातें किसी एक विज्ञानके लिए उपयुक्त है उन्हें किसी दूसरे बिल्कुल भिन्न लक्षणवाले विज्ञान पर लागू करना।'

जो बात निम्न कोटिके जीवोके लिए सच हो उसके लिए यह जरूरी नही है कि वह सृष्टिके श्रेष्ठतम प्राणी मनुष्य पर भी लागू हो। क्योंकि जब हम विकासकी सीढ़ी पर चढ़ते-चढ़ते मनुष्य तक पहुंचते है तब एक आश्चर्यजनक नवीन अवस्था पर पहुंच जाते है। निम्न कोटिके प्राणी हाथ पर हाथ धरे अपने आपको प्रकृतिका अनुयायी बन जाने देते हैं। इसके विपरीत मनुष्य अपनी उच्चतर बुद्धिके बलसे प्रकृति को ही अपनी आवश्यकताओंके अनुकूल बना लेता है। इसलिए यह तर्कसंगत जान पड़ता है कि प्रकृतिको मनचाहे ढंगसे कुछ थोड़े-से लोगोको जीवित रखनेका अवसर देनेके बजाय मनुष्य अपने उच्चतर बुद्धिबलका प्रयोग करके यथासम्भव अधिकसे अधिक लोगोंको बचने और जीवित रहनेका मौका दे। मनुष्य नीची श्रेणीके प्राणियों से केवल बुद्धिबलमें ही भिन्न नहीं है बल्कि वह अपने विवेक और अपनी विकसित सहानुभूतियोंके क्षेत्रमें भी उनसे पृथक है। उसकी ये शक्तिया उसे प्रेरित करती हैं कि वह जीवनमें असफल लोगोके प्रति निर्दयता और शारीरिक दृष्टिसे दुर्बल लोगोंके हृदयहीन विनाशका विरोध व उसकी निन्दा करे।

व्यावहारिक कठिनाइयोके उत्तरमे यह कहा जा सकता है कि राज्यके समूचे कार्योंकी निन्दा और विरोध केवल इसलिए जरूरी नहीं हो जाता कि सरकारें गलतियां करती हैं। व्यक्तिवादी बड़े संतोषके साथ सरकारों और सरकारी अधिकारियोंकी अनेक भूलोंको बतलाते हैं। वह यह भूल जाते हैं कि व्यक्तिगत संस्थाएं (private agencies) भी भूलें किया करती हैं। उनकी भूलें इतनी

असाधारण नहीं होतीं और जनताको भली-भांति ज्ञात भी नहीं होती। इसके विपरीत सरकारकी भूलें प्रायः हरएक को भली-भांति ज्ञात हो जाती हैं। यदि सरकार भूल करती हैं तो बहुत-से अच्छे काम भी करती हैं जिनके लिए उसकी पर्याप्त प्रशंसा नहीं की जाती। सच्चाई यह है कि जनता आशा करती है कि व्यक्तियोंकी अपेक्षा सरकार बहुत अधिक कुशलतापूर्वक काम करे। अतएव असफलताके लिए सरकारको जो दोष दिया जाता है वह अनुपातसे अधिक होता है।

जैसाकि गिलक्राइस्ट कहते हैं लोकतंत्रकी उन्नतिके कारण व्यक्तिवादकी आवश्यकता आज उतनी नही रह गयी जितनी कुछ समय पहले थी। जहां लोकतंत्र है और जहां स्थानीय शासन सबल एवं योग्य है, वहां समाजवाद और व्यक्तिवादके बीचका अन्तर काफी क्षीण हो गया है। केन्द्रित नियंत्रणके विरुद्ध व्यक्तिवादियोंकी जो आपत्तियां है वे स्थानीय नियंत्रणके सम्बन्धमें अधिक लागू नहीं होतीं। दूसरे शब्दोंमें, राष्ट्रीयकरणके विरुद्ध जो आपत्तियां की जा सकती हैं वह नागरीकरणके (municipalization) के साथ लागू नहीं होतीं।

यदि रोगका इलाज करनेकी अपेक्षा उससे बचना अच्छा है तो राज्यको चाहिए कि समाजको हानिसे बचाये और उसकी क्षति पूर्ति भी करे। पूर्ण तटस्थ नीति सरकारके लिए असम्भव है क्योंकि उसका मतलब तो अराजकतावाद हो सकता है। लीकॉक कहते हैं कि 'ऐसी तटस्थता व्यक्तिको सामाजिक अधिकारोंसे वंचित कर देती है। यह सहयोग और नियंत्रित उद्योगसे होनेवाले लाभोंकी ओरसे आँखें मूंद लेती है।

लास्की ने व्यक्तिवादी सिद्धान्तके विरुद्ध अनेक तर्क दिये हैं। उनमें से मुख्य तर्क यह है कि व्यक्तिवाद नैतिक दृष्टिसे अपूर्ण है। लास्की कहते हैं कि व्यक्तिवादका अर्थ है 'क्षीण स्वास्थ्य, अविकसित मस्तिष्क, शोचनीय निवास-स्थान और ऐसा काम जिसमें अधिकांश व्यक्तियोंको कोई रुचि न हो। कमजोरीका अनुचित लाभ उठाया जाता है। मजदूरकी सौदा करनेकी शक्ति पूंजीपतिकी शक्तिके बराबर न होनेके कारण मजदूर आर्थिक दौड़में प्रायः हार जाता है। बाजारका उतार-चढ़ाव (सौदेबाजी) असमानताका अच्छा प्रदर्शन (apotheosis of inequality) है (४७ : १९१)।' मांग और पूर्तिसे मिलनेवाले प्रतिफलसे किसी तरहका सामाजिक मूल्य ज़ाहिर नहीं होता। विज्ञापनकी कला द्वारा अपार सम्पत्ति पैदा की जाती है, मैले-कुचैले, गन्दे घरों द्वारा धन बटोरा जाता है। इसलिए बाजारकी सट्टेबाज़ी सामाजिक मूल्यकी व्यवस्थाके बजाय समस्त सामाजिक मूल्योंको नष्ट करनेवाली व्यवस्था है।

व्यक्तिवादके पक्ष और विपक्षके तर्कोंका निष्कर्ष देते हुए गिलक्राइस्ट ने निम्नलिखित बातोंकी ओर संकेत किया है:

(१) व्यक्तिवाद आत्मनिर्भरता पर ज़ोर देता है।

(२) वह अनावश्यक सरकारी हस्तक्षेपका विरोध करता है।

(३) वह समाजमें व्यक्तिके महत्व पर ज़ोर देता है।

(४) इसने ज़रा-ज़रा-सी बातोंमें हस्तक्षेप करनेवाले व्यर्थके क़ानूनोंको रद्द करनेमें सहायता की है।

'पर व्यक्तिवाद राजकीय नियंत्रणकी बुराइयोंको बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहता है। वह यह भूल जाता है कि राज्य द्वारा किये गये कार्योंमें बुरे कामोंकी अपेक्षा अच्छे कामोंके उदाहरण कहीं अधिक हैं। इसने व्यक्तित्वकी मूलतः एक भ्रमात्मक धारणा प्रचलित की है और साथ ही व्यक्तिवाद आधुनिक जटिल जीवनके लिए बहुत ही अनुपयुक्त साबित हुआ है (२८ : ४०८)।'

सी० डी० बर्न्स (C. D. Burns) ने समूची समस्याको संक्षेपमें इन शब्दोंमें व्यक्त किया है: 'व्यक्तिवाद सामाजिक उद्देश्योंसे किये गये कार्योंके सामाजिक परिणामकी ओरसे आँखें मूंद लेता है·····एक आदर्शके रूपमें व्यक्तिवादका भविष्य बहुत उज्जवल है। भूतकालमें की गई इस सिद्धान्तकी भूलें और इसकी त्रुटियां बिल्कुल स्पष्ट हैं। पर उनके बावजूद यह सिद्धान्त अभी तक प्रचलित है। व्यक्तिवाद के साथ पूरा-पूरा न्याय करनेके लिए हमें उसकी आत्माको उस आकस्मिक स्वरूपसे पृथक करना होगा जिसमें वह पहले पहल प्रकट हुआ था और भविष्यके स्वप्नमें हमें एक सभ्य राज्यकी कल्पना ऐसे व्यक्तियोंके संघके रूपमें करनी होगी जो व्यक्तिरूपमें हममें से आजके सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिकी अपेक्षा इतने अधिक विकसित और उन्नत होंगे जितना कि अपने पूर्व आदिम बर्बर मनुष्योंकी अपेक्षा हम स्वयं विकसित और समुन्नत हैं (९ : २४९-५३७)'।

२. समाजवादी सिद्धान्त (The Socialistic Theory)

समाजवादी राज्यको निश्चित अच्छाई (positive good) मानते हैं। इसलिए उनकी मांग है कि राज्यको कमसे कम काम करनेके बजाय अधिकसे अधिक कार्य करना चाहिए। उनका विश्वास है कि यही एक मार्ग है जिसके द्वारा अधिकांश मानव समाज के लिए सामाजिक न्याय सम्भव हो सकता है। उसका लक्ष्य यह है कि एक ऐसा 'सामूहिक पूंजीसंघ (co-operative commonwealth) स्थापित किया जाय जिसका कि उत्पादनके सभी साधनों पर नियंत्रण हो और जो सामूहिक वितरणका प्रबन्ध करता हो।' समाजवादमें उत्पादनके साधनों और विनिमय पर सार्वजनिक प्रभुत्व होगा और वेतन आवश्यकताके अनुसार दिये जाँयगे। कुछ समाजवादी समान वितरण (equal distribution) का समर्थन करते हैं और कुछ न्याययुक्त वितरण (equitable distribution) का समर्थन करते हैं।

संक्षेपमें, समाजवादकी मुख्य अच्छाइयोंका हम यों वर्णन कर सकते हैं:

हमारी वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाकी सर्वविदित बुराइयोंका समाजवाद विरोध करता है और एक मौलिक परिवर्तनकी माँग करता है। पूंजी और शक्ति कुछ थोड़े-से

लोगोंके हाथोंमें केन्द्रित है। मज़दूरको उसका उचित भाग नहीं मिलता। क्योंकि मजदूरकी आर्थिक शक्ति मालिककी आर्थिक शक्तिके बराबर नही होती इसलिए मजदूरको मजबूर होकर समझोता करना पड़ता है। वर्तमान व्यवस्थासे सम्पत्ति और अवसर प्राप्ति (opportunity) में घातक असमानताएं पैदा होती हैं। समाजको किसी सेवा या वस्तुकी १ इकाईकी आवश्यकता है तो वृथा ही अनेक इकाइयोंका निर्माण हो जाता है जिससे समाजकी पूंजी और श्रम नष्ट होते हैं। ऐसे समाजमें व्यापक राष्ट्रीय स्तर पर कोई आर्थिक योजना नही होती। अनियत्रित प्रतियोगिताके फल-स्वरूप मजदूरोंको कम वेतन मिलता है, उत्पादन जरूरतसे ज्यादा होता है, वस्तुओंके मूल्य गिर जाते हैं और बेकारी बढ़ती है। वर्तमान व्यवस्थामें 'धनलोलुपता, अन्याय, बेईमानी और व्यक्तिगत चरित्रके स्तरको सामान्यतया नीचे गिरानेकी प्रवृत्ति है (२२ : ३०२)।'

समाजवादमें सावधानीसे बनायी गयी योजनाओंसे श्रमका वृथा उपयोग, आवश्यकतासे अधिक उत्पादन, अनावश्यक विज्ञापन और हानिकारक वस्तुओंका उत्पादन रुक जायगा। परोपकार तथा समाजके लिए उपयोगी बननेकी इच्छा और कार्यमे निस्वार्थ रुचि-जैसी प्रवृत्तियां जिन पर बल देना चाहिए, समाजवादके आदर्श हैं। समाजवादियोंके अनुसार सामूहिक स्वामित्व (collective ownership) और सामूहिक व्यवस्था (collective management) पूर्णतया प्रजातत्रीय (are thoroughly democratic) व्यवस्था है। समाजवादके समर्थकोंका कहना है कि प्रजातत्र का ही अगला क़दम समाजवाद है। जहाँ कहीं समाजवादी नीतियां और कार्यक्रम व्यावहारिक रूपमें अपनाये गये हैं वहां वह अधिकतर सफल हुए हैं।

समाजवादने वर्तमान औद्योगिक व्यवस्थामें जो ख़राबियां बतलाई हैं उनमेंसे अधिकतर सही हैं इस बातसे कोई इन्कार नही कर सकता। हमें समाजवादियोंकी यह बात भी माननी होगी कि उन बुराइयोंका हल यही है कि वर्तमान राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाके स्थान पर एक नयी व्यवस्था कायम हो। पर इसका मतलब यह नही है कि समाजवादने अपना पक्ष सिद्ध कर दिया है। समाजवादको एक सक्रिय, व्यावहारिक रूप देनेमें जो कठिनाइयां हैं उनकी आसानीसे उपेक्षा नहीं की जा सकती।

समाजवादी व्यवस्थामें प्रशासकीय कठिनाइयाँ बहुत अधिक होनेकी सम्भावना है। निस्सन्देह डाक, तार टेलीफ़ोन और रेलोंकी व्यवस्थाका प्रबन्ध अनेक देशोंमें काफ़ी सफलताके साथ किया गया है। पर प्रतियोगिताके अभावमें, हम यह नहीं कह सकते कि उनका प्रबन्ध कमसे काम ख़र्चमें हो रहा है। कुछ वर्ष पहले इंगलैण्डके पोस्टमास्टर-जेनरल ने कहा था कि उस देशकी डाक-व्यवस्थाका प्रबन्ध व्यक्तिगत संचालनमें और अधिक कुशलताके साथ हो सकता था। यदि हम यह मान भी लें कि आज कुछ थोड़े राष्ट्रीय उद्योग बहुत ही मितव्ययिता और कुशलतापूर्वक संचालित हो रहे हैं तो भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि सभी उद्योगोंके व्यापक राष्ट्रीय-

करणका परिणाम भी इतना ही सुन्दर और प्रशंसनीय होगा। समाजवादके आलोचकोंका कहना है कि राज्यके कार्योंको बढ़ाते रहनेका अर्थ यह होगा कि सरकारका शासन यंत्र अपने ही बोझसे दबकर टूट जायगा। यह धारणा ठीक है कि समाजवादीको सरकारी व्यवस्था पर अत्यधिक निष्ठा और विश्वास है।

मनुष्यके नैतिक विकासकी वर्तमान अवस्थामें समाजवादका नतीजा भ्रष्टाचार, गुट-बन्दी और व्यक्तिगत वैमनस्यके कारणों और अवसरोंमें अत्यधिक वृद्धि होगी।

यह कहा जाता है कि समाजवाद विकासके अनुकूल नहीं है। सम्भवतः मेहनत करनेके लिए प्रोत्साहनकी प्रेरणा समाप्त हो जायगी। आज साधारण मनुष्य अपने लाभ के लिए ही अधिकतर काम करता है, न कि सामाजिक उपयोगिताकी परमार्थ भावना से। समाजवादी राज्यमें मनुष्यकी व्यक्तिगत प्रेरणाके नष्ट हो जानेका भय है। समाजमें जीवन एक रूप और अरुचिकर हो जायगा। सरकारी नियंत्रणमें नयी-नयी आवश्यकताओंकी प्रेरणा नहीं रह जायगी।

आज भी श्रमिक उतना कमजोर और असहाय नहीं है जितना वह बताया जाता है। मजदूर-संघ और संगठनके अन्य साधनोंके द्वारा वह अपने लिए हितकर सौदा तय करनेमें समर्थ हो जाता है।

समाजवादसे वैयक्तिक स्वतंत्रता पर रोक लग जानेकी तथा वैयक्तिक चरित्रके पतित हो जानेकी सम्भावना है। हरबर्ट स्पेंसर का विश्वास है कि समाजका हर सदस्य व्यक्ति रूपमें समूचे समाजका दास हो जायगा। प्रतिभा कुण्ठित हो जायगी और नागरिक आलसी और अकर्मण्य हो जाँयगे। व्यक्तिगत अन्तःप्रेरणा समाप्त हो जायगी। उत्तरदायित्वकी भावनाका नौकरशाही द्वारा लोप और सरकारी विभागोंका शासन सर्वोपरि हो जायगा।

उत्पादनमें सम्भवतः उत्तमता (quality) और परिमाण (quantity) दोनों ही दृष्टियोंसे कमी हो जायगी।

व्यक्तिवादी और समाजवादी सिद्धान्तोंका मूल्यांकन (Evaluation of the individualistic and socialistic theories). व्यक्तिवाद और समाजवाद दोनोंमें ही महत्त्वपूर्ण सत्य छिपे हैं परन्तु दोनों ही उस सत्यको बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कहते हैं। दोनों ही सैद्धान्तिक और विचारमूलक हैं। जैसे विशुद्ध व्यक्तिवाद असम्भव है वैसे ही विशुद्ध समाजवाद भी असम्भव है। हमें तो एक ऐसी व्यवस्थाकी जरूरत है जो किसी प्रकार वैयक्तिक गुणोंके सुरक्षित रखनेके साथ ही समाजके संगठित स्वरूपको भी क़ायम करें। बर्न्स का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि 'यदि हम किसी ऐसे आदर्शकी कल्पना कर सकें जो एक साथ ही व्यक्तिवादी और समाजवादी हो तो अधिकांश विचारशील मनुष्य उसे प्रभावपूर्ण आदर्श मानेंगे (१० : २७५)।' उन्हींके शब्दोंमें 'यदि एक ओर हमारा झुकाव अपना स्वार्थ साधने और पृथक रहनेकी ओर होता है तो दूसरी ओर हम अपने व्यक्तित्वको "बृहत् समाज" (The Great Society) के जटिल प्रवाहमें खो देनेकी ओर भी

प्रवृत्त होते हैं·····। व्यक्तिवादीका व्यक्तियोंकी विभिन्नता चाहना उचित है और समाजवादी भी सबके ऊपर सार्वजनिक हितका महत्त्व क़ायम करनेमें ठीक है क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिका पूर्ण विकास समूचे समाजके जीवनमें अपने कर्त्तव्योंका पालन करनेमें है (१० : २७५)।'

समाजवादकी प्रत्यक्ष त्रुटियोंके होते हुए भी समाजवादी आदर्शकी सिद्धिके लिए राजकीय कार्यका धीरे-धीरे विस्तार करनेकी विवेकशील नीति अपनाना बुद्धिमानी होगी।[1] जिसका लक्ष्य साथ ही साथ मानव-जातिका नैतिक उत्थान करना भी हो। छोटे उद्योग-धंधोंमें स्वतंत्र प्रतियोगिताकी अनुमति दी जा सकती है, पर बहुत-से लोगोंके जीवनको प्रभावित करनेवाले बड़े पैमानेके उत्पादनमें राजकीय स्वामित्व और नियंत्रणकी व्यवस्था आज अपनायी जा सकती है।

३. आदर्शवादी सिद्धान्त (The Idealistic Theory)

हीगेल आदिके अतिवादी आदर्शके स्वरूपोंको छोड़कर हम अपने आपको अंग्रेज़ आदर्शवादियों तक ही सीमित रखेंगे। अंग्रेज़ आदर्शवादियोंने राज्यके कार्यके ऐसे सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है जिस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेकी आवश्यकता है। आदर्शवादी राज्यको बहुत अधिक महत्त्व देते हैं और राज्यको प्रत्येक व्यक्तिके सर्वोत्तम तत्त्वकी मूर्ति मानते हैं। वे राज्यको एक नैतिक संस्था मानते हैं जिसकी आज्ञापालन करके हम स्वयं अपनी ही आज्ञाओंका पालन करते हैं। क्योंकि आदर्शवादी राज्यको इतना गौरवपूर्ण स्थान देते हैं इसलिए यह आशा की जा सकती है कि वह राज्यके लिए एक व्यापक कार्य-क्षेत्र भी निर्धारित करेंगे। पर उन्होंने इस कार्य-क्षेत्र को संकीर्ण बना दिया है। इस विरोधाभासका कारण आसानीसे मालूम किया जा सकता है। आदर्शवादी व्यक्ति और राज्य दोनोंके उद्देश्यको एक ही मानते हैं। यह उद्देश्य है: आदर्श 'सुन्दरतम जीवन' या मनुष्यकी प्रतिभाका उत्साहवर्धन और विकास (promotion of the excellence of human souls) (बोसांके)। पर यह उद्देश्य इतना अधिक व्यक्तिगत और आन्तरिक है कि इसकी सिद्धि व्यक्तिके अपने प्रयत्न पर ही निर्भर करती है। नैतिक सद्गुण या कल्याण तो स्वयं अर्जित सद्गुण होता है। नैतिक जीवनके अर्जनके लिए व्यक्तिको अपने भरोसे छोड़नेका एक दूसरा कारण यह है कि राज्यके साधन, शक्ति और दबाव इतने बाहरी हैं कि नैतिक शक्ति जैसी आन्तरिक श्रेष्ठताकी सिद्धिमें वह सफल नहीं हो सकते। बोसांके के शब्दोंमें 'जब सामूहिक इच्छा (राज्यकी इच्छा) हमें एक ऐसे सामाजिक सुझावके रूपमें नहीं

---

[1] हॉबसन का कहना है: 'राज्यने एक डाक्टर, एक नर्स, स्कूल मास्टर, व्यापारी, उत्पादक, बीमा एजेन्ट, मकान बनानेवाले, नगरकी योजना बनानेवाले, रेलवे नियंत्रक, आदि सैकड़ों अन्य लोगोंके कामोंके उत्तरदायित्वको स्वीकार कर लिया है।

मिलती जिसे स्वीकार करनेके लिए हम अपने आप तैयार हो जाँय बल्कि एक शक्ति या शक्ति पर आधारित सत्ताके रूपमें मिलती है तो यद्यपि वह स्वयं हमारी ही इच्छा होनेका दावा कर सकती है पर जिसे उस समय इस रूपमें पहचाननेमें हम सफल नहीं हो पाते। परिणाम यह होता है कि या तो हम मशीनकी तरह उसकी आज्ञा मानते हैं या फिर विद्रोहके लिए तैयार हो जाते हैं।

इसलिए राज्यका कार्य-क्षेत्र निषेधमूलक या नकारात्मक है। राज्यका काम है व्यक्तिके मार्गमें आनेवाली बाधाओंको हटाना ताकि व्यक्तिको श्रेष्ठतम् जीवनके अर्जनका अवसर मिल सके। इसका अर्थ है कि राज्यका कर्त्तव्य व्यक्तिके श्रेष्ठतम् जीवनके मार्गमें आनेवाली बाधाओंका निराकरण (hindrance of hindrances), या 'समस्त सुविधाओंको सुविधापूर्वक उपलब्ध कराना' (adjustment of all adjustments) है। यदि राज्य इससे अधिक काम करता है तो वह व्यक्तिके नैतिक उद्देश्यको असफल करता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है मानव आत्माकी महानता स्वयं अर्जित करनेकी वस्तु है। यह महानता बाहरसे नहीं दी जा सकती। यदि बाहरसे देना सम्भव भी हो तो भी ऐसा करनेका किसीको अधिकार नहीं है। इनामके लालच या दण्डके भयसे चरित्रका विकास एक व्यर्थका विचार है। जैसा कि बोसांके ने कहा है "सच्ची योग्यता और सामाजिक सेवाके अनुपातमें भौतिक सफलता निर्धारित करनेका प्रयत्न करना स्पष्टत: एक विरोधी बात होगी—To attempt to assidn material success in proportion to true merit and social service would be flatly contradictory।" धर्म और नैतिकता इतने अधिक वैयक्तिक और आध्यात्मिक हैं कि जब राज्य उन्हें लागू करता है या उनकी वकालत करता है, तो यदि जब तक साधन बिल्कुल ही अप्रत्यक्ष या सूक्ष्म न हों, उनका महत्त्व ही जाता रहता है। क़ानूनकी सीमाके भीतर आनेवाले व्यवहारके मामलोंमें राज्यका कार्य-क्षेत्र निषेधात्मक होनेके कारण बाहरी कामों तक ही सीमित रहता है। अभिप्राय (intention) का भी विचार किया जा सकता है और प्राय: किया भी जाता है पर उसी हद तक जहां तक उसका प्रभाव बाहरी आचरण पर पड़े। राज्य केवल उतना ही अभिप्राय लागू कर सकता है जितना बाहरी कार्य कलापोंके बारेमें निश्चित आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिए आवश्यक हो। उद्देश्यों (motives) पर विचार करना राज्यके क्षेत्रसे बाहरकी बात है। उनका सम्बन्ध व्यक्तिकी आत्मासे है। उद्देश्योंको परखनेके लिए राज्यके पास कोई साधन नहीं है। नैतिक दृष्टिकोणसे अभिप्रायों (intentions) और उद्देश्यों (motives) में कोई अन्तर नहीं है। पर वैधानिक दृष्टिकोणसे आदर्शवादी इनके अन्तर पर ज़ोर देते हैं। उदाहरणार्थ राज्य मां-बापको अपने बच्चोंको स्कूल भेजनेके लिए मजबूर कर सकता है, पर इससे अधिक राज्य कोई निश्चित उद्देश्य नहीं लागू कर सकता। मां-बाप अपने बच्चोंको चाहे शिक्षाके किसी उच्च उद्देश्यसे स्कूल भेजें अथवा किसी निम्न उद्देश्यसे, पर जब तक स्कूल भेजनेका ऊपरी काम पूरा होता रहता है क़ानून सन्तुष्ट

रहेगा। पर अभिप्राय महत्त्वपूर्ण होते हैं। क्योंकि अभिप्राय ही किसी कार्यको स्वेच्छाजन्य (voluntary) बनाता है। उदाहरणके लिए किसीको साधारणतः ऐसे कार्योंके लिए सजा नही दी जायगी जिसको उसने किसी अभिप्रायसे नही किया या जो दुर्घटनावश हो गया। यदि उसे सजा दी भी जायगी तो वह कड़ी न होगी। क़ानून अभिप्रायोंकी बाहरी नाप-जोख भी करता है और इस प्रकार क़ानून कार्यों पर और अभिप्रायों पर ऊपरी दृष्टिसे विचार करता है।

टी० एच० ग्रीन के शब्दोंमे, 'केवल बाहरी कार्योंके लिए ही ज़िम्मेदारी ठहरायी जा सकती है। विधानका आदर्श उसके द्वारा सिद्ध होनेवाले नैतिक उद्देश्यसे ही निश्चित किया जाना चाहिए। कानून केवल कुछ कामोंके करने या न करनेका आदेश दे सकता है। पर उद्देश्योंके बारेमे वह कोई आदेश नही दे सकता। कानूनको केवल ऐसे ही कार्योंके करने या न करनेका आदेश देना चाहिए जिनका किया जाना या न किया जाना—उद्देश्य चाहे कुछ हो—समाजके नैतिक लक्ष्यके लिए आवश्यक हो (१९ : पृ० ९)।'

ग्रीन ने इस सिद्धान्तके आधार पर ऐसे अनेक क़ानूनोंकी आलोचना की है जिन्होंने धर्म, आत्मसम्मान अथवा पारिवारिक भावनाओंको कमज़ोर किया है। इंगलैंडमे उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धकी परिस्थितियों पर 'उत्तम जीवनके मार्गमें आनेवाली बाधाओंको हटानेके सिद्धान्त' को लागू करते हुए ग्रीन ने अनिवार्य शिक्षा, शराबके व्यापारका नियत्रण और ऐसे समझौतोंमें हस्तक्षेप करनेका ज़ोरदार समर्थन किया है जिनमे समझौता करनेवाले दोनों पक्षोंकी सौदा करनेकी शक्तिमें अन्तर हो। निरक्षरता और शराबका अनियत्रित व्यापार उत्तम जीवनके मार्गमें बाधक है। इसलिए राज्यको अनिवार्य शिक्षा और शराबके नियंत्रणका प्रबन्ध करके इन बाधाओं को दूर करना चाहिए। अधिकांश माता-पिता अपने बच्चोंको शिक्षा देनेका महत्त्व समझते हैं। इसलिए अनिवार्य शिक्षाके लागू होनेसे उनकी अपनी आत्मिक प्रेरणाका अन्त नही होगा। 'उन लोगोंको छोड़कर जिनमे शिक्षाके लिए आत्मिक प्रेरणा नहीं है और किसीके लिए अनिवार्य शिक्षा "स्वैच्छिक अर्थमें अनिवार्य" नही होगी (२९ : पृ० ९)।' यही दलील बहुत कुछ शराबके व्यापार पर भी लागू होती है। यदि शराबकी बेरोकटोक बिक्री बहुसंख्यक लोगोंको उत्तम जीवनकी प्राप्तिके मार्गमें बाधा पहुंचाती है तो राज्यका कर्त्तव्य है कि वह शराबके व्यापारका नियंत्रण करे। अनुबन्धकी स्वतंत्रतामें हस्तक्षेप करनेके बारेमें ग्रीन का यह तर्क ठीक है कि 'हमें न केवल उन लोगों पर विचार करना चाहिए जिनकी स्वाधीनतामें हस्तक्षेप किया जाता है; बल्कि उन लोगोंका भी विचार करना होगा, जिनकी स्वतंत्रता हस्तक्षेपके कारण बढ़ जाती है (२९ : पृ० २०)।' भूमिके स्वामित्वके सम्बन्धमें ग्रीन का आदर्श यह है कि छोटे-छोटे भू-स्वामियोंका एक ऐसा वर्ग हो जो अपनी ज़मीनको खुद जोतता हो।

राजकीय कार्य-क्षेत्रके आदर्शवादी दृष्टिकोणको स्वीकार न करनेवालोंमें बहुत

से लोग यह माननेको तैयार हैं कि धर्म और नैतिकता जैसे जीवनके उच्च तत्वोंको राज्य द्वारा लागू नहीं किया जा सकता। पर वह ऐसा कोई कारण नही पाते जिससे राज्य सार्वजनिक कल्याणके विकासके लिए आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धोंका नियंत्रण न कर सके। बोसांके इसके उत्तरमें कहेंगे कि आर्थिक और सामाजिक जीवन नैतिक और धार्मिक जीवनसे बिल्कुल भिन्न नही है। व्यक्तिके आर्थिक और सामाजिक हितोंका नैतिक और आध्यात्मिक हितोसे गहरा सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ बहुधा अच्छे परिवारका मतलब होता है सुन्दर व्यवहार, उच्च आदर्श और उच्च कोटिका धार्मिक जीवन। इसलिए राज्यका कार्य जीवनके उच्च और निम्न दोनों प्रकारके कल्याणोके लिए अप्रत्यक्ष ही हो सकता है। आध्यात्मिक कल्याणकी भांति भौतिक कल्याण भी बाहरसे मिलनेकी अपेक्षा स्वयं अर्जित होने पर अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। फिर भी ऐसी परिस्थितियां हो सकती हैं जिनमें भौतिक परिस्थितियां उत्तम जीवनकी प्राप्तिमें सक्रिय रूपसे बाधक हों। ऐसी हालतोंमें इन बाधाओंको दूर करना राज्यका कर्त्तव्य है। पर इस सम्बन्धमें भी बोसांके का तर्क यह है कि हमें यह बात न भूलनी चाहिए कि जिस हद तक भौतिक पदार्थ हमारे उच्च कोटिके जीवन में प्रवेश कर पाते है और 'हमारी बुद्धि और इच्छाके वाहक' बन जाते हैं उस हद तक राज्य केवल अप्रत्यक्ष रूपमें ही उन्हे लागू कर सकता है। यही कारण है कि 'शारीरिक स्वास्थ्य, आरामदेह मकान, और पर्याप्त आमदनी आदि' सरकार द्वारा नही दिये जा सकते। उत्तम जीवनके विकासके लिए राज्य जिन मामलोंमें प्रत्यक्ष कार्यवाही कर सकता है वे केवल ऐसे ही मामले है जहां विकासकी साधारण रूपरेखा ठीक तरह मालूम है और जहां इस प्रकारके हस्तक्षेपसे स्वतंत्र होनेवाले चारित्रिक साधन और बुद्धिबल उन अधिकारोंकी अपेक्षा कहीं अधिक है जिनको इस प्रकार छीना या भंग किया जाता है। इस समस्याको बल प्रयोग (compulsion) और आत्मप्रेरित विकास (spontaneous growth) के भेदसे समझा जा सकता है। बोसांके सहयोग तथा आत्म-निर्भरताके अन्तर पर जोर न देकर प्रेरणा या इच्छा (will) और यांत्रिकता (automatism) के अन्तर पर जोर देते हैं।

'बाहरी कामों तक ही सीमित रहनेके कारण राज्यके कार्योंसे प्रत्यक्ष रूपसे अधिकाधिक लक्षणोंकी सिद्धि न होनेका अर्थ शासनकी अर्थहीनता (administrative nihilism) नहीं होता है (५ : पृ० ३६)।' इसका मतलब केवल इतना है कि उच्चतर जीवनकी प्राप्तिके लिए व्यक्तियों और व्यक्ति समूहमें स्वयं एक निश्चित प्रयत्न और संघर्ष होना चाहिए। दूसरे शब्दोमें राज्यके कार्य करनेके पहले ही सामाजिक प्रयत्न तथा युक्तियां प्रयोग किये जाने चाहिए। अन्यथा उदाहरणके लिए 'एक अच्छा परिवार मनुष्यके उच्चतर जीवनका अंग न बनकर उसके संकल्पका एक ऐसा अतिक्रमण हो जायगा जिसकी क्षति-पूर्ति न हो पायगी। अतः राज्यके कार्यको हम प्रत्यक्ष कार्यवाहीकी अपेक्षा व्यक्तिगत या सामाजिक उद्योगका समर्थन कह सकते है। राज्यका कार्य प्रत्यक्ष रूपसे सुन्दर जीवनका विकास करना न होकर, रक्षा

करना, उत्साहित करना और संगठित करना है। यह भी एक कारण है कि हम क्यों राज्यको शेष सब प्रकारकी संस्थाओंसे ऊंचा स्थान देते हैं और उसे अन्य संस्थाओंको उचित स्थान पर क़ायम रखनेका अधिकार देते हैं। हमारे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक संगठन वे प्रयोगशालाएँ हैं जिनमें हम उत्तम जीवनकी प्राप्ति के प्रयोग करते हैं। इन प्रारम्भिक प्रयोगों और किसी विशेष उद्योगके पक्षमें जन-भावना जगानेमें सफल होनेके बाद ही हम इस बातकी आशा कर सकते हैं कि राज्य हमारी सहायता करे और तभी हम सुन्दर जीवनकी प्राप्ति कर सकते हैं। यदि राज्य जनतासे पहले सक्रिय हो उठता है तो सामाजिक उद्योग या समुदायवादकी अपेक्षा 'संरक्षकत्व' (paternalism) का जन्म होता है।

आलोचना.

राजकीय कार्यके सम्बन्धमें यह दृष्टिकोण क़ानून और नैतिकताके बीचके भेद को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बतलाता है। यह सही है कि नैतिकताका बहुत बड़ा भाग क़ानूनके दायरेसे बाहर ही रहता है, पर इस बातकी ठीक अनुभूति नहीं की गयी कि नैतिक कर्त्तव्य काफी हद तक क़ानून द्वारा भी लागू होते हैं। उदाहरणके लिए फ़ौजदारी क़ानून (criminal law) का नैतिक प्रभाव क्षेत्र बहुत व्यापक है। सभी सभ्य राज्य जानवरोंके प्रति निर्दयताकी निन्दा करते हैं क्योंकि यह ग़लत है और इस लिए राज्य उसके लिए दण्ड देता है। इस मामलेमें राज्य प्रत्यक्ष रूपमें और ठीक तरीक़ेसे नैतिकता लागू करनेकी कोशिश करता है। साथ ही साथ क़ानूनका ऐसा क्षेत्र भी है जिसका प्रभाव नैतिकता पर इतना अप्रत्यक्ष होता है कि हम उसकी उपेक्षा कर सकते है।

अच्छे जीवनकी 'बाधाओंका निराकरण करना' (hindrance of hindrances) एक ऐसी बात है जिसमें एक सीधे-सादे तथ्यको घुमा-फिरा कर बनावटी ढंगसे कहा गया है। उदाहरणार्थ एक साधारण व्यक्ति तो यह कहेगा कि मौजूदा परिस्थितियोंमें प्रारम्भिक शिक्षाकी सब कहीं ज़रूरत है और इसलिए राज्यको उसका प्रबन्ध करना चाहिए। पर जब उससे यह कहा जायगा कि निरक्षरता अच्छे जीवनके मार्गमें एक बाधा है और निःशुल्क शिक्षा एक दूसरी बाधा है जिसे राज्य पहली बाधाको दूर करनेके लिए काममें लाता है, तो वह उसे बनावटी और पण्डिताऊ व्याख्या समझेगा। आदर्शवादी राज्यके कार्यके निषेधात्मक स्वरूप पर अधिक ज़ोर देता है। हमारा विश्वास है कि राज्यको निषेधात्मक (negative) और सक्रिय (positive) दोनों ही तरहके काम करने चाहिए। पर इस बातकी सावधानी रखनी चाहिए कि उससे नागरिकोंकी आत्म-प्रेरणा (spontaneity) समाप्त न हो जाय। उदाहरणार्थ निःशुल्क शिक्षाकी व्यवस्था निषेधात्मककी अपेक्षा सक्रिय ही है। ग्रीन और बोसांके का यह अनुमान ग़लत है कि सरकारके हर सक्रिय कामसे यंत्रवत कार्य

(automatism) और चरित्रकी दुर्बलता बढ़ेगी। कमसे कम कुछ अंशों तक तो यह सब समय, स्थान और परिस्थितियों पर निर्भर करेगा।

राजकीय कार्यके इस सिद्धान्तमें यह खतरा भी है कि 'उत्तम जीवनकी बाधाओं के निराकरण करने' का क़दम राज्य बहुत देरमें उठाये। यदि राज्य एक तटस्थ दर्शक मात्र बन जाय और हम लोगोंको सुन्दर जीवनकी प्राप्तिके लिए यथाशक्ति संघर्ष करनेको छोड़ दे तो बहुत सम्भव है कि वह इतना अकर्मण्य हो जायगा कि उस स्थितिसे उसे उबारना कठिन हो जायगा। इस आलोचनाका उत्तर बोसांके यह देते हैं कि राज्य एक उदासीन दर्शक मात्र नहीं है बल्कि 'उस चीलकी भाँति है जो अपने छोटे-छोटे बच्चों पर अपने पंखोंका साया रखती है और घोंसलेकी रक्षा करती है' (*Deuteronomy* Ch. 33, Verse 11) और ऐसा करनेमें उसका उद्देश्य बच्चोंको आत्म-निर्भरताकी शिक्षा देना होता है न कि उनका विनाश होने देना। बोसांके आगे कहते हैं कि जब तक 'क़ानूनमें वैधानिक तरीकेसे परिवर्तन किये जा सकते हैं' तब तक यह सोचना व्यर्थ है कि राज्य हमारी पुकारोंको सुनी-अनसुनी करता रहेगा।

एक दूसरी आपत्ति यह उठायी जा सकती है कि 'आदर्शवादी समाजकी आध्यात्मिक नींवको मनुष्यके विवेक या अन्तरात्मामें प्रस्थापित करनेमें इतना व्यस्त हो जाता है कि वह आन्तरिक मनुष्य या उसकी स्वतंत्र-इच्छा (free-will) के स्वायत्त (autonomy) मे इतना संलग्न है, कि वह इस बातको भूल जाता है कि व्यक्तिकी भौतिक परिस्थितियोंका सुधारा जाना भी आवश्यक है।' इस आपत्ति के उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि आदर्श और यथार्थ एवं आध्यात्मिक और भौतिक क्षेत्र एक दूसरेसे बिल्कुल भिन्न नहीं है, बल्कि वह एक दूसरेसे सम्बन्धित हैं। सिद्धान्त रूपमें यह बात चाहे जितनी सही हो पर व्यवहारमें यह सम्बन्ध हमेशा स्पष्ट नहीं दिखायी देता।

अन्तिम आपत्ति यह है कि 'उत्तम जीवनकी बाधाओंके निराकरण करने' का सिद्धान्त इतना अनिश्चित और अस्पष्ट है कि उसका प्रयोग व्यक्तिवादी और समाजवादी दोनों ही राजकीय कार्यक्षेत्र सम्बन्धी अपने-अपने सिद्धान्तोंकी पुष्टिमें कर सकते हैं।

इन कमियोंके होते हुए भी आदर्शवादी सिद्धान्तका यह आग्रह ठीक है कि राज्य चाहे जो कुछ करे या न करे पर नैतिक और आत्मिक कार्योंके स्वतंत्र और तटस्थ सम्पादनमें उसे हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

४. गांधीवादी अर्थनीति (Gandhian Economy)

गांधीवादी अर्थनीतिमें व्यक्तिवादी, समाजवादी और आदर्शवादी पक्षोंका समन्वय है। यह मनुष्यके आर्थिक जीवनमें अहिंसाके सिद्धान्तको लागू करनेकी

कोशिश करती है। गांधीवादकी मान्यता है कि बड़े पैमानेमें यांत्रिक उत्पादनका परिणाम निम्नकोटिका भौतिकवाद, पिछड़े देशोंकी विजय (जहाँ कच्चा माल मिल सके और तैयार माल बेचा जा सके), युद्ध, सैनिकवाद (militarism) और साम्राज्यवाद होते हैं।

पूंजीवाद भौतिक-मूल्यको महत्ता देता है और गांधीवाद मानवीय और सांस्कृतिक मूल्यों पर जोर देता है। गांधीवाद हर प्रकारके शोषणका विरोध करता है चाहे यह शोषण देशके भीतर ही--एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर—हो या बाहरसे हो। सांचेमें ढले हुए यांत्रिक उत्पादन (standardized production) की अपेक्षा गांधीवाद एक ऐसी प्रणाली या पद्धति स्थापित करना चाहता है जिसमें व्यक्तिकी प्रेरणा और मौलिकता स्वतंत्र रूपसे कार्य कर सके।

गांधीवादी अर्थनीतिके मूल-तत्व आत्मनिर्भरता (self-sufficiency), विकेन्द्रीकृत उत्पादन (decentralized production) और न्याययुक्त वितरण (equitable distribution) है। इस व्यवस्थाके अन्तर्गत केवल उन वस्तुओं और सेवाओंको छोड़कर जिन्हे व्यक्तिगत उत्पादकोंके हाथमें नहीं सौंपा जा सकता व्यक्ति-विहीन माध्यम (impersonal agency) द्वारा बहुत बड़ी मात्रामें उत्पादित वस्तुओं का उत्पादन बन्द हो जायगा। डाक-तारकी व्यवस्था, सड़कें और यातायातके अन्य साधन सरकारके नियंत्रणमें बने रहेंगे। रेल, खान, जंगल, सिंचाई और बड़े-बड़े उद्योग-धन्धोंकी देखरेख पर राज्यका एकाधिकार (monopoly) रहेगा। परन्तु प्रारम्भिक आवश्यकताकी वस्तुएं जैसे भोजन, कपड़ा और निवास-स्थान आदि विकेन्द्रीकृत नीतिसे ही उत्पादित होंगी। उत्पादित वस्तुओके आपसी सम्बन्धका और उनको बाज़ारमें बेचनेका ठीक-ठीक इन्तजाम करनेका उत्तरदायित्व सरकार पर होगा। इससे दलालोंका मुनाफा तथा बड़े-बडे उद्योगपतियों और कम्पनियोंका मुनाफा समाप्त हो जायगा। प्रारम्भिक उत्पादकको अपने परिश्रमका ऐसा न्याययुक्त प्रतिफल मिलेगा जैसा कि मौजूदा हालतोंमें सम्भव नहीं है। स्थानीय उत्पादित वस्तुओंका प्रायः उसी स्थानमें उपभोग हो जायगा। कुछ परिस्थितियोमें पैसेसे चीज़ खरीदनेके बजाय वस्तुओंका विनिमय करनेकी प्रथा चालू हो जाँयगी। उदाहरणके लिए कहीं-कहीं राज्य-कर मुद्रामे न देकर वस्तुओंमें दिया जाने लगेगा।

केवल उन वस्तुओंको छोड़कर जो आवश्यकतासे अधिक मात्रामें उत्पादित होंगी, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत कम पैमाने पर होने लगेंगे। जनताके स्वास्थ्य और कल्याणके लिए जरूरी वस्तुएं आजकलकी तरह देशके बाहर नहीं भेजी जाँयगी। ऐसे बन्धनोंसे सैनिकवाद और युद्धकी परिस्थितियोंका अन्त हो जाँयगा। हर देश और हर देशके भीतरके प्राकृतिक प्रदेश अपने आप एक आत्म-निर्भर इकाई बन जायगा। किसी भी देशके लिए तब यह सम्भव न होगा कि वह किसी दूसरे देशका शोषण करके स्वयं समृद्ध बन जाय।

गरीब और अमीरके बीचका अन्तर दिन प्रति दिन कम होता जायगा क्योंकि तब ऐसा अवसर ही न मिलेगा जिसमें एक व्यक्ति या वर्ग किसी दूसरे व्यक्ति या वर्गका शोषण कर सके।

यह सही है कि ऐसी व्यवस्थाके अन्तर्गत राज्यका कार्य-क्षेत्र विस्तृत हो जायगा लेकिन यह व्यवस्था समाजवादी नही है क्योंकि समाजवाद सम्पत्तिके नियंत्रित वितरणमें विश्वास करता है जबकि गांधीवादी व्यवस्था शुरूसे ही सावधानीसे निश्चित की गयी नीतिके अनुसार सम्पत्तिके स्वत. वितरणमें विश्वास करती है। इसके अलावा जहाँ एक ओर पूजीवाद और समाजवाद दोनों ही भौतिक मूल्यों पर महत्त्व देते हैं, इस व्यवस्थामें भौतिक मूल्योंका वही तक महत्त्व है जहाँ तक उसका सम्बन्ध मानवीय मूल्यों (human values) से होता है।

गांधीवादी अर्थ-नीतिको जब हम आलोचनात्मक दृष्टिसे देखते है तब हमको यह कहना पड़ता है कि इसमें ऐसी कोई विशिष्टता नही है कि जिससे हम उसे पूंजीवाद या साम्यवादका विकल्प (alternative) मान सकें। इसकी एक मुख्य त्रुटि यह धारणा है कि मनुष्य केवल लाभके उद्देश्यसे काम करता है। इस धारणा को समझना और भी कठिन हो जाता है जब हम यह देखते है कि राजनीतिके क्षेत्रमें गांधीवादी दर्शनने अपूर्व आत्म-बलिदान और एक लक्ष्यकी ओर अद्भुत निष्ठाकी आवश्यकता पर ज़ोर दिया है। समाजवाद और साम्यवाद दोनोंका विश्वास है कि हम मनुष्यको काम करनेके लिए केवल लाभकी धारणाकी अपेक्षा किसी ऊँचे उद्देश्य—अच्छी नागरिकताके उद्देश्य—की ओर प्रेरित कर सकते हैं।

यद्यपि गांधीवादी अर्थ-नीतिमें विकेन्द्रीकरणकी योजना सही रास्ते पर एक क़दम है लेकिन उसमें अति किये जानेकी आशंका है। समायोजित उत्पादन (concerted production) में बहुत लाभ है। अतः हमें एक ऐसी व्यवस्थाकी आवश्यकता है जिसमें केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरणका साथ-साथ विकास हो सके। विशेषकर भारत के सम्बन्धमें हमें यह कहना होगा कि विकेन्द्रीकरणकी योजनासे एका करनेकी असमर्थताको और अधिक बल मिलेगा जिससे कि हम आज की अपेक्षा और भी अधिक व्यक्तिवादी हो जायँगे।

आजकी दुनियामें हम सब एक दूसरे पर निर्भर हैं। यह दुनिया दिन प्रति दिन एक आर्थिक इकाई बनती दिखायी देती है और ऐसी स्थितिमें विकेन्द्रीकरणसे उत्पन्न होनेवाले खतरे भी स्पष्ट है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और व्यवसाय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जायंगे। दुनियाको आज ऐसी विश्वव्यापी योजनाकी आवश्यकता है, राष्ट्रीय प्रादेशिक तथा ग्रामीण योजनाएँ जिसके अंग हों। कुटीर उद्योगों पर ज्यादा महत्त्व देनेसे यह डर है कि हमारी आर्थिक प्रगति रुक न जाय और हम आदिम युगके स्तर पर ही रह जाँय। हाथसे बनी हुई वस्तुएँ मशीनोसे बनी हुई वस्तुओंकी अपेक्षा ज्यादा समय और शक्ति लेंगी और उनमें खर्च भी अधिक लग सकता है।

गांधीवादी अर्थनीति यह स्वीकार करती है कि हर प्रकारकी व्यवस्थामें अनुशासन और दबाव जरूरी है। लेकिन उसका यह दावा स्वीकार करना मुश्किल है कि इसमें स्वेच्छाप्रेरित अनुशासन (voluntary discipline) होगा जबकि और दूसरी व्यवस्थाओंमें अनुशासन अनिच्छापूर्वक ऊपरसे लादा गया अथवा अनिवार्य होगा। कौन-सा दबाव (coercion) न्याययुक्त है और कौन-सा अनुचित है इसमें अन्तर करना बड़ा कठिन है।

शोषण बड़े-बड़े पूंजीपतियों या किसी निगम (corporation) का एकाधिकार नही है यह तो किसी छोटे आदमी द्वारा भी किया जा सकता है। आवश्यकता इस बातकी है कि (क) व्यक्तिगत चरित्रका सुधार किया जाय और (ख) शोषणके अवसर कम किये जांय।

इन सब कठिनाइयोंके होते हुए भी गांधीवादी अर्थनीति भारतकी मौजूदा हालतके लिए एक बहुमूल्य योजना है। बुद्धिमानी इस बातमें है कि विकेन्द्रित ग्राम्य अर्थनीति (decentralised village economy) को एक मिश्रित अर्थनीति (mixed economy) का अभिन्न अंग बना दिया जाय जिसमें विभिन्न पद्धतियोंसे मूल्योंकी विशेषताओंको स्वीकार करके उन्हें भारतीय परम्परा और प्रतिभाके अनुकूल बना लिया गया हो।

५. अन्य सिद्धान्त (Other Theories)

सार्वजनिक कल्याण (General welfare). अधिकांश वर्तमान राज्योंमें सार्वजनिक कल्याणके दृष्टिकोणसे ही वास्तविक शासन व्यवस्थाका संचालन होता है। यह एक व्यावहारिक और स्पष्ट सिद्धान्त है और इसे आसानीसे बदलती हुई परिस्थितियोंके अनुकूल बनाया जा सकता है। इस सिद्धान्तके सफल होनेका मुख्य कारण यह है कि आजकल लोग विशुद्ध सैद्धान्तिक विवेचनके विरुद्ध हैं और सिद्धान्तों का व्यावहारिक परिणाम चाहते है। स्वतंत्रताको अब कानूनसे मुक्त नहीं माना जाता है और न वैयक्तिक स्वातंत्र्यकी परीक्षा इस बातसे की जाती है कि राज्यका कार्य-क्षेत्र कितना सीमित है। अठारहवीं शताब्दीके व्यक्तिके जन्मगत और अदेय अधिकारोंवाला सिद्धान्त समाप्तप्रायः है और अब सामाजिक कल्याण पर जोर दिया जाता है। राज्यके कार्योंको तय करनेमें उपयोगितावादी (utilitarian) और अवसरवादी विचारोंका स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। उपयोगितावादी दृष्टिकोणमें व्यक्ति और समाजके हितोंका ध्यान रखनेकी कोशिश की जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपयोगितावादके संस्थापक जेरेमी बेन्थम (Jeremy Bentham)ने सभी संस्थाओं और विधानोंके अस्तित्वका औचित्य सिद्ध करनेके पहले उनकी व्यावहारिक उपयोगिता की जांच की थी।

इस दृष्टिकोणके समर्थक यह ठीक ही कहते हैं कि वैध और अवैध राज्य कार्योंके

बीच कोई स्पष्ट अन्तर नहीं दिखलाया जा सकता। किसी मामलेमें राज्यको हस्तक्षेप करना चाहिए या नहीं इसका निर्णय उस मामलेकी परख करनेके बाद ही किया जा सकता है। फिर भी राज्य कार्यके बारेमें कुछ साधारण सिद्धान्त स्थिर किये जा सकते है:

(१) क्या प्रस्तावित कार्यसे सार्वजनिक हितकी सिद्धि होती है?

(२) क्या किया जानेवाला कार्य प्रभाव-पूर्ण होगा?

(३) क्या भलाईकी अपेक्षा अधिक बुराई किये बिना ही यह कार्य किया जा सकता है?

गार्नर के विचार. गार्नर ने सार्वजनिक कल्याणको अपना आदर्श सिद्धान्त मानते हुए राज्य-कार्यके बारेमें अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं: पुलिसका काम करना ही राज्यके कर्त्तव्यकी इतिश्री नहीं है। नागरिकोंको एक दूसरेकी हत्या या चोरी करनेसे रोकनेके अलावा राज्यको उनके लिए कुछ अधिक करना चाहिए। उसे राष्ट्रीय जीवनको पूर्ण बनाने, राष्ट्रकी सम्पत्ति और उसके कल्याणके विकासमें तथा उसके नैतिक और बौद्धिक उत्थानमें योग देना चाहिए। युक्ति-संगत मानव जीवनके लिए जो तत्व अनिवार्य हैं और जिन्हें पानेका अधिकार हर मनुष्यको है उन सभी तत्वोंको हर व्यक्तिके लिए सम्भव और कल्याणप्रद बनाना राज्यका कर्त्तव्य है। राज्यको साहित्य, कला और विज्ञानको प्रोत्साहित करना चाहिए। राज्यको साधारणतः सामाजिक और आर्थिक विकासका साधन होना चाहिए। राज्यको व्यक्तिगत एकाधिकारके विरुद्ध हस्तक्षेप करना चाहिए और उसकी बुराइयोंसे समाजकी रक्षा करना चाहिए। फिर भी आमतौर पर यही कहा जाता है कि राज्यको हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। स्वाधीनता नियम होना चाहिए, हस्तक्षेप अपवाद। जो काम व्यक्ति स्वयं राज्यकी भांति उससे अच्छा कर सकते हैं उन कामोंको राज्यको नहीं करना चाहिए। जब यह बिल्कुल निश्चित हो कि राज्यके हस्तक्षेपसे सार्वजनिक हित होगा तब ही राज्यको हस्तक्षेप करना चाहिए। किसी विशेष या सन्देहजनक कारणसे हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। आधुनिक युगमें 'हस्तक्षेप न करने' (laissez faire) की नीति अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दीकी अपेक्षा अधिक असम्भव है। सभी मानव संघोंका लक्ष्य स्वतंत्रता ही नहीं है। वह तो एक साधन है जिसके द्वारा मानव जीवनको पूर्ण बनाया जा सकता है।

मैकाइवर के विचार (५५: अध्याय ५). मैकाइवर के विचार बहुलवादसे प्रभावित हैं। उनका कहना है कि राज्यके कार्य-क्षेत्रका निर्णय इस आधार पर होना चाहिए कि एक संगठनकी भांति (समाजके संगठनके रूपमें नहीं) राज्य क्या कर सकता है। उनके सामने यह प्रश्न नहीं है कि राज्यको क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। उनके सामने प्रश्न यह है कि अन्य सामाजिक संगठन और स्वयं राज्यका अपना सीमित स्वरूप क्या राज्यको कुछ करनेकी अनुमति देते हैं। फिर भी इस दृष्टिकोणका व्यावहारिक रूप बहुत कुछ उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचता है जो

निष्कर्ष साधारणतः सार्वजनिक कल्याण सिद्धान्तके होते हैं।

मैकाइवर का कहना है कि राज्यके सक्रियात्मक और निषेधात्मक काम हैं—व्यवस्था कायम करना और व्यक्तित्वका सम्मान करना। उदाहरणार्थ राज्यको विचारका नियंत्रण नही करना चाहिए चाहे विचार किसी भी प्रकारके क्यों न हों (५५ : १५०)। यद्यपि इस नियमके भी कुछ अपवाद हैं:

(१) यदि कोई व्यक्ति राज्यके कानूनको तोड़ने या राज्यके अधिकारकी अवहेलना करनेको उकसाता है तो ऐसे व्यक्तिके विरुद्ध राज्यको कार्यवाही करना चाहिए। नागरिक उचित तरीकेसे मौजूदा कानूनोंकी आलोचना कर सकते हैं। वह दूसरोंको शान्तिपूर्वक समझा-बुझा सकते है और अपना मनचाहा परिवर्तन लानेके लिए वह सभी वैधानिक तरीकोंको अपना सकते हैं। पर कानूनकी अवहेलना सहन नहीं की जा सकती। इसके मतलब यह नही है कि हर व्यक्ति जो राज्यकी अवज्ञाका प्रचार करता है उसे राज्य दण्ड दे।

(२) 'यही विचार ऐसे साहित्य पर भी लागू होते हैं जो कानून द्वारा वर्जित अनैतिक कामोंके लिए उत्तेजित करता है।' इस बातको सावधानीसे देख लेना चाहिए कि उत्तेजित करनेका काम प्रत्यक्ष तौर पर किया गया हो, अप्रत्यक्ष रूपसे नहीं।

(३) विचार व्यक्त करनेकी स्वतंत्रताका मतलब यह नही है कि अपमान या निन्दात्मक विचार प्रकट किये जाँय या अदालतके विचाराधीन मामलोंकी टीका-टिप्पणी की जाय।

१. क़ानून और नैतिकता (Law and Morality)

मैकाइवर आदर्शवादियोंके इस विचारसे सहमत हैं कि नैतिकताकी आन्तरिक शक्तिको राजनीतिक कानूनसे पृथक करना आवश्यक है। कानूनसे नैतिकता लागू नही की जा सकती। कानून केवल बाहरी कामोका ही नियमन कर सकता है। कानूनको केवल ऐसे ही कार्योंको निर्धारित करना चाहिए जिन्हें राज्य कल्याण-कारी समझता हो—ऐसे कार्य जो स्वतंत्र और नैतिक व्यक्तित्व के विकासके लिए आवश्यक तथा भौतिक और सामाजिक परिस्थितियोंको पैदा करनेमें सहायक हों। यह कार्य चाहे जिस उद्देश्यसे किये जाँय उनकी पूर्ति ही आवश्यक होती है। सभी नैतिक उत्तरदायित्वोंको कानूनी उत्तर-दायित्व बना देनेसे नैतिकताका नाश हो जायगा। 'नैतिकताकी अपील हमेशा व्यक्तिकी अपनी उचित और अनुचितकी भावनासे की जाती है, अन्तिम रूपमें व्यक्ति का अपना सत्-असत् विवेक ही उसका विधायक होता है (५५ : १५५)।' नैतिकताका आधार विवेक है। विवेक एक भीतरी शक्ति है। उसमें व्यक्तित्वकी एकता समायी रहती है। इसलिए नैतिकताका क्षेत्र कभी भी राजनीतिक कानूनके क्षेत्रसे एकरूप नहीं हो सकता।

यद्यपि कानून नैतिकतासे भिन्न होता है पर राजनीतिक कानूनके प्रति नागरिक की एक नैतिक जिम्मेदारी होती है। आमतौर पर नागरिकको उसका पालन करना

ही चाहिए। मैकाइवर के शब्दोंमें 'हम क़ानूनका पालन इसलिए नहीं करते कि हम क़ानूनको ठीक मानते हैं बल्कि इसलिए कि हम क़ानूनका पालन करना ठीक समझते हैं। अन्यथा हर अल्प-संख्यक समुदाय क़ानूनका पालन मजबूर होकर करेगा और राज्यमें इतना अधिक संघर्ष पैदा हो जायगा कि राज्यका काम बुरी तरह अव्यवस्थित हो जायगा। क़ानून और सरकारकी सार्वजनिक सेवा और उपयोगिता सभी स्वीकार करते हैं और उसीके लिए हम ऐसे क़ानूनोंको भी मान लेते हैं जो अपने आपमें हमें स्वीकार करने योग्य नहीं जान पड़ते। इस सार्वजनिक स्वीकृति पर ही राजनीतिक उत्तरदायित्व टिका हुआ है (५५ : १५६)।'

यदि क़ानून प्रत्यक्ष रूपसे नैतिकताको लागू नहीं कर सकता तो धर्म क़ानूनके द्वारा भी लागू नही किया जा सकता। धर्म संघके लिए यह उचित नही है कि जिन लोगोंको वह स्वयं अपना अनुयायी नहीं बना सकता उन्हें जबरदस्ती अपना अनुयायी बना देनेके लिए वह राज्यसे अपील करे। ऐसा करनेका मतलब यह होगा कि धर्मको अपनी नैतिक शक्ति पर विश्वास नहीं है।

२. क़ानून और धर्म (Law and Religion)

प्रथाएं वह 'प्रचलित स्वाभाविक विकास है जिनसे जीवनकी आन्तरिक परिस्थितियां और विश्वास प्रकट होते हैं (५५ : १६०)'। कोई भी राज्य अपने नागरिकोंकी पुरानी प्रथाओंको विधानके द्वारा समाप्त नही कर सकता। एकतन्त्र राज्योंकी अपेक्षा प्रजातन्त्र राज्योमें क़ानून और प्रथाओंके बीच संघर्ष होनेकी अधिक सम्भावना है। जहां तक प्रथाओंका सम्बन्ध है प्रजातन्त्र राज्य उनके अनुरूप कम बैठते है और अधिक अस्थायी होते हैं। इसलिए वह अल्पसंख्यक लोगोंकी प्रथाओंको नष्ट कर देनेके लिए तैयार रहते हैं। पर हमारा अनुभव हमें यह बतलाता है कि अल्पसंख्यक समुदायोंकी प्रथाएं क़ानूनकी शक्ति और दबाव द्वारा आसानीसे नहीं बदली जा सकती जैसा कि संयुक्त-राज्य अमरीकामें मद्य-निषेधके मामलेमें हुआ था। 'क़ानूनके प्रथाओं पर हस्तक्षेप करने पर प्रथाएं भी कानूनका विरोध करती है। यह प्रत्याक्रमण केवल उस क़ानून विशेष पर ही नही होता जिसके द्वारा किसी प्रथाका विरोध किया जाता है बल्कि यह प्रत्याक्रमण कानून पालन करनेकी भावनाके विरुद्ध—सामान्य, सार्वजनिक इच्छाकी एकताके विरुद्ध—होता है (जो और भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है)'। 'खतरनाक प्रथाओको क़ानूनके द्वारा समाप्त करना ज़रूरी हो सकता है लेकिन इस प्रकारके उदाहरणोसे तो यह साबित होता है कि सामाजिक प्रथाओंकी सामान्य रूपरेखा विधानकी सीमासे बाहरकी बात है। उसे न तो राज्य बना सकता है और न बिगाड़ सकता है (५५ : १६१)।'

३. क़ानून और प्रथाएं (Law and Customs)

'प्रथाओंके छोटे और बदलते रहनेके रूपका नाम फ़ैशन है और इस पर राज्यका

नियंत्रण और भी कम होता है (५५ : १६१)।' 'यह राज्यकी सीमाओंका अजीब उदाहरण है। लोग बड़ी उत्सुकता और चाहसे पेरिस, लंदन या न्यूयार्कके किसी अज्ञात संघ द्वारा प्रचारित फैशनकी आज्ञाओंका पालन करते हैं पर यदि राज्य इसी प्रकारके किसी मामूली परिवर्तनकी आज्ञा दे तो उसे भयानक अत्याचार माना जायगा। सम्भव है उससे क्रान्ति भी हो जाय (५५ : १६१)'।

४. क़ानून और फ़ैशन (Law and Fashion)

'साधारणतः वह समस्त जीवन संस्कृति जो किसी जाति या युगकी आत्माका विकास है, क़ानूनकी क्षमताके बाहरकी बात है। राज्य उसे प्रतिबिम्बित करता है पर इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता। राज्य जीवनको व्यवस्थित करता है न कि उसकी सृष्टि। संस्कृति समुदायकी सृष्टि है जो आन्तरिक शक्तियोंसे जीवित रहती है। यह आन्तरिक शक्तियाँ राजनीतिक विधानकी अपेक्षा कहीं अधिक सबल और समर्थ होती है (५५ : १६१-६२)'। कला, साहित्य और संगीत प्रत्यक्ष रूपसे राज्यके नियंत्रणकी सीमामें नहीं आते; इन सभी क्षेत्रोंमें 'कोई भी जाति या सभ्यता अपने स्वतंत्र मार्ग पर चलती है। उन अभावों और परिस्थितियोंका असर उन पर पड़ता रहता है जो अधिकतर अज्ञात ही रहती हैं, और जहां ये परिस्थितियां ज्ञात भी होती हैं वहां राज्य द्वारा न तो उनका नियंत्रण होता है और न उनकी पूरी-पूरी जानकारी होती है (५५ : १६२)।'

५. क़ानून और संस्कृति (Law and Culture)

'राज्यको युद्ध और शान्तिका पूरा अधिकार रहता है और इसलिए उसे सभी प्रकारके संघों और व्यक्तियों पर जीवन और मृत्युका अधिकार रहता है।' राज्य 'राजनीतिक विवादोंको शक्ति द्वारा हल करनेके अधिकारका दावा करता है। इस दावेका अर्थ यह है कि राजनीतिक हित अन्य सभी प्रकारके हितोंसे अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।' युद्धकी घोषणा करनेमें राज्य किसी राजनीतिक उद्देश्यको परिवारके सामान्य उद्देश्यों, सांस्कृतिक जीवन और आर्थिक व्यवस्थासे अधिक ऊँचा और महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। मैकाइवर का विश्वास है कि राज्यकी इस अनियंत्रित सत्ताका नियंत्रण कियाजाना चाहिए क्योंकि इसके अनुसार राज्य एक सीमित संगठन है और उसे समूचे समाज या जातिके साथ एक-रूप नहीं माना जा सकता।

६. राज्य और युद्ध (State and war)

राज्यके कार्य-क्षेत्रके बारेमें मैकाइवर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आमतौर पर मनुष्य जिन पदार्थों या वस्तुओं आदिके लिए उत्सुक रहता है उन्हें ध्यानमें रखते हुए सामाजिक-जीवनकी जो सार्वजनीन वाह्य परिस्थितियां (universal external conditions) हैं वही राज्यके कार्य-क्षेत्रमें आती हैं। खास तौर पर इसका मतलब है व्यवस्थाकी प्रतिष्ठा 'जिससे सुरक्षा (protection), स्थायित्व (conservation)

और विकास हो सके (५५ : १८५)।' जहां व्यवस्थाका उद्देश्य केवल व्यवस्था हो वह व्यर्थ है। इसका औचित्य वही तक है जहां तक उससे समुदायकी आवश्यकताएं पूरी हों। समाजके आदर्श विशेषकर न्याय और स्वतंत्रताके आदर्श ही व्यवस्थाकी सीमा निश्चित करते हैं।

व्यावहारिक तौर पर वे सभी काम राज्यके कार्य-क्षेत्रमें आ जाते है जिन्हें व्यक्तियों अथवा व्यक्तिगत संगठनोंकी अपेक्षा राज्य अधिक कुशलता और पूर्णताके साथ कर सकता है। इस कार्य-क्षेत्रमें निम्नलिखित कार्य सम्मिलित हैं: दुर्बलोकी रक्षा करना, स्वस्थ और सुन्दर जीवनके लिए आवश्यक न्यूनतम परिस्थितियोंको बनाये रखना, ऐसे बड़े रचनात्मक उद्योगोंको कार्यान्वित करना जिनका फल भावी पीढ़ियोंको मिले, जैसे नगर-निर्माणकी योजनाएं आदि, देहातोंका, जंगलों, झीलों और पहाड़ोके सौन्दर्य का संरक्षण, सिंचाईके सफल प्रयोग करना, देशकी धरतीका उपयोग करना, जानवरों और पौधोंकी नस्ल बनाना और हानिकारक कीड़े-मकोड़ोंका नियत्रण करना, पारस्परिक सहयोग द्वारा उद्योगोंके स्थापित करनेमें मदद करना, मुद्रा ऋण आदि पर नियंत्रण रखना; उद्योग, व्यापार और व्यवसायको प्रोत्साहन देना, मनुष्यकी सामर्थ्यका विकास और संरक्षण करना, शिक्षा और सांस्कृतिक जीवनका उत्थान करना। इन सब कामोंको करनेमें राज्यको इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि मानव व्यवहारकी आन्तरिक प्रेरणाओंको दबाया न जाय।

६. राजकीय कार्योंका वर्गीकरण
(Classification of Governmental Functions)

अनेक लेखकोंने राजकीय कर्त्तव्योंका वर्गीकरण उस स्थितिके आधार पर करना चाहा है जो अधिकांश आधुनिक राज्योंमें दिखायी देती हैं। इन कर्त्तव्योंको इस प्रकार बांटा गया है:

(१) आवश्यक या मौलिक (Essential or fundamental), और

(२) वैकल्पिक अथवा सेवामूलक (Optional or ministrant)।

१. आवश्यक कार्य (Essential functions)

आवश्यक कार्योंमें वह कार्य शामिल हैं जो राज्यके निरन्तर अस्तित्वके लिए, व्यक्तिकी नागरिक और राजनीतिक स्वाधीनताके लिए और दूसरे व्यक्तियोंके विरुद्ध उसके जीवन, सम्पत्ति और स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिए ज़रूरी हैं। दूसरे शब्दोंमें ये कार्य तीन प्रकारके सम्बन्धों द्वारा निश्चित होते हैं; राज्यका राज्यसे सम्बन्ध, राज्यका नागरिकसे सम्बन्ध, और नागरिकका नागरिकसे सम्बन्ध (२४ : ३६४)। वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) ने राज्यके आवश्यक कार्योंको इस प्रकार व्यक्त किया है:

(१) व्यवस्था बनाये रखना और हिंसा व चोरी-डकैती आदिसे जानमालकी रक्षा करना,

(२) पति और पत्नी तथा सन्तान और माता-पिताके पारस्परिक वैधानिक सम्बन्ध निश्चित करना,

(३) जायदादके अधिकार, हस्तान्तरण (transmission) और विनिमयका नियमन करना तथा क़र्ज़ और अपराधके लिए जायदाद पर आनेवाले दायित्वको निश्चित करना,

(४) व्यक्तियोंमें आपसमें होनेवाले अनुबन्धों सम्बन्धी अधिकारोंको निश्चित करना,

(५) अपराधोंकी परिभाषा और उनके लिए दण्ड तय करना,

(६) दीवानीके मामलोंमें न्यायकी व्यवस्था,

(७) नागरिकोंके राजनीतिक कर्त्तव्यों, विशेषाधिकारों और सम्बन्धोंको निश्चित करना,

(८) बाहरी शक्तियोंसे राज्यके सम्बन्धोंको तय करना; बाहरी खतरों अथवा हस्तक्षेपोंसे राज्यकी रक्षा करना और उसके अन्तर्राष्ट्रीय हितोंकी वृद्धि करना।

ऊपरके वर्गीकरणका समर्थन करते हुए गेटेल कहते हैं कि प्रशासनकी दो शाखाएं हैं, आर्थिक और सैनिक, जिन पर विशेष रूपसे ध्यान दिया जाना ज़रूरी है। आर्थिक कर्त्तव्यमें वह निम्नलिखित कार्योंको शामिल करते हैं: कर लगाना, आयात-निर्यात कर (tariffs) का नियमन, मद्य, मुद्रा (coinage) और मुद्रांकन (currency) का नियंत्रण करना, सार्वजनिक भूमि, जंगल, सार्वजनिक इमारतें, युद्ध सामग्री आदि, सार्वजनिक सम्पत्ति और डाक, रेल, तार आदि राजकीय एकाधिकारोंकी व्यवस्था करना। सार्वजनिक ऋणकी व्यवस्था करना भी इसीसे मिलता-जुलता कर्त्तव्य है।

सैनिक कर्त्तव्योंमें स्थल, जल और वायु सेनाकी व्यवस्था शामिल है। 'साधारणतः स्थल सेना और नौ-सेना दोनों ही को शान्तिका रक्षक माना गया है युद्धको प्रत्यक्ष चुनौतियां नहीं। स्थल-सेनाएं देशके भीतर शान्ति और व्यवस्था कायम करती हैं और नौ-सेना व्यवसाय-व्यापार और उपनिवेशोंकी रक्षा करती है (२४: ४००-१)।' सभी बड़े राज्योंमें कुल राष्ट्रीय आमदनीका बहुत बड़ा भाग स्थल-सेना और नौ-सेना पर खर्च किया जाता है। अमरीकामें भी जहां सन् १९३० ई० से प्रारम्भ होनेवाले दशकमें युद्धका खतरा अपेक्षाकृत बहुत कम था, संघ सरकारने व्ययका तीन-चौथाई स्थल-सेना, नौ-सेना और पेंशनों पर खर्च किया था।

२. वैकल्पिक कर्त्तव्य (Optional Functions)

वैकल्पिक कर्त्तव्य वह कर्त्तव्य हैं जो राज्यके अस्तित्व और व्यक्तिकी स्वतंत्रता तथा सुरक्षाके लिए अनिवार्य नहीं होते पर वे सार्वजनिक कल्याणके लिए ज़रूरी होते हैं। और इसीलिए अधिकतर राज्य इन कामोंको करते हैं। अनिवार्य और वैकल्पिक कर्त्तव्योंके बीच अन्तर क़ायम करना आसान नहीं है। दोनों एक दूसरेसे मिल जाते हैं। यह वर्गीकरण देश और कालके अनुसार बदलता रहता है।

वैकल्पिक कर्त्तव्योंको दो भागोंमें बांटा जा सकता है; समाजवादी (socialistic) और असमाजवादी (non-socialistic)। समाजवादी कर्तव्य वह हैं जिन्हें व्यक्तिगत उद्योगके लिए छोड़ा जा सकता है पर जिन्हें राज्य इसलिए करता है ताकि व्यक्तिगत नियंत्रणसे पैदा होनेवाली खराबियां न पैदा होने पाये अथवा इसलिए कि अनुभवसे किन्हीं विशेष क्षेत्रोंमें सरकारी नियंत्रण अधिक सफल साबित हो चुका है। इस प्रकारके कर्त्तव्योंके उदाहरण हैं: राज्य द्वारा रेलों और तार व्यवस्था पर आधिपत्य और नियंत्रण तथा बिजली, पानी और गैस पर स्थानीय निकायोंका नियंत्रण। असमाजवादी कर्त्तव्य वह हैं जिन्हें यदि सरकार न करे तो मुमकिन है कि कोई भी उन्हें अपने हाथमें न ले। इसमें निम्नलिखित कार्य शामिल हैं: 'ग़रीब और असहाय लोगोंकी देखभाल, सार्वजनिक उद्यानों और पुस्तकालयोंकी व्यवस्था, सफ़ाई, कुछ विशेष प्रकारकी शिक्षा और आंकड़ों सम्बन्धी एवं खोज-पड़ताल सम्बन्धी काम जिसका उद्देश्य हमारे वातावरणको उन्नत बनाना है तथा ऐसी सूचनाएँ इकट्ठी करना जिनके आधार पर भविष्यमें और भी सुधार किये जा सकें (२४: ३९६)'।

वुडरो विल्सन वैकल्पिक या सहायक कार्योंको निम्न शीर्षकोंमें विभाजित करते हैं:

'(१) उद्योग और व्यापारका नियंत्रण,

'(२) श्रमका नियंत्रण,

'(३) आवागमनकी व्यवस्था—जिसमें रेलोंका सरकारी नियंत्रण तथा वह तमाम काम शामिल हैं जिन्हें हम "आन्तरिक विकास" कहते हैं,

'(४) डाक और तार व्यवस्थाका प्रबन्ध जो सिद्धान्त रूपसे तीसरे विभागके ही समान है,

'(५) गैसका उत्पादन और वितरण, जल-कलकी व्यवस्था आदि,

'(६) सफ़ाई जिसमें सफ़ाईसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यापारोंका नियंत्रण भी शामिल है।

'(७) शिक्षा,

'(८) ग़रीब और असमर्थ लोगोंकी देखभाल,

'(९) जंगलोंकी देखभाल तथा अन्य काम जैसे नदियोंमें मछलियोंकी वृद्धि करने का प्रयत्न।

'(१०) व्यय सम्बन्धी क़ानून (sumptuary laws) जैसे "मद्यनिषेध" क़ानून (२८: ४३३)।'

भारतमें सामाजिक विधान-निर्माण

(Social Legislation in India)

इसके पहले कि हम इस अध्यायको समाप्त करें विद्यार्थियोंको यह जान लेना चाहिए कि समाज-सुधारके क्षेत्रमें राजकीय कार्य-क्षेत्रका यह सिद्धान्त किस प्रकार व्यावहारिक रूपमें प्रयोगमें लाया जा सकता है। किसी देशकी सरकारको समाज-सुधारके क्षेत्रमें कितना भाग लेना चाहिए, यह एक विवादास्पद विषय है। हमारे सामाजिक और आर्थिक सिद्धान्त कुछ भी क्यों न हों, इस बातको तो सभी मानते हैं कि हम राज्यको केवल पुलिसके रूपमें नहीं मान सकते, जिसका कर्त्तव्य वाह्य और आन्तरिक शत्रुओंसे रक्षा करना ही होता है। यदि राज्य समाज-कल्याणकारी राज्य नहीं बन जाता तो आजकी दुनियामें उसके अस्तित्वका कोई औचित्य ही नहीं रह जाता। लेकिन इस बातको ध्यानमें रखना होगा कि व्यक्तियों और समुदायकी प्रेरणा-शक्ति और आत्म-निर्भरतामें किसी प्रकारकी बाधा न पहुंचने पाये।

जहां कहीं भी समाजको निश्चित रूपसे एक बड़े पैमाने पर प्रत्यक्ष हानि पहुँच रही हो, सरकारको लोकमतकी उपेक्षा करके भी उसका निराकरण करना चाहिए, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि उस बुराईको दूर करनेके साधन बुराईसे बदतर तथा खर्चीले न हों और उनसे सरकारकी बदनामीका भी डर न हो। यदि सरकार सती-प्रथा और बाल हत्या-प्रथाको हटानेके पहले लोकमतके शिक्षित होनेका इन्तज़ार करती तो उसे अनिश्चित समय तक इन्तज़ार करना पड़ता। यही बात बहुपत्नीत्वके सम्बन्धमें भी लागू होती है। इस प्रथाको हिन्दुओंमें रोकनेके लिए सरकार ने हाल ही में बड़े कठिन तथा निषेधात्मक क़ानून बनाये हैं। जब तक कि भारतकी समस्त जनता शिक्षित न हो जाय, स्वास्थ्य, सफ़ाई और पौष्टिक भोजन आदिके सम्बन्धमें आवश्यक सामाजिक सुधारोंको रोके रहना मूर्खता होगी।

जो लोग राज्य द्वारा आदेशमूलक विधान (positive legislation) बनानेके विरुद्ध हैं, वह इस बातको नहीं समझ पाते कि विधान-निर्माण स्वयं लोकमतका एक साधन है। जिस तरहसे पुलिसके सिपाहीका डंडा हममें से अच्छे-अच्छोंको भी सीधे मार्ग पर ले आता है, उसी तरह राज्य द्वारा बनाया गया क़ानून भी हमें सामाजिक जीवनके उन उच्चस्तरों पर पहुँचनेमें मदद करता है, जिन पर रहनेकी साधारणतः हम लोगोंकी आदत नहीं होती। क़ानूनको जहां एक ओर इस बातका ख्याल रखना चाहिए कि वह लोकमतसे बहुत आगे न बढ़ जाय, वहीं यह भी देखना चाहिए कि वह लोकमतसे कुछ आगे ही रहे ताकि लोकमतको ऊँचा उठानेमें वह प्रेरक और सहायक हो सके।

सामाजिक-क्षेत्रमें विधानको प्रभावकारी होनेके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अनिवार्य हो या सारे देश या जनता पर एक साथ ही लागू हो। ऐसे बहुत-से मामले है जिनमें अनुमति मूलक विधान (permissive legislation) का प्रभाव अनिवार्य विधान (compulsory legislation) की अपेक्षा अधिक होता है। उदाहरण के रूपमें हम अन्तर्जातीय विवाहको ले सकते हैं।

आजकलके हमारे समाजमें ऐसे प्रगतिशील मनुष्य बहुत कम हैं जो अपने जीवन-साथीको चुननेमें जातिका बन्धन तोड़नेको तैयार हों, ऐसे व्यक्तियोंको राज्य द्वारा अप्रत्यक्ष रूपसे बढ़ावा मिलना चाहिए तथा उनके मार्गमें आनेवाली बाधाओंका निराकरण होना चाहिए।[1] समाज-सुधारके मामलोंमें प्रत्यक्ष साधनोंकी अपेक्षा अप्रत्यक्ष साधन अधिक प्रभावकारी होंगे।

कुछ चुने हुए क्षेत्रोंमें मद्य-निषेध लागू करना, जैसा कि आजकल भारतमें किया जा रहा है, निस्सन्देह एक बुद्धिमानीका काम है। अब मद्य-निषेधको देश भर में लागू करनेका विचार किया जा रहा है। सौभाग्यसे इस विषयमें भारतके प्रायः सभी धार्मिक समुदाय एक मत हैं। इस समय सैनिकों तथा विदेशियोंको इस क़ानूनके दायरेसे बाहर रखा गया है, जो उचित नही जान पड़ता।

निस्सन्देह मद्य-निषेधसे राज्यकी आमदनीमें बहुत कमी हो गयी है और बहुत-से लोग बेकार हो गये हैं। शराबका ग़ैरकानूनी तरीक़ेसे बनाया जाना और चोरीसे बेचा जाना अब भी जारी है। क़ानूनको लागू करनेवाले अफ़सरोंने सब जगह ईमानदारी से काम नहीं किया है। यह जरूरी है कि जनताको न केवल शराब पीनेकी बुराइया बतलाई जाय बल्कि उसे देशके कानूनोंका पालन करनेकी महत्ता भी बतलायी जाय। जब भारतमें पूरी तरहसे मद्य-निषेध लागू हो जायगा तब वर्तमान मद्य-निषेध क़ानूनकी उन कमज़ोरियोंको दूर करना जरूरी होगा जिनकी संख्या आजकल बहुत है। सैनिकों या भारतमें रहनेवाले विदेशियोंको किसी भी प्रकारकी छूट देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। औषधि-रूपमें मद्य-सेवनके अनुमति पत्रोंका दुरुपयोग रोकने तथा तत्-सम्बन्धी नियमोंका कड़ाईसे पालन करवानेकी आवश्यकता है। कुछ फ़ैशन-परस्त और शौक़ीन वर्गोंमें मद्य-निषेध क़ानूनको तोड़ना भी एक फ़ैशन हो गया है। बहुत-से बूढ़े लोगोंकी तरह अनेक नौजवान भी इस क़ानूनको भंग करनेके अपराधी हैं।

यदि जनता देशको शराबख़ोरीसे मुक्त रखना चाहती है तो अनेक दुरुपयोगोंके बावजूद भी मद्य-निषेधकी नीति सफल हो सकती है। घरों, स्कूलों और धार्मिक स्थानों में मादक वस्तुओंसे बचनेकी शिक्षा इसमें सहायक हो सकती है। इस क़ानूनके कारण

---

[1] १९५४ में पारित विशेष विवाह विधेयक (Special Marriage Bill) के द्वारा अब हिन्दुओंके बीच किसी भी पक्ष द्वारा अपना धर्म छोड़े बिना विवाह करना वैध घोषित किया जा चुका है। १८७२ ई० के क़ानूनके अनुसार उन्हें घोषणा करनी पड़ती थी कि वह किसी भी धर्ममें नहीं हैं।

बेकार होनेवालोंको काममें लगानेके लिए सार्वजनिक कार्योंकी एक विशाल योजना ज़रूरी है। राज्य सरकारोंके लिए आमदनीके दूसरे साधनोंको खोजनेकी आवश्यता होगी।

लोगोंको भारतीय संस्कृतिके स्थायी मूल्योंकी शिक्षा देना आवश्यक है जिससे उन्हें पश्चिमी संस्कृतिकी बुराइयोंके थोथे नक़लची बननेसे बचाया जा सके। मद्य-निषेध जैसा कोई भी निषेधात्मक क़ानून तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक उसके साथ आदेशमूलक क़ानून भी न हो। जब पहले-पहल कांग्रेस मंत्रिमण्डल (१९३७-३९) ने सलेम जिलेमें मद्य-निषेध लागू किया तो अनेक ताड़ी निकालनेवाले बेकार हो गये और उनकी जीविकाका एकमात्र साधन उनसे छिन गया। फलतः सरकारको मज़दूरोंके अवकाश-कालके लिए नये संगठन करने पड़े और जो लोग बेकार हो गये थे उनकी जीविकाका प्रबन्ध करना पड़ा। खेलकूद, भजन मंडलियों और चायकी दूकानोंका इन्तज़ाम किया गया। ताड़ी निकालनेवालोंको ताज़ी ताड़ीसे गुड़ बनाना सिखाया गया और बहुतोंको सार्वजनिक सड़कोंके लिए पत्थर तोड़नेमें जुटाया गया। राज्यकी आमदनीमें जो कमी हुई उसे बिक्री-कर लगा कर पूरा किया गया।

सामाजिक सुधारके प्रयोग मद्य-निषेधकी भांति न केवल सीमित क्षेत्रोंमें सफलतापूर्वक किये जा सकते हैं बल्कि जनताके कुछ विशेष वर्गोंमें भी हो सकते हैं। उदाहरणके लिए बाल-विवाहकी प्रथा है। यह सर्वविदित है कि १९२९ ई० के बालविवाह निषेध क़ानून (जो शारदा विवाह क़ानूनके नामसे प्रसिद्ध है) को भंग अधिक किया गया है और उसका पालन कम किया गया है। हिन्दुओं और मुसलमानोंके धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाज इसके पक्षमें न थे फिर भी इस क़ानूनको देहातमें रहनेवाले ईसाइयोंमें लागू किया जा सकता है जिनके बीच बाल-विवाहकी प्रथा अनजानी नहीं है। क्योंकि ईसाई लोग सभी जगह बाल-विवाहको बुरा मानते हैं इसलिए यदि यह क़ानून ग्रामीण ईसाइयों पर अनिवार्य रूपसे लागू किया जाय तो उसका कोई विशेष विरोध नहीं होगा। जब यह प्रयोग उनके बीच सफल हो जायगा और लोग इसके सुन्दर परिणामों—सुन्दर, स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट और दीर्घ-जीवन—को देखेंगे तो उनके लिए यह बहुत शिक्षाप्रद होगा।

राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करनेके बाद भारत सरकारने अपने इस निश्चयकी सूचना दे दी है कि वह शारदा क़ानूनको लागू करेगी। देखना यह है कि सरकार वास्तवमें ऐसा करती है या नहीं और यदि करती है तो उसे सफलता मिलती है या नहीं। विवाहकी उम्र भी बढ़ा कर लड़कियोंके लिए १६ वर्ष और लड़कोंके लिए १८ वर्ष कर दी गई है।

पिछड़े हुए लोगोंको सहायता देनेकी ज़िम्मेदारी सरकार पर बहुत अधिक है। फिर भी भारतमें इस बारेमें बहुत कम कोशिश की गयी है। यह सही है कि पागलोंकी रखवालीके लिए ऐसे अस्पताल और ऐसी संस्थाएँ हैं जिनका प्रबन्ध सरकार करती है, परन्तु बेकारोंकी संख्या बढ़ानेवाले कामके अयोग्य, कमज़ोर दिमाग़वालोंके लिए

और अन्धे, बहरे, गूंग, बूढ़े तथा असमर्थ व्यक्तियोंके लिए क़रीब-क़रीब कुछ नहीं किया जा रहा था। जनताके पास इतने साधन नहीं हैं कि वह ऐसे लोगोंका प्रबन्ध स्वयं कर सके। भारतीय अपनी दानशीलताके लिए प्रसिद्ध हैं परन्तु उन्हें इस बातकी शिक्षा नहीं दी गयी है कि कब और किसे दान देना चाहिए और कब नहीं। राह चलते भिखारीको दान देनेसे दान देनेवालेकी आत्माको भले ही शान्ति मिल जाय और भले ही वह यह सन्तोष करले कि वह अपने भावी जीवनके लिए पुण्य कमा रहा है परन्तु शायद उन्हें यह नहीं सूझता है कि बिना सोचे-समझे दान देनेसे सामाजिक समस्याएँ सुलझनेके बजाय और अधिक उलझती जाती हैं। भारतमें भीख मांगना बड़ी तेज़ीसे एक लाभप्रद पेशा बनता जा रहा है।

इस विवेचनासे इस बातकी जाँच कर लेना भी ज़रूरी है कि सामाजिक सहायता के क्षेत्रमें व्यक्तिके स्वेच्छासे किये गये प्रयत्नोंका क्या स्थान होना चाहिए। इंगलैण्ड जैसे देशमें जहाँकी जनता भारतकी अपेक्षा कहीं अधिक एक-जातीय है, जहाँ शिक्षाका स्तर ऊँचा है और आत्म-निर्भरताके आदर्शने जहाँके राष्ट्रीय जीवनमें बहुत बड़ा काम किया है, वहाँ भी ऐसी अनेक संस्थाएँ और क्लब हैं, जो किसी न किसी दिशामें आवश्यक सामाजिक सुधारका काम किया करते हैं। उस देशमें जनताके ऐच्छिक-संघ सामाजिक प्रयोगोंकी प्रयोगशालाएँ होती हैं और उनकी भूमिका तैयार कर देने तथा उसकी उपयोगिता सिद्ध कर देनेके बाद जब काम उनके बूतेके बाहर हो जाता है तब सरकार आगे बढ़कर उस कामको करने लगती है। परन्तु भारतमें अवस्था इससे बिल्कुल भिन्न है। जनताके नागरिक विचारोंका स्तर बहुत नीचा है और नागरिक उत्तरदायित्वकी भावनाका अभी विकास ही हो रहा है।

इस सबके बावजूद यह कहना होगा और ज़ोर देकर कहना होगा कि सामाजिक बुराइयोंको दूर करनेके लिए सरकार पर ही आश्रित होना मूर्खता है। परिवार, स्कूल, कॉलेज, समाचार-पत्र, व्याख्यान-मंच, सिनेमा, थियेटर, रेडियो और खेल-कूदके क्लब आदिको सामाजिक बुराइयोंको दूर करनेमें सक्रिय हो जाना चाहिए। जिन सामाजिक कुरीतियोंके सामने जनता युगोंसे सर झुकाती चली आ रही है, उनकी बुराइयोंको सफलतापूर्वक समझानेमें बड़े-बड़े इश्तहार, व्यंग-चित्र और नाट्य-लीलाएँ तथा जनप्रिय गीत कितना महत्त्वपूर्ण योग दे सकते हैं, यह हम अभी समझ नहीं पाये हैं।

ऊपरकी विवेचनाका निष्कर्ष हम निम्नलिखित सिद्धान्तों और कार्यपद्धतियोंके रूपमें कर सकते हैं:

(१) राज्य जो कुछ भी करे उसे इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्तिगत प्रेरणा, उत्तरदायित्व और आत्मसम्मानकी भावना नष्ट न होने पाये।

(२) राज्य अथवा किसी ऐच्छिक संघ द्वारा किया जानेवाला समाज-सुधार का काम बहुत अधिक औपचारिक (formal) और यांत्रिक (mechanical) नहीं होना चाहिए।

(३) सामाजिक बुराइयों पर सीधे-सीधे चोट करनेसे बहुधा अधिक सफलता नहीं मिलती। ऐसी हालतोंमें अप्रत्यक्ष साधन अधिक प्रभावकारी हो सकते हैं।

(४) सामाजिक-विधान, विशेषकर ऐसे प्रजातंत्रीय देशोंमें जहाँ की जनता शिक्षित हो, लोकमतसे बहुत आगे बढ़ा हुआ नहीं होना चाहिए यद्यपि लोकमतका स्तर ऊँचा करनेके लिए सामाजिक-विधान स्वयं भी एक महत्त्वपूर्ण साधन बन सकता है।

(५) साधारणतः स्वेच्छाप्रेरित संघोंको ही सामाजिक प्रयोगोंकी प्रारम्भिक प्रयोगशाला बनना चाहिए।

(६) प्रान्तीय अथवा केन्द्रीय सरकारोंकी अपेक्षा स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ, जैसे नगरपालिका, जनताके सुख-सुधारका काम बहुत अधिक कर सकती हैं क्योंकि वे सामाजिक समस्याओंके सम्पर्कमें अधिक रहती हैं।

समाजका समाजवादी स्वरूप
(The Socialistic Pattern of Society)

समाजके समाजवादी स्वरूप और कल्याणकारी राज्यको भारतका घोषित लक्ष्य बनाये जानेसे अब कृत्रिम सामाजिक तथा आर्थिक असमानताओंको मिटाने और न्याय तथा समानताके आधार पर निर्मित समाजको प्रतिष्ठित करनेमें विधान अनिवार्यतः अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण भाग लेगा। भारतीय संविधान (१९४९) छुआ-छूतको राज्यके विरुद्ध एक अपराध घोषित करता है और उसका निषेध करता है। छुआ-छूत को मिटाने और हरिजनों, पिछड़े वर्गों और कबायली लोगोंके बच्चोंको शिक्षाके सभी अवसर देनेके यथासम्भव प्रयत्न किये जा रहे हैं। देश भरमें मन्दिर अछूतोंके लिए खोल दिये गये हैं।

आर्थिक-क्षेत्रमें द्वितीय पंचवर्षीय योजनाका लक्ष्य ८० लाखसे लेकर एक करोड़ तक नये कामकी जगहें पैदा करना है। छोटे तथा कुटीर उद्योगोंको आर्थिक तथा अन्य प्रकारकी सहायता दी जा रही है। अधिकाधिक संख्यामें उद्योगोंका राष्ट्रीयकरण किया जा रहा है। अभी हालमें बीमा व्यवसायका राष्ट्रीयकरण किया गया है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजनामें ४,८०० करोड़ रुपये राष्ट्रीय उद्योगोंमें लगाये जानेकी आशा है। राजकीय उद्योगों और सिंचाई सम्बन्धी कार्योंकी संख्या बढ़ती जा रही है। अमीरों और ग़रीबोंके बीचकी खाई पाटनेके लिए और बड़ी-बड़ी सरकारी योजनाओंके लिए आवश्यक धन जुटानेके निमित्त नये-नये कर लगाये जा रहे हैं। इस्टेट डयूटी ऐक्ट (Estate Duty Act) के अनुसार मृत व्यक्तिकी सम्पत्तिका बहुत बड़ा भाग राज्यको मिल जाता है। सम्पत्तिकर (Wealth Tax) तथा व्ययकर (Expenditure Tax) के क़ानून भी लागू हो गये हैं। महँगाईके भत्ते स्थायी हो गये हैं। राज्य द्वारा व्यक्तिकी अधिकतम और न्यूनतम आय निर्धारित की जा सकती है।

शिक्षाके क्षेत्रमें भी भारी परिवर्तन हो रहे हैं। बेसिक शिक्षाको सरकार हर

सम्भव प्रोत्साहन दे रही है, प्रारम्भिक शिक्षाका विस्तार हो रहा है, सामाजिक शिक्षा पर भी उचित ध्यान दिया जा रहा है। माध्यमिक और विश्वविद्यालय शिक्षाका पुनर्गठन हो रहा है। सामान्य शिक्षाकी ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है। प्राविधिक (technical) और व्यावसायिक (vocational) शिक्षा तथा स्त्री-शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। वैज्ञानिक और व्यावसायिक विषयोंके अनुकूल हिन्दी शब्दावलीके विकासके लिए भी सरकार प्रयत्नशील है।

जनताका स्वास्थ्य सुधारनेके लिए भी बहुत कुछ किया जा रहा है। प्रसूति एवं शिशुपालन केन्द्रोंकी स्थापना की जा रही है। संतति-निरोधके सम्बन्धमें जनताको शिक्षित किया जा रहा है और पर्याप्त संख्यामें लोग उससे लाभ उठा रहे हैं। क्षय, कुष्ट आदि रोगोंको समूल नष्ट करनेका प्रयत्न हो रहा है। हर साल नये-नये मेडिकल कॉलेज और अस्पताल खुलते जा रहे हैं। अन्धों और अन्य प्रकारके अपांग लोगोंकी देख-भाल पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। देशमें दूधके उत्पादनको बढ़ानेके प्रयत्न हो रहे हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजनाके आखिरी तीन-चार वर्षोंमें भारतमें अन्नका उत्पादन चालीस लाख टन बढ़ गया है। फिर भी आजकल अन्नकी कमी है क्योंकि आबादी बढ़ती जा रही है और अधिकांश लोग बाजरेके स्थान पर गेहूँ और चावल खाने लगे हैं।

सरकार भारतीय संस्कृति, भारतीय नृत्य संगीत, चित्रकला आदिको पुनर्जीवित करनेका प्रयत्न कर रही है। युवक-समारोह तो आये दिन हुआ ही करते हैं। देशमें सर्वत्र नव-जीवनके लक्षण दिखाई दे रहे हैं।

संक्षेपमें, अब सामाजिक विधान-निर्माण एक सैद्धान्तिक प्रश्न-मात्र नहीं रह गया है, जिस पर विद्वान् और राजनीतिज्ञ ही ध्यान देते हों। यह व्यावहारिक राजनीति और सामाजिक जीवनके हर क्षेत्रमें अधिकार जमा रहा है। निस्सन्देह यदि वर्तमान प्रगति चलती रही और जनताने प्रगतिशील योजनाओंमें सरकारको अपना हार्दिक सहयोग दिया तो निकट भविष्यमें भारतका स्वरूप बहुत बदल जायगा।

समाजवादका मूल्यांकन
(Appreciation of Socialism)

हम एक ऐसे युगमें रह रहे हैं जिसमें समाजवादकी या तो घोर निन्दाकी जाती है या फिर उसकी अत्यधिक प्रशंसा की जाती है। इस विषयका वैज्ञानिक अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियोंके नाते यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम इसे सहानुभूतिपूर्वक परखें, समाजवादके आदर्शको उसके व्यादहारिक रूपसे अलग करें और मालूम करें कि जो कठिनाइयां उसमें होती हैं वह समाजवादका अविभाज्य अंग हैं या केवल परिस्थितियों के कारण पैदा होती हैं। यदि समाजवादके समर्थनमें दिये जानेवाले समूचे परम्परागत तर्क असत्य सिद्ध हो जाते हैं तो भी उसकी मूल भावना स्वस्थ और सुन्दर है।

यह बड़े दुर्भाग्यकी बात है कि इस विषयका शास्त्रीय अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी भी अपनी रुचि-अरुचि और पूर्व-निश्चित धारणाओंके शिकार बन जाते हैं। जर्मन अर्थ-शास्त्री राशर (Roscher) कहते हैं कि समाजवाद 'उन प्रवृत्तियोंका पोषक है जो सार्वजनिक हितका इतना अधिक ध्यान रखना चाहती हैं, जितना मनुष्य के स्वभावके अनुकूल नहीं हैं।' इसमें तो संदेह नहीं कि इस परिभाषामें मूल प्रश्नको टाल दिया गया है। इसका निर्णय कौन करेगा कि क्या मनुष्यके स्वभावके अनुकूल है और क्या नहीं है? मानव-स्वभावकी दुहाई देकर अपनी अकर्मण्यता छिपानेवाले आलसी लोग कम नहीं हैं। हर्नशॉ (Hearnshaw) जैसे विद्वान् प्रोफ़ेसर भी उस समय अपनी पूर्वनिश्चित धारणाके शिकार बन जाते हैं जब वह यह कहते हैं कि सनकी और अपराधी ही ऐसे दो वर्ग हैं जो समाजवादकी ओर आकर्षित होते हैं।

समाजवादकी अनेक-रूपता (The Many-sidedness of Socialism). समाजवादकी कोई एक ठीक परिभाषा देनेकी कठिनाईका मुख्य कारण उसकी अनेक-रूपता है। मालिक और मज़दूरके बीच मुनाफ़ेकी साझेदारीसे लेकर 'संरक्षक सरकार' (paternalism) तक—जिससे यह आशा की जाती है कि वह व्यक्तिके लिए सब कुछ कर दे—सब कुछ समाजवादके भीतर आ जाता है। एक आधुनिक कटु आलोचकका कहना है कि समाजवाद 'अनेक फनोंवाला सांप है—जब तक एक फन काटो तब तक उसके स्थान पर दूसरा फन निकल आता है।'

बाइबिलका कहना है: 'जहां आदर्श कल्पना नहीं होती वहां लोग नष्ट हो जाते हैं।' समाजवादको हम आदर्श कल्पना मान सकते हैं यद्यपि समाजवादके विरोधी उसे कोरी कल्पना मानते हैं। समाजवाद एक दर्शन और एक धर्म है, वह जीवनकी एक पद्धति है। इसलिए समाजवादको कोई एक शास्त्रीय परिभाषा देना अथवा एक

व्यापक, ब्योरेवार, नपातुला, समाजवादी कार्यक्रम पहलेसे ही तैयार कर देना आसान नहीं है। यह एक सजीव, सक्रिय आन्दोलन है जिसकी सम्भावनाओंकी कोई सीमा नहीं है। समाजवाद एक बनी-बनाई योजना या निश्चित व्यवस्था नहीं है जो सदैव बदलनेवाली परिस्थितियोंसे मेल न खा सके। समाजवाद समाजके कुछ लोगोंके बजाय सब लोगोंका हित चाहता है। राजनीतिक स्वतंत्रता—लोकतंत्रके लिए चलनेवाले संघर्ष—का अगला क़दम समाजवाद है। प्रजातंत्रीय देशोंमें हम लोगोंको समाजवादसे परे जो स्वतंत्रता मिली हुई है, वह केवल भूखों मरनेकी स्वतंत्रता है।

समाजवादकी परिभाषा (Definition of Socialism). समाजवादकी यथासम्भव अच्छीसे अच्छी परिभाषा सेलर्स (Sellars) ने की है। उनका कहना है कि 'समाजवाद एक ऐसा प्रजातंत्रवादी आन्दोलन है जो समाजमें एक ऐसा आर्थिक संगठन स्थापित करना चाहता है, जिससे हर समय यथासम्भव अधिकतम न्याय और स्वतंत्रता प्राप्त हो सकें।' ह्यूगन (Hughan) ने समाजवादकी परिभाषा इस प्रकार की है: 'समाजवाद मजदूरोंका राजनीतिक आन्दोलन है, जिसका लक्ष्य उत्पादन और वितरणके मूल साधनों पर सामूहिक प्रभुत्व और प्रजातंत्रीय व्यवस्था लागू करके शोषणका अन्त करना है।'

समाजवादी विचारोंका विकास (Development of Socialistic Ideas). यद्यपि 'समाजवाद' शब्दका प्रयोग पिछली शताब्दीके तीसरे दशकमें ही शुरू हुआ था, फिर भी समाजवादी विचार उतने ही पुराने हैं जितनी पुरानी हमारी सभ्यता है। समाजवादको हम आर्थिक क्षेत्रमें हुई औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) और विचारोंके क्षेत्रमें हुई फ्रांसीसी राज्य क्रान्तिका संयुक्त परिणाम कह सकते हैं। पिछली शताब्दीके मध्य तक समाजवाद बहुत कुछ स्वप्नदर्शी (utopian) रहा। इस प्रारम्भिक समाजवादके प्रमुख व्याख्याता मूर (More), ओवेन (Owen), फ़ोरियर (Fourier) और सेन्ट-साइमन (Saint-Simon) थे। यह सभी लोग आदर्शवादी और विवेकवादी थे। उनका विश्वास था कि वह समझा-बुझाकर और स्वयं उदाहरण उपस्थित करके राष्ट्रीय स्तर पर समाजवादकी स्थापना कर देंगे। समाजवाद और साम्यवादमें स्पष्ट अन्तर करनेका कोई प्रयत्न उन्होंने नहीं किया। वह लोग जिस आदर्श समाजकी स्थापना करनेकी आशा करते थे वह वास्तवमें साम्यवादी था।

साम्यवादके इस प्रारम्भिक आदर्शवादी और स्वप्नदर्शी स्वरूपको कार्ल मार्क्स (Karl Marx) और ऐंजिल्स (Engels) ने बदलकर एक जनप्रिय आन्दोलन बना दिया जिसका आधार उनके कथनानुसार वैज्ञानिक था। मार्क्स स्वभावसे ही आन्दोलनकारी थे तथा समझाने-बुझाने और एकाकी प्रयोगों पर विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने समाजवादको एक सर्वहारा आन्दोलनका रूप दिया और उसे निश्चित रूपसे राजनीतिक बना दिया। उन्होंने वर्ग-युद्धकी धारणाका प्रतिपादन किया और घोषणा की कि मकान मालिकोंको किराया लेनेका, महाजनोंको ब्याज लेनेका और पूंजी-

पतियोंको मुनाफ़ा खानेका कोई हक़ नहीं है। वह श्रमको ही आर्थिक मूल्यका स्रोत मानते थे।

वर्तमान अवस्था संक्रमणकी है। इसमें समाजवाद अपने सही स्वरूपमें आ रहा है। एक ओर समाजवाद और व्यक्तिवादमें और दूसरी ओर समाजवाद और साम्यवादके बीच संघर्ष हो रहा है। कुछ स्वार्थी लोगोंकी हां में हां मिलाकर यह कहना सही नहीं है कि 'मार्क्स आधुनिक समाजवादके पथप्रदर्शक थे और अब भी हैं।'

समाजवाद तथा अन्य व्यवस्थाएं (Socialism and Other Systems). समाजवादके विरोधी उसको बदनाम करनेकी हमेशासे कोशिश करते आये हैं। समाजवादको हम अराजकतावाद (anarchism), श्रमिक संघवाद (syndicalism), व्यापक नौकरशाही (extended bureaucracy) अथवा साम्यवाद (communism) के साथ एकरूप नहीं बना सकते क्योंकि समाजवाद मूलतः विकासमूलक और यथार्थवादी है। अराजकतावाद (उसके दार्शनिक स्वरूपको छोड़कर) हिंसावादी तथा क्रान्तिकारी है। वह व्यक्तिवादका ही विकृत एवं उग्र रूप है। जो लोग समाजवादको विस्तृत नौकरशाही मानते हैं उनके ऐसा माननेका कारण यह है कि सरकारको एक वाह्य शक्ति माननेके वे आदी हो गये हैं। परन्तु यदि समाजवादके सिद्धान्तके अनुसार सरकारको लोग स्वयं अपने लिए स्थापित कर लेते हैं और जनता उसका एक अविभाज्य अंग होती है तो सरकारके विस्तृत कार्य-क्षेत्रका अर्थ संरक्षक सरकार या नौकरशाही कभी नहीं हो सकता। समाजवादको ठीक-ठीक समझनेके लिए यह आवश्यक है कि समाजवाद और साम्यवादका अन्तर अच्छी तरह समझ लिया जाय। समाजवाद उत्पादनके साधनों पर (और कुछ अन्य लोगोंके अनुसार वितरण पर भी) सामूहिक प्रभुत्वका समर्थन करता है परन्तु साम्यवाद सभी वस्तुओं पर सार्वजनिक प्रभुत्व और सभी वस्तुओंके सार्वजनिक उपयोगका पक्षपाती है। साम्यवादका आदर्श है हर मनुष्यको उसकी आवश्यकतानुसार पारिश्रमिक देना परन्तु समाजवादका उद्देश्य हर मनुष्यको उसकी मेहनत और उसके सामाजिक रूपसे उपयोगी श्रमके अनुसार पारिश्रमिक देना है। समाजवाद व्यक्तिगत आय और व्यक्तिगत सम्पत्तिके सिद्धान्तको मानता है परन्तु साम्यवाद इनके औचित्यको नहीं मानता। समाजवादका आधार विकासवादी है पर साम्यवाद क्रान्ति पर आधारित है। साम्यवाद समाजवादकी अपेक्षा अधिक अस्पष्ट, अधिक भावनात्मक और नौकरशाहीकी ओर अधिक झुका हुआ है। समाजवाद राज्यका मित्र है, जब कि साम्यवाद उस समयकी प्रतीक्षा करता है जब राज्य धीरे-धीरे समाप्त हो जायगा।

समाजवादका कार्य-क्रम (Programme of Socialism). समाजवादके साधारण स्वरूपोंके कार्य-क्रमको एक आधुनिक लेखक ने संक्षेपमें इस प्रकार बतलाया है: समाजवादका उद्देश्य उत्पादनके साधनोंका क्रमशः अधिकाधिक राष्ट्रीयकरण करना है ताकि लोगोंकी आमदनी धीरे-धीरे बराबर होती चली जाय। समाजवाद व्यक्तिगत

लाभको मानव कल्याणकी अपेक्षा कम महत्व देता है। समाजवाद उत्पादनका उद्देश्य लाभ या शक्ति-संचय न मानकर उपयोग मानता है और इस मतका समर्थन करता है कि आत्म-विकासके साधन और अवसर सबको समान रूपसे मिलने चाहिए।

अंग्रेज़ी विश्वकोष (Encyclopædia Britannica—११वाँ संस्करण) में समाजवादकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है: 'वह नीति या सिद्धान्त जिसका उद्देश्य है केन्द्रीय प्रजातांत्रिक अधिकार सत्ताके माध्यमसे सम्पत्तिका आजकी अपेक्षा अधिक उत्पादन और अधिक न्याययुक्त वितरण।' समाजवादी निम्नलिखित महत्वपूर्ण उपायोंसे सम्पत्तिके अधिक उचित वितरण और अधिक सामाजिक नियंत्रण करनेका प्रस्ताव करते हैं:

(१) महत्वपूर्ण उद्योगों और सेवाओंको सार्वजनिक प्रभुत्व तथा नियंत्रणमें लाना।

(२) उद्योगोंका संचालन व्यक्तिगत लाभकी दृष्टिसे न करके सामाजिक आवश्यकताओंकी दृष्टिसे करना।

(३) व्यक्तिगत लाभका उद्देश्य हटाकर उसके स्थान पर सामाजिक सेवाके उद्देश्यकी स्थापना करना।

समाजवाद एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करना चाहता है जो युद्धके बजाय भाईचारे पर और आजीविकाके साधनोंके लिए प्रतियोगितात्मक संघर्षके बजाय उत्पादन और वितरणके क्षेत्रमें विवेकपूर्ण सुनिश्चित योजनाके अनुकूल होने वाले पारस्परिक सहयोग पर आधारित होगी। इस सहयोगका उद्देश्य उन सभी लोगोंका हित साधन होगा जो शारीरिक तथा मानसिक कार्य द्वारा उसमें भाग लेते हैं। इंगलैण्डके मज़दूर दलने इस लक्ष्य तक पहुँचनेके लिए जो सुझाव रखे हैं, उनमें से कुछ यह हैं:

(१) राज्य भरमें न्यूनतम वेतन (minimum wage) को सर्वत्र लागू करना,

(२) उद्योगोंका प्रजातंत्रीय नियमन, और

(३) राष्ट्रीय अर्थनीतिमें क्रान्ति लाना तथा अतिरिक्त सम्पत्ति (surplus wealth) को सार्वजनिक हितके लिए उपयोग करना।

समाजवादसे लाभ (Advantages of Socialism). सेलर्स का विश्वास है कि समाजवादी व्यवस्थासे निम्नलिखित वांछनीय परिवर्तन किये जा सकते है:

(१) जहां सम्भव हो सामूहिक प्रभुत्व व नियंत्रणके द्वारा वर्तमान अर्थ-व्यवस्था की गड़बड़ीको कम करना।

(२) विज्ञापनोंमें खर्च की जानेवाली अपार सम्पत्तिकी बर्बादी रोककर और दलालों (middlemen) की विशाल सेनाको समाप्त कर उद्योगोंको सुव्यवस्थित करना।

(३) प्रतियोगिताके समाज-विरोधी रूपोंको समाप्त करना।

(४) सामाजिक सुरक्षा, व्यावसायिक शिक्षा और पुनर्वास सम्बन्धी व्यापक योजनाओंके ज़रिए अकारण फैली हुई ग़रीबीको समाप्त करना।

(५) उपयोगी शिक्षा और मनचाहा काम चुननेके लिए अधिक अवसर देकर जनताकी प्रसुप्त शक्तियों और सामर्थ्यका उपयोग करना।

(६) श्रम बचानेवाले साधनोंको वास्तवमें श्रम बचानेवाले साधन बनाना।

(७) हर व्यक्तिके लिए उचित अवकाशकी व्यवस्था करना और सामाजिक हरामखोरीको समाप्त करना।

(८) शारीरिक और मानसिक दृष्टिसे एक स्वस्थ समाजका निर्माण करना।

संक्षेपमें, समाजवादका अर्थ होगा हानिकारक प्रतियोगिताकी समाप्ति, पूंजीपतियोंका अन्त और ज़मीदारी की समाप्ति।

इन सब लाभोंकी आशा हम समाजवादकी स्थापना होने पर कर सकते हैं परन्तु कुछ ऐसी व्यावहारिक कठिनाइयाँ है जिन्हे हल करना जरूरी है तभी हम समाजवाद के बारेमें सहानुभूतिपूर्वक विचार कर सकते है।

समाजवादकी कठिनाइयाँ (Difficulties of Socialism). आलोचकों का कहना है कि समाजवादका अर्थ एकसत्तावाद (authoritarianism) और नौकरशाहीका व्यापक नियंत्रण है। व्यक्तिगत व्यापारका स्थान सरकारी कारखाने और गोदाम ले लेंगे। हर व्यक्ति राज्यका नौकर हो जायगा। समाजको किसी वस्तुकी कितनी आवश्यकता है, इसका निश्चय सरकारी रसीदों और हिसाब-किताबसे होगा। सरकारी अधिकारी लोगोंको उनका काम बतलायेंगे और हर एकको मिलने वाला पारिश्रमिक और अवकाश निश्चित करेंगे।

यद्यपि यह आपत्ति काफी सबल है फिर भी प्रजातंत्रीय समाजवादके साथ न्याय करनेके लिए हमें यह कहना पड़ेगा कि जनता अपने लिए जो कुछ करती है उसे संरक्षकत्वकी व्यवस्था नही कहा जा सकता। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि सरकार किसी भी वर्ग-विशेषका साधन न रह कर समस्त जनताके हाथोंका साधन बन जाती है, जिसका प्रयोग जनताने अपने लाभके लिए करना सीख लिया है। 'मजदूर संघों और राजनीतिक संस्थाओंमें नियंत्रणकी जिन पद्धतियोंका विकास धीरे-धीरे हो रहा है, उन पद्धतियोंका प्रयोग आवश्यकतासे अधिक बढ़नेवाली अधिकार-वृत्तिको रोकनेके लिए निश्चित रूपसे किया जायगा।' (सेलर्स)

कहा जाता है कि समाजवाद वर्गयुद्धका उपदेश देता है। वह स्वार्थमूलक, भौतिकवादी और उपयोगितावादी है। समाजवाद पूंजीपतियों पर सर्वहारा वर्गका आक्रमण है। इस आपत्तिके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि वर्गयुद्ध समाजवादी सिद्धान्त न होकर मार्क्सवादी सिद्धान्त है। यदि आज समाजवादियोंमें वर्गयुद्धके समर्थकोंके उदाहरण मिलते हैं तो उन्हें वक्ताओंकी भाषण-कला और वोट पानेकी चाल समझना चाहिए न कि एक निश्चित सिद्धान्त। इसके अतिरिक्त आधुनिक व्यक्तिवादी सामाजिक व्यवस्थामें एक दूसरे प्रकारका वर्गवादी युद्ध चल रहा है। कुछ बढ़ा-चढ़ा कर इस संघर्षको समृद्धिशाली वर्गका सर्वहारा वर्ग पर आक्रमण कहा जा सकता है।

समाजवाद कुछ थोड़े-से व्यक्तियोंके कल्याणकी अपेक्षा समूचे समाजके या मानव जातिके कल्याणका समर्थन करता है।

समाजवादमें उत्पादनके लिए आवश्यक प्रेरणा नहीं मिलती। व्यक्तिगत प्रेरणा, उद्योग और स्वतंत्रताके अभावमें उत्पादनकी क्षमता कम हो जायगी। इस आपत्तिके उत्तरमें यह पूछा जा सकता है कि इस प्रकारकी शंका करनेका क्या यह मतलब नहीं है कि हम मानव-स्वभावको बहुत ही नीची कोटिका मानते हैं। क्या यह जरूरी है कि मनुष्य जो कुछ करे वह स्वार्थसे ही प्रेरित होकर करे? जैसे-जैसे मनुष्यमें सामाजिक भावना बढ़ेगी वैसे-वैसे व्यक्तिगत लाभकी अपेक्षा व्यक्तिके दूसरे प्रेरक उद्देश्योंको जागरूक करना क्या सम्भव नहीं हो सकता? और आज भी क्या हम नहीं देखते कि जैसे-जैसे हम अपने सामाजिक उत्तरदायित्वोंका अनुभव अधिकाधिक करते जाते हैं, वैसे-वैसे भौतिक पदार्थोंकी ही तरह अभौतिक भावना-मूलक पुरस्कार भी हमें काम करनेके लिए प्रेरित करते हैं। बर्ट्रेण्ड रसेल का कहना है कि हममें जो मूलभावना संतुष्ट रहनेके लिए बेचैन रहती है वह हमारी 'रचनात्मक प्रेरणा' (creative impulse) है। प्रोफ़ेसर हॉकिंग भी लगभग यही बात कहते हैं। उनका कहना है कि मनुष्यकी जो भावना संतुष्ट रहनेके लिए व्याकुल रहती है वह है 'शक्तिकी लालसा' (the will to power)। क्या अपनी सामर्थ्यके अनुसार कार्य करना या जन-सेवा करना स्वयमें एक पुरस्कार नहीं है?

कभी-कभी यह आशंका प्रकट की जाती है कि समाजवादमें कुल उत्पादन कम हो जायगा। यदि यह सच भी हो तो क्या जरूरी है कि उत्पादनके कम होनेको हम बहुत बड़ा संकट मानें? हम हमेशा उत्पादनके ही विचारसे क्यों परेशान रहें? क्या कभी-कभी न्यायपूर्ण वितरण पर भी ध्यान देना आवश्यक नहीं है? भविष्यकी समस्या उत्पादनकी अपेक्षा वितरणकी अधिक है।

यह भी तर्क किया जाता है कि बड़े-बड़े उद्योगोंकी व्यवस्था राज्य द्वारा स्वयं नहीं की जा सकती। हमारे समाजकी जो वर्तमान व्यवस्था है उसमें भी यह नहीं कहा जा सकता कि जितना बड़ा उद्योग होगा उतने ही अधिक किफायतसे उसका संचालन हो सकता है। इस तर्कके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि कम-से-कम कुछ क्षेत्रोंमें राष्ट्रीयकरणकी अपेक्षा स्थानीय नियंत्रण (municipalization) अधिक लाभदायक हो सकता है। परन्तु अनुभव हो जाने पर डाक-तारकी व्यवस्थाका राज्य द्वारा किया जानेवाला प्रबन्ध क्रमशः बढ़ाया जा सकता है और धीरे-धीरे वन, खान, रेल, जलीय-यातायात और जल-विद्युत् आदिको भी सरकारी प्रबन्धके अन्तर्गत लाया जा सकता है।

समाजवादके आलोचकोंका कहना है कि समाजवाद लोगोंको ऊँचेसे नीचे गिराकर बराबर करनेवाली व्यवस्था है। आज दिन हमारे समाजमें कुछ लोग धनी और बाकी ग़रीब हैं, परन्तु समाजवादी व्यवस्थामें सभी लोग समान रूपसे ग़रीब और दुखी होंगे। सभी लोग एक 'दरिद्र समाज' के सदस्य बन जायेंगे। इसके उत्तर

में यह पूछा जा सकता है कि क्या समाजवादका अर्थ यह नहीं हो सकता कि लोगोंको ऊपर उठाकर समान बनाया जाय? इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नहीं है कि समाजवाद व्यक्तिकी योग्यता और प्रतिभाको निरुत्साहित करे। समाजवाद इतना अवश्य चाहता है कि 'इस योग्यता और प्रतिभाका उपयोग केवल व्यक्तिगत स्वार्थके लिए न होकर उच्चतर उद्देश्योंके लिए हो।' मानव-स्वभावको बदल सकनेके सम्बन्धमें समाजवाद बहुत ही आशावादी है और यह आशावादिता सभी महान् धार्मिक और नैतिक व्यवस्थाओंमें पायी जाती है।

सम्पत्तिसे भी बढ़कर मनुष्य नियन्त्रण करनेका अवसर पानेकी इच्छासे प्रेरित होता है, और यह कहा जाता है कि समाजवाद इस मनोवैज्ञानिक तथ्यको भुला देता है। जिस काममें मनुष्यकी रुचि होती है उसे करनेमें उसे वास्तविक सन्तोष प्राप्त होता है, विशेषकर जब वह काम अपने ढंगसे किया जाय। व्यक्तिगत सम्पत्ति अपने व्यक्तित्वका विकास करनेके लिए मनुष्यको सबसे अच्छा अवसर देती है। यह सम्पत्ति 'मूर्तिमान अमरत्व' (concrete immortality) है। इस आपत्तिका उत्तर यह है कि यह आलोचना पर्याप्त प्रभावकारी नहीं है। मनुष्यके व्यक्तित्वका विकास अन्य लोगोंके जीवन और भाग्यको अपने नियन्त्रणमें रखनेकी अपेक्षा अन्य प्रकारसे भी हो सकता है।

समाजवादका महत्व (The Value of Socialism). प्रत्येक समाज और राजनीतिक दलमें समाजवादके लिए आन्दोलन होना आवश्यक है। यदि समाजवादका कोई रचनात्मक महत्व न भी हो, तो भी उसका एक उपयोगी निषेधात्मक मूल्य तो है ही।

अनेक पश्चिमी देशोंमें समाजवादने मजदूरोंमें एकता स्थापित की है और उन्हें इतना गौरव प्रदान किया है, जितना उन्हें पहले कभी प्राप्त न था। अब मजदूर अपने-आपको गुलाम या 'जीवित यन्त्र' नहीं समझते। अब वह न्यूनतम आर्थिक सुविधाकी माँग बलपूर्वक पेश करते हैं। वेतनमें वृद्धि, कामके घण्टोंमें कमी, कारखानोंकी हालतोंमें सुधार आदि सभी बातें ट्रेड यूनियन आन्दोलनके द्वारा ही पूरी हुई हैं। ट्रेड यूनियन आन्दोलनको समाजवादका आर्थिक पक्ष कहा जा सकता है।

समाजवाद व्यक्तिगत आत्म-बलिदान और जन-सेवाके मापदण्डको ऊँचा उठाता है। संसारके अनेक प्रगतिशील देशोंमें हम जो जागृत सामाजिक भावना और विवेक देखते हैं, उसका श्रेय कुछ अंशोंमें समाजवादको ही है।

समाजवाद व्यक्तिके चरित्र पर वातावरणके प्रभावकी ओर संकेत करता है। उसने लोगोंको यह अनुभव करनेके लिए विवश किया है कि व्यक्तिके आत्मिक विकासके लिए एक निश्चित भौतिक आधार भी आवश्यक है। समाजवादने व्यक्तिवादियोंको विवश किया है कि वह १८वीं शताब्दीके व्यक्तिवादसे शिक्षा लें और समान अवसरवाले जीवनदायी सिद्धान्तको मानें। आजका व्यक्तिवाद 'पार लगो या डूबो' वाले रूढ़िवादी व्यक्तिवाद और विशुद्ध समाजवादके बीच एक मध्य मार्ग है।

समाजवाद हमारा ध्यान इस तथ्यकी ओर आकर्षित करता है कि व्यक्ति बहुधा उन परिस्थितियोंका शिकार हो जाता है जिनके अस्तित्वके लिए न तो वह उत्तरदायी है और न जिन पर उसका कोई बस है।

समाजवाद यह सिद्ध करता है कि सामाजिक प्रजातंत्र अर्थात् समानता और बन्धुत्वकी भावनाके बिना राजनीतिक प्रजातंत्र अपूर्ण है। भारत जैसे देशमें, जहाँ अनेक प्रकारके अनुचित विशेषाधिकार तथा सामाजिक असमानताएँ पायी जाती हैं और जहाँ ऐसे लोग भी सम्मान और उपाधियोंके पीछे पागल दिखाई देते है, जिनसे साधारणतः हम अच्छी आशाएं करते है, समाजवादकी भावनासे बहुत अधिक कल्याणकी आशा की जा सकती है।

समाजवादने संसारका ध्यान सामाजिक न्यायकी तात्कालिक आवश्यकताकी ओर आकर्षित किया है। सर विलियम हारकोर्ट (Sir William Harcourt) का कहना है: 'अब हम सभी समाजवादी है', क्योंकि हम सभी किसी-न-किसी हद तक सामाजिक न्यायकी स्थापना करना चाहते हैं। 'समाजकी कोई भी ऐसी स्थिति सन्तोषजनक या स्थायी रूपसे सहन की जाने योग्य नहीं कही जा सकती जिसमें इतनी ग़रीबी और इतनी तकलीफे हों जितनी आज हैं।' समाजवादी यह चाहते हैं कि किसी भी व्यक्तिको आराम करनेका मौका तब तक न मिले जब तक वह पर्याप्त काम नहीं कर लेता और किसीके पास भी आवश्यकतासे अधिक सम्पत्ति तब तक न होने पावे जब तक प्रत्येक व्यक्तिकी न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी न हो जावें।

विवेकपूर्ण, विकासवादी और यथार्थवादी समाजवाद—क्रमिक रूपसे विकसित होनेवाला समाजवाद—का सिद्धान्त निर्दोष है। समाजवादके कुछ विशेष रूप ग़लत हो सकते हैं परन्तु समाजवादकी भावना पूर्णतया ठीक है और संसारको चाहिए कि उसे जान-बूझकर नष्ट न होने दे।

Select Readings

Bober, M.M.—*Karl Marx's Interpretation of History.*

Bosanquet, B.—*The Philosophical Theory of the State*—Ch. VIII.

Cole, G.D.H.—*Fabian Socialism, The Intelligent Man's Guide to the Post-War World.*

Davis, J.—*Contemporary Social Movements.*

Dawson, Christopher—*Religion and the Modern State.*

Garner, J.W.—*Introduction to Political Science*—Chs. IX and X.

Garner, J.W.—*Political Science and Government*—Ch. XVII.

Gettell, R.G.—*Introduction to Political Science*—Chs. XXIV and XXV.

Gilchrist, R.N.—*Principles of Political Science*—Chs. XIX and XX.

Gollancz Victor—*Our Threatened Values.*

KOESTLER, ARTHUR—*The Yogi and the Commissar.*
Edited By LEWIS, JOHN—*Christianity and the Social Revolution.*
LEACOCK, S.—*Elements of Political Science*—Part III.
MACIVER, R.M.—*The Modern State*—Ch. V.
SIDGWICK, H.—*Elements of Politics*—Chs. IV, IX and X.
WILSON, W.—*The State*—Ch. XV.

८

अधिकार-सम्बन्धी सिद्धान्त
(Theories of Rights)

अधिकार क्या हैं? अधिकार हमें कैसे प्राप्त हुए हैं? अधिकार और अनधिकारमें क्या अन्तर है? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनमें एक साधारण नागरिक और राजनीति-शास्त्रका अध्ययन करनेवाला विद्यार्थी दोनों ही समान रूपसे रुचि लेते हैं।

इस विषय पर विचार करनेसे पहले हम तीन प्रारम्भिक बातोंको बता देना चाहते हैं। अधिकार-सम्बन्धी किसी भी विचार-धारामें ये तीनों बातें पायी जानी चाहिए। पहली बात तो यह है कि अधिकार और कर्त्तव्य आपसमें घनिष्ठ रूपसे जुड़े हुए हैं अर्थात् प्रत्येक अधिकारके साथ एक उत्तरदायित्व भी होता है। 'क' के प्रत्येक अधिकारके साथ 'ख' का यह कर्त्तव्य जुड़ा हुआ है कि वह उसके अधिकारको स्वीकार करे। जैसा कि स्वर्गीय श्री वी० श्रीनिवास शास्त्री (V. Srinivasa Shastri) ने अपने 'कमला व्याख्यान माला' (Kamala Lectures) में कहा था कि अधिकार और कर्त्तव्य दो भिन्न दृष्टिकोणोंसे देखा जानेवाला एक ही तत्व है। वे एक सिक्केके दो पहलू हैं। 'अधिकार कर्त्तव्यों पर आश्रित रहते हैं। 'अधिकारोंका महत्त्व कर्त्तव्योंकी ही दुनियामें होता है (८१ : ११९)।'

दूसरी बात यह है कि हर अधिकारको सामाजिक मान्यताकी जरूरत होती है। इस मान्यताके बिना अधिकार थोथे दावे रह जाते हैं। अधिकारोंका अस्तित्व शून्यमें नहीं होता। उनके लिए समाजकी स्वीकृति जरूरी है। सामाजिक स्वीकृतिका अर्थ केवल क़ानूनी स्वीकृति नहीं है, यद्यपि बहुधा क़ानूनी स्वीकृति उसमें शामिल रहती है और रहना चाहिए भी। सामाजिक स्वीकृतिके पीछे एक नैतिक आधार भी होना चाहिए। उसका आधार सामान्य हित होना चाहिए। समस्त अधिकारोंको अन्तिम रूपमें किसी सामान्य उद्देश्य या नैतिक अच्छाईसे सम्बन्धित होना चाहिए।

तीसरी बात यह है कि अधिकार स्वार्थपूर्ण दावा नहीं है। यह एक निस्स्वार्थ अभिलाषा (disinterested desire) है। इसे सार्वजनिक रूपमें कार्यान्वित किया जा सकता है। अपने अधिकारोंका दृढ़तापूर्वक प्रयोग करनेमें हम सार्वजनिक सेवा करते हैं, और जब हम दूसरोंके अधिकारोंके लिए लड़ते हैं तो यह हो सकता है कि ऐसा

करनेमें हमें व्यक्तिगत हानि अथवा असुविधा उठानी पड़े। किसी भी सच्चे अधिकार का आधार व्यक्तिगत कामना नहीं है। 'अधिकार तो तथ्य और उक्तिकी बात है वह कल्पना और कामनाकी बात नहीं है (५ : १९७)।'

प्राचीन समाजोंमें साधारणत: अधिकारोंको अधिक मान्यता नहीं दी जाती थी। उनमें तो केवल प्रार्थना और दया दानको ही मान्यता थी। इसके विपरीत वर्तमान लोकतंत्रीय समाज अधिकारोंको बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। 'फ्रान्सकी राज्य-क्रान्तिने दान नहीं माँगा था। उसने व्यक्तिके अधिकारोंकी माँग की थी (१० : १५२)।' आयरलैण्ड और भारतके संविधानोंकी भाँति आधुनिक समयके कुछ संविधानोंने अपने नागरिकोंको कुछ मौलिक अधिकार दे रखे है। अधिकारोंकी प्रवृत्ति बढ़नेकी होती है। विशेष अधिकार (privileges) भी समय बीतने पर सामान्य अधिकार बननेकी कोशिश करते है। नये अधिकार भी बहुधा सामने आते रहते हैं जैसे, काम करनेका अधिकार, हड़ताल करनेका अधिकार, हड़तालके दिनोंमें अपनी नौकरी बनाये रखनेका अधिकार आदि।

समय-समय पर अधिकारोंकी जो विभिन्न व्याख्याएं की गयी हैं, उनमेंसे निम्न-लिखित पाँच सिद्धान्त मुख्य हैं :

(१) नैसर्गिक-अधिकार सिद्धान्त ;

(२) वैधानिक अधिकार सिद्धान्त ;

(३) अधिकारोंका ऐतिहासिक सिद्धान्त अथवा वह सिद्धान्त जो परम्पराओंको अधिकारोंका आधार मानता है ;

(४) अधिकारोंका सामाजिक-कल्याण या सामाजिक कार्य-साधकतामूलक (social expediency) सिद्धान्त ; और

(५) अधिकारोंका आदर्शवादी या व्यक्तित्व सिद्धान्त।

१ नैसर्गिक-अधिकार सिद्धान्त (The Theory of Natural Rights)

अधिकारोंके सम्बन्धमें यह सबसे पुराना सिद्धान्त है। इसका प्रारम्भ यूनानियों के समयसे होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार अधिकार मनुष्यको स्वभावसे ही मिले है। वे उसमे निहित है। अधिकार मनुष्यकी प्रकृतिके वैसे ही अंग हैं जैसे उसके शरीरका त्वचाका रंग। उनके लिए किसी लम्बी चौड़ी व्याख्या या औचित्यकी आवश्यकता नहीं है। वे स्वयंसिद्ध सत्य है। मनुष्यको अधिकारोंका प्रयोग दृढ़तापूर्वक करना होता है। अधिकार सभ्य अवस्थासे पहलेके है और कुछ लोगोके अनुसार तो वह सामाजिक अवस्थासे भी पहलेके हैं। अधिकार मनुष्यके जन्मके साथ ही उत्पन्न होते हैं। उनका प्रयोग किसी जगह भी किया जा सकता है। इस प्रकार लॉक का कहना है कि सब मनुष्य जन्मसे ही स्वाधीन और विचारवान् है। ईश्वरने किसी भी व्यक्तिको यह अधिकार नहीं दिया है कि वह किसी दूसरे व्यक्तिको अपनी आज्ञाओंका पालन करनेके लिए मजबूर कर सके। इसी प्रकार जीवनका अधिकार, स्वतंत्रताका

अधिकार, विवेकका अधिकार और अपने विवेक पर अमल करनेका अधिकार आदि सभी नैसर्गिक अधिकार हैं।

प्राकृतिक अधिकारोंके इस सिद्धान्तने मानव विकासके इतिहासमें बड़ा महत्त्वपूर्ण योग दिया है। पश्चिमी लेखकोंमें से जॉन लॉक (John Locke) और टॉमस पेन (Thomas Paine) ने इस सिद्धान्तका बहुत उपयोग किया है। व्यावहारिक राजनीतिमें अमरीका और फ्रांसके वैधानिक संघर्षोंमे इसका बड़ा प्रभाव पड़ा है। वर्जीनियाके संविधानमें इस प्रकार कहा गया है, 'सभी मनुष्य प्रकृतिसे ही समान रूपसे स्वतंत्र और स्वाधीन हैं और सबको कुछ जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त है जिन्हें सामाजिक स्थितिमें प्रवेश करते समय, किसी भी समझौते द्वारा, भावी पीढ़ियोंसे छीना नहीं जा सकता। ये अधिकार है, सम्पत्ति पैदा करके उस पर अपना स्वामित्व क़ायम करना और इस प्रकार जीवन और स्वतंत्रताका उपभोग करना, एवं जीवनमें सुख और सुरक्षाकी खोज करना तथा उसे प्राप्त करना (६६ : ५)।' सन् १७९१ ई० और सन् १७९३ ई० की फ्रान्सीसी घोषणाओंमें भी इसी प्रकारकी बात कही गयी है। १७९३ की घोषणामें स्वतंत्रता, समानता, सुरक्षा और सम्पत्तिके अधिकारको मनुष्यके महत्त्वपूर्ण नैसर्गिक अधिकारोंमें गिनाया गया है। अमरीकी स्वाधीनताकी घोषणा (१७७६) में इन सत्योंको स्वत:सिद्ध माना गया है कि मनुष्य जन्मसे ही समान है तथा विधाताने सबको कुछ अविच्छिन्न (inalienable) अधिकार दिये हैं जिनमें जीवन, स्वाधीनता और सुखकी खोजके अधिकार भी हैं।

सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्तके लेखक आमतौर पर इस सिद्धान्तके समर्थक हैं। उनका अनुमान है कि प्रारम्भसे ही मनुष्यके कुछ नैसर्गिक अधिकार हैं और अनुबन्ध करते समय वह अपने इन अधिकारोंमे से कुछको अपनेसे एक उच्च सत्ताको इसलिए सौंप देता है कि उसके शेष अधिकारोंकी रक्षा हो सके। लॉक के विचारोंमें यह तथ्य एकदम स्पष्ट है। सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्तका समर्थन करते हुए भी हॉब्स का दृष्टिकोण बिल्कुल भिन्न है। उनके अनुसार व्यक्तिके प्राकृतिक अधिकार व्यक्तिकी प्राकृतिक शक्तियां है। उनका कहना है कि प्राकृतिक अवस्थामें 'हर व्यक्तिका हर वस्तु पर, एक दूसरे के शरीर पर भी, अधिकार है (३५ : अध्याय १४)।' प्राकृतिक अवस्था बिल्कुल जानवरोंकी अवस्था है।

हरबर्ट स्पेंसर, जिनके विचार सामाजिक अनुबन्धके लेखकोंसे बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं, कहते है कि उन्होंने मनुष्य जीवन एवं पशु जीवन दोनोंके विकासका अध्ययन किया है। अपने अध्ययनसे वे इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि समान स्वाधीनताका अधिकार सभी मनुष्योंका मौलिक अधिकार है। इस स्वाधीनताके अनुसार हर मनुष्यको अपनी मनचाही बात करनेका अधिकार है बशर्ते कि ऐसा करनेमें वह दूसरे मनुष्योंकी समान स्वाधीनतामें बाधा न बने।

प्राकृतिक अधिकारोंके सिद्धान्तने सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियोंमें बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और आजकल भी वह निर्जीव नहीं है। दुनियाके बहुत-से

भागोंमें भोजन, वस्त्र और निवास-स्थानका अधिकार, काम या जीविकाका अधिकार और वोट आदि देनेके राजनीतिक अधिकारोंकी मांग दृढ़तापूर्वक की जाती है और उनमें प्राकृतिक अधिकारोंका-सा दृष्टिकोण रहता है।

आलोचना.

(क) इस सिद्धान्तकी सबसे स्पष्ट आलोचना यह है कि 'प्राकृतिक' शब्दकी परिभाषा करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। डी० जी० रिची (D. G. Ritchie) ने प्राकृतिक अधिकारों पर एक पुस्तक लिख डाली है और उन अनेक अर्थों को बतलाया है जिन अर्थोंमें इस शब्दका प्रयोग किया गया है। जिन अर्थोंमें उन्होंने इसका प्रयोग देखा है उनमें से कुछ ये हैं:

(१) प्रकृति = समस्त विश्व

(२) प्रकृति = मानवेतर विश्व (The non-human part of the universe)

(३) प्रकृति = आदर्श—या पूर्ण उद्देश्य (The ideal or completed purpose)

(४) प्रकृति = मौलिक, अपूर्ण (The original, the incomplete)

(५) प्रकृति = सामान्य या औसत (The normal or average)

इस स्थितिमें सम्भवतः हम यह पूछते हैं कि प्राकृतिक अधिकारोंकी चर्चा करते समय उक्त विभिन्न अर्थोंमें से किस अर्थमें 'प्रकृति' शब्दको ग्रहण करें?

जब हम इस प्रश्न पर और अधिक विचार करते है तो हमें पता चलता है कि 'प्राकृतिक' शब्दका प्रयोग निम्नलिखित अर्थोंके विरोधमें होता है:

(१) कृत्रिम या बनावटी (artificial) और परम्परागत (conventional) के विरोधमें,

(२) आध्यात्मिक या दैवीके विरोधमें (opposed to spiritual or to revelation)

(३) नागरिक-राज्य (civil state) के विरोधमें। दूसरे अर्थको छोड़कर—क्योंकि उससे हमारा यहां सम्बन्ध नहीं है, हम यह आसानीसे देख सकते हैं कि इन सापेक्ष शब्दों (relative terms) को कोई निश्चित अर्थ देना कितना कठिन है। प्रो० हॉकिंग की विरोधाभाषित (paradoxical) भाषामे हमें यह कहना होगा कि मनुष्य के लिए कृत्रिम बनना ही प्राकृतिक या स्वाभाविक है। कपड़ोका पहनना जो पहले कभी कृत्रिम था आज स्वाभाविक है। यदि 'प्रकृति' शब्दका अर्थ प्रकृतिकी समूची क्रिया-पद्धतिसे है—जो उसका साधारण अर्थ है—तो हमारी सभ्य अवस्था उतनी ही प्राकृतिक है जितनी कि हमारी जंगली या बर्बर अवस्था थी। प्राकृतिक और आदिम (primitive) को समानार्थक मान लेनेका कोई कारण नहीं है। डयोजेनीज़

(Diogenes) प्राकृतिक बने रहनेके लिए पीपेमें रहता था और हम लोग घरोंमें रहते हैं। प्राकृतिक (natural) और लोक स्वीकृति (convention) कोई आवश्यक विरोध नहीं है। नागरिक-राज्य (civil state) उतना ही प्राकृतिक है जितनी सभ्यतासे पूर्वकी स्थिति (pre-civil state) थी।

यूनानके स्टॉइक-दार्शनिकों (Stoics) का अनुसरण करते हुए सिसरो ने प्राकृतिक शब्दका प्रयोग उन भावनाओंको व्यक्त करनेके लिए किया है जो हर मनुष्यके हृदय में परमात्मा और प्रकृति द्वारा प्रतिष्ठित की गयी है। इसीको साधारण भाषामें अन्तःकरणकी आवाज़ कहा गया है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि यह मानदण्ड भी ऊपर बताये गये अन्य मानदण्डोंकी तरह आत्मिक (subjective) है। कुछ लोग पत्नीको पीटना ठीक उसी प्रकार उचित समझ सकते हैं जिस प्रकार कुछ दूसरे लोग पत्नीकी प्रतिष्ठा करना ठीक समझ सकते हैं। स्टॉइक लोग और सिसरो के अनुगामी 'प्रकृति' को समझदारी (commonsense) या सर्वमान्य रायके अर्थमें लेते है। यह अर्थ भी बहुत सन्तोषजनक नहीं है। क्योंकि एक तो समझदार लोगोंकी संख्या कम है; दूसरे हर व्यक्तिकी समझदारी उसे अलग-अलग निर्णय पर पहुँचाती है (The trouble with commonsense is that it is not common and its verdict varies with individuals)।

(ख) जब हम देखते हैं कि 'प्रकृति' और 'प्राकृतिक' शब्दोंका अर्थ निश्चित नहीं है और उनका प्रयोग अनेक अर्थोंमें होता है तो हमें आश्चर्य नहीं होता कि प्राकृतिक अधिकारोंके समर्थक निश्चित न हों कि प्राकृतिक अधिकारोंमें कौन-कौन-से अधिकार हैं। इसीलिए प्राकृतिक अधिकारोंकी कोई सर्वसम्मत सूची नहीं है। कुछ लोग दास प्रथाका औचित्य इस आधार पर सिद्ध करते हैं कि वह प्राकृतिक है। दूसरे लोग अप्राकृतिक और कृत्रिम मानकर इसकी निन्दा करते हैं। कुछ लोग कहते है कि स्त्री और पुरुष प्रकृतिसे ही समान हैं; दूसरे इसे माननेसे इन्कार करते हैं। कुछ लोगोंका विश्वास है कि मनुष्य प्रकृतिसे ही सज्जन होते हैं, दूसरोंका विश्वास है कि मनुष्य प्रकृतिसे दुष्ट होते हैं। कुछ लोग व्यक्तिगत सम्पत्तिको एक प्राकृतिक अधिकार मानते हैं, दूसरे इसका बिल्कुल विरोध करते हैं। जब हम स्त्री-पुरुषके सम्बन्धोंका विचार करते हैं तब हमें विभिन्न मत दिखायी देते हैं और सभी प्रकृति पर आधारित होनेका दावा करते हैं। एक-पत्नीव्रत, बहु-पत्नीत्व, बहुपतित्व, स्वच्छन्द प्रेम और अस्थायी विवाह-सम्बन्ध (transient marriage relations) सभीका समर्थन प्रकृतिके आधार पर और निम्न जीवोंसे सादृश्य करके किया गया है। इस सब पर विचार करते समय हम रिची (Ritchie) के इस मतसे सहमत हैं: 'यदि आप प्रकृतिकी अदालतमें अपील करते हैं तो मुमकिन है कि हम आपको ग़लत सिद्ध न कर सकें, पर आप अपनेको सही भी सिद्ध नहीं कर सकते (६६ : १०५)।'

(ग) तथाकथित प्राकृतिक अधिकार परस्पर एक दूसरेके विरोधी हैं। फ़्रान्सीसी राज्य-क्रान्ति ने स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्वकी घोषणा मनुष्यके पूर्ण

अधिकारोंके रूपमें की थी जिनको स्वतः सिद्ध सत्य (self-evident truths) माना जाता है। लेकिन जब हम उनको व्यवहारमें लाते हैं, तो हमको अनगिनत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।[1] पूर्ण स्वतंत्रता तथा समानताको किसी भी युक्तिसंगत एवं विवेकशील समाजमें कोई स्थान नहीं मिल सकता है। अगर हम समाजको पूर्ण स्वतंत्रता दे देते हैं तो फौरन ही असमानता फैल जाती है। दूसरी ओर अगर हम पूर्ण समानताकी स्थापनासे शुरू करते हैं तो स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। नैसर्गिक अधिकारका सिद्धान्त हमें कोई ऐसा विश्वसनीय मार्ग नहीं दिखाता जिससे कि समानता और स्वतंत्रतामें समन्वय हो सके (The theory of natural rights cannot give us a sure or self-evident way of reconciling liberty and equality)। इसलिए हमें इस समन्वयके लिए दूसरी ओर देखना पड़ता है। या, हम सम्पत्तिके प्रश्नको ले लें। यदि सम्पत्ति पर सबका अधिकार है जैसा कि नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्तका समर्थन करनेवालोंकी धारणा है तो हमें यह जानना चाहिए कि इस अधिकारसे क्या तात्पर्य है? क्या इसका तात्पर्य व्यक्तिगत सम्पत्तिसे है? यदि हाँ, तो क्या व्यक्तिको अपनी इच्छानुसार अपनी सम्पत्तिको बेच देनेका अधिकार है? क्या अपनी सम्पत्तिका अपनी इच्छाके अनुसार उपयोग करनेका अर्थ यह है कि वह व्यक्ति उस सम्पत्तिका दुरुपयोग भी कर सकता है? उदाहरणके लिए क्या किसी दूधवालेको यह अधिकार है कि वह दूधकी क़ीमत ऊँची करनेके लिए कुछ दूधको नालियोंमें फेंक दे? क्या किसी मिल मालिकको इस बातका अधिकार है कि अपने मजदूरोंको पर्याप्त सूचना दिये बिना जब चाहे अपनी मिलको बन्द कर दे? यह कुछ ऐसे सवाल हैं जिनका उत्तर नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। प्रोफेसर हॉकिंग उचित ही कहते है कि मेरे प्राकृतिक अधिकार यह नहीं बतलाते हैं कि मेरे अधिकारोंकी सीमाएँ कहाँ तक हैं।

(घ) नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्तकी मान्यता है कि और दूसरे सामाजिक संगठन साधारणतः कृत्रिम होते हैं और उन्होंने मनुष्योंको उन जन्मसिद्ध अधिकारों (inherent rights) से वंचित कर दिया है जोकि उसको प्राकृतिक अवस्थामें प्राप्त थे। इस विचारके अनुसार मनुष्य ने 'अपनी खोई हुई विरासत' (लास्की) को अधिकारोंके रूपमें पाया है। यह एक ग़लत विचार है। राज्य एक प्राकृतिक विकास है; वह एक कृत्रिम रचना नहीं है। राज्यको अनधिकार दखल देनेवाली (intruder) या बलापहारी (usurper) कहना तो बहुत दूरकी बात है। संस्थाएँ बनावटी नहीं होतीं वह हमारे 'नैतिक विचारोंकी मूर्त्तरूप' हैं (बोसांके)। नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्तका तर्कसंगत निष्कर्ष अतिवादी व्यक्तिवाद (extreme individualism)

---

[1] उपासनाका अधिकार जैसा एक स्पष्ट अधिकार भी सब आधुनिक राज्यों द्वारा नहीं दिया जाता। इसीलिए तो मानव अधिकारोंका घोषणा पत्र (Declaration of Human Rights) 'संयुक्त-राष्ट्र' के सदस्य राज्यों द्वारा पर्याप्त संख्यामें अभी तक स्वीकार नहीं किया गया है जिससे कि वह एक परम्परा बन सके।

होता है जिसका उपयोग अराजकतावादी और रूढ़िवादी दोनों ही के द्वारा किया जा सकता है।

(ङ) इस सिद्धान्तकी वास्तविक कमी या त्रुटि यह है कि इसमें यह अनुमान किया गया है कि समाजसे अलग भी हम अधिकारों और कर्त्तव्योंका उपभोग कर सकते हैं। यह एक ग़लत विचार है। हमारे पास अधिकार केवल समाजके सदस्य होनेके नाते ही हैं। समाजसे बाहर हमारे पास शक्ति तो हो सकती है पर अधिकार नहीं। समाजसे पहलेकी स्थितिमें अधिकारोंकी कल्पनाका कोई अर्थ नहीं है। इसका कारण यह है कि सम्बन्धित कर्त्तव्यके अभावमें अधिकारका कोई मतलब ही नहीं है। 'अधिकारोंकी उत्पत्ति मनुष्यके सामाजिक प्राणी होनेके नाते हुई है (२८ : १३४)।' एक सामान्य व्यवस्थाकी सदस्यता पर ही अधिकारोंकी आधारशिला है, और इसलिए सभ्य अवस्था या सामाजिक स्थितिसे पहले अधिकारोंकी कल्पना अर्थहीन है। जैसा कि बोसांके ने कहा है 'अधिकार एक ऐसा स्वत्व या दावा है जिसको समाज मानता है और राज्य लागू करता है (५ : १९१)।'

(च) लॉर्ड (Lord) ने नैसर्गिक अधिकारोंके सिद्धान्तकी आलोचना आदर्शवादी दृष्टिकोणसे की है ; और कहा है कि इस सिद्धान्तमें 'अधिकारोके स्वरूप पर ध्यान न देकर प्रकृतिके स्वरूप पर अधिक ध्यान दिया गया है।' यह एक सही आलोचना है। इस सिद्धान्तको माननेवाले 'प्रकृति' की परिभाषा करनेमे बहुत ध्यान देते हैं लेकिन यह भूल जाते हैं कि 'अधिकार' की परिभाषा भी तो उतनी ही—अगर उससे अधिक नहीं—आवश्यक है। मानव जीवन रूपी नाटकमें सफल अभिनय करनेमें ही अधिकार सार्थक होते हैं।

इस सिद्धान्तमें सत्यांश. ऊपर लिखी हुई कमियोंके बावजूद भी नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्तमें काफ़ी सच्चाई है। अगर नैसर्गिक अधिकारोसे हमारा तात्पर्य उन अधिकारोंसे है जो धुंधले प्रागैतिहासिक कालमें हमारे पास थे तो यह एक मूर्खतापूर्ण विचार है। पर अगर हम नैसर्गिक अधिकारोका अर्थ उन आदर्शमूलक या नैतिक अधिकारोके रूपमें लें जो हमें भविष्यमें मिलना चाहिए और जिसको सामने रखते हुए हम मौजूदा हालतकी आलोचना कर सकते हैं तो यह धारणा महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इस प्रकार उदाहरणार्थ, काम करनेका अधिकार एक प्राकृतिक अधिकार इस अर्थमें है कि हर सुव्यवस्थित समाजमें प्रत्येक मनुष्यको अपने भोजन, कपड़े और मकानके लिए जीविकोपार्जनके पर्याप्त साधन और अवसर मिलना वांछनीय है। परन्तु यह इस अर्थ में सही नहीं है कि मनुष्यको यह अधिकार प्रागैतिहासिक कालमे प्राप्त था। अतः हम प्राकृतिक अधिकारोकी व्याख्या उन परिस्थितियोंके अर्थमें कर सकते हैं जो मनुष्यके व्यक्तित्वके विकासके लिए आवश्यक है चाहे वे परिस्थितियाँ मनुष्य द्वारा बनायी गयी हों चाहे और किसी प्रकार उत्पन्न हुई हों (५४ : २५४)। लेकिन साधारणतः प्राकृतिक अधिकारोंके न तो यह अर्थ लिए गये है और न उनका इस अर्थमें प्रयोग ही होता है। प्राकृतिक अधिकारका सर्वोत्तम अर्थ है—वह अधिकार जो

मनुष्यके नैतिक उत्थान या विकासके लिए—उसे वास्तवमें मनुष्य बनानेके लिए आवश्यक हों। जैसा कि लास्की ने कहा है कि अधिकार वे ऐतिहासिक परिस्थितियाँ नहीं हैं जो मानव जातिको उसकी प्रारम्भिक अवस्थामें प्राप्त थीं और जिन्हें वह खो चुकी है।

२. वैधानिक अधिकार सिद्धान्त (The Legal Theory of Rights)

इस सिद्धान्तके अनुसार अधिकार राज्यकी सृष्टि है। हमें जो क़ानूनसे मिलता है वही हमारा अधिकार है और जो कुछ कानून हमें नहीं देता वह हमारा अधिकार नहीं है। अधिकार का स्वत: कोई अस्तित्व नहीं है। (Rights are not absolute. They are not inherent in man at all. They are relative to the law of the land)। वे तो देशके क़ानूनसे सम्बन्धित हैं। राज्य हमारे जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति आदिके अधिकारोंको निश्चित करता है। अतएव अधिकार कृत्रिम हैं।

यह सिद्धान्त नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्तके विपरीत है। इसके समर्थकोंका कहना है कि तथाकथित प्राकृतिक क़ानून या तो देशके क़ानूनोंसे मेल खाते हैं या मेल नहीं खाते। अगर वे मेल खाते हैं तो वे अनावश्यक हो जाते हैं और अगर वे विरोधी होते हैं तो वे अशक्त हो जाते हैं। अत: दोनों ही हालतोंमें हम उनको छोड़ सकते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वैधानिक अधिकार सिद्धान्तके समर्थक, बेन्थम प्राकृतिक अधिकारोंको व्यर्थ की बकवास कहते हैं।

टॉमस हाब्स (Thomas Hobbes) के विचारोंमें भी हमें इस सिद्धान्तके कुछ सूत्र मिलते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिके पास आत्म-रक्षाका मौलिक अधिकार है। हॉब्स का विचार है कि व्यक्तिकी अपेक्षा राज्य इस अधिकारको अधिक अच्छी तरह लागू कर सकता है। इसी कारण अनुबन्ध होने पर सब व्यक्ति अपनी इच्छासे अपने सभी अधिकारोंको (आत्म-रक्षाके अधिकारको छोड़कर) सम्प्रभुको सौंप देते हैं और फिर जो कुछ अधिकार शासक उन्हें देता है वही उनके पास रह जाते हैं। जिन प्राकृतिक अधिकारों पर क़ानून रोक नहीं लगाता वह व्यक्तिके पास ही बने रहते हैं। पर इसका यह मतलब नहीं है कि जीवन और मृत्यु पर सम्प्रभुके अधिकारका अतिक्रमण हो जाता है। वह जब चाहे हस्तक्षेप कर सकता है; और प्रजाकी स्वतंत्रता को सीमित कर सकता है। प्रजाको वही सब अधिकार प्राप्त हैं जिन पर क़ानून और विधानका नियंत्रण नहीं है।

आलोचना.

(क) हम यह माननेको तैयार नहीं कि राज्यकी एक आज्ञप्ति (decree) ही किसी बातको ठीक और उचित बना सकती है। प्रोफ़ेसर हॉकिंग के शब्दोंमें हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि क्या घूसखोरी और भ्रष्टाचारको भी क़ानून उचित बना सकता

है? अथवा, क्या क़ानून सती-प्रथाको फिरसे प्रतिष्ठित कर सकता है? यह ऐसे प्रश्न है जिनके उत्तर स्पष्ट है, इस कारण यह स्पष्ट है कि क़ानूनकी भी अपनी सीमाएँ हैं। लास्की ने तो यहाँ तक कहा है कि अधिकारोंको राज्यकी स्वीकृतिकी आवश्यकता नहीं है। वे इसके अधीन नही हैं। यह मत तो अतिवादी है। स्पेंसरके विचारानुसार राज्य अधिकारोंको बनाता नहीं है वरन् उसका अस्तित्व अधिकारोंकी रक्षा करनेमें है। एन० वाइल्ड (N. Wilde) के कथनानुसार 'राज्य अधिकारोंको बनाता नहीं है। वह केवल उन्हें मान्यता प्रदान करता है और उनकी रक्षा करता है। अधिकारोंका अस्तित्व स्वयं अपने आप रहता है, उन्हें क़ानूनका रूप चाहे दिया जाय अथवा नहीं। क़ानून द्वारा उन्हें इसलिए लागू किया जाता है कि वे अधिकार हैं लेकिन वे क़ानून द्वारा लागू होनेकी वजहसे अधिकार नहीं बन जाते।' हमारे विचारसे हमारा कोई दावा इसलिए अधिकार नहीं बन जाता कि उसे क़ानूनका रूप दे दिया गया है, वरन् इसलिए वह हमारा अधिकार है कि वह नैतिक दृष्टिसे उचित व न्याय-संगत है। एक आदर्श अधिकारमें क़ानूनकी स्वीकृति और नैतिकता दोनों ही बातें होनी चाहिए।

(ख) यह कहना कि राज्य ही एकमात्र अधिकारोंकी सृष्टि करता है, राज्यको निरंकुश बना देना है। राज्यको चाहे जितना ऊँचा स्थान देनेको हम तैयार हों फिर भी इसको इतना अधिक ऊँचा स्थान नहीं दिया जा सकता। पारिभाषिक एवं शासकीय रूपमें अवश्य राज्यकी सम्प्रभुता सर्वोच्च है पर फिर भी उसके ऊपर रीतियों, परम्पराओं, इतिहास और नैतिकता पर आधारित कुछ व्यावहारिक बन्धन भी हैं। लास्की का कहना है: 'अधिकारोंकी प्रतिष्ठा लिखित विधानकी अपेक्षा अभ्यास और परम्परा पर अधिक आश्रित रहती है। क़ानूनका निर्माण भी बहुत कुछ समाजके परम्परागत नियमों पर आश्रित रहता है। ऐसा भी अक्सर होता है कि रीति रिवाजोंका व्यवस्थित रूप ही क़ानून बन जाता है न्याय बहुत-से मामलोंमें समाजकी रीतियों और परम्पराओंका अनुगमन करता है। इस कारण यह कहना कि अधिकार केवल क़ानूनके द्वारा ही प्राप्त होते हैं, ग़लत है।

प्रत्येक देशके विधानमें संशोधन होते रहते हैं। इसीसे यह स्पष्ट हो जाता है कि क़ानून ही अधिकारोंको एकमात्र बनानेवाला नही है। क़ानूनोंसे भी ऊँचा स्थान हमारा उचित और अनुचितका ज्ञान है जैसा कि लॉर्ड ने उचित ही कहा है, 'अधिकारों की धारणाके पहले किसी भी प्रकारकी नैतिक व्यवस्था जरूरी है। नैतिक व्यवस्था के अभावमें लोगोंमें शक्तियां, प्रभाव, अनुरोध क्षमता (assertions) और प्रयत्न आदि हो सकते हैं पर ये अधिकार नहीं हैं (A moral order of some kind is the necessary presupposition of rights. Apart from it there may be powers, influences, assertions and efforts, but they are not rights)।' वे आगे कहते हैं, 'अधिकारोंका आधार-स्तम्भ वह यथार्थता और औचित्य है जो अयथार्थ और अनुचितके विरुद्ध होता है।' प्रो० हॉकिंग के शब्दोंमें 'क़ानूनका जो स्वरूप है और जो होना चाहिए उन दोनोंके बीच अन्तर रहता है।'

कुछ विशेष हालतोंमें व्यक्ति राज्यका प्रतिरोध भी कर सकता है। लास्की इसे प्रतिरोधका 'अधिकार' कहते हैं। टी० एच० ग्रीन इसे प्रतिरोध करनेका कर्त्तव्य कहेंगे।[1] लास्की के अनुसार व्यक्तिको राज्यके विरुद्ध ठीक उसी प्रकारसे अधिकार हो सकते है जिस प्रकार राज्यको व्यक्तिके विरुद्ध अधिकार हो सकते हैं। 'राज्यके प्रति हमारा सबसे बड़ा कर्त्तव्य वास्तवमें उस आदर्शके प्रति है जिसकी सिद्धिका प्रयत्न वास्तविक राज्यको करना चाहिए (४७ : ९६)।' 'राज्यकी सम्प्रभुता का अर्थ यह कदापि न होना चाहिए कि वह विधानके अधीन नहीं है (४७ : १२९)।'

(ग) वैधानिक अधिकार सिद्धान्तके कुछ समर्थक यह कहकर इस कठिनाईको दूर करनेकी कोशिश करते हैं कि राज्य केवल क़ानूनी अधिकारोंको मानता है, पर ऐसा कहकर वे कोई गम्भीर बात नही कहते। वे पुनरुक्तिके दोषी हैं। यह कहना तो कुछ इस प्रकार हुआ कि सूर्य दिनमें निकलता है। वैधानिक सिद्धान्तकी त्रुटि यह है कि सारे अधिकार इसके अन्तर्गत नही आते। सभी अधिकारोंको, चाहे वे इतिहास से उत्पन्न हुए हों अथवा परम्पराओं या क़ानूनोसे, नैतिक आधारकी जरूरत होती है। वैधानिक सिद्धान्तसे हम यह निश्चय नही कर पाते कि जिन अधिकारोंको मान्यता प्राप्त है, वे ऐसे अधिकार है जि-हें मान्यता प्राप्त होनी चाहिए। इससे हमें राज्यको वैसा बनानेमें मदद नही मिलती जैसा उसे होना चाहिए। इसलिए यह स्पष्ट है कि राज्यका मूल्यांकन करनेके लिए हमें एक बाहरी मानदण्डकी ज़रूरत है। और वह मान-दण्ड हमें व्यक्तित्वके सिद्धान्तसे मिलता है। लार्ड के शब्दोमें व्यक्तित्व नागरिकतासे अधिक है। लास्की इस प्रश्न पर सामाजिक उपयोगिता (social utility) के दृष्टि-कोणसे विचार करते हुए कहते हैं, 'अधिकारोंके वैधानिक सिद्धान्तको समझनेके लिए सिद्धान्तके बाहरके एक मानदण्डकी कसौटीके रूपमें जरूरत होती है। जब हम कहते हैं कि एक व्यक्तिको अपनी सम्पत्तिका इच्छानुसार उपयोग करनेका अधिकार है तो हम एक तथ्य मात्र व्यक्त करते हैं। पर यह कहकर हम यह निश्चित नहीं करते कि उसे वह अधिकार मिलना चाहिए या नही। जब हम कहते हैं कि एक गूंगे और बहरेको शादी करनेका अधिकार है तो हमारा मतलब यह होता है कि उचित परिस्थितियोंमें कोई भी पुरोहित या धर्म संघ (church) शादी करानेसे इन्कार नहीं कर सकता। पर ऐसा कहनेमें हमारा यह तात्पर्य नही है कि हम यह उचित समझते हैं कि गूंगे और बहरे को शादी करनेका अधिकार प्राप्त होना चाहिए। अधिकारोंके वैधानिक सिद्धान्तके पीछे अनुमानोंकी एक लड़ी है। राजनीतिमें इन अनुमानोंको प्रमाणित माननेसे पहले इन अनुमानोंमें से हर एकका सावधानी से विवेचन करना होगा (४७ : ९१)।'

सिद्धान्तमें सत्यांश. (क) यद्यपि ऊपरके तर्कोंसे यह स्पष्ट है कि वैधानिक

---

[1] इसके विपरीत लूथर (Luther) और कैल्विन (Calvin) ने प्रतिष्ठित राज्य-व्यवस्थाके प्रति सविनय आज्ञापालनकी शिक्षा दी है।

सिद्धान्तसे हमें अधिकारोंका सन्तोषजनक ज्ञान नहीं होता फिर भी इस सिद्धान्तको यों ही अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। हम यह कहनेको तैयार नहीं है कि अधिकारोंका अस्तित्व राज्यसे अलग भी सम्भव है। व्यक्तिके नैतिक विकासके लिए जो स्वत्व या दावे (claim) अनिवार्य है और जिनका उल्लंघन या जिनकी उपेक्षा राज्य द्वारा की जाती है उन्हें हम अधिकसे अधिक सम्भावित अधिकार (potential rights) कह सकते हैं। वे अधिकारोंके आधार हैं। वे पूर्ण विकसित अधिकार नहीं है। यह अपेक्षित है कि कमसे कम प्रजातन्त्रीय देशोंमें हमारे सभी अधिकारोंको क़ानूनी मान्यता मिलनी चाहिए क्योंकि इन देशोंमें लोकसम्मति शान्तिमय ढगसे आवश्यक परिवर्तन करा सकती है। पर यह कहना बिल्कुल दूसरी बात है कि जिस किसी भी बातको क़ानूनी मान्यता मिल चुकी हो वह उचित रूपसे हमारा अधिकार है, भले ही ऐसा अधिकार पारिभाषिक अर्थमें अधिकार माना जाता हो। पुराने ज़मानेमें इंगलैण्डके ज़मीदार अपने किसानोंकी सम्पत्तिको घोड़ोंकी टापोसे रौंदते हुए चले जानेका अधिकार रखते थे। लेकिन आज शायद ही कोई उसे उचित कहे या उस अधिकारका दावा करे। इसके विपरीत नये अधिकारोंकी सृष्टि भी आवश्यक हो सकती है और ऐसे नये अधिकारोंकी मान्यताके लिए हमें वैधानिक आन्दोलन, संघर्ष और प्रतिरोधके कर्त्तव्यकी आवश्यकता पड़ सकती है।

(ख) जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अधिकारका क़ानूनी और नैतिक दोनों पक्ष होना चाहिए। बोसांके के शब्दोंमें 'अधिकारके क़ानूनी और नैतिक दोनों सदर्भ होते हैं। अधिकार एक स्वत्व (दावा) है जिसे क़ानून द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। पर किसी भी नैतिक आदर्शको हम क़ानून द्वारा लागू नहीं कर सकते ; साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि अधिकार एक ऐसा दावा है जिसे क़ानून द्वारा लागू किये जानेके योग्य होना चाहिए और यही उसका नैतिक पक्ष है। एक आदर्श "अधिकार" में यह दोनों पक्ष मिले हुए रहते है। अधिकार क़ानून द्वारा लागू किये जानेके योग्य होता है और उसे लागू किये जानेके योग्य होना भी चाहिए (५ : १८७)।'

हॉलैण्ड ने क़ानूनी दृष्टिकोणसे अधिकारकी परिभाषा यह की है: 'अपनी शक्तिके बजाय समाजकी सहमतिके बलसे एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति पर प्रभाव डालनेकी सामर्थ्य।' उनका कहना है कि अपने बिल्कुल शुद्ध अर्थमें कानूनी अधिकार एक व्यक्ति द्वारा राज्यकी सहमति और सहायतासे दूसरे व्यक्तियोके कार्योंको नियंत्रित करनेकी शक्ति है (३८ : ६१-६२)। अधिकारोंके सम्बन्धमें यह एक अधूरा दृष्टिकोण है और नैतिक दृष्टिकोण द्वारा इसे पूरा किया जाना चाहिए। हॉलैण्ड की वैधानिक परिभाषा के समान रिची ने नैतिक अधिकारकी परिभाषा इस प्रकार की है: 'एक व्यक्ति द्वारा लोकमतकी मंज़ूरी और उसकी सहायतासे, या कमसे कम बिना उसके विरोधके, दूसरे पर नियंत्रण रखनेकी शक्ति' या 'समाज द्वारा स्वीकृत एक व्यक्तिका अन्य दूसरे व्यक्तियों पर वह अधिकार जो राज्य द्वारा चाहे स्वीकृत हो या न हो (६६ : ७८-७९)।'

३. अधिकारोंका ऐतिहासिक सिद्धान्त (The Historical Theory of Rights)

अधिकारोंके ऐतिहासिक सिद्धान्तका सारांश एक वाक्यमें यह है कि 'इतिहास अधिकारकी सृष्टि करता है।' इस सिद्धान्तका मत है कि अधिकार रीति रिवाजोंका ठोस मूर्त्त रूप है। हम इस बातको भली-भांति जानते हैं कि बहुत दिनोंसे चालू रीति रिवाज कुछ समय बाद अधिकारोंका रूप ले लेते हैं। यदि किसी व्यक्तिको अपने जन्म दिवस पर अपने किसी मित्रसे कई वर्षोंसे उपहार मिलते चले आ रहे हों तो वह उसे अपना अधिकार-सा मानने लगता है। शुद्ध उपहार एक परम्परा बन जाती है और लोग उसे एक हककी तरह पानेकी आशा करने लगते हैं। आम रास्ते पर चलनेका अधिकार एक परम्परागत अधिकार है। तलाक़के मामलेमें गुज़ारा तय करनेमें सम्बन्धित व्यक्ति जिस ढंगकी जिन्दगी बितानेका आदी है इसका ध्यान रखा जाता है न कि जीवनके सामान्य खर्चेका। जैसा कि रिची ने कहा है हम प्रायः यह देखते है कि जिन अधिकारोंके बारेमें लोग यह सोचते हैं कि वह उन्हें मिलने ही चाहिए वह 'ऐसे ही अधिकार होते हैं जिनके वह अभ्यस्त होते हैं या जिनके बारेमें यह परम्परा होती है—चाहे वह ग़लत हो या सही—कि वह उन्हें कभी प्राप्त थे। परम्परा ही प्रारम्भिक क़ानून है (६६ : ८२)।' अनेक तथाकथित प्रारम्भिक अधिकारोंकी जब हम छानबीन करते हैं तो हम देखते हैं कि वे ऐसे दावे हैं जिन्हें 'बहुत पुरानी और अटूट परम्पराओंका समर्थन प्राप्त होता है (६६ : ८२)।' इसके विपरीत जिन दावोंकी उपत्ति आधुनिक होती है या जिनका अधिक प्रचार नहीं होता उन्हें रस्म या लोकाचार (convention) कहते हैं।

एडमण्ड बर्क ने कहा है कि फ़ान्सकी राज्य-क्रान्तिका आधार मनुष्यके शुद्ध भाव-सूक्ष्म अधिकार थे जबकि इंगलैण्डकी राज्य-क्रान्तिका आधार अंग्रेज़ोंके परम्परागत अधिकार थे। इस कथनमें बहुत सत्यता है। ऐतिहासिक तौर पर फ़ांसकी राज्य-क्रान्ति उन परिस्थितियोंसे भड़की थी जो अठारहवीं शताब्दीमें फ़ान्समें थीं, पर संघर्षमें उसके नारे थे, स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व जो पूरे मानव समाज पर लागू होते हैं। दूसरी ओर इगलैण्डकी राज्य-क्रान्ति केवल उन अधिकारोंकी पुनर्घोषणा थी जिनका उपयोग अंग्रेज़ लोग शुरुसे ही करते आ रहे थे और जो 'मैग्ना कार्टा' (Magna Carta) और 'पेटीशन ऑफ़ राइट्स' (Petition of Rights) में व्यक्त किये जा चुके थे। कुछ लेखकोंने इंगलैण्डके सारे वैधानिक इतिहासको स्वतंत्रताके बजाय 'अधिकारों' के लिए किये गये संघर्षका इतिहास माना है।

आलोचना.

निस्सन्देह हमारे बहुत-से अधिकार परम्पराओं पर आधारित हैं पर सभी अधिकारोंका मूल परम्पराओंमें बतलाना स्पष्टतः अत्युक्ति है। प्रोफ़ेसर समनर का

कहना है किसी भी जातिकी प्रथाएँ किसी भी बातको उचित बना सकती हैं। हम इस दृष्टिकोणसे सहमत नहीं है। इसकी आलोचना करते हुए हॉकिंग पूछते हैं: 'दास-प्रथा जब क़ानूनसे जायज़ थी तब क्या वह उचित थी? क्या बाल-हत्या उचित थी? इन प्रश्नोंके उत्तर स्पष्ट रूपसे नहीं में हैं। उनकी रायमें यद्यपि दास-प्रथा संसारके अधिकांश भागमें प्रचलित थी फिर भी वह कभी उचित नहीं रही। पर शास्त्रीय सम्मतिके अनुसार दास-प्रथाको अपेक्षाकृत रूपसे ही उचित कहा जा सकता है। एक समय था जब वह उचित थी पर इस युगमें जब कि मनुष्य नैतिक दृष्टिसे विकसित हो चुका है, वह उचित नहीं है। इस दृष्टिकोणमें एक कठिनाई यह है कि अगर अधिकार को हमेशा परम्पराके अनुसार ही रहना है तो सुधार असम्भव है। सती-प्रथा और बहुपत्नीत्वका बन्द किया जाना, शारदा क़ानून और हरिजनोंका मन्दिर-प्रवेश बहुत कुछ देशकी परम्पराओंके विपरीत है। फिर भी समझदार लोकमत बिना किसी हिचकिचाहटके इन क़ानूनोंका समर्थन करता है। प्रोफ़ेसर हॉकिंग ठीक ही कहते हैं कि यह कहना कि परम्परा हमेशा ठीक ही होती है उतनी ही मूर्खतापूर्ण हैं जितना कि यह कहना कि क़ानून किसी चीज़को उचित बना सकता है। इससे आगे भी एक और कसौटी है और वह है व्यक्तित्वका सिद्धान्त (the law of personality)। प्रो० हॉकिंग आगे चलकर फिर कहते हैं कि ऐतिहासिक सिद्धान्त या तो हमें मार्ग प्रदर्शन नहीं करता या फिर ग़लत मार्ग दर्शाता है। इसलिए जब तक कि स्वतंत्र रूपसे व्याख्या करके उस पर प्रकाश न डाला जाय तब तक वह एक व्यर्थका सिद्धान्त ही है। 'इतिहासकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, पर अकेले इतिहास पर भरोसा भी नहीं किया जा सकता (३६ : ७)।' यह विषय ही ऐसा है कि इतिहास इसके सम्बन्धमें एक पूर्ण मानदण्ड या औचित्यकी कसौटी नहीं दे सकता।

४. अधिकारोंका सामाजिक कल्याण या सामाजिक कार्य साधन सिद्धान्त (The Social Welfare or the Social Expediency Theory of Rights)

सामाजिक कल्याण सिद्धान्तके अनुसार अधिकार सामाजिक कल्याणकी आवश्यक शर्तोंके रूपमें है। अधिकारका निर्माण समाजने किया है। रोस्को पाउण्ड (Roscoe Pound) और प्रो० चैफ़ी (Chafee) जैसे इस सिद्धान्तके समर्थकोंका कहना है कि विधान, परम्परा और प्राकृतिक अधिकार आदिका लक्ष्य समाजका हित या भलाई होना चाहिए। प्रो० चैफ़ी का कहना है कि अधिकारोंका निश्चय हितोंके सन्तुलनसे होता है। उदाहरण के लिए भाषणका अधिकार असीमित नहीं है। इस अधिकारका निश्चय सामाजिक हितको ध्यानमें रख कर किया जाता है।

उपयोगितावादी आमतौर पर अधिकारोंके इस सिद्धान्तका समर्थन करते हैं। बेन्थम और मिल दोनों ने ही उपयोगिताके इस सिद्धान्तका स्पष्ट शब्दोंमें समर्थन किया है। उनका यह समर्थन (१) 'कोरी कल्पना या बाहरी सत्ताको माननेके विरोधमें, और (२) मनुष्यके हृदयकी प्राकृतिक इच्छाओंकी मनमानी अभिव्यक्तिके

विरोधमें होता है क्योंकि इस अधिकारका उपयोग बुराइयोंके समर्थनमें भी वैसे ही किया जा सकता है जैसे बुराइयोंका विरोध करनेमें (६६ : ८७)।' कर्त्तव्यकी कसौटी के रूपमें उन्होंने 'अधिकसे अधिक लोगोंका अधिकसे अधिक कल्याण' का सिद्धान्त स्वीकार किया है। उनका विश्वास है कि उपयोगिताका निश्चय प्रकृति या अनुभव द्वारा किया जा सकता है। उपयोगितावादी विचारोंको संशोधित रूपमें मानते हुए लास्की ने उपयोगिताको अधिकारोंकी कसौटी कहा है। उन्होंने अधिकारकी उपयोगिताकी परिभाषा 'राज्यके सभी सदस्योंके लिए उसका महत्त्व' (४७ : ९२) कह कर की है। उनके अनुसार 'अधिकारोंकी कसौटी उनकी उपयोगिता है (४७ : ९२)।' राज्यको उन्हीं दावोंको स्वीकार करना चाहिए 'जो इतिहासके अनुभवके अनुसार अस्वीकृत रह जाने पर घातक सिद्ध हो सकते हैं (४७ : ९३)।' 'हमारे अधिकार समाजसे अलग और स्वतंत्र नहीं हैं वे समाजमें ही निहित हैं। यह अधिकार हमें इसलिए मिले हैं कि हम अपनी और साथ ही साथ समाजकी भी रक्षा कर सकें (६६ : ९४)।' 'इस प्रकार अधिकार और कार्योंका आपसमें सम्बन्ध है। हमें अधिकार इसलिए मिले हैं कि हम सामाजिक लक्ष्य प्राप्त करनेमें अपना सहयोग दे सकें। हमें असामाजिक कार्य करनेका अधिकार नहीं है। क़ीमत चुकानेका प्रयास किये बिना हमें कुछ भी प्राप्त करनेका हक़ नहीं है। इस प्रकार अधिकारके लिए कार्य अनिवार्य है (Function is thus implicit in right) (४७ : ९४)।'

लास्की बड़ी चतुराईसे सामाजिक कल्याणके इस सिद्धान्तके साथ आदर्शवादी सिद्धान्तको जोड़ देते हैं। वह कहते हैं: 'अधिकार……सामाजिक जीवनकी वे परिस्थितियां हैं जिनके अभावमें आमतौर पर कोई भी व्यक्ति अपनी सर्वोत्तम स्थिति को नहीं पहुँच सकता (४७ : ९१)।' अथवा 'अधिकार वे परिस्थितियां हैं जिनके अभावमें एक नागरिक वह पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता जो उसके लिए सम्भव है।'

आलोचना.

अधिकारोंके सामाजिक कल्याण सिद्धान्तमें बहुत कुछ प्रशंसनीय है। अब तक हमने जिन चार सिद्धान्तों पर विचार किया है उन सबमें यह सिद्धान्त सबसे अच्छा है। फिर भी इसमें कुछ त्रुटियां हैं।

(क) निस्सन्देह लोक हित अधिकारोंकी अच्छी कसौटी है। पर कठिनाई तो तब सामने आती है जब हम 'लोकहित' या 'लोक-कल्याण' की व्याख्या करने बैठते हैं। 'लोकहित' या लोक-कल्याणका क्या अर्थ है: 'अधिकसे अधिक लोगोंका अधिक से अधिक सुख' बहुमतका स्वार्थ, लोक-सम्मति, या सरकारकी दृष्टिमें जो कुछ सार्वजनिक हित हो? यदि हम इनमें से किसी एकको जनहितका अर्थ मान लें तो भी अधिक कार्य सिद्ध नहीं होता क्योंकि यह सब शब्द भी अस्पष्ट और अनिश्चित हैं। 'अधिकसे अधिक सुखकी' कोई माप नहीं हो सकती। समूचे समाजकी कोई चेतना तो हो ही नहीं सकती।

(ख) इस सिद्धान्तकी दूसरी त्रुटि यह है कि सामाजिक कल्याण हमारे व्यक्तिगत अधिकारोंमें हस्तक्षेप कर सकता है। यह सिद्धान्त हमें इस स्थिति तक ले जा सकता है कि समाजके अत्यधिक कल्याणके लिए किसी व्यक्तिको थोड़ी हानि पहुँच जाना उचित है—अर्थात् इस सिद्धान्तकी ओर कि उद्देश्य ही साधनके औचित्यको सिद्ध करता है—व्यवहारमें इसका परिणाम यह हो सकता है कि सार्वजनिक हित एक स्वीकृत व्यक्तिगत अधिकारको दबा दे। व्यवहारमें सामाजिक कार्य-साधकताका सिद्धान्त (principle of social expediency) एक भयंकर सिद्धान्त है। सौभाग्य से अधिकतर व्यक्तिगत अधिकार सामाजिक कल्याणके अनुरूप ही होते हैं। कठिनाई वहीं उत्पन्न होती है जहाँ दोनोंमें संघर्ष होता है। जब ऐसा संघर्ष उत्पन्न होता है तब सामाजिक कल्याण सिद्धान्तके पोषक व्यक्तिके हितकी अपेक्षा समाजके हितको ही स्वीकार करनेको बाध्य हैं। प्रोफेसर हॉकिंग एक उप-नौ-सेनापति (rear-admiral) की कहानी बताते हैं कि जब उससे यह पूछा गया कि यदि उससे सेना की सामान्य शक्तिको बनाये रखनेके लिए उसके एक अधीनस्थ निरपराध व्यक्तिका बलिदान करनेको कहा जाय तो वह क्या करेगा तो उसे यह उत्तर देनेमें तनिक भी संकोच नहीं हुआ कि वह उस व्यक्तिका बलिदान दे देगा। यदि समूचे समह या समुदाय की सुरक्षा और सार्वजनिक अनुशासनकी प्रतिष्ठाके लिए एक व्यक्तिका बलिदान ही करना पड़ा तो कौन-सी बड़ी बात है?

हमारा विश्वास है कि यह एक ग़लत दृष्टिकोण है। अत्यधिक सामूहिक आवश्यकता हर चीज़को सही नहीं बना सकती। संयुक्त राज्य अमरीकाके उच्चतम न्यायालयका सुन्दर फ़ैसला इस विषय पर बहुत प्रकाश डालता है। एक जहाज़ टूटने पर उसके नाविकों ने अपनेको बचानेके लिए अपने एक साथीको मारकर उसे अपना भोजन बना लिया था। न्यायालयका फ़ैसला था कि उस व्यक्तिको किसी हालतमें भी नहीं मारना चाहिए था। एन० वाइल्ड (N. Wilde) के अनुसार 'यदि समाज ही अधिकारोंका निर्माता है तो व्यक्तिकी कहीं भी रक्षा नहीं हो सकेगी और वह समाज की निरंकुश इच्छाके विरुद्ध अपील भी नहीं कर सकता (८१ : १२४)।'

५. अधिकारोंका आदर्शवादी या व्यक्तिपरक सिद्धान्त (The Idealistic or Personality Theory of Rights)

इस सिद्धान्तके अनुसार अधिकार वे बाहरी परिस्थितियां हैं जो मनुष्यके आन्तरिक विकासके लिए आवश्यक हैं। इसीके अनुसार क्राज (Krause) ने—जिनका उद्धरण ग्रीन ने दिया है—अधिकारोंको 'विवेकपूर्ण जीवनके विकासके लिए आवश्यक वाह्य परिस्थितियां' माना है (२९ : ३५)। उन्हींकी तरह हेनरीट्सी (Henrici)—ग्रीन ने इनका भी उद्धरण दिया है—कहते हैं कि 'मनुष्यके व्यक्तित्वकी पूर्णताके लिए जो भी भौतिक परिस्थितियां आवश्यक हैं उनकी रक्षाके लिए जो कुछ जरूरी हो' वही अधिकार है (२९ : ३५)। एन० वाइल्ड का कहना है कि 'अधिकार कुछ कार्योंके करनेमें युक्ति और तर्क-संगत स्वाधीनता

का दावा है (८१ : ११५)।' इसका अर्थ यह हुआ कि अधिकारोंके बिना कोई भी मनुष्य उस सर्वोच्च पूर्णताको प्राप्त नहीं कर सकता है जिसे प्राप्त करनेकी उसमें योग्यता होती है। किसी व्यक्तिका सबसे बड़ा अधिकार उसके व्यक्तित्वका अधिकार है। इसके अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्यका यह कर्त्तव्य और अधिकार है कि वह अपनी क्षमता या शक्तिको स्वतंत्रतापूर्वक विकसित करे। अन्य सभी अधिकार इस मौलिक अधिकारसे उत्पन्न होते हैं। 'यहां तक कि जीवनका अधिकार, स्वतंत्रताका अधिकार, सम्पत्तिका अधिकार जैसे महत्त्वपूर्ण अधिकार भी चरम अधिकार (absolute rights) नहीं हैं। यह व्यक्तित्वके अधिकारसे सम्बन्धित हैं। अतः हमें जीवित रहनेका अधिकार तभी तक है जब तक कि जीवित रहना हमारे सर्वोच्च विकासके लिए जरूरी है। हमें आत्म-हत्या करनेका अधिकार नहीं है क्योंकि हम कभी भी यह दृढ़तासे नहीं कह सकते कि हमने अपना सर्वोच्च विकास कर लिया है। जिस क्षण हम अपने अधिकारोंका दुरुपयोग करें समाजको हमसे यह अधिकार छीन लेनेका पूरा-पूरा न्यायोचित हक़ है। ग्रीन के अनुसार अधिकार वह शक्ति है जो कि 'किसी मनुष्यके लिए 'नैतिक जीवनके रूपमें उसके व्यवसाय और कर्त्तव्यको पूरा करनेके लिए आवश्यक है (२९ : ४३)।'

यह सिद्धान्त अधिकारोंको एक उच्च नैतिक दृष्टिकोणसे देखता है। अधिकार वह शक्ति है जिनका दावा हम समाजसे नैतिक स्तर पर कर सकते हैं उनका मूल मनुष्यके मस्तिष्क या हृदयमें है। अधिकार वह शक्ति है जो समाज हमें इसलिए देता है कि हम दूसरोंसे मिलकर सार्वजनिक हित—हमारा अपना हित जिसका एक अभिन्न अंग है—की सिद्ध कर सकें। इस सच्चाईको हम पहले भी यह कहकर व्यक्त कर चुके हैं कि हर अधिकारके लिए समाजकी स्वीकृति आवश्यक होती है। इसको हम और अधिक स्पष्ट शब्दोंमें इस प्रकार कह सकते हैं कि जब कभी भी हम कोई अधिकार मानते हैं तो हमें दो बातें सिद्ध करना आवश्यक हैं। प्रथम तो यह कि हम समाजको यह बता सकें कि यह अधिकार जो कि हम चाहते हैं हमारे विकासके लिए अति आवश्यक है और, दूसरे हमें समाजको यह बता देना चाहिए कि हम इन अधिकारों को मांगकर किसी दूसरेके समान विकासके अधिकारोंमें हस्तक्षेप नहीं कर रहे हैं। इस तरह जब हम जीवनके अधिकारको मांगते हैं तो इसका अर्थ यह है कि (क) हम किसीसे इस स्वत्व (दावे) की मांग करते हैं, (ख) हम दूसरोंके यही या इसी प्रकार के दावोंको माननेके लिए तैयार हैं, और (ग) हम समाजको यह मौन स्वीकृति (tacit undertaking) देते हैं कि हम इस अधिकारका अपने सर्वोत्तम और सही हितमें उपयोग करेंगे। इसी अर्थमें हमें इस कथनको भी ग्रहण करना चाहिए कि अधिकार और कर्त्तव्य आपसमें सम्बन्धित हैं। इस तरह अधिकारोंकी प्राप्ति समाज की सदस्यतासे ही होती है। किसीको मनमाने कार्य करनेका अधिकार नहीं है। जैसा कि एन० वाइल्ड लिखते हैं: 'अधिकार कार्य करनेकी स्वतंत्रता है जो मनुष्य को इसलिए प्राप्त होती है कि उसका समाजमें एक निश्चित स्थान है और सामाजिक व्यवस्थामें वह कुछ कार्योंको पूरा करता है (८१ : १२)।'

दूसरे शब्दोंमें इस तथ्यको हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि अधिकारोंका आधार एक विवेकशील और उत्तरदायित्वपूर्ण भावना या इच्छा है। सनकी या अनुत्तर-दायित्वपूर्ण इच्छाएँ अधिकार नहीं हो सकतीं। जिस व्यक्ति या समुदायके सामने हम अपनी इच्छा उपस्थित करते हैं उसकी किसी इच्छा तथा हमारी इच्छामें मेल होना चाहिए। प्रो० हॉकिंग के कथनानुसार 'अधिकार कोई भी ऐसी इच्छाको पूरा करनेका दावा है जो सार्वजनिक हितके अनुकूल हो।' क्योंकि प्रत्येक उचित अधिकारका आधार नैतिक होता है इसलिए हम किसी भी अधिकारकी पूर्तिकी माँग इस भावनाके साथ कर सकते हैं कि जिस व्यक्तिसे या जिस पर हम यह दावा पेश कर रहे हैं उस पर हमारी पूरी शक्ति है, भले ही हम शरीरसे सबसे अधिक कमज़ोर हों। भेड़िये और मेमनेवाली कहानीमें मेमनेके मांस पर अवश्य ही भेड़ियेको 'प्राकृतिक' अधिकार प्राप्त था परन्तु मेमने ने भेड़ियेके अन्तस्तलकी सर्वोच्च भावना से विवेक और नैतिकताकी अपील की थी। इसी तरह हमें उन क्षेत्रोंमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए जो हमारे लिए वर्जित हैं। क्योंकि ऐसा करनेमें हम अपने विवेकका उल्लंघन करते हैं तथा अपने व्यक्तित्वके सिद्धान्तको तोड़ते हैं। डा० हॉकिंग कहते हैं कि जब एक व्यक्ति किसी दूसरेके विरुद्ध अधिकारका दावा करता है तब वह कहता है 'यदि तुम मेरे अधिकारोंमें दखल देते हो तो तुम अपने ही क़दम पर आघात करते हो।' दास-प्रथामें दास रखनेवालोंकी हानि दासोंसे अधिक होती है। दासका कष्ट काफ़ी हद तक शारीरिक होता है। परन्तु दास रखनेवालोंकी नैतिक और आत्मिक हानि होती है। अगर हम दूसरेके अधिकारोंको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं तो हम अपनी शक्तिका ही आदर करते हैं। एक निरपराध व्यक्तिकी हत्या करने पर हम अपने ही किसी तत्वकी हत्या करते हैं।

लास्की जिन्होंने आदर्शवाद और सामाजिक उपयोगिताको आपसमें मिला दिया है अधिकार सम्बन्धी अपनी धारणामें बहुलवादी तत्व सम्मिलित कर देते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार अधिकारके तीन अनिवार्य स्वरूप होते हैं: (१) व्यक्तिका हित या स्वार्थ, (२) विभिन्न गुटों या वर्गोंका हित (व्यावसायिक आदि), और (३) समाजका (राष्ट्र का) हित (४७ : १४१)।

आलोचना व मूल्यांकन.

(क) सब सिद्धान्तों पर अच्छी तरह विचार करनेके पश्चात् अधिकारोंका आदर्शवादी या व्यक्तित्वमूलक सिद्धान्त ही सबसे अधिक सन्तोषप्रद जान पड़ता है। कठिनाई उस समय उत्पन्न होती है जब हम व्यक्तित्वकी धारणाको व्यवहारमें लाने का प्रयत्न करते हैं। यह पूछा जा सकता है कि राज्य किस माप-दण्डसे उन परिस्थितियोंको निश्चित करेगा जो हर मनुष्यके पूर्ण विकासके लिए ज़रूरी है? क्या व्यक्तित्वका विचार आखिरकार एक आत्मगत विचार नहीं है? हम दूसरोंके विचारके

बारेमें क्या जानते हैं? यह निस्सन्देह भारी आपत्तियाँ हैं। हमारा उत्तर उन आपत्तियोंके लिए यह है कि आदर्शवादी सिद्धान्तके अनुसार राज्य मनुष्यके जीवनको सुन्दर बनानेके लिए सब कुछ देनेका दावा नहीं करता। यह मानते हुए कि प्रत्येक मनुष्यमें विकास करनेकी जितनी सामर्थ्य है उतना विकास वह करना चाहता है, राज्य कुछ न्यूनतम अधिकार मनुष्यको देता है और मनुष्यको उन अधिकारोंके प्रयोग करने की पूरी स्वतंत्रता रहती है। राज्य यह मानता है कि मौलिक अधिकार हर व्यक्तिके लिए एक समान होने चाहिए। उनको प्राप्त करनेके बाद ही भेद उत्पन्न हो सकता है।

(ख) हम यह सोच सकते हैं कि सामाजिक कल्याण सिद्धान्त और आदर्शवादी सिद्धान्त अधिकारोंके सम्बन्धमें काफी हद तक एकसे हैं क्योंकि व्यक्तिका हित और समाजका हित आपसमे घनिष्ठ रूपसे जुड़े हुए है।[1] लेकिन जब कभी भी व्यक्तिगत हित और सामाजिक हितमें विरोध होता है तब आदर्शवादी सिद्धान्त एक ओर जायगा और सामाजिक कल्याण सिद्धान्त दूसरी ओर। आदर्शवादी सिद्धान्त किसी भी व्यक्ति का बलिदान किसी दूसरेके विकासके लिए किया जाना मंजूर नहीं करता। यह सिद्धान्त काण्ट के इस विचारसे सहमत है कि किसी मनुष्यको किसी दूसरेकी उद्देश्य पूर्तिका साधन मात्र नहीं बनना चाहिए। यह सिद्धान्त हर व्यक्तिसे आग्रह करता है कि वह अपने और दूसरोंके भीतरकी मानवताको उद्देश्य माने, केवल साधन मात्र न समझे।

(ग) इस सिद्धान्तकी अनेक प्रमुख विशेषताओंमें से एक विशेषता यह है कि इसमें एक चरम अधिकार (absolute right)—व्यक्तित्वके अधिकार—पर विचार किया गया है और सब दूसरे अधिकारोंको उससे उत्पन्न हुआ माना गया है। प्राकृतिक अधिकारोंके सिद्धान्तमें बहुतसे चरम अधिकार माने गये हैं और शेष तीनों सिद्धान्तोंमें एक भी नहीं। क्योंकि व्यक्तित्व सिद्धान्तमें एक ही चरम अधिकार है। इस कारण इसमें कोई आन्तरिक विरोध नहीं है जैसा कि नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्तमें है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्तमें अधिकारोंकी एक खरी कसौटी भी दी गयी है जिस पर हमेशा विश्वास किया जा सकता है और इसीलिए यह वैधानिक, ऐतिहासिक और सामाजिक कल्याणके सिद्धान्तोंसे ऊँचा माना गया है। सभी मनुष्योंका एक चरम अधिकार है और वह है व्यक्तित्वका अधिकार। वह कभी भी बदलनेवाला नहीं है। वह देश और कालके प्रभावसे भी मुक्त है। जैसाकि डाक्टर हॉकिंग कहते हैं कि परमात्माके विरुद्ध भी यह अधिकार सही उतरता है। उन्होने अमरताके समर्थनमें यह तर्क दिया है कि ईश्वर या सृष्टिका रचनेवाला—जो हमारे इस जीवनके लिए उत्तरदायी है—स्वयं अपनी लाज रखनेके लिए हमें हर अवसर देनेके लिए विवश है

---

[1] लास्की ने ठीक ही कहा है: 'मैं केवल राज्यके लिए ही जीवित नहीं हूँ; और राज्य भी केवल मेरे हितके लिए ही नहीं है (४७:९४)।' दोनोंका अस्तित्व एक दूसरेके लिए है और दोनों ही एक दूसरेकी भलाई चाहते हैं।

जिससे कि अपने उत्थान या विकासके लिए जो संघर्ष हमने इस पृथ्वी पर प्रारम्भ किया है उसे हम पूरा कर सकें तथा अपने व्यक्तित्वके उद्देश्यकी सिद्धि कर सकें।

Select Readings

Bosanquet, B.—*The Philosophical Theory of the State*——Ch. VIII, Section 6.
Burns, C. D.—*Political Ideals*—Ch. VII.
Gilchrist, R. N.—*Principles of Political Science*—Ch. VI.
Green, T. H.—*Lectures on the Principles of Political Obligation*—Section A.
Hocking, W. E.—*Law and Rights.*
Laski, H. J.—*A Grammar of Politics*—Ch. III.
Lord, A. R.—*The Principles of Politics*—Chs. VIII-X.
Ritchie, D. G.—*Natural Rights.*
Wilde, N.—*The Ethical Basis of the State*—Ch. VI.

६

विशिष्ट अधिकार

(Particular Rights)

(क) जीवनका अधिकार (The Right to Life)

जिन विशिष्ट अधिकारोंका हम विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे वह हैं जीवन, स्वतंत्रता, सम्पत्ति तथा समानताके अधिकार, राजनीतिक अधिकार तथा राज्यके प्रतिरोध का अधिकार। इन सब अधिकारोंमें से जीवनका अधिकार सबसे अधिक मौलिक है क्योंकि इसके बिना मनुष्यके अन्य अधिकार हो ही नहीं सकते। टी० एच० ग्रीन के अनुसार जीवनका अधिकार और स्वतंत्रताका अधिकार दोनों मिलकर एक ही अधिकार बनते हैं जिसको कि हम स्वतंत्र जीवनका अधिकार कह सकते हैं। स्वतंत्रताके बिना जीवन बेकार है, और दूसरी ओर जीवनका जो उपयोग हम करते हैं उसीसे हमें जीवनका अधिकार मिलता है। अतः स्वतंत्र जीवनके अधिकारका नैतिक आधार मनुष्यका किसी समाजकी सदस्यता पानेकी योग्यता है अर्थात् व्यक्ति में 'कल्याणकी ऐसी धारणा जिसमें उसका हित दूसरोके हितके साथ घुला-मिला हो (२९ : १५६)।'

यह आश्चर्यकी बात है कि स्वतंत्र जीवन जैसे मौलिक अधिकारको भी बहुत धीरे-धीरे स्वीकार किया गया है। प्रारम्भिक समाजोंमें जीवनका अधिकार मनुष्यको मनुष्यके रूपमें नहीं दिया गया था वरन् उसे परिवार या जातिके नाते यह अधिकार प्राप्त था। इस धारणामें जो परिवर्तन हुआ उसका श्रेय इन तीन कारणोंको दिया जा सकता है: रोमन न्याय (Roman equity), जिसने मनुष्यके अधिकारोंको किसी भी राज्यसे स्वतंत्र और पृथक रूपमें स्वीकार किया था; 'प्राकृतिक विधान' का सिद्धान्त जो सब मनुष्यों पर लागू होता है और जिसका प्रचार स्टॉइक लोगों (Stoics) ने किया और ईसाई धर्मकी विश्व-बन्धुत्वकी धारणा (२९ : १५६)। इतनी प्रगति होनेके बाद भी आधुनिक समाजोंमें इस अधिकारको केवल निषेधात्मक ढंगसे ही स्वीकार किया गया है। आज हम अधिकसे अधिक एक क़ानून ही बना देते हैं कि किसी मनुष्यका उपयोग किसी भी दूसरे मनुष्य द्वारा अपनी इच्छाके विरुद्ध एक साधनके रूपमें नहीं किया जायगा पर हम मनुष्यको किसी भी सामाजिक उद्देश्यको पूरा करनेका अवसर नहीं देते हैं (२९ : १५९)।

स्वतंत्र जीवनके अधिकारका आधार मनुष्यमें अपनी रक्षा करनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति और सामान्य मनुष्यमें जीव-हत्या करनेकी स्वाभाविक अनिच्छाका होना है। प्रवृत्तियों और भावनाओंके आधार पर अधिकारोंकी व्यवस्था करना एक बहुत ही कठिन कार्य है। किसी अधिकारके माने जानेसे पूर्व समाजको विश्वास होना चाहिए कि ऐसा अधिकार मनुष्यके विकासके लिए बहुत ही जरूरी एवं महत्त्वपूर्ण है। और फिर प्रवृत्तियों और भावनाओंको ही अधिकारका आधार माना जाय तो फिर युद्धमें एक दूसरेकी मारकाट करनेमें और कभी-कभी जानबूझ कर हत्याएँ करनेमें जो तत्परता दिखायी जाती है उसका विश्लेषण हम कैसे करें। इसलिए जीवनका आधार प्रतिबन्धोंसे रहित नहीं है। उसके अस्तित्वके औचित्यका समर्थन उसी हद तक किया जा सकता है जिस हद तक उसका उपयोग व्यक्तिके आत्म-विकासमें तथा समाजके हित साधन में हो।

जीवनके अधिकारकी व्याप्ति (Implications of the Right to Life).

१. जीवित रहने का कर्त्तव्य (The Duty to Live)

जीवनके अधिकारमें जीवित रहनेका कर्त्तव्य भी छिपा है। मनुष्यका अपना जीवन समाप्त कर देना न तो व्यक्तिगत विचारसे ही उचित है और न समाजके विचारसे ही। यही कारण है कि आत्महत्या की कोशिश करने पर प्रत्येक देशमें सजा दी जाती है। व्यक्तिगत दृष्टिकोणसे यह कोई नहीं बता सकता है कि उसका अपनी योग्यताके अनुसार पूर्ण विकास हो चुका है। जब तक जीवन है तब तक आशा है। इतिहासमें हमें ऐसे बहुत-से मनुष्योंके उदाहरण मिलते हैं जिनमें उनका मानसिक विकास उनके शरीर शिथिल हो जाने पर भी होता रहा था। ऐसे भी उदाहरण हैं जब कि मानसिक विकास तो नही होता पर मनुष्यकी योजनाएँ एवं उनके विचार अनिश्चित काल तक विकसित होते रहते हैं। पर अधिकतर मामलोंमें कोई यह नहीं कह सकता कि उसका विकास कब रुक गया है। आत्महत्या के अधिकतर मामलोंमें मनुष्य अपने जीवनसे हारकर अपनी कायरता दिखाता है। आधुनिक विचारधारामें आत्महत्या करना कभी भी उचित नहीं माना गया है। असाध्य रोगोंके कारण की जानेवाली आत्महत्याओंकी बात दूसरी है।

समाजकी दृष्टिसे भी आत्महत्या करना बुरा है। गिलक्राइस्ट (Gilchrist) के कथनानुसार प्रत्येक जीवन समाज-कल्याणकी दृष्टिसे मूल्यवान है। इस कारण अपने जीवन या अन्य किसीके जीवनको समाप्त करनेका अर्थ 'ऐसे व्यक्तित्वको नष्ट करना है जिसके अधिकार भी हैं और कर्त्तव्य भी।' सेन्ट टॉमस एक्वाइनस (St. Thomas Aquinas) की भाषामें आत्महत्या स्वयं अपने प्रति, समाजके प्रति और परमात्माके प्रति अपराध है। आत्महत्या अधिकसे अधिक क्षमा की जा सकती है इसका समर्थन किसी भी दशामें नही किया जा सकता।

२. हत्या न करने का कर्त्तव्य (The Duty not to Commit Murder)

यदि एक व्यक्तिको जीवित रहनेका अधिकार है तो उसका यह कर्त्तव्य भी है कि वह दूसरोंकी हत्या न करे। हत्या केवल एक नैतिक अपराध ही नहीं है, वरन् क़ानूनकी दृष्टिसे भी वह एक भयानक अपराध है। क्या हत्यारेको मृत्युदण्ड देना उसके जीवित रहनेके अधिकारको छीनना है? वास्तवमें ऐसे मनुष्यको जीवित रहनेका कोई अधिकार ही नहीं है। उसने जो 'असामाजिक कार्य' किया है उससे उसने अपने जीवित रहनेके अधिकारको खो दिया है। इस कारण परावर्त्तनका अधिकार (reversionary right) ही एक ऐसा अधिकार है जिसको वह पुनः पानेके लिए, एक ऐसे नागरिक, जो सार्वजनिक हितमें अपना व्यक्तिगत सहयोग देता है, के रूपमें दावा कर सकता है।

मृत्युदण्डके विरोधियोंका कहना है कि ऐसे मामले भी कम नहीं होते जिसमें निरपराध व्यक्तियोंको मृत्युदण्ड मिल जाता है और अनेक अवसरों पर हत्याएँ बहुत अधिक उत्तेजना दिलाये जाने पर उन्मत्तावस्थामें की जाती हैं। उनके कुछ और भी तर्क हैं: (क) मृत्युदण्डका समाज पर बहुत बुरा असर पड़ता है। इससे मानव जीवनका मूल्य अधिक नहीं रहता और लोग मानव जीवनके कष्टोंके प्रति उदासीन हो जाते हैं। (ख) मृत्युदण्ड उस बर्बर युगकी देन है जब मनुष्यके हृदयमें प्रतिहिंसा की भावना थी। (ग) बहुत-से हत्यारे उत्तरदायित्वकी भावनासे हीन होते हैं और अपने द्वारा किये गये अपराधोंका भयंकर रूप नहीं समझ पाते, और (घ) मृत्युदण्ड हत्याओंको रोकनेमें अधिक सफल नहीं हुआ है। इन सब तर्कोंके बल पर मृत्युदण्डके विरोधियोंका कहना है कि समाजको चाहिए कि हत्यारेको मृत्युदण्ड देनेके बजाय उसका सुधार करे।

इन तर्कोंका मूल्यांकन करते समय यह कहना ही पड़ता है कि इन तर्कोंका आधार जीवनको भौतिक अस्तित्व मात्र (mere physical existence) माननेवाली भ्रान्त-धारणा है। समाज अपने एक ऐसे सदस्यके जीवनको बनाये रखनेके लिए जिम्मेदार नहीं है जो दूसरोंके जीवन पर आघात पहुँचाता है। जो व्यक्ति दूसरेकी सम्पत्तिके कारण उसकी हत्या करता है वह अपने जीवित रहनेके अधिकारको खो देता है। वह एक शिकारी जानवरसे भी गया बीता है इस कारण उसकी जीवन रक्षा करना ग़लत भावुकता मात्र है। यह धार्मिक तर्क बिल्कुल ही व्यर्थ है कि मनुष्य कभी भी मृत्युके योग्य नहीं होता और मृत्युदण्ड व्यक्तिको पश्चाताप करनेके अवसरसे वंचित कर देता है। वास्तवमें तथ्य यह है कि ऐसा व्यक्ति जीवित रहनेके योग्य ही नहीं है।

बहुधा यह तर्क दिया जाता है कि हत्या करते समय हत्यारेका मानसिक सन्तुलन ठीक नहीं रह सका होगा। इस सम्बन्धमें यह बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है कि यदि हम हत्यारेके साथ उदारताका ही बर्ताव करना चाहते हैं तो हमें यह

सिद्ध करना होगा कि उसकी मानसिक स्थिति हत्या-कर्मसे पृथक बिगड़ी हुई थी। प्रायः होता यह है कि जब अन्य सभी बहाने असफल हो जाते हैं तब पागलपनका बहाना किया जाता है। यदि हत्याका कोई उद्देश्य नहीं है तो यह तर्क किया जा सकता है कि सम्बन्धित व्यक्तिने हत्या नहीं की है पर यह उसके साथ उदारता करनेका कारण नहीं हो सकता। यदि हत्या किसी उद्देश्यसे नहीं की गयी है तब तो अपराध और भी भयंकर हो जाता है। यदि इस प्रकारके व्यक्तियोंको निरपराध मानकर छोड़ दिया जाय तो यह परिणाम होगा कि जितना अधिक अमानवीय अपराध होगा उतना ही अधिक पागलपनके बहाने अपराधियोंको दण्डसे छुटकारा मिलता रहेगा। यदि हत्यारेका पागलपन अस्थायी हो तब तो उसके साथ कुछ उदारताका व्यवहार करनेका कारण भी है; उसे एक क्षमतावान व्यक्ति मानकर उसके साथ वैसा व्यवहार किया जा सकता है जैसा एक बच्चेके साथ किया जाता है जो भविष्यमें एक सामान्य मनुष्य होनेके योग्य है। परन्तु यदि वह असाध्य पागल है तब तो वह एक भयंकर व्यक्ति बन जाता है और इसलिए यह अच्छा होगा कि क़ानूनको अपनी राह ही चलने दिया जाय।

सर हर्बर्ट स्टीफेन (Sir Herbert Stephen) का विचार है कि हत्यारेको मृत्यु-दण्ड मिलनेसे हत्या किये गये व्यक्तिके सम्बन्धियों और मित्रोंकी स्वाभाविक उत्तेजना और उनके दुखको इतना सन्तोष प्राप्त होता है जितना अन्य किसी प्रकारके दण्डसे नहीं। वे मृत्युदण्डको हत्याका एक प्रभावशाली निरोधक मानते हैं। उनका कहना है कि बहुत-सी हत्याएँ योजना बनाकर और सोच समझकर की जाती हैं। यदि हरबर्ट के मनकी चले तो वह आधुनिक विधानको कुछ इस तरह संवर्धित करेंगे कि कुछ अन्य घृणित अपराधोके लिए भी मृत्युदण्डकी व्यवस्था कर दी जाय।

फलस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कमसे कम मानव विकासके आधुनिक युगमें तो हत्याके मामलेमें मृत्युदण्ड ही न्यायोचित है। फिर भी हमें इस बातके लिए विशेष सावधानी बरतनी चाहिए कि मृत्युदण्डकी व्यवस्था जहाँ तक हो सके नियंत्रित रहे। हत्यासे कम छोटे अपराधों पर मृत्युदण्ड देना बिल्कुल ग़लत है। जब छोटे अपराधियोंको मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता है तो इससे उन्हें सबल प्रेरणा मिलती है कि जहाँ तक हो सके वह अपनेको मृत्युदण्डसे बचायें।

जहाँ एक ओर हम कुछ सीमित अपराधोंके लिए मृत्युदण्ड देने पर विश्वास करते हैं वहीं हम दूसरी ओर चाहते हैं कि अनिर्धारित दण्ड (indeterminate sentences) की प्रणालीका अधिकसे अधिक प्रयोग किया जाय। किसी सुशिक्षित और भावुक व्यक्तिको मृत्युदण्डके स्थान पर आजन्म क़ैदकी सजा देनेमें कोई सुधार नहीं है क्योंकि 'एककी तरह दूसरेमें भी मनुष्य स्वतंत्र सामाजिक जीवनसे परे हो जाता है और उस सामाजिक जीवनसे मिलनेवाले नैतिक विकासके अवसरोंसे एकदम वंचित हो जाता है(२९)।' अतः आजन्म कारावासका औचित्य तभी है जब कुछ समय बाद अपराधीको उसके चरित्रमें सुधार होने पर मुक्त किया जा सके।

३. आत्म-रक्षाका अधिकार (The Right to Self-defence)

प्रायः यह माना जाता है कि जीवित रहनेके अधिकारमें जीवन-रक्षाका अधिकार भी शामिल है। किसी मामलेमें जीवन-रक्षाके लिए जितनी शक्ति प्रयोग की गयी वह उचित थी या नहीं इसका निर्णय न्यायालयों पर छोड़ दिया गया है। प्रचलित विचारधारा यह है कि आत्म-रक्षा तो उचित है पर आक्रमण नहीं। इसमें कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि 'आत्म-रक्षा' और 'आक्रमण' जैसे शब्दों की परिभाषा करना सदैव आसान नहीं होता। यह सिद्ध करनेके लिए कि इन दोनोंमें से कौन उचित है 'हमें यह जानना चाहिए कि किसकी रक्षा की जा रही है और किस पर आक्रमण किया जा रहा है (६६ : १२०)।' इस सम्बन्धमें एक प्रश्न जो सामने आता है वह युद्धके सम्बन्धमें है। क्या राज्यके लिए उचित है कि अपने किसी नागरिक से कहे कि वह अपने जीवनकी आहुति युद्धमें दे दे? क्या यह उसके 'जीवित रहनेके अधिकार' में हस्तक्षेप नहीं है? ग्रीन के अनुसार अधिकतर युद्ध शासकोंकी महत्त्वाकांक्षाओके कारण, राष्ट्रीय अभिमानके कारण एवं आर्थिक लाभ के कारणोंसे होते हैं। अतः राज्योके बीच एक अनिवार्य संघर्ष बतलाना गलत है। 'युद्ध इसलिए ज़रूरी नहीं है कि राज्योंका अस्तित्व है, वरन् वह इसलिए ज़रूरी हो जाते हैं कि सार्वजनिक अधिकारोंकी प्रतिष्ठा और उसमें आपसी मेल उत्पन्न करनेके कर्त्तव्यको राज्य पूरा नहीं करते हैं (२९ : १९)।'

हीगेल की विचारधारा बिल्कुल भिन्न है। उनके अनुसार 'युद्धकी अवस्थामें व्यक्तिके जीवनमें राज्यकी सर्वशक्तिमत्ता (omnipotence) दिखायी देती है।' राष्ट्रके देवत्वमें यह विश्वास व्यक्तिकी स्वतंत्रताको नष्ट कर देता है। केवल देश और पितृ-भूमिका ही महत्त्व रह जाता है।

बोसांके ने युद्धकी नैतिकताका विचार 'राज्यके अधिकारों' के रूपमें किया है। युद्धका औचित्य सिद्ध करनेमें उन्हें तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होती। वह राज्यके व्यक्तित्व पर और उसके नैतिक उत्तरदायित्व पर विश्वास करते हैं। वह लिखते हैं कि जब केवल जीवित रहनेका प्रश्न अच्छे जीवनकी मांगोंसे टकराता है तब 'हर व्यक्ति या घटक (agency) जो वास्तवमें मनुष्य है—चाहे वह व्यक्तिगत रूपमें हो या संगठित रूपमें—यह जानता है कि उसे क्या करना चाहिए—अर्थात् युद्ध-क्षेत्रमें उतर पड़ना चाहिए। बोसांके के अनुसार राज्य 'नैतिक हितोंका रक्षक है और उसे अपने कर्त्तव्योंको ईमानदारीसे पूरा करना चाहिए (५ : २),' चाहे ऐसा करनेमें कुछ व्यक्तियोंका अहित ही क्यों न हो।

इस सम्बन्धमें इतना कहना काफ़ी है कि उक्त दलीलों पर विश्वास नहीं होता। आधुनिक युद्धोंमें शीघ्र तथा छिपी हुई कार्यवाहियाँ होती हैं। युद्ध साधारणतः निर्दयता, धोखा और दग़ाबाज़ीसे भरे होते हैं। इन युद्धोंसे आर्थिक व्यवस्था नष्ट होती है और जीवन तथा विचारोंका ग़लत उपयोग होता है। इन युद्धोंसे व्यक्तियों या व्यक्तियोंके समूहोंको बलप्रयोग करके अपना मतलब सिद्ध करनेकी प्रेरणा मिलती है। आधुनिक

युद्ध विशेषकर विनाशके असीमित साधनोंके कारण नैतिक दृष्टिसे बहुत ही निन्द्य, आर्थिक विचारसे व्यर्थ और राजनीतिक विचारसे आत्मघाती होते हैं। इन सब बातोंके कारण हमें बर्न की भाँति यह कहनेमें कोई हिचक नहीं होती कि 'युद्ध और प्रजातंत्रमें कोई मेल नहीं है और इसलिए प्रजातंत्रके आदर्शमें युद्ध-प्रथाका विकल्प (alternative) मिलना ही चाहिए (१० : २९५)।' जब तक राष्ट्रोंमें राष्ट्रीय विवादोंको युद्ध द्वारा सुलझानेकी भावना रहेगी तब तक वे राष्ट्र अपने जीवनकी आदिम स्थितिमें ही हैं।

४. सन्तति-उत्पादन और बन्धनमुक्त जन्मका अधिकार (The Right to Reproduce Life Coupled with the Right to be Born without Heavy Handicaps)

मनुष्यकी एक मूल प्रवृत्ति, जो आत्म-रक्षाकी भावनाके बराबर रखी जाती है, इन्द्रिय-भावना है। स्पष्ट है कि सन्तति-उत्पादनका अधिकार एक 'प्राकृतिक अधिकार' जैसा है। फिर भी यह कोई ऐसा अधिकार नहीं है कि जिसको चरम अधिकारके रूपमें माना जा सके। आधुनिक समाजमें यह मांग अनुचित नहीं है कि सामान्यतः समाजके हितके लिए और विशेषकर स्वयं संतानके हितकी दृष्टि से वंशानुगत (hereditary) और असाध्य पागलों, मूर्खों, अपंगों, बहरों, गूंगों तथा कुष्ट रोगियों आदिको शादी करके अपनी संख्या बढ़ानेसे रोका जाय।

संतति-उत्पादनके अधिकारके साथ ही हम एक ऐसे अधिकार पर भी विचार कर सकते हैं जिसकी मांग अभी तो अधिक नहीं की जाती पर प्रगतिशील समाजोंमें जिसे किसी न किसी रूपमें स्थान देना ही होगा। यह अधिकार बन्धनरहित पैदा होनेका अधिकार है। अपने माता-पिताको चुननेमें बच्चोंका हाथ नहीं होता और इसी कारण अभिभावकों और समाजकी यह ज़िम्मेदारी हो जाती है कि कोई भी बच्चा ऐसा जन्म न ले जिसे समाजमें अपने जन्मके कारण उचित स्थान न मिल सके। यदि किसी देशकी जनसंख्या बेतहाशा बढ़ती जा रही है तो राज्य द्वारा इस पर कोई व्यावहारिक रोक लगाया जाना अनुचित न होगा। आधुनिक जापान ने तो गर्भ गिराने तकको वैध ठहराया है, जिसका समर्थन नैतिक दृष्टिकोणसे किया ही नहीं जा सकता। चीन भी अब जापानका अनुगामी बन रहा है।

अपना जीवन सुविधापूर्वक प्रारम्भ करनेका अधिकार बच्चोंको है। इसका अर्थ यह है कि जो लोग सुन्दर सन्तति उत्पन्न कर लेते हैं उन्हें अधिक बच्चे पैदा करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय और जो निम्न कोटिके हैं उन्हें बच्चे पैदा करनेसे एक दम रोका जाय। इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिए माताओंको पेन्शन, विधवाओंको सहायता, और अच्छी संख्यामें सुन्दर सन्तान पैदा करनेवाले माता-पिताको इनाम दिया जाता है। ऐसे बच्चोंको शिक्षाके लिए राज्यसे सहायता मिलना, शादीके लिए आयु क़ानूनके द्वारा निश्चित करना, और बच्चे पैदा करनेके लिए स्वास्थ्य प्रमाणपत्रों

की आवश्यकता, उन्हीं लक्ष्योंकी पूर्तिके लिए है। इन्हीं सुझावोंके अनुसार प्रो० लॉरिमर (Prof. Lorimer) का कहना है कि 'जो मनुष्य अपने बच्चोंके लिए मानव-शिक्षाका प्रबन्ध नहीं कर सकता उसे शादी करनेका अधिकार ठीक उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार ऐसे व्यक्तिको जो बच्चे पैदा नहीं कर सकता (६६ :'१२८)।'

यहां पर व्यावहारिक महत्त्वका एक प्रश्न यह उठता है कि क्या मूर्खों, अपंगों और असाध्य पागलोंको स्वतंत्र जीवनका अधिकार है? जब वे अपने जीवनका अनुभव नहीं कर पाते तब भी क्या उनके जीवनकी रक्षाकी जाय? ग्रीन का कहना है कि क्योंकि जीवनका क्रम जारी रहता है और किसी भावी जीवनमें सुधारकी सम्भावना है इसलिए ऐसे लोगोंको जीवित रहने देना चाहिए। यह तर्क इसलिए व्यर्थ है कि हमारा सम्बन्ध अभी इस जन्मके विकाससे है न कि भावी जीवनमें होने वाले विकास से। हम ग्रीन की इस बातको माननेको तैयार हैं कि बहुत-से मामलोंमें यह तय करना बहुत कठिन है कि पागलपन या मूर्खता असाध्य है या साध्य। पर हम उनकी यह दलील माननेको तैयार नहीं हैं कि ऐसे लोगोंको केवल इसलिए जीवित रखना चाहिए और उनकी भली प्रकार देख-रेख करनी चाहिए कि ऐसा करनेसे मानव स्वभावकी कोमल वृत्तियोंका विकास होता है। यह एक ग़लत प्रकारका भावनावाद (sentimentalism) है। फिर भी हमारा विश्वास है कि विनोदके लिए की जानेवाली जीव-हत्याके प्रति हमारी घृणाकी जो भावना है उसे क़ायम रखना चाहिए। मानवताके लिए यह ज़रूरी है। साथ ही साथ भावी पीढ़ियोंके हितमें यह भी ज़रूरी है कि वंशानुगत अपंगों, असाध्य रोगियों, और जन्म-जात अधम कोटिके अपराधियोंको शेष समाजसे अलग कर दिया जाय और जहां आवश्यक हो उन्हें ऐसा कर दिया जाय कि वे सन्तान पैदा न कर सकें। जहां आबादी तेज़ीसे बढ़ रही हो, जैसे भारतमें, यह उचित होगा कि राज्य ऐसे लोगोंको सज़ा दे जो भरण-पोषणकी चिन्ता किये बिना तेज़ीसे बच्चे पैदा करते जाते हैं।

५. काम पानेका अधिकार और आजीविकाका अधिकार (The Right to Work and the Right to Maintenance)

आजकल जिस अधिकार पर दिन प्रतिदिन अधिकाधिक ज़ोर दिया जा रहा है वह अधिकार काम करनेका अधिकार है। यह कहा जाता है कि जीवनके अधिकारका अर्थ ही यह है कि व्यक्तिके जीवनको क़ायम रखा जाय भले ही वह स्वयं अपने प्रयत्नोंसे अपने जीवन को बनाये न रख पा रहा हो। यह सिद्ध करनेके लिए किसी तर्ककी आवश्यकता नहीं है कि समाजमें अपना कर्त्तव्य पूरा करनेके लिए प्रत्येक व्यक्तिको जीवनके कुछ आवश्यक पदार्थों की आवश्यकता होती है। उन पदार्थोंके अभावमें मनुष्य बहुत जल्दी ही बर्बर पशुओंकी कोटिमें आ जायगा। समाजवादी और अनेक उदारपन्थी यह दावा करते हैं कि मज़दूरको काम पानेका अधिकार है और जब वह बेकार हो जाता है तब उसके भरण-पोषणकी ज़िम्मेदारी समाजकी होनी चाहिए। क्या यह दावा उचित है?

यह तो स्पष्ट है कि समाजको किसी भी व्यक्तिको भूखों नहीं मरने देना चाहिए। मनुष्य ने जो वैज्ञानिक आविष्कार और खोज की हैं और समझदार लोगोंमें जिस सामाजिक चेतनाका विकास हुआ है उनके कारण संसारसे भुखमरीको समूल नष्ट कर देना अब सम्भव होना ही चाहिए। इसका मतलब होगा कि और तमाम बातोंके साथ-साथ न्यूनतम वेतन क़ानून लागू हो, सामाजिक सुरक्षा जैसे साधनों द्वारा समाज के सदस्योंमें सम्पत्तिका फिरसे बटवारा हो, विरासत और उत्तराधिकार पर कड़ा नियंत्रण हो, काहिल धनी व्यक्तियोंको निरुत्साहित किया जाय, और तड़क-भड़क तथा दुरुपयोग रोका जाय।

जहां ग़रीबी और बेकारीका कारण समाजके दोष हों वहां समाजका कर्त्तव्य है कि वह अपना संगठन इस प्रकार करे कि नागरिकोंका कल्याण हो सके। क्योंकि जैसा लास्की ने बताया है 'या तो राज्य स्वयं औद्योगिक शक्तिका इस प्रकार नियंत्रण करे कि नागरिकोंका हित हो या फिर औद्योगिक शक्ति ही उद्योगपतियोंके हितमें राज्य का नियंत्रण करेगी (४७ : १०९)।' मज़दूरोंके निकम्मेपन या आलस्यसे पैदा होने-वाली ग़रीबी और बेकारीको समाजके कारण उत्पन्न ग़रीबी और बेकारीसे पृथक समझ कर विचार किया जाना चाहिए।

आर्थिक-क्षेत्रमें हस्तक्षेप न करनेका (laissez faire) सिद्धान्त तेज़ीसे समाप्त हो रहा है। लास्की के शब्दोंमें अठारहवीं शताब्दीके पुलिस-राज्यके स्थान पर बीसवीं शताब्दीके सामाजिक-सेवा राज्यकी स्थापना करनी होगी (भारतमें हम उसे कल्याणकारी-राज्य या मंगलकारी-राज्य कहेंगे)। अब राज्यको यह ज़िम्मेदारी अधिकाधिक लेनी होगी कि जो लोग काम करनेके लायक़ हैं और काम करना चाहते हैं पर काम नहीं पाते उनके लिए कामका प्रबन्ध करे और जो वृद्ध और अपंग काम करनेमें असमर्थ हैं उनके लिए कुछ दूसरा प्रबन्ध करे। जब राज्य पर यह ज़िम्मेदारी होगी कि वह नागरिकोंके लिए कामका प्रबन्ध करे तो नागरिकोंको भी इस बातके लिए तैयार रहना होगा कि राज्य जो भी काम दे उसे वह करें। लास्की लिखते हैं 'एक प्रधान मंत्रीको पदच्युत होनेके बाद इस बातका अधिकार नहीं है कि वह अपने लिए प्रधान मंत्रीके से कामकी माँग करे। समाज हर व्यक्तिके मनचाहे कामका प्रबन्ध नहीं कर सकता। अपना जीवन क़ायम रखनेके लिए समाजको कुछ पदार्थों और सेवाओंकी आवश्यकता होती है। काम पानेके अधिकारका अर्थ इससे अधिक और कुछ नहीं हो सकता कि उन पदार्थों और सेवाओंके किसी अंशके उत्पादनमें व्यक्ति काम करता रहे (४७ : १०६)।'

जब व्यक्ति बेकार कर दिया जाता है और उसे कुछ समय तक काम नहीं मिल पाता तब राज्य उसके भरण-पोषणके लिए ज़िम्मेदार हो जाता है। हर सुव्यवस्थित राज्यमें एक बेकार सहायता कोष होना चाहिए जिसका कुछ अंश मज़दूर लोग स्वयं जमा करें। लास्की की रायमें बेकारीके ख़िलाफ़ बीमा करानेकी नीति राज्यकी धारणाका एक अभिन्न अंग है (४७ :१०६)।' 'अपनी पूर्णताकी प्राप्तिके लिए मनुष्य

को काम करना होगा और बेकारीकी अवस्थामें तब तकके लिए खाने-पीनेकी व्यवस्था होनी चाहिए जब तक कि उसे फिरसे काम न मिल जाय (४७ :१०६)।' पर हमारी रायमें ऐसी सहायता या ऐसा सहायता-कोष उचित नहीं जँचता जिसमें सहायता पानेवालेका अपना कोई योग न हो। इससे निश्चित तौर पर भिखमंगापन बढ़ेगा और मज़दूर-वर्गका नैतिक पतन होगा।

'मज़दूरको केवल काम पानेका ही अधिकार नहीं है; उसे अपनी मेहनतके लिए उचित वेतन पानेका भी अधिकार है (४७ : १०७)।' अर्थात् मज़दूरको इतना वेतन पानेका अधिकार है जो 'सक्रिय-नागरिकता' (creative citizenship) के लिए आवश्यक हो। जीवनका मतलब निम्न कोटिकी आवश्यकताओंको पूरा कर लेना ही नहीं है, वरन् इससे कहीं अधिक है (४७ : १०७)। सभी व्यक्तियोंको भोजन, वस्त्र, मकान, अवकाश और शिक्षा, संस्कृति तथा अपनेमें जो सर्वोत्तम है उसके विकासके लिए अवसरकी आवश्यकता होती है। किसी भी व्यक्तिको इस स्तरसे नीचे नहीं गिरने देना चाहिए। लास्की का कहना है कि 'उचित वेतनके अधिकारका यह अर्थ नहीं है कि सबकी आय बराबर हो पर इसके अर्थ यह अवश्य हैं कि कुछ लोगोंके पास आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति एकत्र होनेसे पहले सब लोगोंको आवश्यक साधन प्राप्त हो जाने चाहिए (४७ : १०९)।' इससे सबसे पहले यह आवश्यक है कि जनता 'अपने इस अधिकारका अनुभव करे कि अपने परिश्रमका उचित वेतन पाना उसका अधिकार है (५५ : १३५)।'

(ख) स्वतंत्रताका अधिकार[1]
(The Right of Liberty)

१. स्वतंत्रताका अर्थ.

स्वतंत्रताके आदर्शने सभी युगोंमें मनुष्य पर बड़ा प्रभाव डाला है। स्वतंत्रताके

---

१. संयुक्त राष्ट्रने अपनी आम सभामें १० दिसम्बर सन् १९४८ ई० को मानव अधिकारोंका एक घोषणा-पत्र स्वीकार किया। इस घोषणा-पत्रमें इस तरहके अधिकार शामिल हैं: जीवन, स्वतंत्रता और व्यक्तिगत रक्षाका अधिकार; मनमाने ढंगसे गिरफ़्तार किये जानेसे मुक्ति, निष्पक्ष न्याय प्राप्त करने तथा गोपनीयताकी स्वतंत्रता; आवागमन और निवास, तथा सामाजिक सुरक्षाकी स्वतंत्रता; काम करनेकी स्वतंत्रता; शिक्षा पानेकी स्वतंत्रता; राष्ट्रीयताकी स्वतंत्रता; पूजाकी स्वतंत्रताका अधिकार; भाषण देने तथा शान्तिपूर्वक सभा करनेकी स्वतंत्रता; अपने देशकी सरकारमें भाग लेनेका अधिकार; सार्वजनिक या राजकीय पद प्राप्त करनेका अधिकार; राजनीतिक शरण माँगने और देनेका अधिकार तथा सम्पत्ति रखनेका अधिकार।

(देखिये एवरी मेन्स यूनाइटेड नेशन्स, १९५३ संस्करण, पृष्ठ २८८)।

नाम पर बड़े-बड़े शौर्यपूर्ण कार्य किये गये हैं और अकथनीय घृणित अपराध भी। आज भी ऐसे बहुत कम आदर्श हैं जिनका प्रभाव लोगों पर स्वतंत्रताके आदर्शसे अधिक और शीघ्र पड़ता है। स्वतंत्रता मनुष्यके जीवनका विशिष्ट गुण है।

पहले जो कुछ भी लिखा जा चुका है उससे यह तो स्पष्ट ही है कि समाजमें पूर्ण स्वतंत्रता या स्वाधीनता नहीं हो सकती। केवल अपने व्यक्तित्वका बन्धनहीन पूर्ण विकासका अधिकार ही एक ऐसा अधिकार है जो साधारण मनुष्योंको पूर्णरूपसे प्राप्त है। स्वतंत्रताका अधिकार इसी उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए है। किसी भी व्यक्ति को इस बातका अधिकार नहीं है कि वह परिणामोंकी उपेक्षा करके जो मनमें आये करता जाय।

नकारात्मक अर्थमें स्वतंत्रताका मतलब नियंत्रणके अभावसे है। लेकिन इस परिभाषामें यह नहीं कहा गया है कि इस प्रकारकी स्वतंत्रता अच्छी है या बुरी। हमें सक्रिय (positive) स्वतंत्रताकी आवश्यकता है जिसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि वह आत्म-विकास (self-development) का पूर्ण अवसर या मनुष्य के व्यक्तित्वके निरन्तर विकासका अवसर प्रदान करती है। लास्की के अनुसार 'स्वतंत्रताका अर्थ विकास करनेकी शक्तिसे है अर्थात् वह शक्ति जिसके द्वारा हम अपनी पसन्दका ऐसा जीवन व्यतीत कर सकें जिस पर बाहरके लोगों द्वारा कोई भी निषेध लागू न हो (४९:११)।' स्वतंत्रता वह शर्त और गारंटी है जिसमें मनुष्य स्वयं अपने कार्योंके सम्बन्धमें आत्म-निर्णयका पूरा अधिकार रखता है।

जे० एस० मिल के स्वतंत्रताके सम्बन्धमें विचार.

'स्वतंत्रता' शब्दकी अनेक परिभाषाएँ हैं और हर परिभाषामें नये-नये दृष्टिकोण मिलते हैं। जैसा कि जे० एस० मिल ने कहा है कि पुराने समयमें स्वतंत्रतासे मतलब शासकोंके अत्याचारोंसे सुरक्षा था। सारे राजनीतिक संगठनको चलाये रखनेके लिए शासकोंकी चाहे जितनी आवश्यकता हो, किन्तु उनके स्वार्थोंको जनताके हितसे अलग ही माना गया है। अतः स्वतंत्रताका अर्थ राजाओंकी शक्तिको ठीक प्रकार नियंत्रित और सीमित रखना ही माना जाता था। इसीके अनुसार कुछ राजनीतिक स्वतंत्रता और मुक्तियाँ (immunities) अपनायी गयी और कुछ वैधानिक रुकावटें रखी गयीं। कुछ समय पश्चात् यह पाया गया कि जनताके प्रतिनिधियोंका राज्यमें मजिस्ट्रेटोंके पदों पर नियुक्त किया जाना आवश्यक है। जब इसमें भी कमी प्रतीत हुई तब शासक और जनताके बीच एकरूपता रखी गयी और उनकी आकांक्षाओंको जनताके हितों व इच्छाओंके अनुरूप बनाया गया। इस प्रकार राज्यकी सत्ता राष्ट्र की शक्ति बन गयी और व्यावहारिक सहूलियतके लिए उसका केन्द्रीकरण हुआ। संक्षेपमें हम कह सकते हैं कि 'स्वतंत्रताका अर्थ' सरकारका लोकप्रिय बनाया जाना ही हो गया।

परन्तु शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि स्वतंत्रता इतने पर भी मृग-मरीचिका ही रह गयी और 'बहुमतके अत्याचार' अर्थात् प्रचलित भावना या मतके अत्याचार की स्थिति पैदा हो गयी। यह अत्याचार व्यक्तिगत शासकके अत्याचारसे अधिक व्यापक और घातक सिद्ध हुआ। एक बार पुनः प्रधानता प्राप्त करनेके अपने प्रयत्न में एक नवीन प्रकारकी स्वतंत्रताका जन्म हुआ जिसे वैयक्तिक या व्यक्तिगत स्वतंत्रता कहते हैं। अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'स्वतंत्रता पर' *(On Liberty)* में मिल ने इस स्वतंत्रता पर विशेष रूपसे ध्यान दिया है। उनका ध्येय समाजके आक्रमणोंसे व्यक्तिकी रक्षा करना—उसकी झक और सनककी भी रक्षा करना—था। व्यक्तिगत स्वतंत्रताके इस रूपकी लास्की ने इस प्रकार परिभाषा की है: 'जीवनके कुछ क्षेत्रोंमें स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करनेकी सुविधा जिनमें मेरे प्रयत्नोंका प्रभाव विशेष रूपसे मुझ पर ही पड़े (४७ : १०६)।'

२. स्वतंत्रताके विभेद (Types of Liberty).

प्राकृतिक स्वतंत्रताकी धारणा जंगली जीवनकी स्वतंत्रताका ही दूसरा नाम है।

१. प्राकृतिक स्वतंत्रता (Natural Liberty)

प्राकृतिक स्वतंत्रताके समर्थकोंका कहना है कि मनुष्य प्रकृतिसे ही स्वतंत्र है और सभ्यता ही बढ़ते हुए बन्धनोंके लिए जिम्मेदार है। वह रूसो के इस कथनका समर्थन करते हैं कि 'मनुष्य जन्म से तो स्वतंत्र है पर सब कहीं वह बन्धनोंमें जकड़ा है'। पर ये लोग यह भूल जाते है कि रूसो ने प्राकृतिक अवस्था और नागरिक-राज्यके पक्ष और विपक्षके सभी तर्कों पर विचार करनेके पश्चात् स्वयं ही नागरिक-राज्य (civil state) के पक्षमें अपना निर्णय दिया है। मनुष्य प्राकृतिक-अवस्थामें अपनी शारीरिक प्रवृत्तियोंका दास रहता है पर वही मनुष्य नागरिक-राज्यमें एक विचारवान् प्राणी बनकर न्याय और नैतिकताके नियमों को मानता है। 'सामाजिक अनुबन्धमें मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वाधीनताको और जो चाहे हथिया लेनेके अधिकारको खो देता है। इसके बदलेमें उसे नागरिक स्वतंत्रता और अपनी सम्पत्ति पर स्वामित्व मिलता है (७६, पु० १, अ० ८)।'[१]

---

[१] रूसो: 'सामाजिक अनुबन्ध' (*Social Contract*, पहली पुस्तक, अध्याय ८)। ए० जे० कार्लाइल (*Political Theory*, पृष्ठ १८२) का कहना है कि रूसो की पहली महत्त्वपूर्ण देन 'स्टॉइक दार्शनिकों और ईसाई धर्म-गुरुओंकी इस पुरानी धारणाका समर्थन है कि अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें लोग सुखी और भोली-भाली अराजकताकी स्थितिमें रहते थे।' प्राकृतिक अवस्थासे नागरिक-समाजकी स्थितिमें आने पर कोई खेद प्रकट करनेके बजाय रूसो राजनीतिक बन्धन उचित मानते हैं क्योंकि कार्लाइल के शब्दोंमें 'मनुष्यको मनुष्य बनानेके लिए राज्यके संगठनमें अपने संगी-साथियोंके विचार और विवेकपूर्ण नियंत्रणके अधीन ही रहना चाहिए।'

निरंकुश स्वतंत्रता तो निरी अराजकताके ही समान है। फिर भी एक अर्थमें प्राकृतिक स्वतंत्रताकी सार्थक व्याख्या की जा सकती है। इसका मतलब जीवनके उन क्षेत्रोंसे है जिनमें व्यक्ति चाहता है कि उसके साथ उस समय तक हस्तक्षेप न किया जाय जब तक वह दूसरोंके मामलोंमें हस्तक्षेप न करे। चलने-फिरने और स्थानान्तरकी स्वतंत्रता इसके उदाहरण हैं।

२. व्यक्तिगत स्वतंत्रता (Personal Liberty)

हर एक सामान्य मनुष्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता चाहता है। वह चाहता है कि वह अपनी इच्छाके अनुसार रह सके। अपने इस अधिकारको वह बहुत अधिक महत्त्व देता है कि वह अपनी शक्तियोंका उपयोग और अपने जीवनकी सामान्य-व्यवस्थाका निश्चय स्वयं करे। वह चाहता है कि वह अपने मनचाहे ढंगसे अपनी जीविका कमाये और उसकी इस स्वतंत्रतामें अधिक हस्तक्षेप न किया जाय। जीवनके अपने खास तरीकेमें, अपनी रुचियोंमें और अपने व्यवसायमें हस्तक्षेप बहुत ही बुरा मालूम होता है, विशेषकर जब उसकी रुचियाँ सामाजिक व्यवस्था और सार्वजनिक नैतिकताके प्रतिकूल नहीं होतीं। अमरीकामें मद्य-निषेध क़ानूनका ऐसे लोगोंने भी विरोध किया जिनकी प्रवृत्ति क़ानून माननेकी रही है क्योंकि इस क़ानूनको व्यक्तिगत स्वतंत्रतामें अनुचित हस्तक्षेप माना गया। भारतवर्षमें भी मद्य-निषेध क़ानून बहुतोंने तोड़ा है—विशेषकर उन लोगोंने जो समाजमें आर्थिक स्थितिके अनुसार अत्यन्त उच्च वर्गके हैं अथवा अत्यन्त निम्न वर्गके। कुछ लोग इस क़ानूनको तोड़नेमें अपनी बड़ाई समझते हैं। इंगलैण्ड में हर मनुष्य अपने घरको अपना गढ़ मानता है जिसका अतिक्रमण कोई भी बाहरी व्यक्ति नहीं कर सकता। राज्यके अधिकारी भी बलपूर्वक जबरदस्ती उसके मकानमें नहीं घुस सकते। वे भी केवल साधारण क़ानूनके अनुसार ही मकानमें प्रवेश कर सकते हैं अन्यथा नहीं।

मिल व्यक्तिगत स्वतंत्रताको इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि वह यहाँ तक कहते हैं कि एक व्यक्तिको अपने जीवनके साथ प्रयोग करनेकी स्वतंत्रता उस हद तक होनी चाहिए जब तक कि उसके कार्योंका दूसरों पर प्रत्यक्ष और निश्चित बुरा प्रभाव न पड़े। मिल तो यहाँ तक तैयार है कि परिणामको ध्यानमें रखकर लोगोंको फ़िजूल खर्ची, बदमाशी, और शराबखोरीकी भी अनुमति दी जाय। पर यह व्यक्तिगत स्वतंत्रताके सिद्धान्तको पराकाष्ठा पर पहुँचा देना है।

मिल की ही भाँति बरट्रैण्ड रसल (Bertrand Russell) भी व्यक्तिगत स्वतंत्रताको बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। इसे वह सर्वोत्तम राजनीतिक सद्गुण मानते हैं। इस विचार-धाराका समर्थन करनेवाले विचारक व्यक्तिगत स्वतंत्रताको अन्य सभी राजनीतिक अधिकारोंकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। क्योंकि उनकी रायमें एक मनुष्यके वास्तविक विकासके लिए मताधिकार या पद प्राप्त करनेका अधिकार जितना जरूरी है उससे कहीं अधिक जरूरी विचारकी स्वतंत्रता तथा भाषण

और विचार व्यक्त करने आदिकी स्वतंत्रता है। दार्शनिक अराजकतावादी विचार-धाराके पीछे यही व्यक्तिगत स्वतंत्रताका दृष्टिकोण है। रूसो के महत्त्वपूर्ण शब्दोंमें 'स्वतंत्रताका त्यागना मनुष्यताका त्यागना है, मनुष्यताके अधिकारों और कर्त्तव्योंको समर्पण कर देना है। आज दासताकी सब कहीं निन्दा की जाती है क्योंकि यह मनुष्य जीवनके समूचे उद्देश्यको नष्ट कर देती है और मनुष्यको एक जीवित औजार बना देती है।'

३. राष्ट्रीय स्वतंत्रता (National Liberty)

वैसे तो राष्ट्रीयताकी धारणा अपेक्षाकृत आधुनिक ही है, फिर भी पुराने जमाने से ही लोग अपने वर्ग और समुदायकी सुरक्षाके लिए अपने प्राणोंको न्योछावर करनेको तैयार रहे हैं। मनुष्यके हृदयमें देश-प्रेम बहुत गहरा होता है और संकीर्ण अर्थोंमें भी देश-प्रेम मनुष्यके हृदयमें उन भावनाओंको उत्पन्न कर देता है जो अन्य किन्हीं आदर्शोंसे उत्पन्न नहीं हो पातीं। यही कारण है कि राष्ट्रीय स्वतंत्रताके रूपमें स्वतंत्रताके आदर्शने संसारके इतिहासमें बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यद्यपि यह धारणा बढ़ती जा रही है कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादोंको सुलझानेके लिए युद्ध सही साधन नहीं है परन्तु आज भी अधिकांश मनुष्य स्वातंत्र्य संग्रामकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। फिर भी जब तक सम्प्रभुता सम्पन्न राष्ट्रीय राज्योंकी धारणा प्रबल है और जब तक अन्तर्राष्ट्रीयताका आदर्श केवल पवित्र आशामात्र है तब तक दूसरे राज्योंके नियंत्रणसे छुटकारा स्वतंत्रताकी धारणाके लिए पूर्णरूपसे अनिवार्य है।

४. संवैधानिक स्वतंत्रता (Constitutional Liberty)

बीसवीं शताब्दीमें स्वतंत्रताका अर्थ स्वशासन (self-government) ही नहीं वरन् जनप्रिय शासन भी है। 'राष्ट्रीय स्वतंत्रता' शब्द अब दिन प्रतिदिन अधिकाधिक रूपमें लोकतंत्र या जनप्रिय सरकारका पर्यायवाची बनता जा रहा है। लोग अब यह नहीं चाहते कि निरंकुश विदेशी शासनको हटाकर उसके स्थान पर अपने देश वासियोंका निरंकुश शासन स्थापित कर दिया जाय। इस प्रकार स्वतंत्रताका असली अर्थ ऐसे शासनसे है जिसे समूची जनता चुने और जो समूची जनताके प्रति उत्तरदायी हो और इसीको हम 'वैधानिक स्वतंत्रता' कहते हैं। लास्की का कहना है 'अधिकारोंका विधेयक (Bill of Rights) स्वतंत्रताके संरक्षणों (safeguards) को वैधानिक रूप दे देता है और इस प्रकार लोगोंको ऐसी वेदी पर पूजा करनेका निमंत्रण देता है जिसके अस्तित्वका भान उन्हें अन्यथा होता ही नहीं (४९ : ५२-५३)।'

५. नागरिक स्वतंत्रता (Civil Liberty)

नागरिक स्वतंत्रताकी सीधी परिभाषा है वह स्वतंत्रता जो हमें समाजमें प्राप्त होती है। 'इसमें स्वतंत्ररूपसे काम करनेकी स्वतंत्रता और हस्तक्षेपसे मुक्ति शामिल है (२४ : १११)।' 'इसमें निम्न-लिखित वे अधिकार और विशेषाधिकार शामिल रहते हैं जिन्हें राज्य बनाता और लागू करता है। यथा:

'(क) व्यक्तिकी स्वतंत्रता (freedom of the person);

'(ख) क़ानूनके सम्मुख समानता (equality before the law);

'(ग) निजी सम्पत्तिकी सुरक्षा (security of private property);

'(घ) विचार और प्रकाशनकी स्वतंत्रता (freedom of opinion and expression), और

'(ङ) विवेककी स्वतंत्रता (freedom of conscience)।'

संक्षेपमें नागरिक स्वतंत्रता, शारीरिक और मानसिक दबावके विरुद्ध संरक्षण है, चाह यह दबाव किसी व्यक्तिकी ओर से पड़ रहा हो चाहे सरकारकी ओर से। वैयक्तिक स्वतंत्रता भी इसमें निहित है।

६. राजनीतिक स्वतंत्रता (Political Liberty)

नागरिक स्वतंत्रताके विपरीत, राजनीतिक स्वतंत्रताका तात्पर्य राज्यकी व्यवस्थामें व्यक्तिके भाग से है अथवा कमसे कम यह बात तय करनेसे है कि राज्यकी शक्ति किस प्रकार काममें लायी जायगी। जैसा लास्की ने कहा है कि राजनीतिक स्वतंत्रताका तात्पर्य राज्यके मामलोंमें सक्रिय रहनेके अधिकारसे है। विशेष तौरसे इसका अर्थ मताधिकार और सार्वजनिक पदोंके लिए खड़े होनेके अधिकार आदिसे है।

७. आर्थिक स्वतंत्रता (Economic Liberty)

ऊपर बतायी गयी सभी प्रकारकी स्वतंत्रताओंके प्राप्त हो जाने पर भी जब तक जीवन पर नियंत्रण करनेवाली आर्थिक परिस्थितियों पर व्यक्तिका अधिकार नहीं है तब तक वह निरा दास ही बना रहेगा। पिछले वर्षोंमें श्रमिक जनताकी ग़ुलामीके सम्बन्धमें बहुत कुछ लिखा और बहुत कुछ कहा जा चुका है। जब मजदूर अपनी दशा पर विचार करता है तो उसके मस्तिष्कमें राजनीतिक स्वतंत्रता, नागरिक स्वतंत्रता और वैधानिक स्वतंत्रतामें से किसीको अधिक महत्त्व नहीं मिलता। वह महत्त्व देता है आर्थिक स्वतंत्रताको जो उसे निश्चित रूपसे उसकी मेहनतकी उचित मजदूरी दिलाती है। यह एक ऐसी स्वतंत्रता है जिसमें अतीत प्रतियोगिता और असम्बद्ध उद्योगोंका अन्त हो जाता है और उत्पादन तथा व्यापारके ऐसे कृत्रिम विधानोंकी समाप्ति हो जाती है जिनसे मजदूरोंका नैतिक पतन होता है। यह एक ऐसी स्वतंत्रता है जिससे ऐसी सुविधाजनक औद्योगिक पद्धतिका विकास होगा जिससे हर व्यक्ति वही उत्पन्न करेगा जिसे उत्पन्न करनेके लिए वह सबसे अधिक योग्य है और जो कुछ वह पैदा करेगा उसकी ज़रूरत समाजको होगी। जब तक यह स्वतंत्रता नहीं मिल जाती तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि स्वतंत्रताकी समस्या पूरी तरहसे हल कर ली गयी है। टानी (Tawney) का कहना है कि आर्थिक स्वतंत्रताका अर्थ ऐसी आर्थिक विषमताके अभावसे है जिसका उपयोग आर्थिक दबावके रूपमें किया जा सके। लास्की के अनुसार इसका मतलब उद्योगमें लोकतंत्रसे है। इसका 'अर्थ अपनी दैनिक रोटी कमानेमें

उचित महत्त्व प्राप्त करनेका अवसर और उसकी सुरक्षा से है।' (४७ : १४८)[१]

८. नैतिक-स्वतंत्रता (Moral Liberty)

एक व्यक्तिके पास ऊपर बतायी गयी सभी प्रकारकी स्वतंत्रता होने पर भी यदि उसे नैतिक स्वतंत्रता नहीं प्राप्त है तो उसकी हालत अत्यन्त दयनीय हो जाती है। अपनी ही विवेकशील सत्ताके विरुद्ध सोचने और काम करनेवाले व्यक्तिको नैतिक दृष्टिसे दास कहा जाता है। यदि मैं विश्व-व्यापी-अहं (universal I) को हर व्यक्तिमें देखता हूँ, यदि मैं स्वार्थ-हीन हूँ और यदि प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्वका सच्चा सम्मान मेरे हृदयमें है तो मेरी नैतिक स्वतंत्रता अवश्य ही पूर्ण है। पर यदि इसके विपरीत मैं अपने विश्व-व्यापी-अहंको अस्वीकार करके अपने व्यक्तित्व को कुचलता रहता हूं और कान्ट के शब्दोंमें 'अपने विवेककी स्वायत्त शक्तिका निरादर करता हूँ तो मैं अपने स्वभावकी अधिकतम आवश्यक अंशमें दास ही बना हुआ हूँ। नैतिक स्वतंत्रता उस पत्थरके समान है जो समूची नींवको मज़बूत बनाता है फिर भी मैकियावैली जैसे विचारकों ने इसकी उपेक्षा की है। इसके बिना सामाजिक और राजनीतिक स्वतंत्रताका कोई विशेष मूल्य नहीं रह जाता है। टी० एच० ग्रीन और बोसांके इस पर अधिक ध्यान देते हैं। आदर्शवादी विचारक आमतौर पर और हीगेल विशेष रूपसे मानते हैं कि ऊपरकी व्याख्याके अनुसार स्वतंत्रता राज्यमें स्वयं प्राप्त हो जाती है।

३. स्वतंत्रता और सत्ता (Liberty and Authority).

हमारी स्वाभाविक धारणा यह है कि स्वतंत्रता और सत्ता एक दूसरेसे भिन्न और

---

[१] सी० ई० एम० जोड (C. E. M. Joad) ने अपने लेख 'आधुनिक युगमें स्वाधीनता' *(Liberty Today)* में इस महत्त्वपूर्ण सत्यकी ओर ध्यान आकर्षित किया है कि आर्थिक न्यायके जोशमें हमें राजनीतिक स्वतंत्रताकी बलि नहीं दे देना चाहिए, जैसा कि कुछ समाजवादी करते जान पड़ते हैं। वह यह स्वीकार करते हैं कि आर्थिक संरक्षणके अभावमें राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थहीन हो जाती है ; पर साथ ही वह यह भी कहते हैं कि 'राजनीतिक स्वतंत्रता स्वयं अपने आपमें महत्त्वपूर्ण है।' उनका तर्क है कि आर्थिक संरक्षण अच्छी चीज़ है पर इसका अर्थ यह नहीं कि हम यह भूल जायें कि राजनीतिक स्वतंत्रता भी एक अच्छी चीज़ है ; और न यही उचित है कि आर्थिक स्वतंत्रताके न प्राप्त हो सकनेके कारण हम राजनीतिक स्वतंत्रताका तिरस्कार कर दें (पृ० ७२)।' तानाशाही राज्यों (totalitarian states) में व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर अनेक रोक लगायी जाती हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि व्यक्तिके लिए राजनीतिक स्वतंत्रता कितनी मूल्यवान और प्रिय वस्तु होती है। इन्हीं राजनीतिक अधिकारोंके द्वारा ही—अपने संगठन और मज़दूर-संघ बनाने तथा गुप्त मतदानके अधिकारोंके माध्यमसे ही—श्रमिक वर्गको एकके बाद दूसरी सुविधा-सहूलियत प्राप्त हो सकी है।

पृथक हैं। अठारहवीं शताब्दीके व्यक्तिवादमें भी यह धारणा व्यक्त होती थी जिसके अनुसार राज्यके सभी कामोंको व्यक्तिकी स्वतंत्रतामें हस्तक्षेप माना जाता था। पर यह दृष्टिकोण बिल्कुल ग़लत है। हमारा अनुभव हमें बतलाता है कि स्वतंत्रताको बनाये रखनेके लिए सत्ता किसी न किसी रूपमें आवश्यक है जैसा विलोबी (Willoughby) का कहना है कि स्वतंत्रताका अस्तित्व केवल नियंत्रणके कारण ही है। सुनिश्चित और सीमित स्वतंत्रता ही वह स्वतंत्रता है जो एक सभ्य मनुष्यके लिए सम्भव है। हर व्यक्तिको यह स्वतंत्रता देना कि उसके मनमें जो आये सो करे अराजकतावाद है तथा 'प्राकृतिक अवस्था' की ओर लौटना है। प्रोटेस्टैण्ट सुधारवादी आन्दोलन (Protestant Reformation) ने पोप की सत्ताको तो समाप्त कर दिया पर उसके स्थान पर बाइबिल की सत्ताको क़ायम कर दिया। इतिहास हमें बतलाता है कि मनुष्य एक प्रकारकी सत्तासे अपनेको मुक्त करते हैं परन्तु दूसरे प्रकारकी सत्ताको अपने ऊपर लादते हैं।

स्वतंत्रता और सत्ता एक दूसरेके विरोधी होनेके बजाय एक दूसरेके समपूरक और परिपूरक हैं। बहुत पहले ही लॉक ने कहा था 'जहाँ कोई विधान नही है वहाँ कोई स्वतंत्रता नहीं हो सकती।' हॉकिंग का तो यहाँ तक कहना है कि व्यक्ति जितनी ही अधिक स्वतंत्रताकी इच्छा करेगा उतना ही अधिक उसे अपने आपको सत्ताके अधीन रखना होगा। यदि कोई संगीतज्ञ बनना चाहता है तो उसे पहले संगीतके मर्मको जानना होगा ; यदि कोई अपने विचार दूसरों पर प्रकट करना चाहता है तो उसे कोई भाषा पढ़नी होगी और भाषाके व्याकरणके नियमोंको जानना होगा। इतना कर लेनेके बाद ही वह स्वतंत्र होता है। लास्की का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि स्वतंत्रता पर कुछ नियंत्रण रहनेसे मनुष्य अधिक सुखी रहता है।

जैसा कि हॉकिंग ने कहा है हममेंसे बहुतोंके लिए स्वतंत्रताका अर्थ विशेषज्ञतासे है और विशेषज्ञता ही सत्ता है। सारांश यह है कि अधीनताके बिना स्वतंत्रता नहीं होती। एक मस्तिष्कका अपनेसे श्रेष्ठतर मस्तिष्ककी अधीनता मानना ही सत्ता है। अपने विषयका विशेषज्ञ हमारे लिए अधिकारी व्यक्ति होता है। हममेंसे बहुतोके लिए स्वतंत्रताका अर्थ उन कार्योंको दत्तचित्त होकर करनेकी स्वतंत्रता है जिन कामोंको हम सबसे अच्छा कर सकते हैं। व्यक्तिको अपनी स्वतंत्रताकी कीमत चुकानी होती है और वह कीमत है उन मामलोंमें अधिकारीकी अधीनता मानना जिनमें वह स्वयं विशेषज्ञ होनेका दावा नहीं करता। इसलिए विशेषज्ञता स्वतंत्रताके समर्पणकी माँग करती है। इस प्रकार स्वतंत्रता और सत्ता एक दूसरेके विरोधी होनेके बजाय घनिष्ठ रूपसे सम्बन्धित है।

सत्ताके बारेमें साधारण तौर पर जो कुछ कहा गया है वह व्यक्ति और राज्यके पारस्परिक सम्बन्धमें भी उसी तरहसे पूर्णरूपेण लागू होता है। राज्य हमारी इच्छाके अनुसार काम करनेवाले नौकरकी भाँति है। राज्य जिस हद तक हमारी इच्छाको वफ़ादारीके साथ पूरा करता है उस हद तक हम स्वतंत्र है और हमें राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त है।

स्वाधीनता और क़ानून (Liberty and Law)

राजनीतिक क्षेत्रमें स्वतंत्रता और सत्तामें जो घनिष्ठ सम्बन्ध है उसका पता इस कथनसे लगता है कि सत्ता स्वतंत्रताकी विरोधिनी होनेके बजाय उसके लिए अनिवार्य है। विधान (law) के बिना सच्ची स्वतंत्रता हो ही नहीं सकती। रिची (Ritchie) ने ठीक ही कहा है 'आत्म विकासके लिए महत्त्वपूर्ण अवसरके रूपमें स्वतंत्रता विधानकी ही देन है। वह ऐसी चीज़ नहीं है जिसका अस्तित्व राज्यके कार्य-क्षेत्रसे परे रह सके (६६ : १३९-१४०)।' सार्वजनिक हितमें कुछ नियंत्रण आवश्यक हैं पर इन नियंत्रणोंका प्रयोग निष्पक्ष रूपसे होना चाहिए और समाजको उनके औचित्य पर विश्वास होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो स्वतंत्रता और सत्ता एक दूसरेके विरोधी हो जाते हैं। जब तक लोगोंमें यह भावना बनी रहती है कि विधान किसी व्यक्ति या वर्ग विशेषके लाभके लिए बाह्य दबाव डालनेका साधन है तब तक असन्तोष और दुःख बना रहेगा तथा इसका परिणाम कभी-कभी विद्रोह भी हो सकता है। इसलिए यदि स्वतंत्रता और सत्तामें सामंजस्य स्थापित करना है तो यह आवश्यक है कि जिस सत्ताकी आज्ञा माननेको हमसे कहा जाय वह उचित और न्यायपूर्ण हो और उसकी आज्ञापालन लोग स्वेच्छासे करें। रूसो के शब्दोंमें 'अपने द्वारा बनाये हुए क़ानूनकी अधीनता स्वतंत्रता ही है (६७ : १९)।' ग्रीन कहते हैं कि मनुष्य जब ऐसे विधानका पालन करता है जिसको उसने स्वयं बनाया है और जिसका पालन वह पूर्णता प्राप्त करनेके लिए करता है तब वह स्वतंत्र ही रहता है। लास्की के इस कथनमें ही यही बात व्यक्त की गयी है कि 'क़ानून केवल आज्ञा ही नहीं है वरन् अपील भी है (४९ : ७१)।'

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रत्येक क़ानूनको उचित रूपसे लागू करनेसे पहले सभी नागरिकोंकी स्वेच्छाजन्य स्पष्ट स्वीकृति ले लेना आवश्यक है। व्यक्तिको ऐसे क़ानूनकी अवहेलना करनेका अधिकार नहीं है जिसकी महत्ता और उपयोगिता पर उसे व्यक्तिगत रूपसे विश्वास न हो। ऐसे अधिकारको माननेका अर्थ अराजकताको बढ़ावा देना होगा। हरबर्ट स्पेंसर के राजनीतिक सिद्धान्त में यह सिद्ध कर दिया गया है कि शाब्दिक स्वीकृति (literal consent) का सिद्धान्त अव्यावहारिक है क्योंकि सभी बातों पर सर्वसम्मत स्वीकृति प्राप्त नहीं की जा सकती। शाब्दिक स्वीकृतिका अर्थ है बहुमत द्वारा अल्पमत पर दबाव डालना और इस प्रकार के दबावको राजनीतिके किसी भी स्वस्थ सिद्धान्तमें उचित नहीं माना जा सकता है। शाब्दिक स्वीकृतिको अव्यावहारिक मानकर ही कुछ लेखक शक्तिको राजनीतिक अधीनताका आधार मानते हैं तथा मिल की भांति कुछ अन्य लोगोंने समझौतेका मार्ग ढूंढ निकाला है। बोसांके के अनुसार यदि हम सक्रिय स्वीकृति (active consent) की मदद न लेंगे तो राजनीतिक अधिकार और स्वशासन परस्पर विरोधी बने रहेंगे। सक्रिय स्वीकृति लोक-सम्मति (general will) का ही दूसरा नाम है। इस सिद्धान्त का कहना केवल इतना है कि लोगोंमें इस भावनाका विकास हो कि राज्यका एक

महान नैतिक उद्देश्य है और राज्यकी इच्छा स्वयं व्यक्तिकी ही इच्छा है जो स्वार्थ-रहित होकर शुद्ध हो चुकी है। जब तक राज्यके कार्य सार्वजनिक हितमें होते हैं तब तक राज्यकी अवहेलना करनेवाले व्यक्तिको 'स्वतंत्र होनेके लिए बाध्य' किया जा सकता है क्योंकि उस पर बल-प्रयोग उसके सच्चे हितमें ही किया जाता है। लास्की का यह विचार ठीक है कि नियंत्रण बुराई नहीं है, हाँ, हस्तक्षेप (invasion) अवश्य बुराई है।

४. स्वतंत्रता और समानता (Liberty and Equality).

डी टॉकवेल (De Tocqueville) और लार्ड ऐक्टन (Lord Acton) जैसे स्वतंत्रताके पुजारियोंका विचार है कि स्वतंत्रता और समानता एक दूसरेके विरोधी है। यह दृष्टिकोण ग़लत मालूम होता है। फ्रांसके क्रान्तिकारी न तो पागल थे और न मूर्ख जब उन्होंने 'स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व' का नारा बुलन्द किया था। यह तीनों शब्द एक दूसरेसे सम्बन्धित हैं। यदि स्वतंत्रताको अपना लक्ष्य प्राप्त करना है तो ज़रूरी है कि समानता भी किसी न किसी रूपमें उसके साथ मिली रहे। यह कहनेका अर्थ यह नहीं है कि समाज हर एक व्यक्तिके ऊपर एक निर्जीव और यांत्रिक समानता लाद दे। प्रकृतिने सभी व्यक्तियोंको एक समान समर्थ नहीं बनाया है। समानताका अर्थ यह नहीं है कि सभी व्यक्तियोंके लिए एक ही व्यवहार,[1] एक ही काम और एक ही पुरस्कार रहें। समानताका मतलब है निष्पक्षता (impartiality) और आनुपातिकता (proportionality) अर्थात् बराबरवालोंमें समानता और विषम कोटिके व्यक्तियों में असमानता। इसका अर्थ है कि अन्य सब बातोंके समान होने पर मेरा हित उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि किसी भी अन्य व्यक्तिका हित हो सकता है (Rashdall)। इस लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिए आवश्यक है कि किसी भी व्यक्ति या वर्ग तथा समुदायके लिए किसी भी प्रकारके कोई विशेष अधिकार या सुविधाएँ न हों; शक्ति के दुरुपयोगके विरुद्ध विधानकी सुरक्षा सबके लिए समान रूपसे प्राप्त हो; इस बात का आश्वासन हो कि सत्ताका उपयोग व्यक्तिगत स्वार्थके लिए न होकर सार्वजनिक हितके लिए ही होगा; और सबको पर्याप्त अवसर प्राप्त हो।

अन्तिम शर्त सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। आजकल न जाने कितनी प्रतिभा व्यर्थ नष्ट हो रही है। एक आदर्श समाजमें प्रतिभाको 'प्रोत्साहनके अभावके कारण नष्ट नहीं होना चाहिए (४७ : १५४)।' प्रत्येक व्यक्तिको इस बातका अवसर मिलना चाहिए कि वह अपने व्यक्तित्वका पूरा-पूरा उपयोग कर सके। समाजमें असमानताएँ, सभ्यताका न्यूनतम आधार सबके लिए सुलभ हो जानेके बाद ही रह

---

[1] लास्की के शब्दोंमें 'शिक्षा प्राप्त करनेके अधिकारका अर्थ यह नहीं है कि सभी नागरिकोंको एक-सी बौद्धिक शिक्षा पानेका अधिकार है (४७ : ११४)।'

सकती हैं। परिश्रमके बदलेमें दिये जानेवाले वेतनकी विभिन्न दरें हो सकती हैं। फिर भी, सम्पत्तिकी अत्यधिक असमानताएँ स्वतंत्रताको असम्भव बना देती हैं।

इस सबका तात्पर्य यह होता है कि व्यक्तिकी स्वतंत्रता पर सोच समझकर ही सामाजिक प्रतिबन्ध लगाये जायँ। राजनीतिक सम्बन्धोंमें बेन्थम की यह उक्ति व्यापक तौर पर मानी जाती है कि 'प्रत्येक व्यक्तिका मूल्य एक ही व्यक्तिके समान है, एकसे अधिक किसीका नहीं,' अर्थात् हर मनुष्य बराबर है। अनुभवसे यह स्पष्ट हो गया है कि वास्तविक आर्थिक समानताके बिना राजनीतिक समानता व्यर्थ है। प्रोफ़ेसर पोलर्ड (Prof. Pollard) ने इस सच्चाईको एक वाक्यमें इस प्रकार बतलाया है 'स्वतंत्रताकी समस्याका केवल एक ही हल है; यह हल समानतामें ही निहित है।' 'दुर्बल व्यक्तिकी स्वतंत्रता बलवानके नियंत्रण पर निर्भर करती है, ग़रीबकी स्वतंत्रता धनवानके नियंत्रण पर निर्भर करती है·····प्रत्येक व्यक्तिको केवल इतनी ही स्वतंत्रता मिलनी चाहिए—और उससे अधिक कुछ नहीं—कि वह दूसरोंके साथ वैसा ही व्यवहार करे जैसा व्यवहार वह चाहता है कि दूसरे लोग उसके साथ करें। इसी सामान्य आधारशिला पर स्वतंत्रता, समानता और नैतिकताका अस्तित्व है (७६ : २४७-४८)।'

लास्की जो इसी विचारके पोषक हैं लिखते हैं कि राजनीतिक समानता उस समय तक वास्तविक नहीं हो सकती जब तक उसके साथ वास्तविक आर्थिक समानता भी न हो। उन्हींके अपने शब्दोंमें 'समानतासे तात्पर्य जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्तिमें उस हद तक एकरूपतासे है जिस हद तक उसे पर्याप्त माना जा सके (४७ : १६०)।' कुछ लोगोंके पास प्रचुर सम्पत्ति होना तथा दूसरी ओर अन्य लोगों का भूखसे मरना उचित नहीं है। 'या तो राज्य सम्पत्ति पर अधिकार करे या फिर सम्पत्ति ही राज्य पर अधिकार कर लेगी (४७ : १६२)।' आर्थिक शक्तिका प्रयोग करनेवाली सत्ताको लोकतंत्रीय नियंत्रणके अधीन होना चाहिए। यह अपेक्षित है कि प्रत्येक व्यक्तिके लिए एक निम्नतम मानदण्ड होना चाहिए और साथ ही एक उच्चतम मानदण्ड भी होना चाहिए जिसके ऊपर साधारणतः किसी भी व्यक्तिको उठने न दिया जाय।

एक अन्य विचारके लिए भी हम लास्की के ऋणी हैं और वह विचार यह है कि यदि राष्ट्रोंके बीच सच्ची समानता लानी है तो सबसे पहले युद्धको ग़ैर-क़ानूनी घोषित किया जाना चाहिए। इसके अर्थ हैं कि शान्ति बनाये रखनेके लिए अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओंका निर्माण हो। जब एक राष्ट्र या कुछ राष्ट्रोंका एक गुट संसारके कच्चे माल पर एकाधिकार स्थापित कर लेता है और जहाज़रानी, बैंकिंग और विदेशी व्यापार पर अपना नियंत्रण क़ायम कर लेता है तब अनेक राष्ट्रोंकी स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है।

जहां तक भारतका सम्बन्ध है समानताके सिद्धान्तकी मांग है कि लिंग, जाति, भाषा और प्रान्तके भेदोंको जितनी जल्दी हो सके समाप्त किया जाय। स्वतंत्रताके

बाद महिलाओंकी स्थितिमें पर्याप्त सुधार हुआ है। वे पुरुषोंके समान मतदान कर सकती हैं और चुनावमें खड़ी हो सकती हैं। कुछ महिलाओंको देशकी प्रशासकीय सेवाओंमें भी स्थान दिया गया है। महिलाओंकी शिक्षा, कामके अवसर, विवाह, सम्पत्ति और उत्तराधिकारमें भी अधिकाधिक समान अवसर दिये जा रहे हैं। दलित वर्गके उत्थानके लिए भी बहुत कुछ किया जा रहा है। उनकी शिक्षाके लिए छात्र-वृत्तियां उदारताके साथ दी जा रहीं हैं और उनमेंसे अनेक लोगोंको सार्वजनिक कामों में स्थान दिया जा रहा है। 'अछूत-प्रथा' ग़ैर क़ानूनी घोषित की जा चुकी है परन्तु लोकमतके प्रबल समर्थनके अभावमें इस क़ानूनको ठीकसे व्यवहारमें नहीं लाया जा रहा है।

प्रान्तीय और भाषा सम्बन्धी विभेदोंको दूर करनेमें भारत अधिक प्रगति नहीं कर रहा है। राज्योंका पुनर्गठन बहुत कुछ भाषाके आधार पर होनेके कारण फूट पैदा करनेवाली वृत्तियोंको खुली छूट मिल गई है। जिस पर प्रबल देश भक्तिकी भावना ही विजय पा सकती है। इसका निराकरण अत्यन्त प्रतियोगिता-पूर्ण राजकीय सेवाओं के अतिरिक्त कामके अन्य अवसरोंकी वृद्धि करके भी किया जा सकता है।

समानताके सिद्धान्त और प्राकृतिक असमानताकी वास्तविकतामें सामंजस्य स्थापित करना समानताका लक्ष्य होना चाहिए।

५. स्वतंत्रताका राजकीय नियमन (State Regulation of Liberty).

हम पहले ही कई बार कह चुके हैं नियंत्रणहीन स्वतंत्रता कहीं नहीं है क्योंकि कुछ लोगोंको नियंत्रणहीन स्वतंत्रता मिलनेका अर्थ होता है दूसरोंकी स्वतंत्रताका अपहरण होना। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वयं व्यक्तिके हितमें तथा समाज के हितमें यह आवश्यक है कि स्वतंत्रता पर कुछ नियंत्रण लगाये जायँ। अब हम ऐसे नियंत्रण पर विचार करेंगे जो राज्य द्वारा प्रत्यक्ष रूपसे और समाज द्वारा अप्रत्यक्ष रूपसे लगाये जाते हैं। इन नियंत्रणोंके उचित या अनुचित होनेका निर्णय हम इस सिद्धान्तसे कर सकते हैं कि राज्य द्वारा बल-प्रयोग तभी उचित है जब वह व्यक्तियों द्वारा किये जानेवाले और भी बुरे बल-प्रयोगको रोकता है।

१. आत्म-रक्षाका अधिकार (The Right of Personal Security)

आत्म-रक्षाका अधिकार व्यक्तिगत स्वतंत्रताकी सबसे पहली शर्त है। किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह मुझ पर हमला करे या मेरे शरीरका मनमाना उपयोग करे या मुझे स्वेच्छापूर्वक चलने फिरनेसे रोके। मुझे अधिकार है कि मैं सक्रिय रहूँ और अपनी इच्छाके अनुसार काम करूँ बशर्ते कि मेरे कामोंसे दूसरोंके इन्हीं अधिकारोंमें हस्तक्षेप न होता हो और सामाजिक व्यवस्थामें खलल न पड़ता हो। इन सब बातोंको आधुनिक राज्यमें स्वीकार किया जा चुका है। दूसरों पर आक्रमण चाहे कितना ही मामूली

क्यों न हो क़ानून उस पर विचार करता है। द्वेष-भावनासे दिया गया धक्का भी हमला माना जा सकता है। हिंसा व बल-प्रयोगके विरुद्ध क़ानून हमारी रक्षा करता है। उदाहरणके लिए यदि कोई हमें मुक्का दिखाये या भविष्यमें हमारे ऊपर बल-प्रयोगकी धमकी दे तो क़ानून इसकी भी सुनवाई करता है। क़ानून आत्म-रक्षाका अधिकार स्वीकार करता है। जीवन ख़तरेमें होने पर क़ानून हमें अनुमति देता है कि हम अपने जीवन-रक्षाके लिए जितने बल-प्रयोगकी ज़रूरत हो उतना बल-प्रयोग करें और ज़रूरत पड़ने पर हम अपने ऊपर हमला करनेवालेको मार भी सकते हैं। क़ानून दूसरोंकी असावधानीसे भी लोगोंकी रक्षा करता है।

व्यक्तिकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर दूसरे व्यक्ति ही प्रहार नहीं करते वरन् सरकार भी हस्तक्षेप कर सकती है। सरकारी हमलोंसे व्यक्तियोंकी रक्षा करनेके लिए सभी सभ्य राज्योंमें विधान होते हैं। इंगलैण्डमें व्यक्तिगत स्वतंत्रताके अधिकार का अर्थ यह है कि देशके साधारण क़ानूनकी अनुमतिके बिना न तो किसी व्यक्तिको क़ैद किया जा सकता है, न गिरफ़्तार किया जा सकता है और न उस पर दबाव डाला जा सकता है। इस अधिकारकी रक्षा तीन प्रकारसे होती है: (१) अवैध गिरफ्तारी के विरुद्ध प्रतिकार, (२) वैयक्तिक स्वतंत्रता और बन्दी प्रत्यक्षीकरण विधानों (The Habeas Corpus Acts) द्वारा, और (३) सामान्य विधान (The Rule of Law in general) द्वारा।

(१) अवैध गिरफ़्तारीके विरुद्ध प्रतिकारका अर्थ यह है कि ग़लत ढंगसे गिरफ़्तार किये जाने पर एक व्यक्ति यदि चाहे तो गिरफ़्तार करनेवालेको सजा दिला सकता है अथवा अपनी क्षतिके अनुसार हर्जाना ले सकता है। यह कार्यवाही राज्यके हर व्यक्तिके विरुद्ध की जा सकती है चाहे वह अधिकारी हो अथवा साधारण नागरिक।

(२) बन्दी-प्रत्यक्षीकरण-विधान (The Habeas Corpus Act) का तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति बन्दी किया जाय उसे खुली अदालतमें मामलेकी सुनवाईके लिए पेश किया जाय। सरकारकी कार्यपालिकाके मनमाने कार्यों पर यह एक बहुत बड़ी रोक है। यह पुलिस और कार्यपालिकाको देशके विधानके अनुसार ही काम करनेको मजबूर कर देती है।

(३) सामान्य परिस्थितियोंमें विधानादेश (The Rule of the Law),

(क) राज्यके सभी व्यक्तियोंको—अधिकारियोंको भी—साधारण दीवानी अदालतोंके अधीन कर देता है,

(ख) सरकारके परमाधिकार (prerogative) और विवेकाधिकार (discretionary authority) का विरोध करता है,

(ग) व्यक्तिगत रूपसे लोगों पर लागू होनेवाले सामान्य वैयक्तिक विधानमें से भाषण, लेखन और सभा करने आदिकी संवैधानिक स्वतंत्रताको तर्क-सम्मत सिद्ध करता है।

२. विचार, भाषण और लिखनेकी स्वतंत्रता (Liberty of Thought, Speech and Writing)

एक अर्थमें विचारकी स्वतंत्रता सभीको प्राप्त है और कोई भी उस पर नियंत्रण नहीं कर सकता। यदि कोई व्यक्ति चाहे तो अपनेको कमरेमें बन्द कर ले और फिर जो मन चाहे कहे या करे। इससे उस समय तक किसी पर प्रभाव नहीं पड़ता जब तक वह अपने विचारोंको दूसरों पर प्रगट नहीं करता अथवा अपने विचारोंको कार्य रूपमें परिणत करनेकी कोशिश नहीं करता। पर यह विचार स्वातंत्र्यकी सामान्य व्याख्या नही है। विचार स्वातंत्र्य तो तभी सार्थक है जब उसके साथ भाषण और काम करनेकी भी स्वतंत्रता हो। मनचाही बातें सोचनेकी स्वतंत्रताका होना, पर उन विचारोंको प्रगट करने और उनके अनुसार काम करने की स्वतंत्रताका न होना अत्याचार कहा जायगा। यह 'एक ऐसा कष्टदायक दण्ड हो जाता है जो मनुष्यकी आत्माको दुर्बल कर देता है (६६ : १६८)।'

विचार और भाषणकी स्वतंत्रताके प्रबल समर्थक लास्की लिखते हैं: 'जिन लोगों को अपने अनुभवके अनुसार सोचनेसे रोक दिया जाता है वे लोग जल्दी ही सोचना बिल्कुल बन्द कर देंगे (४७: १२०)।' 'कोई भी सरकार अपने समर्थकोंकी प्रशंसाकी अपेक्षा अपने विरोधियोंकी आलोचनासे अधिक सीख सकती है (४७: १२१)।' 'निस्सन्देह राज्यको अपनी रक्षा करनेका अधिकार है पर उसे अपने इस अधिकारका प्रयोग तभी करने दिया जाय जब वास्तवमें उस पर कोई भारी संकट आ पड़े (४७: १२३)।'

विचार और विवादकी स्वतंत्रता बहुत पुराने ज़मानेसे मनुष्यकी एक पवित्र थाती मानी जाती रही है। सुकरात (Socrates) ने तो अपनी विचारकी स्वतंत्रता खोनेके बजाय अपने प्राण दे देना अच्छा समझा था। उनका तो विचार यहाँ तक था कि प्रतिष्ठित वर्तमान व्यवस्थाके समक्ष नवीन विचारोंका खतरा कुछ हद तक मौजूद रहना ही चाहिए। इंगलैण्डमें मिल्टन, सिडनी, लॉक और जे० एस० मिल ने विचार और विवादकी स्वतंत्रताका समर्थन अपनी अमर भाषामें किया है। मिल्टन विचार और भाषणकी स्वतंत्रताको अन्य सब प्रकारकी स्वतंत्रताकी नींव मानते थे।

मिल के विचार. मिल ने विचार, भाषण और लिखनेकी स्वतंत्रताको मालाकार तर्कके रूपमें उचित सिद्ध किया है। उनका विश्वास था कि विचार-स्वातंत्र्यके उपांग-रूपमें भाषण-स्वातंत्र्य और भाषण-स्वातंत्र्यके उपांग रूपमें लिखनेकी स्वतंत्रता होनी चाहिए। उनका सुप्रसिद्ध तर्क यह है कि प्रचलित विचार या तो बिल्कुल सही होगा या बिल्कुल ग़लत, या जैसा कि अधिक सम्भव है, कुछ अंशोंमें सही और कुछ अंशोंमें ग़लत होगा। इन हालतोंमें से हर एकमें विचार और विवादकी स्वतंत्रता लोगोंको मिलना चाहिए। यदि प्रचलित विचार बिल्कुल सही है तो फिर दूसरोंको इसका खंडन करने—यदि उनके लिए सम्भव हो—का अवसर देनेमें डरनेकी क्या बात है? ऐसी हालतमें स्वतंत्रता पर रोक लगानेका अर्थ यह हो सकता है कि इस बात

का पूरा भरोसा नहीं है कि प्रचलित विचार बिल्कुल सही है। निस्सन्देह अपने विचार पर खुलकर विवाद करनेका अवसर न देनेका मतलब है उस विचारको बलपूर्वक दूसरों पर लाद देना। इसके विपरीत यदि विचार बिल्कुल ग़लत है तो यह हमारा अधिकार और कर्त्तव्य है कि असत्यको छोड़कर उस सत्यको ग्रहण करें जो परस्पर विचार-विवादसे प्राप्त हो। और अन्तमें यदि विचार अंशतः सही और अंशतः ग़लत है तब तो यह और भी जरूरी है कि खुलकर विचार और विवाद हो ताकि लोग एक दूसरेसे सीख सकें। ऐसी हालतोंमें विचार-विवाद पर रोक लगानेका अर्थ है इस बात का दावा करना कि हमसे कभी कोई भूल हो ही नहीं सकती और अनुभव यह सिद्ध करता है कि कोई भी ऐसा परमसिद्ध नहीं है जिससे भूल न होती हो।

ऊपरके तर्कको प्रतिपादित करते हुए मिल का विश्वास है कि मनुष्य जाति इतनी समझदार है कि वह सर्वदा सचाईका खुले दिलसे स्वागत करेगी। वे इस बात पर ध्यान नहीं देते कि लोग अधिकतर अपना निर्णय तर्कके अनुसार न करके भावना के वशीभूत होकर करते हैं और सभ्य समाजमें भी कुछ प्रतिशत लोग ऐसे होते हैं जो अपनी स्वतंत्रताका उपयोग ठीक प्रकार नहीं कर सकते। अपने समयमें प्रचलित हस्तक्षेप न करनेके (laissez faire) सिद्धान्तकी भांति मिल भी यह मान लेते हैं कि व्यक्तिगत हित किसी प्रकार आश्चर्यजनक ढंगसे सामाजिक हितमें बदल जाता है। वह इस साधारण अनुभवको भूल जाते हैं कि कभी-कभी सत्यको सबल बनानेके लिए असहिष्णुताकी अवस्था पार करनी पड़ती है। एक उपयोगितावादी (utilitarian) होनेके नाते उन्हें पूर्ण स्वतंत्रताकी बात करनेका कोई अधिकार नहीं है; उन्हें तो वास्तवमें काम साधने (expediency) के दृष्टिकोणसे विचार करना चाहिए। इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी समाज असीमित विचार-स्वातंत्र्य नहीं दे सकता।

रेनन (Renan) विचार-स्वातंत्र्यको बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। वह इसे सभी प्रकारकी धर्मान्धताका बहुत बड़ा हल मानते हैं। हॉकिंग का तर्क है कि विचार-स्वातंत्र्य मनुष्यके विकासके लिए अनिवार्य है क्योंकि इसी स्वतंत्रता द्वारा मनुष्य विचार प्राप्त करके शक्तिशाली बननेका अवसर पाता है। उनका कहना है कि एक अच्छे समाजमें सभी विचारोंको अपना महत्त्व सिद्ध करनेका अवसर दिया जाना चाहिए। प्राणियोंकी भांति विचारोंमें भी 'जीवनके लिए संघर्ष और सर्वाधिक सबलके अस्तित्व' का सिद्धान्त लागू होता है।

फिर भी सभी लोग मानते हैं कि स्वतंत्रतापूर्वक विचार प्रकट करनेकी भी सीमाएँ हैं। इन सीमाओंका निर्धारण समाज लोकमत द्वारा तथा राज्य अपमानजनक लेख (libel), निन्दात्मक भाषण (slander), मानहानि (defamation), ईश्वर-निन्दा (blasphemy) और राजद्रोह (sedition) आदिके सम्बन्धमें बने हुए क़ानूनों द्वारा करता है। भाषण-स्वातंत्र्य पर बन्धन लगाते समय इस सामान्य सिद्धान्तका पालन किया जाता है कि विचार औचित्यकी सीमाके भीतर ही प्रकट

किये जायँ और सामाजिक व्यवस्था तथा सार्वजनिक सदाचारके विपरीत न हों।

अपमानजनक लेखन और निन्दा-भाषण (Libel and Slander). व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतंत्रता पर हमला केवल शारीरिक ही नहीं होता। व्यक्तिको मानसिक क्लेश पहुँचा कर भी उसकी स्वतंत्रता पर हमला किया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकारके क्लेशके विरुद्ध क़ानून हमारी रक्षा नहीं कर सकता क्योंकि इस प्रकारके क्लेशका प्रमाण और परिमाण दोनों ही इतने अनिश्चित रहते हैं कि क़ानून उन पर विचार नहीं कर सकता। फिर भी अपमानजनक लेख व निन्दा भाषणके विरुद्ध विधानकी व्यवस्था करके क़ानून व्यक्तिकी ख्यातिकी रक्षा करता है। क़ानून यह स्वीकार करता है कि ख्याति व्यक्तिकी एक पवित्र निधि है और वह अधिकतर अन्य व्यक्तियोंके मस्तिष्कमें रहती है। इसलिए जब एक व्यक्ति दूसरे पर झूठ ही आरोप लगाता है—चाहे वह छोटा हो या बड़ा—या किसी अन्य प्रकारसे उसके चरित्रको हानि पहुँचाता है तो उसे दण्ड दिया जाता है। कुछ देशोंमें किसी व्यक्तिको उसके पेशेके अयोग्य कहना या उसकी योग्यता पर सन्देह करना भी दण्डनीय है।

केवल इतना सिद्ध कर देना ही काफ़ी नहीं है कि किसी व्यक्तिके विरुद्ध कही गयी बात सत्य है। जो आरोप लगाया जाय वह जनहितके उद्देश्यसे ही लगाया जाना चाहिए क्योंकि किसी व्यक्तिको सत्य बात कहने पर भी उसी प्रकार दण्ड दिया जा सकता है जिस प्रकार झूठा आरोप लगाने पर।

अपमानजनक लेख या निन्दा-भाषणके लिए क्षति-पूर्ति (damages) दिलाते समय आरोप लगानेवाले व्यक्तिके उद्देश्य और जिस व्यक्ति पर आरोप लगाया गया हो उसकी प्रतिष्ठा और उसकी भावनाओंका भी विचार किया जाता है। आजकल अंग्रेज़ी-भाषी देशोंमें लेखके बारेमें क़ानून कुछ ऐसा है कि जब आरोप सत्य भी होता है और उसका सार्वजनिक महत्त्व भी होता है तब भी आरोप लगानेवालेको दण्ड दिया जा सकता है। सब कुछ विधानकी व्याख्या पर निर्भर करता है। साधारण नियम यह है कि अपमानजनक कार्य चाहे किसी एक व्यक्तिने किया हो या चाहे किसी समाचार पत्रने उसे तब तक दण्ड नहीं दिया जा सकता जब तक कि वह मौजूदा क़ानूनके शिकंजेमें न आ जाय।

ईश्वर-निन्दा (Blasphemy). जो सामान्य सिद्धान्त अपमानजनक लेख तथा निन्दा-भाषण पर लागू होते हैं वे ही धार्मिक और नैतिक प्रश्नोंके विवेचन पर भी लागू होते हैं। इंगलैण्डमें ईश्वर-निन्दाके मामलों पर साधारण अदालतोंमें ही एक न्यायाधीश और जूरी द्वारा विचार किया जाता है 'जिससे कि मामलेकी अनैतिकता और धार्मिक खतरेका विचार, देशके सार्वजनिक जीवन और प्रचलित विचार-धाराके अनुसार हो सके (२८ : १५०)।'

सरकारकी आलोचना करनेका अधिकार. यद्यपि एक अर्थमें राज्य ही स्वतंत्रता का अधिकार देता है तथा क़ायम रखता है फिर भी स्वतंत्रता राजनीतिक सत्ताको

सीमित ही रखना चाहती है। शासकोंसे जवाब-तलब करना स्वतंत्रताकी एक शक्ति है। लास्की के शब्दोंमें 'जिस राज्यमें शक्तिका अत्यधिक केन्द्रीकरण होगा वहाँ कभी भी स्वतंत्रता हो ही नहीं सकती (४९ : ६५)।' 'व्यवस्था ही सबसे बड़ी अच्छाई नहीं है और विद्रोह हमेशा अनुचित नहीं होता (४९ : ७६)।' लेकिन कोई भी राज्य क़ानूनोंका तोड़ा जाना सहन नहीं कर सकता और किसी भी व्यक्तिको इस बातकी अनुमति नहीं दी जा सकती कि वह लोगोंको राज्यकी सत्ताकी अवज्ञा करनेको उकसाये और इस प्रकार राज्यकी सुरक्षाको खतरेमें डाले। हिंसात्मक और अवज्ञामूलक कार्य राजद्रोह और देशद्रोह क़ानूनके भीतर आ जाते हैं। जब खतरा अप्रत्यक्ष और दूर हो तो राजनीतिज्ञता इस बातमें है कि उसे सहन कर लिया जाय। लास्की तो यहाँ तक कहते हैं कि राजद्रोहके नाम पर विचार प्रकट करनेकी स्वतंत्रता पर लगाया जाने-वाला प्रत्येक नियंत्रण समाजके हितके विपरीत है क्योंकि आज जो नास्तिकता है वही कल धार्मिक विश्वास बन जाता है। राजद्रोह या देशद्रोहके मामलोंको कार्यपालिकाके ऊपर छोड़नेसे निश्चय ही अधिकारका दुरुपयोग हो सकता है। लास्की के प्रभावशाली शब्दोंमें 'कार्यपालिकाका न्याय असलियतमें न्यायका अभाव है (४९ : १११)।' युद्ध जैसी विशेष परिस्थितियोंमें स्वतंत्रता पर विशेष नियंत्रण लगाया जाना उचित माना जा सकता है पर लास्की का विश्वास है कि युद्धके समय भी भाषण-स्वातंत्र्यमें वही अधिकार निहित रहते हैं जो शान्तिकालमें रहते हैं। उन्हींके शब्दोंमें 'यदि किसी व्यक्तिका जम्स रसेल लावेल की भाँति विश्वास है कि हत्याका दूसरा नाम युद्ध है तो उसका यह कर्त्तव्य है कि वह अपने इस विचारको प्रकट करे भले ही ऐसा करनेसे तत्कालीन सरकारको असुविधा पैदा हो (४९ : ११३)।'

प्रेसकी स्वतंत्रता (Liberty of the Press). प्रेसके सम्बन्धमें इंगलैण्ड और फ़्रान्सके क़ानून दो बिल्कुल भिन्न कोटिके विधान हैं। इन दोनोंमेंसे कौन-सी—इंगलैण्डकी या अन्य योरोपीय देशोंकी—पद्धति श्रेष्ठ है यह विवाद-ग्रस्त प्रश्न है। लार्ड मेन्सफ़ील्ड के अनुसार इंगलैण्डमें 'प्रेसकी स्वतंत्रताका अर्थ है बिना पूर्व अनुमतिके छापनेकी स्वतंत्रता, परन्तु क़ानूनके नतीजे भोगनेके लिए तैयार रहना चाहिए।' प्रेस के मामलों पर विचार करनेके लिए विशेष अदालतें नहीं हैं। व्यक्तिगत नागरिकोंकी अपेक्षा समाचार पत्रों पर कोई विशेष उत्तरदायित्व नहीं है।

फ़्रान्स तथा योरोपके अधिकतर देशोंमें प्रेसके विशेष क़ानून ही नहीं हैं वरन् प्रेसके अपराधों पर विचार करनेके लिए विशेष अदालतें भी हैं। फ़्रान्सका शासन-सिद्धान्त यह है कि सरकारको न केवल उन लोगोंको दण्ड देना चाहिए जो भाषण-स्वातंत्र्यकी सीमाका उल्लंघन करते हैं वरन् उसे लोकमतका सही दिशाओंमें संचालन भी करना चाहिए। यह इस सिद्धान्त पर आधारित है कि इलाजसे बचाव ज़्यादा अच्छा है।

इंगलैण्डमें प्रेसकी स्वतंत्रता जैसा कोई अधिकार कभी भी क़ानून द्वारा स्वीकार नहीं किया गया। यद्यपि प्रेस-नियंत्रण (censorship) नहीं है पर राजद्रोह, देशद्रोह, ईश्वर-निन्दा आदिके बारेमें क़ानून हैं और ये सब क़ानून प्रेसकी स्वतंत्रताको सीमित

करते हैं। इन परिस्थितियोंमें बहुधा यह अनुमान किया जाता है कि जूरी द्वारा मुक़दमेकी सुनवाई होनेसे वाद-विवादकी स्वतंत्रता सुरक्षित रहती है। पिछले समयमें यह अनुमान चाहे जितना सही रहा हो पर वर्तमान युगमें परिस्थिति बदल जानेसे उसमें वह बल नहीं रह गया है। पहले ज़मानेमें जिस वर्गसे जूरी चुने जाते थे उस वर्गकी प्रवृत्ति सरकारके विरुद्ध फैसला देनेकी रहती थी। पर आजकल अधिकांश जूरी विचार और वाद-विवादकी स्वतंत्रताके प्रेमी नहीं माने जाते। इसलिए यह सम्भव है कि जो पद्धति पहले कभी व्यक्तिगत स्वतंत्रताकी रक्षक थी आज हमें उसको त्यागना पड़े—यदि उसमें आमूल सुधार नहीं किये जाते।

वैयक्तिक कार्य (Individual action) पर मिल के विचार. मिल ने 'स्वतंत्रता' पर लिखे गये अपने निबन्धमें केवल विचार अभिव्यक्तिकी स्वतंत्रताका ही समर्थन नहीं किया है बल्कि उसने कार्य करनेकी स्वतंत्रताका भी समर्थन किया है। मिल ने मनुष्यके कार्य दो प्रकारके बताये हैं: (१) आत्मपरक (self-regarding) और (२) समाजपरक (other-regarding)।

३. कार्य-स्वातंत्र्य (Liberty of Action)

उनकी रायमें आत्मपरक कार्य वे कार्य हैं जिनका सम्बन्ध केवल काम करनेवाले व्यक्तिसे ही होता है तथा समाजपरक कार्य वे कार्य हैं जिनका असर काम करनेवाले व्यक्तिके अलावा अन्य लोगों पर भी पड़ता है। मिल का कहना है कि पहले प्रकारके कार्योंमें किसी प्रकारका भी हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। यह कार्य किसी व्यक्तिकी निजी रुचिसे सम्बन्धित है। दूसरी कोटि अर्थात् समाजपरक कार्योंमें राज्य क़ानूनोंके द्वारा और समाज लोकमतके द्वारा हस्तक्षेप कर सकता है। यद्यपि ऐसे भी मामले होते हैं जब दोनोंमें से किसीका हस्तक्षेप करना उचित नहीं होता। दूसरे शब्दोंमें मिल एक क्षेत्रमें पूर्ण स्वाधीनताका और दूसरे क्षेत्रमें सीमित सत्ताका समर्थन करते हैं।

मनुष्यके कार्योंके इस विभाजनकी बड़ी कड़ी आलोचना की जा सकती है। कोई भी ऐसा मापदण्ड नहीं है जिसके द्वारा मनुष्यके कार्योंको आत्मपरक और समाजपरक दो भागोंमें बाँटा जा सके। यदि समाजके आंगिक सिद्धान्त (organic theory) में कोई सत्य है तो यह है कि व्यक्तिका हित और समाजका हित एक दूसरे पर आश्रित हैं। जो कार्य अपने प्रभावमें बिल्कुल व्यक्तिगत मालूम होते हैं उनका भी प्रभाव समाज पर कभी न कभी पड़ता ही है। मिल के अनुसार फिजूलखर्ची, शराबखोरी, जुआखोरी आदि व्यक्तिगत कार्य हैं बशर्ते कि उनके फलस्वरूप कर्जकी अदायगी नहीं रुकती और व्यक्ति अपने कार्योंमें या परिवारके प्रति अपने कर्त्तव्योंको पूरा करनेमें शिथिल नहीं पड़ता। सिद्धान्तके तौर पर यह तर्क चाहे जितना तर्क-संगत जान पड़े व्यवहारमें निश्चय ही बहुत-से मौकों पर असंगत जान पड़ेगा। और यदि कुछ मामलोंमें यह भेद सही भी हो तो क्या हम यह प्रश्न नहीं पूछ सकते: क्या व्यक्तिके हित और विकासके लिए राज्य या समाजकी कोई जिम्मेदारी नहीं है? क्या यह उचित है कि हम व्यक्तिको बुरे मार्ग पर चलनेके लिए खुली छूट दे दें? हम इस

बातमें मिल से सहमत नहीं हैं कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने हितको अच्छी तरह जानता है। हो सकता है कि व्यक्ति अपने वर्तमान सुखकी पहिचान स्वयं सबसे अच्छी तरह कर सके पर यह ज़रूरी नहीं है कि अपने भावी सुख या उस सुखको प्राप्त करनेके साधनोंकी परख भी वह अच्छी तरह कर सके।

इन स्पष्ट त्रुटियोंके होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि मनुष्यके कार्योंमें मिल ने जो भेद किया है वह व्यावहारिक तौर पर बहुत महत्त्वपूर्ण है। यथा सम्भव समाज ऐसे ही कार्योंका नियंत्रण करे जिनका प्रत्यक्ष और निश्चित प्रभाव दूसरों पर पड़ता है। पर यह कोई अमिट क़ानून नहीं है। आजकलकी असीमित नौकरशाहीके ज़मानेमें और ऐसे समयमें जब कि लोग राज्यकी अंध-भक्तिमें विश्वास करते हैं, मिल के सिद्धान्तको प्रभावपूर्ण ढंगसे पुनः दोहराया जाना चाहिए।

सामूहिक कार्य (Collective Action). सामूहिक कार्यकी स्वतंत्रतामें सार्वजनिक सभा करनेका अधिकार, संगठन करनेका अधिकार, और बहिष्कार करने, हड़ताल करने और धरना देनेके अधिकार शामिल हैं।

सार्वजनिक सभा करनेका अधिकार. बेल्जियममें घरोंके भीतर होनेवाली सभाओंमें कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता। यह सभाएँ पुलिसकी अनुमति लिये बिना ही की जा सकती है पर खुली आम-सभाओं पर पुलिस क़ानून लागू होता है। अंग्रेज़ी क़ानून ऐसा कोई भेद नहीं मानता और वहाँ ऐसा कोई विधान नहीं है जिससे सार्वजनिक सभा करनेका अधिकार स्वीकार किया गया हो। सार्वजनिक सभा करनेका अधिकार नागरिकोंके उस व्यक्तिगत अधिकारसे प्राप्त किया गया है जिसके अनुसार देशके क़ानूनको मानते हुए व्यक्तिको यह अधिकार प्राप्त है कि वह जहाँ चाहे जाय और जो चाहे कहे। डाइसी (Dicey) का कहना है: 'इंगलैण्डके संविधानका आधार व्यक्तिगत अधिकार है तथा इसका सबसे अच्छा उदाहरण सार्वजनिक सभाओं पर लागू होनेवाले नियम हैं।'

समुदायको व्यक्तियोंका झुण्ड-मात्र माननेवाले अंग्रेज़ी दृष्टिकोणसे अनेक कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। यह अधिक उपयुक्त होगा कि अंग्रेज़ोंकी विधान-पद्धतिमें योरोपकी इस व्यावहारिक मान्यताको—सभाओं और जुलूसोंके सार्वजनिक (और प्रायः राजनीतिक) महत्त्वको—भी कुछ विशेष क़ानूनों द्वारा स्वीकार किया जाय। साथ ही वर्तमान पद्धतिके पक्षमें भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। इसमें लोगोंको दबी हुई भावनाओंको प्रकट करनेका मौक़ा मिलता है और अल्पसंख्यकोंकी शिकायतों और उनकी आकांक्षाओंको व्यक्त करनेका एक प्लेट फ़ार्म मिल जाता है तथा एक पक्षके विरुद्ध दूसरे पक्षका समर्थन करनेके झंझटसे पुलिस बच जाती है। साधारणतः एक व्यक्तिको अपने विचार प्रकट करने देना बुद्धिमानी ही है बशर्ते कि विचार प्रकट करते समय भाषा संयमित रहे। इसके अतिरिक्त जैसा रिची ने कहा है 'एक नागरिककी शिक्षाका यह उपयोगी अंग है कि उसे एक दूसरेसे विपरीत अनेक प्रकारके विचार सुननेको मिलें बशर्ते कि इन विचारोंका खण्डन-मण्डन करनेमें परस्पर श्रोताओं

द्वारा या सार्वजनिक शान्तिके रक्षकों द्वारा सिर फूटनेकी अवस्था न आ जाय (६६ : २१४)।'

संस्था-संगठनका अधिकार (The Right of Association). व्यक्तियोंकी ही तरह संस्थाओंके भी अधिकार और कर्त्तव्य होते हैं। किसी भी संस्थाको राज्यके विरुद्ध युद्ध करने या राज्यकी सत्ताको उलटनेका गुप्त प्रयत्न करनेका अधिकार नहीं है। संस्थाओंको अपने क्षेत्रमें चाहे जितनी भी स्वतंत्रता क्यों न प्राप्त हो, अन्तिम सत्ता तो राज्यके हाथोंमें ही रहती है। जो संगठन किसी एक राज्यकी सीमाओको पार करके अन्य राज्योंमें भी फैल जाता है और दूसरे राज्योंके नागरिकोंकी निष्ठा जिन्हें प्राप्त होती है वे समय बीतने पर आधुनिक राष्ट्रीय राज्योंका अन्त करके एक अन्तर्राष्ट्रीय राज्य बनानेकी चेष्टा करते हैं। भविष्यमें चाहे जो कुछ हो, इतना स्पष्ट है कि आधुनिक राज्यको संघटनों या संघोंकी बढ़ती हुई शक्तिके विरुद्ध व्यक्तिकी स्वतंत्रताकी रक्षा करनी चाहिए और संघोंको आपसमें संघर्षमें आनेसे रोकना चाहिए। जहाँ तक ट्रेड यूनियन जैसे शक्तिशाली संघोंका सम्बन्ध है राज्यको यथा-सम्भव मजदूर संघके सदस्यों और जो व्यक्ति सदस्य नही हैं उनके बीच निष्पक्ष रहना चाहिए।

आजकल कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि मनुष्यका आर्थिक जीवन इतना जटिल हो गया है कि राज्यके लिए उसका पथ-प्रदर्शन करना कठिन है। इसलिए ऐसी संस्थाओंका संगठन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वे इन समस्याओंको सुलझा सकें और राजनीतिक प्रतिनिधित्वका आधार तथा आर्थिक संगठनके सूत्र बन सकें। उनका कहना है कि राज्य द्वारा कभी-कभी लगाये जानेवाले नियंत्रणके बजाय प्रत्यक्ष तथा हर समय रहनेवाला नियंत्रण होना चाहिए जो कि केवल व्यावसायिक संघ ही प्रदान कर सकते हैं। लास्की एक ऐसी प्रणालीका समर्थन करते हैं जिसमें ऐसे संघोंके जटिल स्वाधिकार (complex autonomy) को मान लिया जाय और साथ ही जिसमें राज्य अपने इस दावेको भी छोड़ दे कि वही एक अकेला अनिवार्य संघ है या वही सार्वजनिक हितका एकमात्र प्रतिनिधि है। उन्हींके शब्दोंमें 'राज्य मनुष्यों द्वारा बनाये जानेवाले अनेक संघोमेंसे एक सघ है और व्यक्तिकी निष्ठा पर उसका कोई श्रेष्ठ अधिकार नहीं है।' अर्नेस्ट बार्कर का कहना है कि 'व्यक्तिको संघ या समुदायके अत्याचारसे बचानेके लिए यह आवश्यक है कि जीवनकी एक व्यापक सामान्य व्यवस्थाके रूपमें राज्य संघोंके पारस्परिक सम्बन्धों, संघों और उनके सदस्योंके सम्बन्धों तथा उन सदस्योंके साथ, स्वयं अपने सम्बन्धोंके बीच सामंजस्य स्थापित करें।' बहुलवादी सिद्धान्तके प्रति हम चाहे कितने भी उदार क्यों न हो जायँ पर हम नियामक सत्ताके रूपमें राज्यके सर्वोपरि अधिकारको चुनौती नहीं दे सकते।

बहिष्कार करने, धरना देने और हड़ताल करनेका अधिकार. अधिकांश आधुनिक राज्य बहिष्कारके सीमित प्रयोगकी अनुमति देते हैं। बहिष्कार सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक कारणोंसे किया जाता है। यह मुख्यतः वर्तमान औद्योगिक

सभ्यताकी देन है। जब केवल एक व्यक्ति या कुछ व्यक्ति बहिष्कार करते हैं तब कोई चिन्ताकी बात नहीं होती। पर जब कोई संघ या संस्था बड़े पैमाने पर बहिष्कार करती है तब सामाजिक नियमनकी आवश्यकता पड़ जाती है। साधारणतः राज्य बहिष्कारके मामलोंमें हस्तक्षेप नहीं करते क्योंकि 'औद्योगिक सम्बन्धोंकी स्वतंत्रता पर कड़ा प्रतिबन्ध लगानेमें (७२ : ५७९)' काफ़ी असुविधाएँ रहती हैं। भारतमें जब ग्रेट ब्रिटेनके विरुद्ध बहिष्कारका प्रयोग एक राजनीतिक हथियारके रूपमें किया गया तब बहिष्कारके अधिकारको बहुत अधिक सीमित कर दिया गया था।

अधिकांश राज्य शान्तिमय धरना देने पर आपत्ति नहीं करते। फिर भी आशंका रहती है कि शान्तिमय धरना अव्यवस्थित धरनेमें बदल जाय और एक सुव्यवस्थितको इन दोनोंके बीच सावधानीके साथ अन्तर करना होगा। समझाना-बुझाना तो उचित है पर ज़ोर-जबर करना या कष्ट पहुँचाना तो उचित नहीं है। यह निर्णय करना हमेशा आसान नहीं होता कि लोकभावना द्वारा निषिद्ध या वर्जित वस्तु की खरीद रोकनेके उद्देश्यसे किसी दुकानके सामने लेट जाना अनुनय है या कष्ट पहुँचाना है।

हड़ताल करनेका अधिकार भी आधुनिक कालमें ही स्वीकार किया गया है। साधारणतः यह स्वीकार किया जाता है कि जब झगड़ा तय करनेके अन्य सब साधन विफल हो जायें तब हड़ताल ही एक प्रभावपूर्ण तरीक़ा बाकी रह जाता है। किसीकी सहानुभूतिमें की गयी हड़तालों और आम हड़तालों पर भिन्न-भिन्न ढंगसे विचार किया जाता है। लास्की आम हड़तालके अधिकारका समर्थन करते हैं। उनका विश्वास है कि गम्भीर मामलोंमें आम हड़ताल द्वारा ही निष्क्रिय जनताको मजदूर वर्गके प्रति अपने उत्तरदायित्वकी याद दिलायी जा सकती है। 'जो सरकार आम हड़तालकी धमकीका मुकाबला करती है वह इस कारण जनताके समर्थनकी हकदार नहीं हो जाती कि उसे धमकी दी गयी है (४९ : १३३)।'

औद्योगिक क्षेत्रमें हड़ताल चाहे कितनी ही उचित क्यों न हो पर यह प्रायः सभी मानते हैं कि जन-पदाधिकारियों (civil servants), पुलिस, डाक-कर्मचारियों, रेल कर्मचारियों तथा लोक-सेवाके काममें लगे अन्य लोगोंको हड़ताल करनेका कोई अधिकार नहीं है।[1] इस बारेमें लास्की का विचार बिल्कुल भिन्न है। 'जन-पदाधिकारी केवल सरकारका कर्मचारी ही नहीं है वरन् वह एक नागरिक भी है (४९ : १३८)।' इसलिए लास्की का कहना है कि समाजको किसी भी हालतमें यह हक नहीं है कि वह अपनी सहूलियतको मजदूरकी स्वतंत्रतासे अधिक महत्त्व दे। हड़तालोंकी संख्या कम करनेके लिए लास्की का सुझाव है कि राज्य आधारभूत वेतन और कामके घण्टोंके

---

[1] यही बात विद्यार्थी संगठनोंके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। विवादके जो भी विषय हों उन्हें अध्यापक-विद्यार्थी-सम्बन्ध-समितियों द्वारा सुलझाया जाना चाहिए। अध्ययनके क्षेत्र और वातावरणमें विद्यार्थियोंकी हड़ताल नितान्त अनुपयुक्त है।

बारेमें ऐसे क़ानून बनावे कि हर उद्योग और व्यवसायमें भौतिक तथा मानसिक दृष्टिसे परिस्थितियाँ काफ़ी सन्तोषजनक हों और हर उद्योग और व्यवसायको काफ़ी मात्रामें स्वशासन भी प्राप्त हो।

४. धार्मिक विश्वास और व्यवहारकी स्वतंत्रता (Liberty of Religious Opinion and Practice)

धार्मिक विश्वास और व्यवहारकी स्वतंत्रता एक आधुनिक अधिकार है। बीते ज़मानेमें राज्य और धर्म-संघ (church) में चाहे जितना झगड़ा रहा हो पर वर्तमान युगमें राज्य और धर्म-संघमें ही नहीं, एक ही राज्यके विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायोंमें मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहते हैं। हम रूसो के इस कथनसे सहमत हैं: 'जो धर्म दूसरे धर्मोंके प्रति सहिष्णु हों उनके साथ तब तक सहिष्णुताका व्यवहार करना चाहिए जब तक उनके सिद्धान्त नागरिक कर्त्तव्योंके विपरीत न हो जायें (६७:पु०४, अ०८)।'

ईसाई-धर्म संघोंके मान्य आदेशोंसे भिन्न मार्ग अपनाना नास्तिकता है और उसके लिए दण्ड धार्मिक कोटिका ही हो सकता है। राज्य उससे अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखता। पर जब कभी जान-बूझ कर किसी धर्म या समुदायके विरुद्ध ऐसा प्रचार किया जाता है जिससे सार्वजनिक व्यवस्थाको ख़तरा हो सकता है तो ईश्वर-निन्दा सम्बन्धी क़ानून लागू होता है। धर्म-संघ ऐच्छिक (voluntary) संगठन है इसलिए उस पर वह अनेक बन्धन लागू होते हैं जो दूसरे ऐच्छिक संगठनों पर लागू होते हैं। धर्म-संघ युद्ध नहीं छेड़ सकता, टैक्स नहीं लगा सकता तथा लोगोंको बन्दी नहीं बना सकता। उसे लोगोंको विद्रोह या गृह युद्धके लिए भड़काने या अनैतिक कार्योंको प्रोत्साहित करनेका अधिकार नहीं है। दूसरे शब्दोंमें नागरिक कर्त्तव्योंके विपरीत आचरण करनेका उसे अधिकार नहीं है।

इसके साथ ही साथ अपनी विशेष स्थितिके कारण धर्म-संघ (church) को कुछ ऐसे विशेष अधिकार प्राप्त हैं जो अन्य ऐच्छिक संगठनोंको प्राप्त नहीं होते। धर्म-संघ एक बहुत बड़ी सामाजिक आवश्यकताको पूर्ण करता है और लोगोंमें उच्च कोटि की नैतिकता उत्पन्न करता है। अपने सर्वोत्तम रूपमे धर्म-संघ 'एक ऐसी भावना और आदर्शकी क्षमता उत्पन्न करता है जिसकी राज्यको आवश्यकता तो रहती है पर जिसे राज्य स्वयं उत्पन्न नहीं कर पाता' (ए० सी० लिण्डसे)। क्योंकि धर्म-संघ इतने आवश्यक कार्य करता है अतएव यह आवश्यक है कि राज्य उसकी रक्षा करे और उसे प्रोत्साहित करे। अधिकांश देशोंमें धार्मिक सभाओंको अनेक प्रकारके उपद्रवोंके विरुद्ध सुरक्षा प्रदान की जाती है। राज्य धर्म-गुरुओंको अपने निरीक्षणमें विवाह संस्कार करानेकी अनुमति देता है। कुछ देशोंमें राज्य धर्म गुरुओंको कुछ नागरिक कर्त्तव्योंसे बरी रखता है जैसे जूरी बनना और युद्धमें भाग लेना। बहुत-से स्थानोंमें पूजा या उपासनाकी इमारतों पर टैक्स नहीं लगाया जाता। कुछ धर्म संघोंको प्रतिष्ठित धर्म मानकर राज्य द्वारा पूरी या काफ़ी सहायता दी जाती है

जिसका समर्थन किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी जमानेमें भारतमें इंगलैण्ड के चर्चको इस आधार पर सहायता दी जाती थी कि वह भारतमें रहने वाले अंग्रेज कर्मचारियों, नागरिकों और सैनिकों, के आध्यात्मिक हितोंकी रक्षा करता है—इन लोगोंको ईसाई माना जाता था।

आज दिन भारत का दावा है कि वह एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है जहाँ राज्यका अपना कोई धर्म नहीं है और जहाँ हर व्यक्तिको स्वतंत्रता है कि वह अपने धर्मको माने, उसके अनुकूल आचरण करे और उसका प्रचार करे। पर वास्तवमें कुछ विद्वेषी लोग और उनके गुट इस स्वतंत्रताको नियन्त्रित करनेकी कोशिश करते हैं। किसी एक धर्म विशेषके धार्मिक कृत्योंको राजकीय प्रश्रय देनेकी कोशिश की जा रही है। एक धर्म-निरपेक्ष राज्यको सभी प्रकारके धार्मिक और जातीय राग-द्वेषोंसे मुक्त होना चाहिए। यदि किसी उत्सवके अवसर पर धार्मिक क्रियाएँ या प्रार्थनाएँ की जाती हैं तो उसके लिए सभी सम्बन्धित धार्मिक नेताओंसे पहले स्वीकृति ले लेनी चाहिए। विशिष्ट रूपसे कोई साम्प्रदायिक बात नही होने देनी चाहिए और न कोई ऐसे काम होने देनी चाहिए जो किसी वर्गके धार्मिक विश्वासोंके विपरीत हों।

विवेक या अन्तरात्माका अधिकार (The Right of Conscience). सामाजिक शिष्टता और व्यवस्थाको मानते हुए किसी भी धार्मिक विश्वासको मानने और उस पर अमल करनेका अधिकार लगभग सब कहीं मान लिया गया है, पर विवेकके अधिकारको अभी तक ऐसी मान्यता नहीं मिली है। इस मान्यताके मार्गमें अनेक कठिनाइयाँ हैं। विवेक व्यक्तिके अन्तरात्माकी छिपी हुई आवाज है और वह उस अन्तरात्माके स्वामीके अतिरिक्त और किसीको नहीं सुनाई दे सकती। यदि हर एकको अपने विवेकका अनुगमन करनेकी आजादी दे दी जाय तो सामाजिक व्यवस्था चौपट हो जाय। सभीका विवेक एक ही बात नहीं कहता इसलिए राजनीतिक मामलोंमे राज्य जैसी एक सामूहिक संस्थाकी जरूरत पड़ती है जो समाजकी सामान्य सम्मतिका प्रतिनिधित्व कर सके और जिसका काम यह निर्णय करना हो कि कौन-सी बात सार्वजनिक हितमें है और कौन-सी नहीं। व्यक्ति अपने विवेकके अनुसार इतना ही निश्चय कर सकता है कि कौन-सी बात उसके लिए हितकर है और कौन-सी हितकर नही है और उसकी इस स्वतंत्रतामें पृथ्वीकी कोई भी शक्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकती। पर यदि व्यक्तिके कार्य सर्व-साधारणकी सुरक्षा और कल्याणके विपरीत हों तो राज्य हस्तक्षेप कर सकता है और उसे अवश्य हस्तक्षेप करना चाहिए।

बहुत-से आधुनिक राज्य युद्धके प्रति आत्मिक विरोध रखनेवालोंको इस बातकी अनुमति दे देते हैं कि वे युद्धमें भाग न लें। इन लोगोंको युद्धमें भाग न लेनेकी छूट कार्य साधकता (expediency) के विचारसे दी जाती है न कि इस आधार पर कि हर नागरिकको अपने विवेकके अनुसार काम करनेकी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए—विवेक उसे चाहे जहाँ ले जाय।

राज्यका प्रतिरोध करनेका 'अधिकार' विवेकके अधिकारका ही अनुगामी है। इस पर विचार करते समय हम टी० एच० ग्रीन की पुस्तक, 'राजनीतिक उत्तरदायित्वके सिद्धान्त' (*Principles of Political Obligation, Section H*) में प्रकट किये गये उनके विचारोंकी चर्चा करेंगे। निस्सन्देह व्यक्तिको स्वयं परख करनी चाहिए कि कोई क़ानून सार्वजनिक हितमे है या नहीं। यदि उसका निर्णय यह हो कि कोई कानून हितकर नही है तब भी उसे उस क़ानूनका पालन अवश्य करना चाहिए, विशेषकर एक ऐसे देशमे, जहाँ लोकप्रिय सरकार क़ायम हो और जहां बिना अधिक कठिनाईके मनचाहा परिवर्तन करवानेके लिए कानूनी या वैधानिक साधन उपलब्ध हों। बुरे कानून जब तक हटाये या बदले न जायें तब तक व्यक्तिको उनका पालन करना चाहिए क्योंकि ऐसा करना उसका सामाजिक कर्त्तव्य है। पर जहां बुरे क़ानूनोंके बदलने या रद्द करनेका कोई वैधानिक साधन नहीं है, या जहां सरकार इतनी भ्रष्ट है कि वह सामाजिक हितकी अपेक्षा व्यक्तिगत स्वार्थको अधिक महत्त्व देती है या जहाँ सरकार नागरिकके व्यक्तित्वकी सीमाका उल्लंघन करती है वहाँ व्यक्तिका कर्त्तव्य हो सकता है कि वह सरकारका प्रतिरोध करे। ऐसे गम्भीर मामलोमें प्रतिरोध अधिकार नही वरन् एक दु:खदायी कर्त्तव्य हो जाता है।

५. राज्यका प्रतिरोध करनेका 'अधिकार' (The 'Right' to Resist the State)

सरकारका विरोध करनेसे पहले एक अच्छे नागरिकको, विशेष तौर पर यदि वह एक नेता है, निम्नलिखित बातों पर विचार कर लेना चाहिए :—

(क) क्या वाञ्छित परिवर्तन लानेके लिए सभी सम्भव वैधानिक उपायोंका अवलम्बन हम कर चुके ?

(ख) जिन लोगोंसे सरकारका विरोध करनेको कहा जा रहा है क्या वे लोग स्वयं भी यह महसूस करते है कि सरकारने उनके साथ अन्याय किया है या केवल उनकी भावनाओंको उभाड़ा जा रहा है ? जो अन्याय सरकारने किया है क्या वह इतना गम्भीर है कि उसके लिए सरकारका विरोध किया जाय ? क्या जनता उन कारणों को भली-भाँति समझती है जिनके आधार पर सरकारका विरोध करना है ?

(ग) जिन लोगोंके बीच हमे काम करना है उनका चरित्र और उनकी मन: स्थिति कैसी है ? क्या वे भावुक और जल्दी ही उत्तेजित हो जानेवाले लोग हैं या वे ऐसे विवेकशील और संयमी हैं जो यह समझते है कि उन्हें कब और कहा तक जाना चाहिए ? क्योंकि एक बार प्रतिरोध प्रारम्भ हो जाने पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसका अन्त कब और कहाँ होगा।

(घ) मेरा चरित्र कैसा है ? क्या मैंने अपने अहं भावसे अपने आपको मुक्त कर लिया है ? क्या मैं स्वार्थहीन होकर सार्वजनिक हितकी प्रेरणासे ही काम कर रहा हूँ ?

(ङ) परिणामोंके सम्बन्धमें सम्भावना क्या है ? क्या आनेवाली स्थिति वर्तमान

स्थितिसे भी बुरी होगी? क्या क़ानून भंग होनेसे अराजकता फैल जायगी?

ग्रीन यह अनुभव करते हैं कि विद्रोहके समय इस प्रकारके प्रश्नों पर निष्पक्ष तौर पर विचार नहीं किया जा सकता। विद्रोहके दिन काम करनेके दिन होते हैं, विचार या मननके नहीं। और इसके अतिरिक्त अनेक मामलोंमें परिणाम ही बतलाता है कि कोई कार्य सार्वजनिक हितमें था या नहीं। किसी भी अच्छे कार्यके पूर्ण सफल होनेसे पूर्व अनेक बार सफलता तथा असफलताकी सम्भावना बनी रहती है। बहुमतवाले दलको विरोध करनेका कोई अधिकार इसलिए नहीं मिल सकता कि वह बहुमतमें हैं। प्रायः अल्पमतका ही यह कर्त्तव्य होता है कि असहाय होने पर भी वह सरकारका विरोध करे भले ही सफलताकी कोई आशा न हो।

इन सब बातों पर विचार करनेके बाद ग्रीन इस व्यावहारिक नतीजे पर पहुँचते हैं कि व्यक्ति चाहे जिस पक्षको माने, यदि उसका चरित्र अच्छा है तो अवश्य ही उससे हानिकी अपेक्षा लाभ ही अधिक होगा। साधारणतः सर्वोत्तम कोटिके चरित्रसे सर्वोत्तम कोटिके परिणामोंकी भी आशा की जाती है, देखनेमें भले ही लक्षण इसके विपरीत हों।

६. दण्ड देनेका राज्याधिकार (The Right of the State to Punish)

प्रारम्भिक समयमे अन्यायका प्रतिकार या तो स्वयं वह पुरुष करता था जिसके साथ अन्याय किया जाता था या उसकी जाति या क़बीला जिसका वह सदस्य होता था। पर आजकल सभी देशोंमें यह माना जाता है कि अन्यायी या अपराधीको दण्ड देना राज्यका कार्य है; भले ही हर एक अपराधीको दण्ड देना राज्यके लिए बुद्धिमानी की बात न हो। वैसे तो ऐसा लगता है कि किसीको दण्ड देना उसकी स्वतंत्रता पर बन्धन है।

यह बात कई बार कही जा चुकी है कि व्यक्तिका स्वतंत्र जीवन बितानेका अधिकार इस बात पर निर्भर करता है कि समाजका सदस्य होनेकी उसमें कितनी योग्यता है। एक अपराधी समाज-विरोधी वृत्तियोंका प्रदर्शन करता है इसलिए समाजके लिए यह उचित है कि वह उसके स्वतंत्र जीवन बितानेके अधिकारमें हस्तक्षेप करे। समाजके कल्याणके लिए यह आवश्यक है कि उसके प्रत्येक सदस्यकी असामाजिक वृत्तियोंका दमन किया जाय। इसकी उपेक्षा करनेसे समाज एक बार फिर जंगली जीवनकी अव्यवस्था और अराजकता की स्थिति में पहुंच जायगा।

सैद्धान्तिक स्तर पर दण्डका औचित्य अनेक दृष्टिकोणोसे सिद्ध किया गया है। दण्ड देनेके सिद्धान्तोंको इन वर्गोंमें बाँटा जा सकता है:

(१) प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (retributive theory),

(२) निरोधात्मक सिद्धान्त (preventive or deterrent theory), और

(३) सुधार-मूलक सिद्धान्त (reformatory theory)।

इनमें से पहले सिद्धान्तका नाम कुछ असंगत है। इससे प्रतिशोध या बदलेकी भावना व्यक्त होती है जबकि वास्तवमें यह दण्डकी सबसे अधिक प्राचीन धारणा है।

प्राचीन इसराइल वासियोंमें यह कहावत इस सिलसिलेमें प्रसिद्ध थी कि 'जैसेको तैसा' या 'खूनके बदले खून'। यह विचार न्यायका आदिम मानदण्ड था। किसीका जितना नुक़सान हुआ हो उसके बदलेमें उससे अधिक लेनेका उसे हक़ न था।

इस सिद्धान्तमें जैसा कि बोसांके ने उल्लेख किया है दो बुराइयां हैं (१) दण्डको व्यक्तिगत प्रतिशोधका रूप मान लेना और (२) यह दावा कि दण्ड अपराधके बराबर हो। व्यक्तियोंके पारस्परिक सम्बन्धमें और राष्ट्रोंके आपसी सम्बन्धमें भी प्रतिशोधकी भावना समझमें आती है पर व्यक्ति और राज्यके सम्बन्धमें यह भावना समझमें नहीं आती। ग्रीन ने दण्ड-व्यवस्था पर विचार करते हुए कहा है कि दण्ड और प्रतिशोधकी भावनामें कोई सम्बन्ध नहीं है। पर मिल और लेज़्ली स्टीफ़ेन (Leslie Stephen) इस सम्बन्धको मानते हैं। स्टीफेन दण्डको विधान द्वारा स्वीकृत प्रतिशोध मानते हैं। ग्रीन इस धारणाका विरोध यह कहकर करते है कि दण्डका आधार ही व्यक्तिगत प्रतिशोधको समाप्त करना है। ऐसे समाजमें जहां व्यक्तिगत प्रतिशोधका व्यापक रिवाज हो अधिकार हो ही नहीं सकते। दूसरी तरफ दण्ड इस तत्वको प्रकट करता है कि अपराधी ने उन अधिकार या अधिकारोंका उल्लंघन किया है जिन्हें समाज स्वीकार कर चुका है। इस प्रकार दण्ड समाज विरोधी कामका स्वाभाविक परिणाम है। व्यक्तिकी विरोधी प्रवृत्ति अधिकारोंकी एक ऐसी व्यवस्था की अवहेलना करती है जिसकी रक्षा करना राज्यके अस्तित्वका मुख्य लक्ष्य है और जिसे समाज कल्याणकारी शक्तियोंके लिए आवश्यक समझता है। इसीलिए अपराधी को दण्ड पानेका 'अधिकार' है। कोई भी व्यक्ति आग पर अपनी उँगली रखकर यह आशा नहीं कर सकता कि उंगली नहीं जलेगी। इसी प्रकार वह समाजकी ऐसी व्यवस्था—जिस व्यवस्थाका वह स्वयं एक अंग है—को भंग करके इस बातकी आशा नहीं कर सकता कि समाज उसके विरुद्ध कोई कदम नहीं उठायगा। अपराधीका दिमाग़ ठीक करनेके लिए दण्ड एक प्रभावशाली तरीक़ा है। चोट खाकर ही वह भले जीवनको अपना सकता है। इस प्रकार दण्ड व्यक्तिकी स्वेच्छाकी ही पूर्ति है। यह अपराधीकी अपनी इच्छा ही है जो उस सामाजिक व्यवस्थाकी प्रतिष्ठामें निहित है जिसका वह स्वयं एक सदस्य है और उसकी वह इच्छा ही उसे दण्डके रूपमें वापस मिलती है। दण्ड व्यक्तिकी अवज्ञापूर्ण स्वेच्छाका उसकी 'वास्तविक इच्छा' (real will) द्वारा सुधार है।

दूसरी बुराईके बारेमें हमें यह याद रखना चाहिए कि राज्यके पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे वह दण्डकी पीड़ा या अपराधकी नैतिक गुरुताको नाप-तोल सके। तब जिन तथ्योंका निश्चित निर्धारण नहीं किया जा सकता उनके अनुरूप दण्डकी व्यवस्था कैसे की जा सकती है? जैसा कि ग्रीन ने कहा है यदि राज्य दण्डकी पीड़ा और अपराधकी नैतिक अधमताके बीच अनुपातकी व्यवस्था कर सके तो नतीजा यह होगा कि हर अपराधके लिए एक भिन्न दण्ड व्यवस्था करनी होगी। इसका अर्थ होगा दण्डके सामान्य क़ानूनोंकी समाप्ति (२०:१९१)।

इस सिद्धान्तका मुख्य गण यह है कि इसमें अपराधी पर ही ध्यान केन्द्रित रखा गया है। इसके विपरीत निरोधात्मक सिद्धान्तमें भावी अपराधियोंको ध्यानमें रखकर दण्ड दिया जाता है और ऐसा करना वास्तवमें तथ्योंके सही सम्बन्धोंको उलट देना है। जिस सिद्धान्त पर हम विचार कर रहे हैं उसमें दण्ड समाजको स्वस्थ रखनेका साधन है। समाज अपनी रक्षाके लिए अपराधीको दण्ड देकर अपनी शक्तिका प्रदर्शन करता है।

इस सिद्धान्तकी सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि इसमें क्षमाका कोई युक्ति-संगत आधार नहीं बतलाया गया है। जैसा कि रैशडेल (Rashdall) ने कहा है कि रोष (resentment) और क्षमा दोनों ही सामाजिक कल्याणके साधन हैं और दोनोंकी मात्रा सामाजिक हितके ही आधार पर तय की जाती है। इस सिद्धान्तमें और निरोधात्मक सिद्धान्तमें एक दूसरी त्रुटि यह है कि इसमें समाज द्वारा किये जानेवाले निरोधको ही महत्त्व दिया गया है; और व्यक्ति द्वारा किये जानेवाले आत्म-निरोध (self-prevention) को भुला दिया गया है; पर दण्ड-व्यवस्थामें दोनों ही होने चाहिए।

निरोधात्मक सिद्धान्त. इस सिद्धान्त पर ग्रीन और बोसांके ने विस्तारपूर्वक विचार किया है। इनके अनुसार किसी दण्डकी पूरी-पूरी व्याख्यामें प्रतिशोध, निरोध और सुधारके तत्व तो होना ही चाहिए, लेकिन इन्होंने निरोध पर ही अधिक बल दिया है। इस सिद्धान्तके अनुसार दण्डका मुख्य उद्देश्य दूसरे सम्भावित अपराधियों को रोकना ही है। ग्रीन के शब्दोंमें किसी राज्यका दण्ड देनेका उद्देश्य 'अपराधीको पीड़ा पहुँचानेके लिए ही पीड़ा पहुँचाना नहीं है और न व्यक्तिगत रूपमें अकेले उस अपराधीको अपराध करनेसे रोकना है, वरन् उस अपराधके साथ ऐसी पीड़ाका सम्बन्ध जोड़ देना है कि अन्य लोग उस पीड़ाके भयसे अपराध करनेका साहस न करें (२९ : १९२)।' दूसरे शब्दोंमें समाजके सामने एक भयप्रद उदाहरण रखना ही दण्डका उद्देश्य है। जे० बेन्थम इसीलिए सार्वजनिक स्थानमें दण्ड देनेका समर्थन करते थे जिससे उसका प्रभाव अन्य देखनेवालों पर भी पड़े। काफ़ी समय तक दण्ड देनेकी इस धारणाको माना गया है। यद्यपि अब इसका प्रभाव कम होता जा रहा है। आजकल भी जब न्यायाधीश यह देखते हैं कि किसी मामलेमें ऐसी कड़ी सजा दी जाय जिससे कि अन्य लोगों पर असर पड़े तब वह निरोधात्मक दण्ड दे देते हैं। निस्सन्देह एसे दण्डसे अन्य लोगोंको एक चेतावनी मिल जाती है जिससे कि वे ऐसा अपराध न करें। पर यह दण्डका मुख्य लक्ष्य नहीं वरन् गौण लक्ष्य है।

हम ग्रीन के इस तर्कको माननेको तैयार नहीं हैं कि दण्डका मुख्य उद्देश्य जनताके मनमें किसी अपराधके विरुद्ध दण्डका आतंक पैदा करना है ताकि आगे ऐसे अपराधों को रोका जा सके। यदि हम इस कथनको मान लें तो इसके मतलब यह होंगे कि किसी बातकी गुरुता इस बातसे नहीं नापी जायगी कि उससे समाजको क्या और कितनी हानि पहुँची, वरन् उसका निश्चय इस आधार पर होगा कि उस अपराधको रोकनेके लिए जनताके मनमें उसके प्रति कितना आतंक उत्पन्न करना आवश्यक है।

उदाहरणार्थ इसके अर्थ यह होंगे कि अगर फ़ौजदारी या हत्याके अपराधोंके बजाय सम्पत्ति-सम्बन्धी अपराध अधिक होने लगें तो दीवानीके मामलोंमें फ़ौजदारीके अपराधोंकी अपेक्षा अधिक कठोर दण्ड दिया जायगा जोकि स्पष्टतः एक तर्कहीन व्यवस्था होगी। अपराधकी गम्भीरताका निश्चय उस अधिकारकी महत्तासे किया जाता है जिसका उल्लंघन किया गया है। और फिर इसका कोई कारण नहीं दिखायी देता कि ग्रीन यह कल्पना क्यों कर लेते हैं कि दण्ड पानेवाले अपराधीकी भांति और अपराधी भी होंगे। इसलिए निरोधका विचार मुख्य उद्देश्य न मानकर गौण उद्देश्यके रूपमें माना जाना चाहिए। निरोध भावनाको गौण स्थान देनेको दूसरा व्यावहारिक कारण यह है कि यदि न्यायाधीशको दण्ड इस उद्देश्यसे देना होगा कि उससे एकको दण्ड देकर वह अन्य लोगोंके सामने आतंकजनक उदाहरण रखे तो यह स्वाभाविक है कि वह अत्यन्त कठोर दण्ड देगा, जोकि अन्याय होगा और उसे रोका जाना चाहिए। स्वयं अपराधीको एक साधन-मात्र न मानकर अपने आपमें उसे एक साध्य मानना चाहिए।

सुधार-मूलक सिद्धान्त. आधुनिक विवेचनमें सुधारमूलक सिद्धान्तको बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इस सिद्धान्तके अनुसार दण्डका मुख्य उद्देश्य व्यक्तिके चरित्रमें ऐसा सुधार करके उसे पुनः समाजमें वापिस लाना है जिससे वह समाजका एक आत्मसम्मानपूर्ण सदस्य बन सके। इस सिद्धान्तके कुछ समर्थक अपराधीको एक रोगी मानते हैं जिसका इलाज किया जाना चाहिए न कि एक असामाजिक व्यक्ति जिसे दण्ड दिया जाय। लम्ब्रोसो (Lombroso) के अनुयायियोंका कथन है कि अपराध 'एक दयनीय व्याधि है, एक प्रकारका पागलपन है, एक पैदायशी या अर्जित दुर्गुण है।' इस विचारके अनुसार 'जेलोंके बजाय अस्पतालों, पागलखानों और सुधार-केन्द्रोंको महत्त्व देना चाहिए'। इस सिद्धान्तके कुछ अन्य समर्थक अपराधोंके लिए सामाजिक परिस्थितियोंको ज़िम्मेदार ठहराते हैं और कहते है कि सामाजिक व्यवस्था को अधिक न्यायपूर्ण बनाकर समाजसे अपराध बिल्कुल ही मिटाये जा सकते हैं।

पुराने ज़मानेकी कठोर और अनुचित हिंसावृत्तिकी प्रतिक्रियाके रूपमें सुधारमूलक सिद्धान्त एक स्वस्थ सिद्धान्त है। पर साथ ही इसमें कुछ त्रुटियाँ भी हैं। सभी अपराधोंको व्याधि मान लेना असलियतसे दूर भागना होगा। सभी अपराधी पागल या कमज़ोर दिमाग़के नहीं होते। पागलपनके मामलोंको शुद्ध अपराधके मामलोंसे अलग रखकर उसका इलाज किया जाता है; पर एक साधारण व्यक्तिका इलाज नहीं किया जाता, हां उसके पुनर्वासका ध्यान ज़रूर रखा जाता है। उसे दण्ड इसलिए दिया जाता है कि वह एक ज़िम्मेदार व्यक्ति है जो अपने कार्योंके लिए समाजके सम्मुख ज़िम्मेदार हो सकता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ क़िस्मके अपराधोंके लिए अपराधीकी अपेक्षा समाज अधिक ज़िम्मेदार है। पर ऐसे मामले असाधारण क़िस्मके होते हैं और अपवादोंके आधार पर कोई सिद्धान्त बनाना उचित नहीं है। अधिकांश अपराध असंयमित इच्छासे उत्पन्न होते हैं।

सुधारकी भावना अवश्यमेव दण्डका एक महत्त्वपूर्ण अंग है पर वही सब कुछ नहीं है। बोसांके के इस कथनसे हम पूर्णतया सहमत हैं कि दण्डको अपराधीके लिए सुधारमूलक और दूसरोंके लिए निरोधक होना चाहिए। और इसलिए दण्ड कुछ अंशों तक पीड़ा पहुँचानेवाला होगा ही। केवल सुधार पर ही पूरा ज़ोर देना समाज के हितको भुला देना है। यदि केवल सुधार ही एक स्वस्थ सिद्धान्त होता तो ऐसे अपराधियोंको जो असाध्य हो जाते हैं अनिश्चित समयके लिए क़ैदी बना रखनेका कोई औचित्य नहीं रह जाता क्योंकि उनके मामलोंमें दण्डका तो कोई अर्थ ही नहीं है।

इस सिद्धान्तकी सबसे बड़ी आलोचना यह है कि इसमें व्यक्तिके नैतिक उत्थान का स्वरूप ग़लत ढंगसे समझाया गया है। अपराधीका नैतिक उत्थान तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक अपराधी स्वयं सुधारके प्रयत्नमें भाग ले। चरित्रका सच्चा सुधार तो हृदयसे होता है। ग्रीन का यह कहना बिल्कुल सही है कि दण्डका उचित होना या न होना इस बात पर निर्भर करता है कि जिस समाजमें अपराधी ने जीवन बिताया है उसने उसे अपराधी न बननेके लिए मौक़ा दिया है या नहीं। दूसरे शब्दोंमें हम यह कह सकते है कि दण्डका औचित्य निर्भर करता है (१) सामान्य न्याय-व्यवस्थाके न्याय-संगत होने पर; (२) अपराधी द्वारा अधिकारोंको ठीक-ठीक समझ लेने पर; और (३) अपराधीके यह समझ लेने पर कि उसने समाजके कुछ जाने-बूझे अधिकारका उल्लंघन किया है। जब तक यह सब बातें पूरी नहीं होतीं तब तक बाहरसे चाहे जितने प्रयत्न किये जायँ अपराधीका नैतिक पुनरुज्जीवन नहीं हो सकता।

हमने दण्डके बारेमें जिस दृष्टिकोणको स्वीकार किया है उसे व्यक्त करनेके लिए जेम्स सेठ (James Seth) ने 'अनुशासन' शब्दका प्रयोग किया है। इस दृष्टि-कोणमें प्रतिशोध (retribution), निरोध (deterrence) और सुधार (refor-mation) तीनोंके सर्वोत्तम तत्वोंका सामंजस्य किया गया है। दण्डको सबसे पहले अन्यायका निरोधक होना चाहिए। उसमें प्रतिशोध या बदलेकी भावना किंचित मात्र भी न होना चाहिए। दण्ड देनेका उद्देश्य यह होना चाहिए कि 'अपराधीके हृदयमें अपराधकी ऐसी भावना उत्पन्न हो जाय कि वह अपनी पिछली बुराइयोंके लिए गहरा पश्चाताप करे और भविष्यके लिए एक नवीन अनुशासनका संकल्प करे (७१ : ३२३)।'

परिवारके सम्बन्ध में राज्यके अधिकार (Right of the State in Regard to the Family)

हमने स्वतंत्रता और सम्पत्ति शब्दोंकी जो व्याख्या की है उसके अनुसार पारिवारिक अधिकारोंका विवेचन स्वतंत्रता या सम्पत्तिके अधिकारके साथ किया जाना चाहिए। इन अधिकारोंको घरेलू अधिकार भी कहा जाता है। इनके अन्तर्गत निम्नलिखित सम्बन्ध आते हैं: (क) पति-पत्नीका सम्बन्ध, (ख) माता-पिताका सन्तानसे सम्बन्ध, और (ग) मालिक तथा नौकरका सम्बन्ध।

सभी अधिकार इस अर्थमें व्यक्तिगत हैं कि उनका सम्बन्ध व्यक्तित्वकी धारणा ही है। परन्तु परिवारके अधिकार दोहरे अर्थमें व्यक्तिगत हैं। इन अधिकारोंका प्रयोग करने

वालों और जिन पर इन अधिकारोंका प्रयोग किया जाता है दोनों ही व्यक्ति होते हैं। परिवारके अधिकार एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं। उनमें व्यक्तित्वका पारस्परिक सम्मान छिपा रहता है।

परिवार हमारे आजके समाजका आधार है। परिवार व्यक्तिके अच्छे जीवन के लिए आवश्यक है। पारिवारिक जीवनका संगठन प्रत्येक देशमें भिन्न है पर कुछ विशेषताएँ सब कहीं एक-सी हैं। आजकलके राज्योंमें आमतौर पर एक-पत्नीत्व पर आधारित सम्बन्धोंको माननेकी प्रवृत्ति है। बहुत ही गम्भीर मामलोंमें तलाक़ की मंजूरी देनेकी प्रवृत्ति है। बहु-पत्नीत्वके विरुद्ध टी० एच० ग्रीन के तर्क आज भी उतने ही सारयुक्त हैं जितने कि ग्रीन के समयमें जब उन्होंने वह लिखा था। बहु-पत्नीत्वके विरुद्ध कुछ तर्क ये हैं: (क) इससे उन व्यक्तियोंके अधिकारोंका उल्लंघन होता है जो उचित विवाहसे वंचित रह जाते हैं और जिन्हें विवाहसे प्राप्त होनेवाले नैतिक संस्कार भी नहीं मिल पाते। (ख) पत्नीके अधिकारोंका उल्लंघन होता है क्योंकि वह उस स्थानसे वंचित रह जाती है जो परिवारमें उसे मिलना चाहिए और पतिके विलासका साधन मात्र बन जाती है; इस प्रकार उसकी नैतिक प्रतिष्ठा भी गिर जाती है। (ग) उन बच्चोंके अधिकारोंका भी उल्लंघन होता है जिनसे नैतिक संस्कार और शिक्षाका वह अवसर छिन जाता है जो माता-पिताके एक मन होकर रहने पर ही बच्चोंको प्राप्त हो सकता है।

केवल ऐन्द्रिय-प्रेरणा (sexual impulse) को ही पारिवारिक जीवनका आधार कभी नहीं बनाना चाहिए। पति, पत्नी और सन्तानका सामान्य कल्याण ही परिवारका सच्चा आधार है। बच्चोंके हितके लिए, समाजके संगठनके लिए, और सार्वजनिक नैतिकताके हितमें, यह आवश्यक है कि राज्य केवल उन्ही विवाह सम्बन्धोंको स्वीकार करे जिनका आधार स्थायी एक-पत्नीत्व हो। यह सन्तोषकी बात है कि इस समय भारतमें सामाजिक विधानोंकी प्रवृत्ति एक-पत्नीत्वकी ओर है। सरकारी अधिकारियोंको अपनी प्रथम पत्नीके जीवित रहते सरकारकी अनुमति लिए बिना दूसरी पत्नी रखनेकी आज्ञा नहीं है। साधारणतः तलाक़ पति या पत्नीके बुरे आचरणके आधार पर ही मंजूर किया जाना चाहिए। ऐसे मामलोंमें तलाक़ यथासम्भव सस्ता और आसान होना चाहिए। स्थायी पागलपन और अत्यधिक क्रूरताके मामलोंमें भी तलाक़ स्वीकार किया जाना चाहिए। स्वभाव और प्रवृत्तिके आधार पर तलाक़का स्वीकार किया जाना स्पष्ट रूपसे समझमें नहीं आता। अविश्वास और बुरे आचरणके मामलेमें यदि सताया गया पक्ष अपराधको क्षमा करनेको तैयार हो तो क़ानूनको उस मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। बच्चोंकी नैतिक शिक्षाके लिए यह आवश्यक है कि बहुत ही गम्भीर मामलोंके अलावा परिवार विघटित नहीं होना चाहिए। राज्यको बुरे आचरण पर ही दण्ड नहीं देना चाहिए। क़ानूनी कार्यवाही शुरू करनेकी ज़िम्मेदारी उस व्यक्ति पर छोड़ दी जानी चाहिए जिसके साथ अन्याय हुआ हो। क्योंकि

जिस व्यक्तिकी दुर्वृत्त लालसा (disloyal passion) केवल दण्डके भयसे ही निष्क्रिय बना दी जायगी वह न तो अच्छा पिता ही बन सकेगा और न विश्वसनीय पति ही।

परिवारके कर्त्ताके रूपमें पिताका यह वैधानिक कर्त्तव्य व नैतिक धर्म है कि वह अपने परिवारको अच्छी तरह रखे। अब वह परिवारका केवल निरंकुश शासक नहीं है। बच्चोंके बालिग़ होने तक कोई क़ानूनी अधिकार नहीं होते और जबतक वह बालिग़ नहीं हो जाते तब तक माता-पिताको उनका भरण-पोषण करना चाहिए। बूढ़े माँ-बाप का भरण-पोषण करना बच्चोंका नैतिक धर्म हैं, क़ानूनी कर्त्तव्य नहीं। माता-पिता दोनोंका एक मन होना और एक ही सत्ताकी तरह काम करना बच्चोंकी नैतिक शिक्षाके लिए आवश्यक है। घरेलू मामलोंमें माता-पिताके अधिकार और प्रतिष्ठा समान होनी चाहिए।

(ग) सम्पत्तिका अधिकार (The Right to Property)

सम्पत्तिका महत्त्व (The Importance of Property)

सम्पत्तिसे व्यक्तिका लगाव इतना अधिक है कि सम्पत्तिसे सम्बन्ध रखने वाले हमारे बहुतसे क़ानून उन अनेक क़ानूनोंसे भी अधिक पूर्ण, स्पष्ट और सबल हैं जिनका सम्बन्ध हमारे जीवन और हमारी स्वतंत्रतासे है। अर्थशास्त्र, विधान शास्त्र और राजनीति-शास्त्रके मूलमें सम्पत्तिकी भावना ही काम करती है। अर्थ-शास्त्र अधिकांशतः विनिमयके मूल्योंसे सम्बन्धित है जिसमें सम्पत्ति प्रधान है। न्याय-शास्त्र (jurisprudence) में स्वामित्वकी भावनाको और भी अधिक मौलिक महत्त्व दिया गया है। राजनीति-शास्त्रमें केवल व्यक्तिकी रक्षा पर ही विचार नहीं किया गया है वरन् सम्पत्तिकी रक्षा पर भी उतना ही ध्यान दिया गया है।

मानव-सभ्यताके भौतिक पक्षके इतिहासका केन्द्र सम्पत्ति और स्वामित्वकी भावना ही है। उस युगसे लेकर जब अर्ध-सभ्य मनुष्यने अपने औज़ारों, आभूषणों तथा ऐसी ही अन्य व्यक्तिगत वस्तुओं पर स्वामित्वका दावा शुरू किया था आधुनिक युग तक जब कि साधारण व्यक्ति अपनी आय (income), अपने लाभांश (dividend) और पैत्रिक सम्पत्ति (inheritance) की चिन्ताओंमें रहता है, सम्पत्तिकी भावनाने ही सभ्यताके विकासमें सबसे अधिक योग दिया है। यदि हम सम्पत्तिकी व्यवस्थाको समाप्त कर दें तो आधुनिक सभ्यता पूर्णतया नष्ट हो जायगी। व्यक्तिवाद (individualism), राष्ट्रीयतावाद (nationalism), और साम्राज्यवाद (imperialism) सभीके अन्तर्गत सम्पत्तिकी धारणा छिपी है।

सम्पत्तिका विकास (Evolution of Property). मनुष्यों और पशुओं दोनोंमें अपनी चीज़ पर अधिकारकी भावना समान रूपसे पायी जाती है। कुत्तेसे

जब कोई उसकी हड्डीका टुकड़ा छीनना चाहता है तब वह बौखला उठता है। भेड़िये झुण्ड बनाकर शिकार करते हैं और अपने शिकारको आपसमें बाँटकर खाते हैं और अगर कोई दूसरा दखल देता है तो उससे लड़ पड़ते हैं। छोटे-छोटे बच्चे बहुत तरहकी चीजें इकट्ठी करते हैं—चिड़ियाँ, अण्डे, पत्थरके टुकड़े, रंगीन चीथड़े आदि। वयस्क लोग भी इस प्रवृत्तिसे परे नहीं हैं यद्यपि जो वस्तु वे इकट्ठी करते हैं वे अधिक उपयुक्त और मूल्यवान होती हैं जैसे दुर्लभ चित्र, टिकटें और पुस्तकें आदि। अपनी व्यक्तिगत सम्पत्तिके प्रति लगाव और उससे प्राप्त होनेवाला आनन्द सार्वजनिक सम्पत्तिके प्रति लगाव और उससे प्राप्त होनेवाले आनन्दकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावपूर्ण होता है।

यह सिद्ध करना कुछ कठिन नहीं है कि प्राप्ति और अधिकारकी भावना मनुष्यमें स्वाभाविक और पैदायशी है। यह विवेचना करना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है कि प्राप्ति और अधिकारका कोई विशेष रूप, जैसे व्यक्तिगत सम्पत्ति अन्य दूसरे रूपोंसे अधिक स्वाभाविक है या नहीं। हॉकिंग का कहना है कि 'शक्तिकी भावना' से मनुष्यकी अन्य सभी प्रवृत्तियोंका सन्तोष हो जाता है और जब इस अधिकार भावनाकी तृप्ति हो जाती है तब यह ज़रूरी नहीं रह जाता कि अन्य सभी प्रवृत्तियोंकी भी तृप्ति हो। पर 'शक्तिकी भावना' भी अनेक मामलोंमें व्यक्तिगत सम्पत्तिकी सीमित मांग करती ही है।

हॉबहाउस ने 'उपयोगमें आनेवाली सम्पत्ति' (property for use) और 'अधिकार मूलक सम्पत्ति' (property for power) में महत्त्वपूर्ण अन्तर बतलाया है। इतिहाससे हमें मालूम होता है कि पुराने ज़मानेमें सम्पत्ति पर स्वामित्व उपयोग के लिए किया जाता था अधिकार प्राप्तिके लिए नहीं। साधारणतः यह माना जाता है कि व्यक्तिगत सम्पत्तिकी उत्पत्ति आधुनिक है और पहले ज़मानेमें सर्वत्र सार्वजनिक सम्पत्ति ही होती थी। पर हॉबहाउस इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहां तक व्यक्तिगत सम्पत्तिका सम्बन्ध हैं वहां तक पुराने ज़मानेमें भी व्यक्तिगत सम्पत्ति थी पर भूमिके सम्बन्धमें कोई सार्वभौम नियम नहीं था। फिर भी हॉबहाउस के ही शब्दोंमें प्रारम्भिक समाजमें 'भूमि चाहे सामूहिक सम्पत्ति रही हो, अथवा व्यक्तिगत या दोनों ही, पर हर हालतमें उस पर स्वामित्व उपयोगके लिए ही होता था, अधिकारके लिए नहीं'।

परन्तु खेतीकी उन्नतिके साथ भूमि पर स्वामित्व भी अधिक स्थायी हो गया होगा और जिस व्यक्तिका अधिकार हुआ होगा उसके अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति का सम्बन्ध उससे न रहा होगा। प्रारम्भमें खेती सामूहिक रीतिसे होती थी पर समय बीतने पर व्यक्तिवादकी व्यवस्था प्रभावशील हो गयी और ज़मीन छोटे-छोटे टुकड़ों में उन लोगोंके बीच बँट गयी जो चारों ओर फैले थे। इस प्रकार सम्पत्तिके विकास के इतिहाससे यह सिद्ध होता है कि सम्पत्ति केवल 'राज्यकी सृष्टि' ही नहीं है। राज्य बननेसे पहले ही सम्पत्ति निश्चित रूपसे मौजूद थी। यह जानने योग्य बात है कि चोरीके सम्बन्धका क़ानून राज्यसे पहलेका है। साधारणतः यह कहा जा सकता है

कि राज्य ने सम्पत्तिका निर्माण तो नहीं किया पर उसने उसकी रक्षा और उसके विकासमें बहुत अधिक योग दिया है। जहाँ तक सम्पत्तिके भविष्यका सम्बन्ध है जेंक्स (Jenks) का कहना ठीक है कि जब तक समाजको उचित फल न मिले तब तक राज्यको किसी भी सम्पत्तिके स्वामित्वकी रक्षासे इनकार कर देना चाहिए। उसे सम्पत्तिके दुरुपयोगको रोकना चाहिए और जो लोग सबसे अधिक उपयुक्त हों उनसे राज्यके लिए आवश्यक कर वसूल करना चाहिए।

सम्पत्तिकी विशेषताएँ (Characteristics of property). सम्पत्ति की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—पदार्थों पर व्यक्तिका स्वामित्व अथवा भौतिक पदार्थोंका ऐसा नियोजन या अपने अधीन करना जिसे समाज स्वीकार करता हो। किसी चीज़को अपने पास रखना ही स्वामित्व नहीं है। यह तो दूसरोंका दिया हुआ अधिकार है। हमारी सम्पत्ति वे वस्तुएं हैं जिन पर हमारा स्थायी स्वामित्व है और उन वस्तुओं पर हमारे अलावा और किसीका कुछ भी स्वामित्व नहीं है। जैसा कि सिजविक (Sidgwick) कहते हैं सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकारका मतलब है दूसरोंका निषेध करते हुए उपभोगका पूरा अधिकार, जिसमें वस्तुको नष्ट कर देने और दूसरों को दे डालनेके अधिकार शामिल रहते हैं, पर वसीयत कर देनेका अधिकार इसमें शामिल नहीं है (७२:७०)। उनका यह कहना ठीक है कि सम्पत्तिके स्वामित्वमें सबसे आवश्यक तत्व यह है कि किसी वस्तु या पदार्थके उपभोगमें दूसरोंको कभी भी हस्तक्षेप न करने दिया जाय।

अन्य सभी अधिकारोंकी भांति सम्पत्तिका अधिकार भी तभी वैध होता है जब समाज उसे स्वीकार करता है। समाजकी स्वीकृतिके बिना किसी भी अधिकारका कोई मूल्य नहीं है। सम्पत्तिके बारेमें यह और भी सही है क्योंकि हमारे आधुनिक समाजमें सम्पत्ति सहकारी उद्योग (co-operative endeavour) का परिणाम है। अब यह तर्क निस्सार है कि सम्पत्ति एक 'प्राकृतिक' या नैसर्गिक अधिकार है। समाजवादी बिल्कुल दूसरे सिरेकी बात करते हैं। वह सम्पत्तिको एकदम समाजकी ही सृष्टि मानते हैं। हमारा तो विश्वास है कि सम्पत्तिका एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक पहलू भी है। सम्पत्तिका अधिकार हमेशा अपेक्षित (relative) रहता है वह कभी पूर्ण (absolute) नहीं हो सकता। सम्पत्ति एक नियमित स्वामित्व है और इसका दावा समाजके कल्याणके विरुद्ध कभी नहीं किया जा सकता।

आधुनिक समाजमें सम्पत्तिका अर्थ शक्ति हो गया है। एक अर्थमें सम्पत्तिमें स्वतंत्रताकी पुष्टि होती है क्योंकि यह स्वतंत्र जीवनके अधिकारका परिणाम है। दूसरे अर्थमें सम्पत्तिसे स्वतंत्रता पर रोक भी लगती है, विशेषकर मेहनत करने वाले लोगोंकी स्वतंत्रता पर। सम्पत्ति अपने स्वामीको लोगोंके जीवन और भाग्य पर असीम अधिकार दे देती है। सम्पत्तिका शुरूमें अर्थ था पदार्थों पर स्वामित्व परन्तु अब उसका अर्थ बदलकर धीरे-धीरे हो गया है—पदार्थोंके माध्यमसे व्यक्तियों पर स्वामित्व। हॉबहाउस कहते हैं कि आधुनिक आर्थिक परिस्थितियों ने सम्पत्तिको

जनताके बहुसंख्यक लोगोंके उपयोगके लिए न रखकर अपार सम्पत्तिको कुछ थोड़े-से लोगोंमें शक्तिके लिए केन्द्रित कर दिया है।

व्यक्तिगत सम्पत्तिके पक्ष और विपक्षके तर्कोंका सारांश (The Case for and Against Private Property Summed up).

व्यक्तिगत सम्पत्तिके रहनेसे मनुष्यके मनमें सुरक्षाकी भावना रहती है। आजके औद्योगिक समाजमें सम्पत्तिहीन और भूमिहीन मनुष्यकी हालत एक दाससे भी गयी बीती है। ऐसे व्यक्ति—जिसकी कि एक स्वामीकी भाँति खोज-खबर रखनेवाला कोई नहीं होता—की स्वतंत्रताका अर्थ भूख मरनेकी स्वतंत्रता होती है। सम्पत्ति मनुष्यको अपने भविष्यका प्रबन्ध करनेके योग्य बना देती है और वह पारिवारिक स्वतंत्रताका एक मज़बूत आधार होती है।

एक सम्पत्तिवान व्यक्ति देशके हितमें अपना हित मानता है। इसलिए वह किसी भी ऐसे नये सिद्धान्तकी बाढ़में नहीं बहता जो समाजमें क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना चाहता है। सम्पत्तिवान एक विचारशील और विवेकशील व्यक्ति होता है।

सम्पत्ति स्वतंत्रताकी भावनाको प्रोत्साहित करती है। जिस व्यक्तिके पास साधन होते हैं उसे इस बातकी आवश्यकता नहीं रहती कि वह ऐसे काम स्वीकार करे जिसे वह पसन्द नहीं करता है। लास्की का कहना है कि एक सम्पत्तिशाली मनुष्य अपने जीवनको कलापूर्ण बना सकता है। वह अपने साधनोंका उपयोग कला, विज्ञान और साहित्यके विकासके लिए कर सकता है। युगोंसे पुरानी सामाजिक थाती तक उसकी पहुँच रहती है और वह इस बातमें समर्थ होता है कि वह 'रचनामूलक जीवन' में भाग ले सके।

अरस्तू के कथानुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति अपने स्वामीको उदार और दानशील बननेका अवसर प्रदान करती है। जैसा कि आदर्शवादियोंका कहना है कि सम्पत्तिसे चरित्रके विकास और व्यक्तित्वकी अभिव्यक्तिमें सहायता मिलती है। व्यक्तिवादियों का यह कहना पूर्णतः सत्य है कि मनुष्यको काम करनेके लिए सबसे अधिक प्रभावकारी प्रोत्साहन सम्पत्तिसे ही मिलता है। भूखों मरनेका डर ही मनुष्यको बहुधा कठिन परिश्रम करनेके लिए मजबूर करता है। रैले (Raleigh) कहते हैं कि 'भूमि और पूंजी व्यवस्थासे सम्बन्ध रखनेवाले ऐसे अनेक कार्य हैं जो ऐसे लोगों द्वारा सुगमतासे और कुशलतापूर्वक किये जा सकते हैं जो व्यक्तिगत रूपमें अपने लाभके लिए खतरा उठाकर काम करनेको तैयार रहते हैं (६४ : १११)।' वह आगे कहते हैं कि यह एक जानी-बूझी बात है कि व्यक्तिगत व्यापारियोंकी अपेक्षा अधिकारी वर्ग कम क्रियाशील, कम मितव्ययी और सुधारके लिए कम इच्छुक रहते हैं (६४)।

एक बात यह और है कि व्यक्तिगत सम्पत्तिका स्वामित्व मनुष्यमें सुख और सन्तोषकी जितनी गहरी भावना उत्पन्न करता है उतनी गहरी सुख और सन्तोषकी

भावना अन्य किसी प्रकारका स्वामित्व नहीं दे सकता। व्यक्तिगत सम्पत्तिका जादू बालूको सोना बना सकता है। कमसे कम कुछ अंशों तक व्यक्तिगत सम्पत्तिसे मनुष्यकी सामर्थ्य जानी जा सकती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति उस स्वस्थ आर्थिक और नैतिक सिद्धान्तका विस्तृत रूप है जिसका कथन है 'कि औज़ार उसीको मिलना चाहिए जो उसका प्रयोग कर सके।'

जहां व्यक्तिगत सम्पत्तिके समर्थनमें इस प्रकारके अनेक तर्क दिये जा सकते हैं वहां इसके विरोधमें और भी अधिक कहा जा सकता है। समाजवादियोंका कहना है कि व्यक्तिगत सम्पत्तिमें कुछ ऐसी अनिवार्य बुराइयां हैं कि उन्हें शिक्षा, प्रबुद्ध जनमत या सामाजिक विधानके ही द्वारा दूर नहीं किया जा सकता।

इस तथ्यसे तो इनकार किया ही नहीं जा सकता कि व्यक्तिगत सम्पत्तिकी व्यवस्था धनवान और निर्धन व्यक्तियोंके बीचके भेदोंको स्थायी बना देती है। असमानतासे असमानता ही उत्पन्न होती है और भदसे और अधिक भेद ही बढ़ता है। लास्की का यह कहना सही है कि 'वह समाज जो निर्धन और धनवानमें बँटा हुआ हो और जिसमें निर्धन व्यक्तियोंकी संख्या अधिक हो, उसे बालूकी नींव पर ही टिका हुआ समझना चाहिए (४७ : १७६)।' सम्पत्ति जहां एक ओर अपने स्वामीके मनमें सुरक्षाकी भावना पैदा करती है वहां दूसरी ओर वह विनाश और आलस्यको भी जन्म देती है। जिन लोगोंको मेहनत करनेकी आवश्यकता नही रह जाती वह प्रायः अपना समय और शक्ति रचनात्मक कार्योंमें नहीं लगाते। चरित्रके विकासके लिए कुछ व्यक्तिगत सम्पति आवश्यक हो सकती है पर असीमित व्यक्तिगत पूंजीका और उससे मनुष्योंके जीवन और भाग्य पर मिलनेवाले अधिकारका किसी हालतमें भी समर्थन नहीं किया जा सकता। इस बातका कोई तर्क-संगत कारण नहीं है कि कोई व्यक्ति उत्पादनके साधनों पर स्वामित्वका दावा करे। व्यक्तिगत सम्पत्तिके हर सम्भव स्वरूपका समर्थन करना—जैसे असीमित धन, दान और विरासत आदिका समर्थन—बिल्कुल स्पष्ट बेईमानी है और इसके समर्थन पर किसीका विश्वास नहीं हो सकता।

एक बात और है। यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्तिवादी लाभसे ही हमें परिश्रम करनेका प्रोत्साहन मिले। लॉर्ड हाल्डेन का कथन है कि राज्यकी सेवामें अपने आपको दूसरोंसे अधिक योग्य सिद्ध करनेकी इच्छा एक दिमाग़ी काम करनेवाले व्यक्तिके लिए प्रोत्साहनका उतना ही बड़ा कारण हो सकती है जितना बड़ा कारण सम्पत्ति इकट्ठा करनेकी भावना हो सकती है। प्लेटो न तो मूर्ख था और न स्वप्नदर्शी जब उसने यह घोषणा की थी कि किसी मन पसन्द कामको पूरा करना या जनताकी सेवा करना स्वयं अपने आपमें ही पुरस्कार है।

प्रायः यह स्वीकार किया जाता है कि सम्पत्तिका स्वामित्व वहीं तक उचित है जहां तक उसका सम्बन्ध समाजकी सेवासे हो। किन्तु व्यक्तिगत सम्पत्तिके बड़ेसे बड़े समर्थकोंको भी यह बात माननी ही पड़ेगी कि स्वामित्व और सेवामें बहुत थोड़ा ही सम्बन्ध है। मांग और पूर्तिका सिद्धान्त हमेशा वैज्ञानिक ढंगसे काम नहीं करता।

कभी-कभी वह अस्थिर और चंचल रहता है। जैसा कि लास्की ने कहा है हम यह बात नहीं मान सकते कि क्योंकि अबीसीनियामें गुलामोंकी और संसार भरमें अश्लील साहित्यकी ज़ोरदार माँग है इसलिए अबीसीनियाको गुलाम भेजनेवाले और दुनियामें अश्लील साहित्यका प्रचार करनेवाले समाजकी बड़ी भारी सेवा कर रहे हैं।

सम्पत्तिके इतिहासकी खोज करने पर हमें मालूम होता है कि सम्पत्तिका, विशेषकर भू-सम्पत्तिका, कोई प्रतिष्ठापूर्ण इतिहास नहीं है। इस स्वामित्वकी कुछ जड़ें हमें डकैतीमें मिलती हैं।

निस्सन्देह आधुनिक युगमें व्यक्तिगत सम्पत्तिने अपरिमित उत्पादन किया है, समृद्धि और सुविधामें वृद्धि की है, संसारके प्राकृतिक साधनोंका अधिकसे अधिक उपयोग किया है और भौतिक सभ्यतामें आश्चर्यजनक उन्नति की है। पर जीवनकी इस भौतिक उन्नतिका अर्थ यह नही है कि जीवनके नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी उतनी ही उन्नति हुई है। जीवनके तत्वोंका मूल्य और महत्त्व बहुत कुछ गिर गया है और चारों ओर सम्पत्ति और शक्तिकी पूजा की जाती है। आधुनिक समाजका संगठन ही कुछ ऐसा है कि इससे व्यक्तिगत लाभकी भावनाको ही उत्तेजना मिलती है। यह व्यवस्था मनुष्यको शक्ति और सम्पत्तिके लिए अपने साथियोंसे प्रतियोगिता करना सिखाती है। यह व्यवस्था यह नहीं सिखाती कि मनुष्य सामान्य उद्देश्योंको प्राप्त करनेमें दूसरोंसे सहयोग करता हुआ आगे बढ़े। साधारण जनताके लिए तो इस व्यवस्था ने रचनामूलक नागरिकता असम्भव बना दी है। भौतिक क्षेत्रमें भी विकासके अवसर अब उतने अधिक नहीं रह गये है जितने वह हालके पिछले वर्षोंमें थे। हम विकासकी चरमावस्था तक लगभग पहुँच चुके हैं।

लास्की ने वर्तमान व्यवस्थाके विरोधमें अपने तर्कोंका निष्कर्ष इन प्रभावशाली शब्दोंमें दिया है: 'हम चाहे जिस दृष्टिकोणसे देखें वर्तमान व्यवस्था अपूर्ण दिखायी देती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे यह व्यवस्था इसलिए अपूर्ण है कि अधिकांश लोगोंकी इससे केवल भयकी भावनाको ही उत्तेजना मिलती है और इस प्रकार उनके वह सभी गुण नष्ट हो जाते हैं जो मानव-जीवनके पूर्ण विकासमें सहायता पहुँचाते हैं। नैतिक दृष्टिकोणसे भी यह व्यवस्था अपूर्ण है। कुछ तो इसलिए कि इसमें अधिकार उन लोगोंको मिलते हैं जिन्होंने उन अधिकारोंको पानेके लिए कुछ भी नहीं किया और कुछ इसलिए कि जहाँ यह अधिकार उन लोगोंको मिले है जिन्होंने इसके लिए परिश्रम किया है वहाँ सामाजिक महत्त्वके साथ उनका कोई आनुपातिक सम्बन्ध नहीं रखा गया है। यह व्यवस्था समाजके एक वर्गको शेष समुदायके श्रमका भोगी बनाकर शेष समुदायसे समृद्ध जीवन बितानेका अवसर छीन लेती है। यह व्यवस्था आर्थिक दृष्टिकोणसे भी अपूर्ण है क्योंकि समाजमें जो सम्पत्ति उत्पन्न होती है उसका वितरण इस व्यवस्थामें ऐसे ढंगसे नहीं हो पाता कि जो लोग उस सम्पत्तिका उत्पादन करते हैं उन्हें स्वस्थ और सुरक्षित जीवन बितानेका अवसर मिल सके। इसका नतीजा यह हुआ है कि अधिकांश लोगोंकी निष्ठा इस व्यवस्था पर से उठ गयी है। कुछ लोग इस

व्यवस्थाको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं, अधिकांश जनता इसमें कोई अच्छाई नहीं पाती। यह व्यवस्था राज्यको भी वह कार्य करनेको प्रेरित नहीं करती जिसके द्वारा राज्य समृद्ध हो सकता है' (४१ : २१६)।

उपयोग करनेकी शक्तिके अनुसार वितरण (Distribution According to the Power to use).

प्रो० हॉकिंग ने सम्पत्तिके आदर्शवादी सिद्धान्तको व्यावहारिक रूप देकर सम्पत्तिके ऐसे वितरणका समर्थन किया है जिनमें व्यक्तिकी उपयोग करनेकी शक्तिके अनुसार वस्तुएँ बांटी जाती हैं। सम्पत्ति उनको मिले जो उसका उपयोग सबसे अधिक कर सकें। इसमें तो कोई सन्देह नही कि मूर्ख अमीरोके विलास और प्रत्यक्ष बर्बादीने व्यक्तिगत सम्पत्ति व्यवस्थाको लोगोंकी दृष्टिमे जितना नीचे गिराया है उतना किसी और दूसरे कारण ने नही।

उपयोग करनेकी इस शक्तिकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। समाजकी आर्थिक व्यवस्थामें जो सबसे नीचे स्तर पर है उनमें वस्तुओंका वितरण उनकी आवश्यकताके अनुसार हो। जो आयकी बीचकी सीढ़ी पर यानी मध्यम वर्गमें हैं उनमें वस्तुओंका वितरण उनकी अर्जन करनेकी शक्तिके अनुसार हो और जो आर्थिक व्यवस्थाकी चोटी पर है उनमें वस्तुओंका वितरण उनकी उपयोग करनेकी शक्तिके अनुसार हो।

वितरणके इस सिद्धान्तमें बहुत-सी अच्छाइयाँ है। यह हर व्यक्तिको इस बातकी प्रेरणा देता है कि स्वयंको अपने लिए तथा समाजके लिए यथासम्भव अधिकसे अधिक उपयोगी सिद्ध करे। यह सिद्धान्त हर व्यक्तिको इस बातका पर्याप्त अवसर देता है कि अपने स्वभावकी परोपकारी वृद्धिको अधिकसे अधिक उपयोग कर ले। इस सिद्धान्तसे समाजके अयोग्य सदस्य विलीन हो जायँगे और उपयोगी सदस्य एक बड़ी संख्यामें बच जायँगे। और अन्तमें इस सिद्धान्तसे यह सत्य भी सिद्ध हो जायगा कि योग्यता अपुरस्कृत नहीं रहनी चाहिए।

उक्त सैद्धान्तिक अच्छाइयोके होते हुए भी इस सिद्धान्तको व्यावहारिक रूप देना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि कई दृष्टियोंसे चरम व्यक्तिवादी दृष्टिकोणकी अपेक्षा इस सिद्धान्तमें काफ़ी सुधार किया गया है फिर भी यह सुधार पर्याप्त व्यापक नही हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भावना है कि इसके परिणामस्वरूप अधिक समर्थ और उद्योगशील व्यक्तियों तथा असमर्थ व्यक्तियोंके बीच अनुचित असमानता उत्पन्न हो जाय क्योंकि किसी भी व्यक्तिकी सामाजिक उपयोगिता या अनुपयोगिता आंकना आसान नहीं है।

फिर भी 'उपयोगिताकी सामर्थ्य' (ability to use) के आदर्शकी सहायतासे संसार भरमें समाजवादकी स्थापनाकी प्रतीक्षा किये बिना ही हम न्याययुक्त वितरण

की एक ऐसी योजना तैयार कर सकते हैं जिस पर तुरन्त अमल किया जा सके। मूर्ख, असक्त आदि जातीय विकासकी दृष्टिसे अवांछनीय लोगोंको समाजके निम्नतर स्तर में रख सकते हैं। उन्हें हम शेष समाजसे अलग कर सकते हैं; उनके समुदायकी वृद्धि पर रोक लगा सकते हैं; और साथ ही सभ्य जीवनकी न्यूनतम आवश्यकताएँ उनके लिए पूरी कर सकते हैं। दूसरी श्रेणीमें हम उन लोगोंको रख सकते हैं जो दूसरों पर आश्रित रहते हैं जैसे बूढ़े और दुर्बल व्यक्ति। उनके लिए भी हमें सभ्य जीवनकी न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी करनी होंगी। अकुशल श्रमिकोंको हम कमसे कम इतना वेतन देंगे जो अच्छा जीवन बितानेके लिए आवश्यक हो और बराबर इस बातका प्रयत्न भी करेंगे कि अकुशल कारीगर कुशल कारीगरोंकी कोटिमें आ जायँ। मध्यम वर्गके लिए हम मांग और पूर्तिके सिद्धान्तको लागू रहने देंगे और साथ ही इस बातका भी ध्यान रखेंगे कि इस सिद्धान्तमें जो स्वाभाविक त्रुटिया हों उन्हें रोका और सुधारा जाय। इस कामके लिए समान अवसरके सिद्धान्तका प्रयोग किया जायगा। निःशुल्क शिक्षा, आवश्यकतानुसार बढ़नेवाला आयकर और क्रमशः बढ़नेवाला दायकर (graduated inheritance tax) आदि इसके साधन होंगे। आर्थिक चोटी परके लोगोंमें 'उपयोगकी सामर्थ्य' का सिद्धान्त पूर्णरूपेण लागू किया जायगा। यदि फ़ोर्ड या रॉकफ़ेलर जैसा कोई व्यक्ति मनुष्य जातिकी सेवाके लिए और भी अधिक सम्पत्ति पैदा कर सकता है तो हम उसे वैसा करने देंगे। पर यदि इसके विपरीत वह अपनी सम्पत्तिका उपयोग एकदम अपने स्वार्थके लिए करता है या किसी अन्य प्रकारसे सम्पत्तिका दुरुपयोग करता है तो हम क़ानून या जनमत या दोनों ही के द्वारा उसके लिए उस सम्पत्ति पर अपना अधिकार बनाये रखना असम्भव कर देंगे।

Select Readings

Aristotle—*Politics.*

Bosanquet, B—*The Philosophical Theory of the State*—Chs. III, VI, VIII, & 7 and *Introduction to Second Edition.*

Burns, C. D.—*Political Ideals*—Ch. XII.

Carlyle, A. G.—*Political Liberty.*

Carver, T. N.—*Essays in Social Justice.*

Dickinson, G. L.—*Justice and Liberty.*

Gettell, R. G.—*Introduction to Political Science*—Ch. IX.

Gilchrist, R. N.—*Principles of Political Science*—Chs. VI & VII.

Green, T. H.—*Principles of Political Obligation, Sects. I, K, L, N & O.*

Hocking, W. E—*Law and Rights.*

Hegel, G. W. F.—*Philosophy of Right.*

Hobhouse, L. T.—*Elements of Social Justice*—Ch. VIII.

JOAD, C. E. M.—*Liberty Today.*
LASKI, H. J.—*Liberty in the Modern State.*
LASKI, H. J.—*A Grammar of Politics*—Chs. III, IV & V.
LEACOCK, S.—*The Unsolved Riddle of Social Justice.*
MILL, J. S.—*Liberty.*
MILTON, J.—*Areopaegetica.*
OPPENHEIMER—*The Rationale of Punishment.*
PLATO—*Republic*—Bks. I IV.
Property, its Duties and Rights (a symposium).
RASHDALL, H.—*The Theory of Good and Evil,*—Vol. I, Chs. VIII & IX.
RITCHIE, D. G.—*Natural Rights*—Chs. VII-XII & XIII.
ROUSSEAU, J. J.—*Social Contract*—Book I.
RUSSELL, B.—*Roads to Freedom.*
SETH, J.—*Ethical Principles.*
SIDGWICK, H.—*Elements of Politics.*
SPENCER, H.—*Justice.*
WILLOUGHBY, W. W.—*Social Justice*

१०

सम्प्रभुता

(Sovereignty)

१. सम्प्रभुताकी परिभाषा (Definition of sovereignty)

सम्प्रभुता राजनीति-शास्त्रकी धारणामें से सबसे अधिक महत्वपूर्ण धारणा है। पर साथ ही और किसी दूसरे शब्द पर इतना अधिक विवाद और भ्रम उत्पन्न नहीं हुआ जितना इस शब्द पर हुआ है। इस शब्दका प्रयोग कई प्रकारसे होता है और इन प्रयोगोंके बीच आसानी से भेद भी नहीं किया जा सकता। 'सॉवरेनटी' (Sovereignty) शब्द लैटिन भाषाके 'सुपरैनस' (*superanus*) से बना है जिसका अर्थ है श्रेष्ठ या सर्वोपरि। सम्प्रभुताका अर्थ यह है कि प्रत्येक स्वतंत्र राज्यमें एक ऐसी अन्तिम सत्ता होती है जिसके आगे फिर कोई अपील नहीं होती। यह सत्ता देशके बाह्य और आन्तरिक सभी मामलोंमें सर्वोपरि होती है। देशके भीतर किसी भी व्यक्तिको या व्यक्तियोंके किसी समूहको सम्प्रभुताके निश्चयके विरुद्ध काम करनेका कोई वैधानिक अधिकार नहीं है। बाह्य मामलोंमें भी प्रभुता-सम्पन्न राज्य सर्वोपरि होता है। वह स्वयं ही अपना स्वामी है। अन्तर्राष्ट्रीय समझौते और सन्धियाँ उस पर वैधानिक रूपसे बन्धनकारी नहीं होते। सम्प्रभुताकी परिभाषाएँ बहुत-सी और अनेक प्रकार की हैं। पश्चिमी लेखकोंमें से सबसे पहले सम्प्रभुताका एक व्यवस्थित सिद्धान्त स्थापित करनेवाले बोदां (Bodin) ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है : 'नागरिकों और प्रजा पर ऐसा सर्वोच्च सत्ता जो क़ानून द्वारा नियंत्रित न हो।' पचास वर्ष पश्चात् ग्रोशियस (Grotius) ने सम्प्रभुताकी परिभाषा इन शब्दोंमें की 'ऐसे किसी व्यक्तिमें निहित सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति जिसके कार्य किसी दूसरेके अधीन न हों और जिसकी इच्छाका कोई उल्लंघन या अतिक्रमण न कर सके। यह किसी राज्य पर शासन करनेकी नैतिक शक्ति है'।

आधुनिक लेखकोंमें से एक फ़ान्सीसी प्रोफ़ेसर दिग्वी (Duguit) का कहना है कि फ़ान्समें आमतौर पर सम्प्रभुताका अर्थ लोग समझते हैं 'राज्यकी वह शक्ति जिसके बल पर वह आदेश देता है; यह राज्यके रूपमें राष्ट्रकी संगठित इच्छा है; यह एक अधिकार है जिसके बल पर राज्यमें रहनेवाले सभी व्यक्तियोंको बिना किसी शर्तके आज्ञाएँ दी जाती हैं'। एक अमरीकी लेखक बर्गेस (Burgess) सम्प्रभुताकी परिभाषा

'व्यक्तियों और व्यक्तियोंके संघों पर मौलिक (original), परमपूर्ण (absolute) और असीम (unlimited) अधिकार कह कर करते हैं। दूसरे स्थल पर वह सम्प्रभुता को 'लोगोंको आदेश देने और उनका पालन कराने की स्वतंत्र और मौलिक शक्ति' कह कर पुकारते हैं। पोलक (Pollock) ने सम्प्रभुताकी परिभाषा इस प्रकार की है, 'सम्प्रभुता वह शक्ति है जो न तो अस्थायी है और न किसी दूसरेके द्वारा दी गयी है और न वह किन्हीं ऐसे नियमोंके अधीन है जिन्हें वह बदल न सके'। विलोबी (Willoughby) का कहना है 'सम्प्रभुता राज्यकी सर्वोच्च इच्छा है।'

क्रेननबर्ग (Kranenburg) के अनुसार यह राज्यकी प्रवृत्ति ही है कि वह 'दूसरों पर बिना किसी शर्तके अपनी इच्छा लागू करे क्योंकि शासन करनेकी यही परिभाषा है और शासन करना राज्य का मौलिक काम है (४५ : १३९)।'

यूरोपीय लेखकों में से कार्डिमेल बर्ग (Carre de Malberg) लिखते हैं ('Theorie generale de l' etat' vol. I, p. 70) कि सम्प्रभुता कोई 'शक्ति' नहीं है बल्कि वह एक 'गुण' है; एक शक्तिकी यह सर्वोच्च विशिष्टता है—यह सर्वोच्च इसलिए है कि यह किसी दूसरी शक्तिको न तो अपने ऊपर स्वीकार करती है और न अपने बराबर मानती है। लेफ़र (Lefur) अपनी पुस्तक *'L' etat federal'* में लिखते हैं, 'बाह्य सम्प्रभुता उन अधिकारोंकी सम्पूर्णताको व्यक्त करनेके लिए एक संक्षिप्त शब्द है जिनके द्वारा आन्तरिक सम्प्रभुता विदेशी राज्योंके सम्बन्धमें अपने आपको व्यक्त करती है' (पृष्ठ ४६५)।

अमरीकी समाज-शास्त्री गिडिंग्स (Giddings) अपनी पुस्तक, (*The Responsible State*), में लिखते हैं: 'सारे शब्दकोषोंमे एक भी ऐसा दूसरा शब्द नहीं है जिसके साथ उससे अधिक घातक इन्द्र जाल रचा गया हो जैसा आध्यात्मिक मायावियों (metaphysical jugglers) द्वारा सत्ता शब्दके साथ रचा गया है। विधान वेत्ताओं (jurists) और राजनीतिक सैद्धान्तिकों (theorists) ने कठोर तथ्योंकी ओरसे आँख मूंद कर अपना मस्तिष्क भावसूक्ष्म कल्पनाओंमें लगाया और सम्प्रभुता राजनीति-शास्त्रके लिए एक ऐसी वस्तु बन गयी जो जल या थलमें कहीं भी कभी किसी समय नहीं थी।'

डोनाल्ड एफ़० रसेल (Donald F. Russel) सम्प्रभुताकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं 'राज्यके भीतर सबसे बड़ी शक्ति और सर्वोच्च सत्ता जो विधान या अन्य किसी चीजसे सीमित न हो क्योंकि अन्यथा वह न तो सर्वाधिक शक्तिशाली होगी और न सर्वोच्च।'

सोल्ता (Soltau) सम्प्रभुताको 'राज्यकी अन्तिम वैधानिक दबाव डालनेवाली शक्ति'का प्रयोग कह कर परिभाषा करते हैं। राउसक (Roucek), हुस्ज़ार (Huszar) आदि अपनी पुस्तक, (*Introduction to Political Science*) में लिखते हैं, 'राजनीतिके किसी भी सिद्धान्तमें सम्प्रभुताकी धारणा केन्द्रस्थ होनी चाहिए।' अथवा उन्हींके शब्दोंमें 'सम्प्रभुताके सिद्धान्त सामाजिक तथ्यों, राजनीतिक संस्थाओं और सांस्कृतिक पृष्ठभूमिके प्रतिबिम्ब हैं जिन्हें उचित सिद्ध करना और जिनकी व्याख्या करना उनका लक्ष्य होता है।'

२. प्रभुसत्ताकी विशेषताएं (Characteristics of Sovereignty)

प्रभुसत्ताके परम्परागत सिद्धान्तका विवेचन करनेवाले लेखकोंने इसकी निम्नलिखित विशेषताएं बतलायी हैं:

(१) परमपूर्णता (absoluteness),
(२) सार्वभौमिकता (universality),
(३) असंक्राम्यता या अविच्छेद्यता (inalienability),
(४) स्थायित्व (permanence),
(५) अविभाज्यता (indivisibility)।

१. परमपूर्णता (Absoluteness)

सम्प्रभुताको परमपूर्ण और असीमित कहा गया है। पृथ्वी पर कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो उसका नियंत्रण कर सके। (क) देशके भीतर सम्प्रभुता राज्यके भीतर रहनेवाले सभी व्यक्तियों पर और व्यक्ति समूहों पर सर्वोच्च अधिकार रखती है। सम्प्रभुता पर जो कुछ भी बन्धन या सीमाएँ लागू होती हैं वे उसीके द्वारा लागू की हुई होती हैं। इसलिए वे राज्य द्वारा वैधानिक ढगसे ही हटायी जा सकती हैं। गेटेल के शब्दोंमें 'अपरिवर्तनीय (unchangeable) विधान एक वैधानिक असम्भावना है' (२४: ९४)। (ख) बाहरी मामलोंमें भी सम्प्रभुता सर्वोपरि मानी जाती है। 'दूसरे राज्य प्रभुता-सम्पन्न राज्यके मामलोंमें न तो किसी प्रकारका हस्तक्षेप कर सकते हैं और न उस पर किसी प्रकारका दबाव डाल सकते हैं (२४ : ९५)।' सन्धियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय समझौते आदि सम्प्रभुताको कमजोर नहीं करते क्योंकि उनके पीछे ऐसी कोई शक्ति नहीं होती जो एक प्रभुता-सम्पन्न राज्यको विवश कर सके। वे उसी हद तक माने जाते है जिस हद तक प्रभुता-सम्पन्न राज्य उन्हें स्वयं मानना चाहता है। आज तक यही माना जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय-अदालतें अन्तर्राष्ट्रीय-विधानकी केवल व्याख्या भर कर सकती हैं; उस विधानको लागू करनेकी शक्ति उनमें नहीं है।

सम्प्रभुताकी शेष विशेषताएं इस विशेषताकी उपसिद्धियाँ या इसीके परिणाम हैं।

२. सार्वभौमिकता या सर्वव्यापकता (Universality or all-comprehensiveness)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है सम्प्रभुता राज्यके भीतरके सभी व्यक्तियों, समुदायों और सभी वस्तुओं पर सर्वोच्च अधिकार रखती है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य अपने अधिकार-क्षेत्रको किन्हीं मामलोंमें संकुचित या विलीन कर देनेका अधिकार खो देता है। कोई भी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह अपना अधिकार कह कर सम्प्रभुतासे छुटकारा पानेका दावा नहीं कर सकता। फ्री मेशन्स (Free Masons) जैसी विश्व-व्यापी सुसंगठित संस्था भी राज्य के ऊपर होने या राज्यसे श्रेष्ठ होनेका दावा नहीं कर सकती। यह संस्था भी विभिन्न राज्योंके विधानोंके अधीन है।

सम्प्रभुताकी सार्वभौमिकतासे मुक्त होनेका एक ही स्पष्ट उदाहरण मिलता है। जैसाकि गिलक्राइस्ट (Gilchrist) ने कहा है कुछ देशोंमें कूटनीतिज्ञ प्रतिनिधियोंको यह राज्योत्तर सम्प्रभुता (extra-territorial sovereignty) प्राप्त होती है। गिलक्राइस्ट इस तथ्यको इस प्रकार व्यक्त करते हैं 'किसी भी देशमें राजदूतावास उस देशकी सम्पति हैं जिस देशका प्रतिनिधित्व वह राजदूतावास करता है। राजदूतावासके सदस्य अपने देशके अधीन होते हैं। असलियतमें यह अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टताकी बात है और इसे सम्प्रभुतासे वास्तविक मुक्त नहीं कह सकते। यदि कोई राज्य चाहे तो अपनी सम्प्रभुताका प्रयोग करते हुए इस प्रकार दिये गये विशेषाधिकारों और सुविधाओंको माननेसे इनकार कर सकता है' (२८ : ११०)।

३. असंक्राम्यता या अविच्छेद्यता (Inalienability)

यदि सम्प्रभुता परमपूर्ण और असीमित है तो यह बात भी समझमें आती है कि वह अविच्छेद्य होगी। कोई भी प्रभुता-सम्पन्न राज्य अपनी मौलिक विशेषताओंमें से किसी एक विशेषताको भी अपनेको नष्ट किये बिना नहीं छोड़ सकता। एक अमरीकी लेखक लीवर (Lieber) लिखते हैं कि जिस प्रकार एक वृक्ष अपने उगने और पनपनेके अधिकारको नहीं छोड़ सकता अथवा जिस प्रकार एक व्यक्ति अपना विनाश किये बिना अपने जीवन और व्यक्तित्वको अपनेसे अलग नहीं कर सकता ठीक उसी प्रकार राज्यसे सम्प्रभुताको अलग नहीं किया जा सकता। एक राज्य अपने भू-प्रदेशके कुछ भागको दूसरे राज्यको दे सकता है। जब एक राज्य ऐसा करता है तो वह अपने उतने प्रदेश पर अपनी सम्प्रभुताको दूसरे राज्य को सौंप देता है। पर इससे उसकी सम्प्रभु-शक्ति समाप्त नहीं हो जाती। उसके बाद दो प्रभुता-सम्पन्न सत्ता हो जाती हैं जिनका दो विभिन्न प्रदेशों पर अधिकार होता है। इसी प्रकार किसी सम्राट् या शासक द्वारा गद्दी छोड़ देनेका यह अर्थ नहीं होता कि उस राज्यमें सम्प्रभुताका अन्त हो गया। 'जब एक नाममात्रका शासक अपना पद त्यागता है तो केवल शासनके स्वरूपमें अन्तर आ जाता है (२८ : १११)।'

रूसो—जो सम्प्रभुताकी अविच्छेद्यताके समर्थक थे—का कहना था कि शक्ति का हस्तान्तरण किया जा सकता है पर इच्छाका नहीं। सम्प्रभुता राज्यके व्यक्तित्व का मूलतत्व है और उसको अलग करना राज्यकी आत्महत्याके समान है।

४. स्थायित्व या सर्वकालीनता (Permanence or perpetuity)

सम्प्रभुता उतना ही स्थायी है जितना कि स्वयं राज्य। जबतक राज्यका अस्तित्व बना रहता है तब तक सम्प्रभुता बनी रहती है। दोनों एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। किसी राजा या राष्ट्रपतिकी मृत्यु या पदच्युत होनेका अर्थ यह नहीं है कि सम्प्रभुता समाप्त हो गयी। सम्प्रभुता तुरन्त ही दूसरे पदाधिकारीके हाथमें आ जाती है। 'यह केवल शासनमें व्यक्तियोंका परिवर्तन होता है। इससे राज्यके अटूट अस्तित्वमें कुछ भी रुकावट नहीं आती (२८ : १११)।'

राज्यकी अविभाज्यता उसकी सम्प्रभुताकी परमपूर्णताका तर्क-संगत निष्कर्ष है। गेटेल कहते हैं कि 'यदि सम्प्रभुता परमपूर्ण नहीं है, तो किसी राज्यका कोई अस्तित्व ही नहीं है, यदि सम्प्रभुता विभाजित है तो एकसे अधिक राज्योंका अस्तित्व हो जाता है' (२४:९५)।[1]

५. अविभाज्यता (Indivisibility)

कुछ बहुलवादी (pluralists) इस विचारके विरोधी हैं। वे लोग सम्प्रभुताको राज्य और राज्यके भीतरके उन अन्य संघों और व्यक्ति-समूहोंमें विभाजित करते हैं जो मनुष्यके विभिन्न हितोंकी रक्षा करते हैं। यदि इस विचारको व्यवहारमें लाया जाय तो उसका अन्तिम परिणाम यह होगा कि राज्य छिन्न-भिन्न हो जायगा। जो लोग बहुलवादी नहीं हैं वह भी कभी-कभी विभाजित सम्प्रभुता (divided sovereignty) के सिद्धान्तका समर्थन करते हैं—विशेषकर संघ राज्योंमें। हारवर्ड विश्वविद्यालयके भूतपूर्व अध्यक्ष, ए० एल० लॉवेल (A. L. Lowell) प्रभावपूर्ण शब्दोंमें यह विचार व्यक्त करते हैं कि 'एक ही भू-प्रदेशमें दो सम्प्रभुओंका अस्तित्व सम्भव है जो एक ही प्रजावर्ग को विभिन्न मामलोंमें अपने-अपने आदेश देते हों (२२:१७५)।' इसी तरह लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) का कहना है कि वैधानिक सम्प्रभुता 'दो सम्बद्ध समशक्तियोंमें' अर्थात् एक दूसरे से मिली हुई दो बराबरकी शक्तियोंमें विभाजित की जा सकती है (२२:१७५)। ऐसा प्रतीत होता है कि इन लेखकोंके मस्तिष्कमें संयुक्त-राज्य अमरीकाका वह मामला है जिसमें वहांके सर्वोच्च न्यायालयने यह फ़ैसला दिया था कि जहां तक उन अधिकारों और शक्तियोंका सम्बन्ध है जो राष्ट्रीय सरकारके अधिकार क्षेत्रमें रखी गयी हैं वहां तक संयुक्त-राज्य (United States) को सम्प्रभुता प्राप्त है और जो अधिकार और शक्तियां राज्योंके लिए सुरक्षित की गयी हैं उनके सम्बन्धमें राज्योंको सम्प्रभुता प्राप्त है। केल्हन (Calhoun) तथा इनसे भिन्न विचार रखनेवाले अनेक प्रसिद्ध विचारक अमरीकाकी इन परिस्थितियोंकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि सम्प्रभुता जो कि एक अविभाज्य इकाई है अमरीकामें कुछ मामलोंमें राष्ट्रीय सरकारके द्वारा और कुछ दूसरे मामलोंमें राज्य सरकारके द्वारा प्रकट होती है। दूसरे शब्दोंमें संघ सरकारों और राज्य सरकारोंके बीच सम्प्रभुताका बँटवारा नही हुआ। बल्कि सम्प्रभुता उस परोक्ष शक्ति में निहित है जिसमें दोनों सरकारोंकी अधिकार शक्तियोंको निश्चित करनेकी शक्ति है और जो इन शक्तियों और अधिकारोंको इन सरकारोंके बीच फिरसे इस प्रकार बांट सकती है कि इनमें से किसीका अधिकार क्षेत्र घट या बढ़ जाय (२२: १७८)।

---

[1] ट्रीटस्के (Trietschke) अपनी पुस्तक (*Politics* Vol. I पृष्ठ १३६) में लिखते हैं, 'एक ऐसा राज्य असम्भव है जिसमें सम्प्रभुता विभाजित हो; सिसरो जैसे राजनीतिज्ञ ही ऐसी सारग्राही मूर्खताका खेल कर सकते हैं।'

इस समूची विवेचनाका निष्कर्ष केल्हन के शब्दोंमें इस प्रकार है 'सम्प्रभुता एक समूची चीज है उसका विभाजन करनेका अर्थ है उसे नष्ट करना। किसी भी राज्यमें सम्प्रभुता सर्वोच्च शक्ति है और आधी सम्प्रभुता कहना उतना ही असंगत और हास्यास्पद है जैसे आधा-वर्ग (half-square) या आधा-त्रिभुज (half-triangle) कहना (२२: १७३)।' अथवा दूसरे शब्दोंमें 'यह समझनेमे तो कोई कठिनाई नहीं है कि सम्प्रभुतासे सम्बन्ध रखनेवाली शक्तियोंको किस प्रकार विभाजित किया जाय, किस प्रकार एक विभागको एकके हाथोंमें और दूसरे विभागको दूसरेके हाथों में सौंप दिया जाय या किस प्रकार सम्प्रभुताको एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियों अथवा अनेक व्यक्तियोमे निहित किया जाय। पर यह विचार तो असम्भव-सा लगता है कि किसी प्रकार सम्प्रभुताकी सर्वोच्च शक्तिको विभाजित किया जा सकता है (२२: १७७)।'

३. सम्प्रभुताके विभिन्न अर्थ (Different Meanings of Sovereignty)

सम्प्रभुता शब्दका प्रयोग विभिन्न अर्थोमें होता है और इन विभिन्न अर्थोंका आपसी अन्तर न समझनेसे भ्रम उत्पन्न होता है। नाममात्रकी सम्प्रभुता (titular sovereignty) शब्दका प्रयोग उस राजा या राजतंत्रीय शासकके लिए किया जाता है जो किसी समयमें वास्तवमे सम्प्रभु था परन्तु अब काफ़ी समयसे ऐसा नही रहा। इगलैण्डका राजा अधिकारिक रूपसे सम्प्रभु (sovereign) कहलाता है यद्यपि उसकी सम्प्रभुता नाममात्र की है। वास्तविक शक्ति तो बहुत समय पहले ही दूसरेके हाथोंमें चली गयी थी। अतः राजाकी सम्प्रभुता तो एक निरीह कहानी मात्र है।

१. नाम-मात्रकी सम्प्रभुता (Titular Sovereignty)

प्रायः वैधानिक सम्प्रभुता और राजनीतिक सम्प्रभुताके बीच अन्तर किया जाता है। वैधानिक सम्प्रभुता राज्यमें सर्वोच्च विधान बनानेवाली शक्ति है। केवल उसीके आदेश कानून होते हैं। वह आध्यात्मिक विधान, नैतिक सिद्धान्तों और जनमतके आदेशोंका उल्लंघन कर सकती है। ऐसा सम्प्रभु इंगलैण्डमें संसदमय-सम्राट् (King-in-Parliament) है। डायसी के अनुसार ससद वैधानिक रूप से इतनी सर्वशक्ति-सम्पन्न है कि एक बच्चेको पूरी उम्रका घोषित कर सकती है, मरनेके बाद भी किसी व्यक्तिको राजद्रोहका अपराधी बना सकती है, वह किसी गैरकानूनी बच्चेको कानूनी बना सकती है अथवा उचित समझे तो वह किसी व्यक्तिको अपने ही मामलेमें न्यायाधीश बना सकती है (२२: १६३)।' वैधानिक सम्प्रभुता क़ानूनकी सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा है। आस्टिन की सम्प्रभुता की परिभाषामे उसे एक निर्धारक (determinate) व्यक्ति कहा गया है। अदालतें

२. वैधानिक सम्प्रभुता (Legal Sovereignty)

केवल उन्हीं विधानोंको मानती हैं जो ऐसी प्रभुता-सम्पन्न सत्तासे उत्पन्न होते हैं।

वैधानिक सम्प्रभुताकी विशेषताएँ ये हैं: (१) यह निश्चयात्मक (determinate) और निश्चित होती है; (२) यह किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूहमें निहित रह सकती है; (३) यह निश्चित रूपसे संगठित, स्पष्ट और क़ानून द्वारा मान्य होती है; (४) केवल यह ही वैधानिक शब्दोंमे राज्यकी इच्छाकी घोषणा करती है; (५) इसके न माननेके अर्थ होते हैं क़ानूनको तोड़ना और इसलिए दण्ड पाना; (६) अधिकारोंकी उत्पत्ति इसीसे होती है; और (७) यह परमपूर्ण, असीमित और सर्वोच्च होती है।

३. राजनीतिक सम्प्रभुता (Political Sovereignty)

इस शब्दकी परिभाषा करना उतना आसान नही है। एक प्रजातंत्रवादी देशमें, जहां कि वैधानिक सम्प्रभु सबसे बड़ा क़ानून बनानेवाला और लागू करनेवाला होता है, वही उसके पीछे जनताकी इच्छा रहती है जो सभी प्रकारका अधिकार सत्ताका अन्तिम और परम स्रोत है। यह वह सत्ता है जिसके फ़ैसलेके विरुद्ध कोई अपील नहीं है। डायसी (Dicey) के शब्दोमें 'जिस सम्प्रभुको वकील लोग मानते हैं उसके पीछे दूसरा सम्प्रभु रहता है। वैधानिक सम्प्रभु को इस सम्प्रभुके सामने सिर ही झुकाना पड़ता है।' उसी लेखकके अनुसार 'वही शक्ति राजनीतिक सम्प्रभु है जिसकी इच्छाको अन्तिम रूपमें राज्यके नागरिक मानते हैं (१५: ६६)।' गिलक्राइस्ट इसकी परिभाषा इस प्रकार करते है, 'राज्यकी वह समस्त प्रभावात्मिका शक्ति (influences) जो क़ानूनके पीछे रहती है।'

जब हम राजनीतिक सम्प्रभुताकी कोई सटीक परिभाषा देनेका प्रयत्न करते हैं तो बड़ा भ्रम पैदा होता है। यह एक अस्पष्ट और अनिर्दिष्ट (indeterminate) शब्द है। यह कोई ऐसी वस्तु नही है जिसे निश्चित रूपसे निर्धारित किया जा सके। उस देशमें जहां प्रत्यक्ष या शुद्ध प्रजातंत्र है वैधानिक और राजनीतिक सम्प्रभुता क़रीब-क़रीब एकरूप हुआ करती है। लेकिन अधिकतर देशोंमें जहां प्रजातंत्रवाद है वहां प्रतिनिधि मूलक या अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र है। अतः वैधानिक सम्प्रभुता और राजनीतिक सम्प्रभुता अलग-अलग है। कुछ लेखक राजनीतिक सम्प्रभुताको सगठित समाजके साथ एकरूप मानते हैं और कुछ आम जनताके साथ, कुछ लोक-सम्मति (public opinion) के साथ तथा कुछ लोकमतके साथ और कुछ लोग उसे उन लोगोंकी शारीरिक शक्तिके साथ एकरूप मानते हैं जो सफलतापूर्वक क्रान्ति कर सकते हैं। इन सभी दृष्टिकोणोंमें सत्यका कुछ अंश है और यह कहना असम्भव है कि इनमें से कोई भी अन्य सबकी अपेक्षा पूर्णरूपसे सही दृष्टिकोण है। इस भ्रमके कारण ही कुछ लेखक सम्प्रभुताको उसके वैधानिक अर्थों तक ही सीमित समझते हैं और राजनीतिक सम्प्रभुताकी धारणाको बिल्कुल ही छोड़ देते हैं। इस तरह गेटेल का कथन है कि 'वैधानिक सम्प्रभुके पीछे एक राजनीतिक सम्प्रभुकी खोजका प्रयत्न करना सम्प्रभुताकी समूची धारणाको ख़त्म कर देता है और वह सम्प्रभुताको प्रभावों

की सूचीमात्र बना देता है (२४ : ९८)।' इसी प्रकार लीकॉक (Leacock) लिखते हैं: 'जैसे ही हम आस्टिन की रूखी, पर वैधानिक धारणासे दूर जाते हैं वैसे ही हम भ्रमित हो जाते हैं (५१ : ६१)।' एक चीज़ जो बिल्कुल साफ़ है वह यह है कि वह सम्प्रभुता ही वैधानिक है जो एक वकील और न्यायाधीश द्वारा मान्य है। लोकमत, लोकसम्मति, निर्वाचकोंकी इच्छाएँ, क्रान्तिकी सम्भावनाएँ आदि सभी वैधानिक सम्प्रभुके निश्चयों पर असर डालती हैं। लेकिन वे न तो वैधानिक सम्प्रभु की भांति निश्चित होते हैं और न संगठित ही। एक सुव्यवस्थित राज्यके लिए आवश्यक है कि उसमें वैधानिक सम्प्रभुकी सर्वोच्च सत्ता हो जिसकी आज्ञाओंका पालन नागरिकोंका समाज स्वभावतः करता हो। साथ ही साथ जनताके मनचाहे परिवर्तनोंको क़ानूनी तरीक़ेसे लागू करनेके लिए जहां तक सम्भव हो अधिक से अधिक अवसर मिलना चाहिए।

४. लोकप्रिय सम्प्रभुता (Popular sovereignty)

लोकप्रिय सम्प्रभुता राजनीतिक सम्प्रभुताका एक स्वाभाविक विकास है। जनप्रिय सम्प्रभुताके सिद्धान्तके अनुसार अन्तिम सत्ता जनताके हाथमें रहती है। इस सिद्धान्तका प्रतिपादन मध्ययुगमें मार्सीलियो ऑफ़ पैदुआ (Marsiglio of Padua) और विलियम ऑफ़ ऑकम (William of Ockam) जैसे लेखकोंने किया है। अठारहवीं शताब्दीमें यह सिद्धान्त रूसो के उपदेशों का आधार बना। रूसो ने इस सिद्धान्तकी घोषणा 'डंकेकी चोट पर की (२२ : १६४)।' उन्नीसवीं शताब्दीमें प्रजातंत्रके विकासके साथ इस सिद्धान्तको यहां तक बल मिला कि सभी स्वतंत्र देशोंमें यह मान लिया गया है कि जनता ही राजनीतिक अधिकार सत्ताकी अन्तिम अधिरक्षक या मालिक है। वैधानिक सम्प्रभुता यदि जान-बूझकर लगातार जनताकी इच्छाओंका विरोध करती रहे तो वह अधिक समय तक नहीं टिक सकती क्योंकि अन्तिम हालतमें जनता बल-प्रयोग कर सकती है और क्रान्ति करके एक नवीन सरकारकी स्थापना कर सकती है। आजकल 'जनताका नियंत्रण और लोकप्रिय शासन' का प्रयोग प्रजातंत्रके पर्यायके रूपमें किया जाता है। इस प्रयोगसे यह साफ़ प्रकट हो जाता है कि वैधानिक सम्प्रभुता पर समूची जनताका अन्तिम नियंत्रण किस हद तक रहता है।

यद्यपि लोकप्रिय सम्प्रभुताका सिद्धान्त बहुत ही आकर्षक है और उससे जनताकी आत्म-सम्मानकी भावना भी सन्तुष्ट होती है, पर जब हम इस धारणाका विश्लेषण करने और उसे एक निश्चित अर्थ देनेका प्रयत्न करते हैं तो कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। जितना ही अधिक हम उस पर विचार करते हैं उतना ही अधिक कठिन उसकी परिभाषा देनेका काम होता जाता है। राजनीतिक सम्प्रभुताकी आलोचनाएँ इस पर भी लागू होती हैं। जनप्रिय सम्प्रभुताकी परिभाषा करनेमें 'जनता' शब्दके दो सम्भावित अर्थ किये जा सकते हैं; (क) 'असंगठित अनिर्धारित जनताकी समूची भीड़ (the total unorganized indeterminate mass); (ख) निर्वाचक-

मण्डल (the electorate)। 'जनता' शब्दका जो पहला अर्थ है उसके अनुसार यह स्पष्ट है कि जनता सम्प्रभु (sovereign) नहीं हो सकती। दूसरे अर्थमें यदि जनता को किसी भी मानेमें प्रभुता-सम्पन्न बनना है तो वह केवल वैधानिक तरीक़ोंसे ही काम कर सकती है। गार्नर (Garner) के शब्दोंमें, 'असंगठित लोकमत चाहे जितना शक्तिशाली क्यों न हो उस समय तक सम्प्रभु नही बन सकता जब तक उसे वैधानिक स्वरूप न दिया जाय—ठीक उसी प्रकार जैसे कि विधान-मंडलके सदस्योंका कोई ग़ैर-रस्मी और व्यक्तिगत प्रस्ताव क़ानून नही बन सकता (१२२ : ६५)।' व्यावहारिक तौर पर जन-प्रिय सम्प्रभुताका अर्थ शान्तिके समयमें लोकमत और 'युद्ध के समयमें' क्रान्तिकी शक्तिसे अधिक नहीं जान पड़ता (२४ : १००)।

उपर्युक्त व्याख्याको ध्यानमें रखते हुए लोकप्रिय सम्प्रभुता और राजनीतिक सम्प्रभुतामें बहुत कम अन्तर रह जाता है। गिलक्राइट, जो इस अन्तर पर बहुत अधिक ज़ोर देते हैं, कहते हैं कि लोक-प्रिय सम्प्रभुता व्यावहारिक दृष्टिसे राजनीतिक स्वाधीनता अथवा 'जनता द्वारा नियंत्रण' के समान ही है। लोक-प्रिय सम्प्रभुताका अर्थ है एक व्यक्तिगत शासक अथवा एक व्यक्तिके विरुद्ध समूची जनताकी शक्ति। जनताकी इस शक्तिमें वयस्क मताधिकार, जनताके प्रतिनिधियों द्वारा व्यवस्थापिका का नियंत्रण और जनता द्वारा चुने गये सदनका राष्ट्रकी अर्थ-नीति पर नियंत्रण आदि निहित है। इसके विपरीत, गेटेल की राय है, 'जनताकी सम्प्रभुता एक शाब्दिक अन्तर्विरोध है।' लास्की का कहना है कि राजनीतिक सम्प्रभुताका जो भी अर्थ मालूम होता है वह यह है कि समाजके किसी ख़ास अंगकी अपेक्षा समूचे जनसमूहके हितोंको सर्वोच्च स्थान मिले। लेकिन 'यह तो एक विवाद उत्पन्न करना हुआ न कि उसका कोई निश्चय करना।'

लोकप्रिय सम्प्रभुताकी परिभाषा करनेमें हमें चाहे जितनी भी कठिनाई क्यों न हो पर इस सिद्धान्तमें निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण विचार छिपे है :

(क) समाजका अस्तित्व स्वयं अपने कल्याणके लिए नहीं है। सरकारका अस्तित्व जनताके कल्याणके लिए है।

(ख) यदि जनताकी इच्छाएँ जान-बूझकर कुचली जाती हैं तो क्रान्तिकी सम्भावना रहती है।

(ग) लोकमतकी अभिव्यक्तिके लिए आसान वैधानिक तरीक़े बराबर रहने चाहिए।

(घ) जल्दी-जल्दी चुनाव, स्थानीय स्वायत्त शासन, लोक निर्देश (referendum), आरम्भिक अधिकार (initiative) और प्रत्यावर्तन (recall) के द्वारा सरकारको प्रत्यक्ष रूपसे जनताके प्रति ज़िम्मेदार बनाना चाहिए।

(ङ) सरकारको अपनी अधिकार सत्ताका प्रयोग प्रत्यक्ष रूपमें देशके विधानके अनुकूल करना चाहिए और मनमाने ढंगसे काम नहीं करना चाहिए।

सम्प्रभुता वास्तविकताका प्रश्न है और इसलिए कभी-कभी विधिसम्मत (de jure) और वास्तविक (de facto) सम्प्रभुताके बीच भेद किया जाता है। विधिसम्मत (de jure) सम्प्रभु वैधानिक (legal) होता है तथा वास्तविक (de acto) सम्प्रभु वह है जिसकी आज्ञा जनता वास्तवमें मानती हो—उसकी चाहे कोई वैधानिक स्थिति हो या न हो। वास्तविक सम्प्रभुता शारीरिक बल या धर्मके बल पर टिक सकती है पर विधि सम्मत सम्प्रभुता को क़ानून यह अधिकार देता है कि वह अपनी आज्ञाओंका पालन करायें। विधिसम्मत और वास्तविक सम्प्रभुता विद्रोहके दिनोंमें बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। कुछ क्रान्तियां केवल सरकारके शासनयंत्रमें कुछ परिवर्तन ही करती हैं पर कुछ क्रान्तियाँ पुराने वैधानिक सम्प्रभुको एकदम समाप्त करके उसके स्थान पर नये सम्प्रभुको स्थापित करती हैं। आस्टिन ने वास्तविक सम्प्रभुता और वैधानिक सम्प्रभुतामें कोई अन्तर नही माना था क्योंकि उसके कथनानुसार सम्प्रभुताके साथ 'वैध' और 'अवैध' शब्दोंका प्रयोग नहीं किया जा सकता। आस्टिन का कहना है कि सरकारें वास्तविक और विधिसम्मत तो हो सकती हैं लेकिन वैध और अवैधका प्रयोग सम्प्रभुताके लिए नहीं किया जा सकता। वास्तविक सम्प्रभुताको अवैध मानना ग़लत है। क्योंकि सम्प्रभुताका तत्व ही वह शक्ति है जिसके बल पर लोगोंको अपना आज्ञाकारी बनाया जा सकता है। हर देशकी आन्तरिक शान्ति और व्यवस्थाके हितमें यह आवश्यक है कि विधिसम्मत और वास्तविक सम्प्रभु एक ही हो। और यदि कभी दोनोंमें संघर्ष हो जाय तो संघर्ष अधिक समय तक नहीं रहना चाहिए। दूसरे शब्दोंमें शक्ति और न्याय दोनोंका मेल होना चाहिए। जैसे ही एक वास्तविक सम्प्रभु (de facto sovereign) अपने आपको स्थायी रूपसे प्रतिष्ठित कर लेता है, उसकी वैधानिक स्थिति भी बनने लगती है और अन्तमें वह विधिसम्मत सम्प्रभु बन जाता है।

५. विधिसम्मत (क़ानूनी) और वास्तविक सम्प्रभुता (De jure and De facto Sovereignty)

इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त है। चीनमें च्यांग-काई-शेक का शासन समाप्त कर देनेके बाद तुरन्त ही साम्यवादी चीन वास्तविक तौर पर प्रभुता-सम्पन्न हो गया था। लेकिन अब आठ वर्षों तक शासनारूढ़ बने रहनेके बाद और जब कोई भी उसकी सत्ताको चुनौती देनेवाला नहीं है और अनेक देशोंने (जिनमें भारत भी शामिल है) उसे मान्यता प्रदान की है इसलिए साम्यवादी चीनको वास्तविक और विधिसम्मत दोनों ही सम्प्रभुताओंसे पूर्ण माना जा सकता है।

४. सम्प्रभुताकी स्थिति (Location of Sovereignty)

राजनीति-शास्त्रके विद्यार्थीके लिए सम्प्रभुताकी स्थितिका प्रश्न बहुत कठिन समस्या है। प्रसिद्ध विचारकोंने इस प्रश्न पर विभिन्न मत दिये हैं। गेटेल का कहना है

कि इन विचारकोंके अनुसार सम्प्रभुताकी स्थिति क्रमशः इस प्रकार है :

'(१) राज्यकी जनतामें,

'(२) उस संगठनमें जिसे राज्यके विधानको बनाने या उसमें परिवर्तन करनेका क़ानूनी अधिकार हो,

'(३) राज्यके शासनमें जो वैधानिक कानून बनानेवाली वैधानिक संस्था हो उनका संकलित रूप (२४ : ९८)।'

इनमेंसे पहले दृष्टिकोण पर अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। लोकप्रिय सम्प्रभुताकी विवेचना करते समय हमने उन अनेक आलोचनाओंका ज़िक्र किया है जो इस दृष्टिकोणके सम्बन्धमें दी जाती है। शेष दो दृष्टिकोणोंको हम आसानीसे नहीं टाल सकते। जहाँ तक इंगलैण्डका प्रश्न है, वहाँ तक संवैधानिक विधि (constitutional law) और परिनियम विधि (statute law) में कोई अन्तर नहीं किया जाता। अतएव वहाँ सम्प्रभुताकी स्थितिका निर्णय करना कठिन नहीं है। इंगलैण्डका संविधान लचीला है। वह अमरीकाके संविधानकी तरह चारों तरफ़से जकड़ा नहीं है। कानूनी दृष्टिकोणसे इंगलैण्डमें संसद (Parliament) जिसमें सम्राट् (king), हाउस ऑफ लार्ड्स् (House of Lords) और हाउस ऑफ़ कामन्स (House of Commons) शामिल हैं, सर्वोपरि है। संसद (Parliament) कोई भी क़ानून बना या रद्द कर सकती है, इसलिए उसे वैधानिक सम्प्रभु कहा जाता है। राजनीतिक सम्प्रभु समूची जनता या सही रूपमें निर्वाचक-मण्डल है।

अमरीकामें विधान बहुत अधिक अनम्य (rigid) है इसलिए वहाँ सम्प्रभुताकी स्थितिका निर्णय करना आसान नही है। अमरीकामें अन्तिम और परमपूर्ण वैधानिक अधिकार न तो राष्ट्रपतिको है और न राज्य अथवा संघ-व्यवस्थापिकाओं (legislatures) को ही प्राप्त है। उनका जो भी काम संविधानकी सीमासे बाहर जाता है उसके लिए उपयुक्त न्यायालय उन्हें टोक सकता है। इसलिए उनमें सम्प्रभुताकी स्थिति नहीं है। सम्प्रभुताकी स्थिति उस संस्थामें है जिसे संविधानमें संशोधन करनेका वैधानिक अधिकार प्राप्त है। अमरीकाके संविधानकी पाँचवीं धारा इस संस्थाका वर्णन इस प्रकार करती है : 'जब कभी संसद (Congress) के दोनों सदनोंके दो-तिहाई सदस्य आवश्यक समझेंगे तब वह (Congress) इस विधानमें संशोधनका प्रस्ताव पेश करेगी अथवा दो-तिहाई राज्योंकी विधान सभाओंके प्रार्थना-पत्र देने पर कांग्रेस संशोधनका प्रस्ताव रखनेके लिए एक सम्मेलनका आयोजन करेगी। इन दोनों ही दशाओंमें यह संशोधन जब तीन-चौथाई राज्योंकी विधान सभाओं द्वारा स्वीकृत हो जायँगे अथवा सम्मेलनमें तीन-चौथाई राज्यों द्वारा स्वीकृत हो जायँगे, तब वह संविधानका एक अंग बन जायगा और सभी अर्थोंमें प्रामाणिक समझा जायगा। स्वीकृतिका दोनोंमें कोई भी एक तरीक़ा कांग्रेस द्वारा प्रस्तावित किया जायगा।

रूचक (Roucek) तथा अन्य लोगोंका कहना है, 'अमरीकामें रोक (checks)

और सन्तुलन (balances) की जो प्रथा है वह सरकारकी किसी भी एक शाखामें सम्प्रभुताकी स्थिति नहीं होने देती।' शुरूमें अमरीकी एक 'मिली-जुली (mixt) या विभाजित सम्प्रभुताकी बात करते थे। वे लोग भिन्न रूपोंमें सर्वोच्च न्यायालय, विधान बनानेवाली संस्था, विधानको लागू करनेवाली संस्था और विधानमें संशोधन करनेवाली संस्थाओंको प्रभुता-सम्पन्न बताते थे। वे लोग तो यह भी कहते थे कि सम्प्रभुता 'संघ' सरकार और 'राज्य' सरकारोंके बीच बटी हुई है। हेमिल्टन (Hamilton) और मैडिसन (Madison) 'दोहरी सम्प्रभुताकी बात करते थे। १७९२ में चिशोम (Chisholm) बनाम जॉर्जिया वाले मुकदमेमें सर्वोच्च न्यायालयने इसे मजूर कर लिया था। इस सबके बारेमें कठिनाई यह है कि शुरूमें अमरीकाके लोग यह नहीं समझ सके कि शक्तिका वितरण शक्तिका विभाजन नहीं है।

गेटेल और कुछ अन्य लेखक उस दृष्टिकोणके विरोधी हैं जिसमें वैधानिक सम्प्रभुताको सविधान बनाने और उसमें संशोधन कर सकनेवाली संस्थामें निहित समझा जाता है। उनका सबसे बड़ा तर्क यह है कि विधान-निर्मात्री-संस्थाएँ कम अवसरों पर और काफी अवकाशके बाद काम करती है। कभी-कभी वह बिल्कुल ही काम नहीं करती। इसलिए राज्यकी सम्प्रभुता इन सस्थाओमें हो ही नहीं सकती क्योंकि सम्प्रभुता हमेशा सक्रिय रहती है। ये लोग उन क़ानून बनानेवाली संस्थाओके संकलित रूपमे सम्प्रभुताकी स्थिति मानते है। इन संस्थाओमें निम्नलिखित शामिल हैं (२४ : १०२) :

'(१) **विधान-मण्डल (Legislature)**—राष्ट्रीय, राष्ट्र-मण्डलीय (commonwealth) और स्थानीय।

'(२) **न्यायालय (Court)**—जहाँ तक वह कानूनोंका निर्माण करते हैं न कि केवल व्याख्या और उसका प्रयोग करनेकी स्थितिमें।

'(३) **कार्यपालिकाके पदाधिकारी (Executive officials)**—जहाँ तक वह अध्यादेशों (ordinances), घोषणाओं (proclamations) आदिके द्वारा क़ानून बनाते है।

'(४) **सम्मेलन या सभाएँ (Conventions)**—जब कि वह क़ानूनी ढंगसे विधान-निर्मात्री परिषदोके रूपमे काम करते हैं। उदाहरणके लिए विधिपूर्वक बुलाया गया विधान-सम्मेलन।

'(५) **निर्वाचक-मण्डल (The Electorate)**—जब कि वह लोक-निर्देश (referendum) अथवा जनमत (plebiscite) के अधिकारोंका उपयोग कर रहा हो (२४ : १०३)।'

इस दृष्टिकोणके अनुसार सम्प्रभुतामें 'सरकारके उन अंगोंको छोड़ कर जो शुद्ध शासनसे ही सम्बन्धित है, शेष सभी अंग आ जाते हैं (२४ : १०३)।' गेटेल के अनुसार इस दृष्टिकोणकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें संवैधानिक विधि (constitutional law) और परिनियम विधि (statute law) के बीच और सरकारके

विभिन्न अंगोंके बीच कोई भेद नहीं किया गया। इसके अलावा 'लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्तके समान ही इसमें यह स्वीकार किया गया है कि आधुनिक प्रजातंत्रीय राज्योंमें सम्प्रभुताकी शक्तियां राज्यके नागरिकोंमें बँटी हुई हैं और उनके द्वारा उनका उपयोग होता है। संविधान-निर्माण-सिद्धान्त (constitution-making theory) की भाति इसमें यह स्वीकार किया गया है कि सम्प्रभुता एक क़ानूनी धारणा है और उसका प्रयोग क़ानूनी ढंगसे और क़ानूनी प्रणालीमें ही किया जा सकता है। पहले दृष्टिकोणमें जो अस्पष्टता और विचारकी शिथिलता है वह इसमें नही है। साथ ही साथ दूसरे दृष्टिकोणमें जो क़ानूनी भाव सूक्ष्मता (legal abstraction) है और जिसने सम्प्रभुताको बहुत पीछे घसीट कर उसके अस्तित्वको ही प्रायः नष्ट कर दिया है उससे भी यह दृष्टिकोण साफ़ बच जाता है (२४ : १०४)।'

गेटेल द्वारा बतायी गयी विशेषताओके बावजूद यह सिद्धान्त संतोषप्रद नहीं जान पड़ता। इसके मूलमें ही राज्य और सरकारको समझनेमें बड़ा भारी भ्रम किया गया है। क़ानून बनानेवाली विभिन्न संस्थाए राज्यकी आवयविक एकता (organic unity) की प्रतीक है। वे राज्यकी सम्प्रभुताके विभाग नही हैं। क़ानून बनानेके जो अधिकार उन्हें प्राप्त हैं वह प्रदत्त अधिकार (delegated powers) हैं। इसलिए सम्प्रभुताकी स्थिति उसमें नही है। सम्प्रभुता उस संस्थामें है जो संविधानको बना सकती है, उसमें संशोधन कर सकती है और अपनी शक्तियोंको उन विभिन्न अंगोमें बांट सकती है जो उसकी इच्छाको प्रकट करते हैं।

डोनाल्ड ई० रसेल (Donald E. Russell) का कहना है कि एक यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संयुक्त-राज्य अमरीकामें न तो सरकारका कोई अंग विशेष और न कोई एक व्यक्ति या गुट सम्प्रभुताके अधिकारोका पूर्णरूपेण प्रयोग करता है। वह इस विचारको भी गलत मानते है कि संयुक्त-राज्य अमरीकामें सम्प्रभुता है ही नहीं; अथवा यदि है तो जब तब वह बदलती रहती है यह भ्रम इस कारण पैदा हुआ है कि लोग राज्य और सरकारके बीच अन्तर समझनेमे असफल रहे है। सम्प्रभुता का वितरण होता है और वह किसी व्यक्तिको सौपी भी जा सकती है; लेकिन यह वितरण अथवा सौपना और सम्प्रभुताका विभाजन दोनों एक चीज़ नही हैं। राज्यके भीतर सम्प्रभु शक्तिके प्रयोगका अन्तिम स्रोत राज्यकी सर्वशक्ति सम्पन्न इच्छा ही है। मुख्य अधिकारी तो राज्य है; और सरकार तो राज्यका एजेण्ट है।

भारतमें इस समय सम्प्रभुता संविधानमें निहित है।

५. जॉन आस्टिन का सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त (John Austin's Theory of Sovereignty).

आस्टिन अपनी पुस्तक *Lectures on Jurisprudence* में लिखते हैं : सम्प्रभुता और स्वतंत्र राजनीतिक समाजकी धारणाओंको संक्षेपमें इस प्रकार व्यक्त किया जा

सकता है : 'यदि एक निश्चित उच्च कोटिका मनुष्य, जो स्वयं अपने समान किसी दूसरे मनुष्यकी आज्ञापालन करनेका अभ्यासी न हो और जिसकी आज्ञापालन समाजके अधिकांश लोग स्वभावतः करते हों, तो वह मनुष्य उस समाजमें सम्प्रभु है और वह समाज (उस मनुष्य सहित) राजनीतिक और स्वतंत्र समाज है।' क़ानूनको एक उच्च व्यक्ति द्वारा निम्न कोटिके लोगोंको दिया गया आदेश कहा गया है। आस्टिन के शब्दोंमें 'कानून उन नियमोंका संकलित रूप है जो राजनीतिक दृष्टिसे अधीन व्यक्तियोंके लिए राजनीतिक दृष्टिसे उच्च स्तरका व्यक्ति या सम्प्रभु बनाता है।' समाजका बहुमत उच्च कोटिके मनुष्यके आदेशोंका पालन मुख्यतः इसलिए करता है कि उस उच्च कोटिके मनुष्यमें अपने 'अधीन व्यक्ति या व्यक्तियों पर असीम दबाव डालनेकी शक्ति होती है (प्रथम खण्ड : २२६, १८६९ का संस्करण)।

आस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्तमें ध्यान देने योग्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने शक्ति अथवा बलको ही निर्णायक तत्व माना है। कानून अथवा औचित्य या न्यायका तो प्रश्न ही नहीं है। रूसो 'इच्छा' पर जोर देते हैं जबकि आस्टिन 'शक्ति' पर जोर देते है (५७ : ३५०)। इस बारेमें बोसांके का कहना है 'आस्टिन की सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा शक्ति पर आधारित है ; हम आदर्शवादियों के विचारमें सम्प्रभुता समूची जनताकी इच्छा पर आधारित है (५ : ५५)।'

टी० एच० ग्रीन ने आस्टिन और रूसो के सम्प्रभुता सम्बन्धी प्रत्यक्षतः विरोधी सिद्धान्तोंमे मेल बैठानेकी कोशिश की है। उनका कहना है कि रूसो के विरुद्ध आस्टिन का यह मत ठीक है कि सम्प्रभुता एक ऐसे निर्दिष्ट व्यक्ति या व्यक्ति समूहमें निहित रहती है जिसमें क़ानूनोंका लागू करने और जनता द्वारा उनका पालन करानेकी क्षमता होती है और जिस पर किसी प्रकारका कानूनी नियंत्रण नहीं चल सकता (२९ : ९७)। ग्रीन का कहना है कि जब पश्चिमी देशोंमे 'सम्प्रभु' शब्दका यह निश्चित अर्थ माना जा चुका है तब रूसो ने सम्प्रभुताको स्थिति एक अनिश्चित सार्वजनिक इच्छामें बताकर अपने पाठकोंको भ्रममें डाल दिया है। पर आस्टिन की अपेक्षा रूसो का यह कहना ठीक है कि सम्प्रभुकी आज्ञाओंका पालन करनेका मुख्य कारण भय नहीं है, बल्कि यह विचार है कि इन आज्ञाओंका माना जाना सामाजिक कल्याणके लिए ज़रूरी है और व्यक्तिगत कल्याण सार्वजनिक कल्याणका अभिन्न अंग है। दूसरे शब्दोंमें एक निश्चित प्रधान व्यक्तिकी आज्ञा इसलिए मानी जाती है कि उसे सार्वजनिक इच्छाका प्रतीक समझा जाता है। सम्प्रभु दबाव डालनेकी असीमित शक्तिका प्रयोग नहीं करता। आखिरकार उसकी शक्तिका आधार है अपने 'सामान्य हितोंके सम्बन्धमें जनताकी निश्चित धारणाओंके साथ उस शक्तिका सामंजस्य (२९ : ९६)।' सम्प्रभुकी अधिकार-सत्ताकी स्वीकृतिको घटा कर हम यह नहीं कह सकते कि 'वह प्रत्येक व्यक्तिके दिलमें सम्प्रभुका भय मात्र है। वह कुछ निश्चित उद्देश्योंकी सिद्धिके लिए सामान्य इच्छा है (२९ : ९६)।' यदि यह इच्छा सक्रिय नहीं रह जाती अथवा

सम्प्रभुके आदेशोंसे उसका संघर्ष हो जाता है तो आज्ञापालनका अभ्यास भी समाप्त हो जाता है।

सम्प्रभुसत्ता-सम्बन्धी वैधानिक दृष्टिकोणकी सबसे अच्छी व्याख्या जॉन आस्टिन ने की है। उनकी व्याख्यामें एक वैज्ञानिक स्पष्टता और पूर्णता है जो बहुत ही प्रभावपूर्ण है। उनकी व्याख्याका निचोड़ निम्नलिखित चार सीधे सादे प्रमेयों (propositions) में दिया जा सकता है:

(१) प्रत्येक राज्य (जिसे आस्टिन 'स्वतंत्र राजनीतिक समाज कहते है) में एक ऐसा 'निर्दिष्ट उच्चतर मनुष्य' होता है जिसकी आज्ञा समाजके बहुसंख्यक नागरिक स्वभावतः मानते है।

(२) यह उच्चतर मनुष्य जो कुछ भी आदेश देता है वही कानून होता है और उसके आदेशोके बिना कोई कानून नही बन सकता।

(३) इस उच्चतर मनुष्य की शक्ति, जिसे सम्प्रभुता कहते है, अविभाज्य है।

(४) यह प्रभु-शक्ति परमपूर्ण होती है और उस पर प्रतिबन्ध नही लगाया जा सकता।

आलोचना.

(१) आलोचकों ने इन सभी बातोंकी कड़ी आलोचना की है। फिर भी जैसा कि लार्ड ने कहा है कि इनमें से हर एकमें कुछ महत्वपूर्ण सत्य या अर्धसत्य हैं।

(क) कुछ 'निर्दिष्ट उच्चतर मनुष्य' की आलोचना सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) ने अपनी पुस्तक, *'Early Institutions'* में की है। उन्होंने लिखा है कि पूर्वके अनेक साम्राज्योंमें ऐसी कोई चीज है ही नहीं जिसे आस्टिन का 'निर्दिष्ट उच्चतर मनुष्य' कहा जा सके। उदाहरण के लिए पंजाबके सिख राज्यमें रणजीत सिंह ने अपनी प्रजा पर निरंकुश अधिकार बरते थे। उनके छोटेसे छोटे आदेशोंका उल्लंघन करनेका दण्ड फांसी या अंग-भंग होता था। पर वह भी समाजके परम्परागत विधान (customary laws) के अधीन रहे और उन्होंने कभी कोई ऐसा आदेश नही दिया जिसकी चर्चा आस्टिन ने अपने सिद्धान्तमें की है। प्रथाएँ तथा परम्पराएँ युगोंकी देन होती हैं और फिर 'निश्चित वर्ग या व्यक्ति-समूह' को उसकी उत्पत्तिका ज़िम्मेदार नही कहा जा सकता। इसलिए यह स्पष्ट है कि जिस सम्प्रभुकी चर्चा आस्टिन ने की है वह राज्यके अस्तित्वके लिए अनिवार्य नहीं है क्योंकि यह कहना तो एकदम व्यर्थ है कि जहाँ कहीं आस्टिन की धारणाका सम्प्रभु नहीं है वहाँ या तो अराजकता है या प्राकृतिक अवस्था (५४ : ८८)'। जॉन चिपमैन ग्रे (John Chipman Gray) का कहना है कि समाजके वास्तविक शासक ढूंढे नहीं जा सकते (४७ : ५६)।

(ख) इंगलैण्डमें 'एक निर्दिष्ट उच्चतर व्यक्ति' की स्थिति मालूम करना

आसान है। पर जब इस सिद्धान्तको पूर्वके प्राचीन निरंकुश राज्यों अथवा अमरीकाके संविधान पर लागू किया जाता है तब इससे सहायता नहीं मिलती। फिर भी हम लार्ड के इस विचारसे सहमत हैं कि यदि किसी राज्यमें सर्वोच्च शक्तिकी स्थिति निश्चित करनेमें कठिनाई होती हो तो हम इस शक्तिके अस्तित्वसे ही इनकार नहीं कर सकते। 'व्यवहारमें तथा सिद्धान्तमें एक ऐसी परम सत्ताको खोज लेना आसान है जिसके विरुद्ध कोई अपील न हो सके (५४ : ८८)।' हो सकता है कि यह खोज बिल्कुल अर्थहीन सिद्ध हो।

(ग) यह सिद्धान्त बिल्कुल ही भावसूक्ष्म और वैधानिक है और सम्प्रभुताके दार्शनिक पक्षका इसमें कोई विचार नहीं किया गया है। लोक-सम्मति (general will) को ही आजकल प्रजातंत्रवादी राज्योंका आधार माना जाता है। जैसाकि गार्नर ने कहा है। 'यह उच्चतर व्यक्ति (अर्थात् आस्टिन का सम्प्रभु न तो सार्वजनिक इच्छा हो सकती है, जैसाकि रूसो ने सोचा था, न जनताका समूह ही हो सकता है, न निर्वाचक मंण्डल और न जनमत, न नैतिक भावना, न सामान्य विवेक, न परमात्मा की इच्छा आदि।' उसे तो एक 'निश्चित' व्यक्ति या सत्ता होना चाहिए जो स्वयं किसी क़ानूनी प्रतिबन्ध के अधीन हो (२२ : १७९ : ८०)।

(घ) और फिर यदि सम्प्रभुकी अधिकार-सत्ताको केवल 'स्वभावतः आज्ञा-पालन' ही प्राप्त होता है तो उसे असीमित मानना युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता।

(२) आस्टिन की दूसरी मान्यता यह है कि एक 'निर्दिष्ट उच्चतर मनुष्य' के रूपमें सम्प्रभु सर्वोच्च विधान निर्माता है। वह जो भी आदेश देता है वही क़ानून है। प्रत्येक समाजमें आदेशमूलक विधानके साथ ही पायी जानेवाली पुरानी प्रथाओं और परम्पराओंके बारेमें आस्टिन का कहना है कि 'सम्प्रभुका अनुमति देना भी उसका आदेश है।' उदाहरणके लिए इंगलैण्डका सामान्य विधि (common law) है 'जिसका अस्तित्व परम्पराओं पर है और जिनकी व्याख्या, जिनका संशोधन और संवर्धन उस समय होता है जब अदालतें उनका प्रयोग करती हैं (२८:११५)।' यह कहा जा सकता है कि इंगलैण्डका सम्राट् अपनी संसदके साथ उस परम्परागत विधान की अनुमति देता है और जब चाहे उसमें मनमाना परिवर्तन कर सकता है पर यह केवल सिद्धान्तकी बात है। क्योंकि सम्प्रभु अपनी सुरक्षाको खतरेमें डाले बिना सामान्य विधिमें अधिक परिवर्तन नहीं कर सकता।

जब हम पूर्वके प्राचीन साम्राज्यों पर विचार करते हैं तो हम यह पाते हैं कि उनमें भी स्वेच्छाचारी शासककी शक्ति क़ानून बनानेकी हद तक नहीं पहुँचती। इन साम्राज्योंका कार्य अधिकतर राजस्व इकट्ठा करना और सैनिक भर्ती करना था। 'समय-समय पर दिये जानेवाले विशेष आदेशों' से अलग वह कोई दूसरे क़ानून लागू नहीं करते थे। उन्होंने कभी 'परम्परागत विधानको न्यायालयोंके द्वारा लागू नहीं किया (२९.९९)।' जनताके साधारण जीवन पर ऐसे अधिकारियोंका नियंत्रण रहता था जिनके ऊपर इन निरंकुश राज्योंने कभी हस्तक्षेप नहीं किया। यह अधिकारी

अनिर्दिष्ट होते थे और अधिकार-सत्ता किसी निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति समूहमें स्थित नहीं रहती थी। और यदि इसे किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूहमे स्थित माना भी जाता था तो वह 'सम्मिलित रूपसे पुरोहितों अथवा परम्परागत धर्मके व्याख्याताओंमें, परिवार के साथ काम करते हुए परिवारके प्रधानोंमें और परिवारकी सीमाके बाहर काम करनेवाली ग्राम पंचायतोंमें माना जाता था (२९:९९)।' संक्षेपमें आस्टिन के सिद्धान्तमें भूल यह है कि सभी प्रकारके कानूनोंको 'केवल आदेश' मान लिया गया है और केवल शक्ति पर ही जरूरतसे ज्यादा जोर दिया गया है। उनके सिद्धान्तमें सम्प्रभुकी प्रधानता केवल आदेशमूलक विधानके क्षेत्रमें ही है और उनका सिद्धान्त केवल वैधानिक दृष्टिसे ही लागू किया जा सकता है, नैतिक अथवा भौतिक दृष्टिसे नहीं। आदेशमूलक विधान के निर्माताके रूपमें ही सम्प्रभु सर्वोच्च और अनियंत्रित है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आस्टिन का 'सम्प्रभु' क़ानूनोंका एकमात्र निर्माता नही है। दिग्वी (Duguit) तो यहाँ तक कहते हैं कि राज्य क़ानूनोंको नहीं बनाता, बल्कि क़ानून ही राज्यको बनाते हैं। उनका कहना है कि 'क़ानून तो सामाजिक आवश्यकताकी अभिव्यक्तिमात्र है।' लास्की की भाषामें विधिवेत्ताओं (jurists) के लिए भी यह सोचना कि विधान एक आदेशमात्र है परिभाषाको उस छोर तक पहुँचा देना है जहाँ शिष्टता समाप्त हो जानेवाली हो।' उदाहरणके लिए वह कहते है कि मताधिकारका क़ानून आदेश नहीं है।

(३) तीसरी प्रस्थापना यह है कि सम्प्रभुता अविभाज्य है।

(क) जैसा कि लार्ड ने कहा है एक दृष्टिकोणसे यह कथन विवेचनाकी कसौटी पर टिक नही सकता। हर राजनीतिक समाजमें कर्त्तव्योंका (यद्यपि इच्छाका नहीं) बँटवारा होता है, और इस प्रकारके बँटवारेके बिना कोई भी सरकार सफलता-पूर्वक नहीं चल सकती। इंगलैण्डके संविधानमें वैधिक (legislative) सम्प्रभुके अलावा एक कार्यपालक (executive) और एक न्यायिक (judicial) सम्प्रभु भी होता है। वैधिक सम्प्रभुमें सम्राट्, हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स् (House of Lords) तथा हाउस ऑफ़ कॉमन्स् (House of Commons) शामिल रहते हैं। कार्यपालक सम्प्रभु सम्राट् और मंत्रियोंको मिलाकर बनता है। न्यायपालक सम्प्रभुका काम सर्वोच्च अपीलोंके लिए सर्वोच्च न्यायालयके रूपमें हाउस ऑफ लॉर्ड्स् करता है। यह तीनों अन्तिम अधिकार-सत्ताएँ 'एक दूसरेसे इतनी मुक्त हैं कि केवल कार्यपालक सम्प्रभु ही लगातार काम करता रहता है जबकि व्यवस्थापिका अस्थायी तौर पर भंग हो सकती है और सर्वोच्च न्यायालयका अधिवेशन हमेशा नही हुआ करता (५४:८९)।' इससे मालूम होता है कि सम्प्रभुता विभाजित की जा सकती है। इसका उत्तर आस्टिन के अनुयायी यह देंगे कि केवल वैधिक सम्प्रभु (legislative sovereign) ही वास्तविक सम्प्रभु है, क्योंकि कार्यपालिका और न्यायाधीश प्रायः उसके आदेशोंका पालन करते हैं। पर संयुक्त-राज्य अमरीका जैसे देशोंके बारेमें क्या कहा जायगा जहाँ एक आधार भूत विधि (fundamental law) है जिसे विधान (legislation) के साधारण

दौरानमें नहीं बदला जा सकता। ऐसे मामलोंमें हम यह कह सकते हैं कि 'विधानके विभिन्न साधारण और विशेष विभागोंके पीछे एक प्रसुप्त शक्ति रहती है जो अपने अधिकार और शक्तियाँ इन विभागोंको दिये रहती है और सिद्धान्त: अपने इन अधिकारों और शक्तियोंको फिर वापस ले सकती है (५४ : ८९)।' पर ऐसी शक्तिको—जो जनता ही हो सकती है—कभी कोई स्वभावत: आज्ञापालन नहीं प्राप्त होता; सिवाय इसके कि जनता स्वयं 'अपने एजेन्टोंके माध्यमसे अपनी आज्ञाओंका पालन करती है' (५४ : ८९)। आस्टिन के समर्थनमें यह कहा जा सकता है कि कर्त्तव्यका विभाजन हो सकता है पर इच्छाका नहीं। इच्छा तो एक इकाई है। राज्य आत्म-विरोधी ढंगसे काम नहीं कर सकता। उद्देश्य एक ही होना चाहिए वह चाहे कितना मिश्रित क्यों न हो। इस दृष्टिसे व्याख्या करने पर यह सही है कि सम्प्रभुता अविभाज्य है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि राज्यकी एकता बहुत आवश्यक है।

(ख) वैधानिक सम्प्रभुता और राजनीतिक सम्प्रभुताके बीचके अन्तरका अर्थ भी कभी-कभी यह लगाया गया है कि सम्प्रभुताका विभाजन हो सकता है। आस्टिन इस तत्वको जानते थे कि इंग्लैण्डकी जनता या 'बहुसंख्यक सर्वसाधारण लोग, जैसाकि वह उन्हें कहते हैं—सम्प्रभुताके साझीदार है। पर क्योंकि आस्टिन वैधानिक और राजनीतिक सम्प्रभुताके बादके अन्तरको नहीं समझ पाये इसलिए उन्होंने जनताको भी वैधानिक सम्प्रभुका एक अंग मानने की भूल की है। गिलक्राइस्ट के अनुसार आस्टिन विभिन्न प्रकारसे यह कहते हैं कि:

'(१) पार्लियामेण्ट या संसद सम्प्रभु है,

'(२) सम्राट्, अभिजात वर्ग (peers) तथा निर्वाचक-मण्डल सम्प्रभु हैं,

'(३) पार्लियामेण्टके भंग हो जाने पर निर्वाचक-मण्डल सम्प्रभु है,

'(४) हाउस ऑफ कॉमन्स (House of Commons) को शक्तियां प्राप्त हैं, जो

(क) न्यासमुक्त (free from trust) हैं,

(ख) न्यासधारी (trustees) हैं (२८ : ११६)।'

(४) चौथी प्रस्थापना यह है कि सम्प्रभुता परमपूर्ण और असीमित है। बहुल-वादियोंने इस विचारधाराकी बहुत कड़ी आलोचना की है। जो बहुलवादी नही है उन्होंने भी स्वीकार किया है कि सम्प्रभुता वैधानिक दृष्टिसे असीमित हो सकती है, पर राजनीतिक और ऐतिहासिक प्रतिबन्ध उसे चारो ओर से घेरे हैं। सम्प्रभुकी असीम शक्ति अनन्त अधिकारको वे लोग विधि-शास्त्रकी भावकल्पना-मात्र मानते है।

(क) ब्लंश्ली (Bluntschli) का कहना है, 'राज्य अपने समूचे रूपमें सर्वशक्तिमान नहीं है क्योंकि बाहर वह अन्य राज्योंके अधिकारोंसे और भीतर स्वयं अपनी प्रकृति और व्यक्तिगत सदस्योंके अधिकारोंसे सीमित है। इसी प्रकार बेन्थम का कहना है कि राज्यकी सम्प्रभुता अन्य राज्योंके साथ की गयी सन्धियोंसे सीमित है। ब्रिटिश संसदकी सम्प्रभुताके बारेमें लेज़ली स्टीफ़ेन (Leslie Stephen) कहते हैं कि वह बाहर और भीतर दोनों ओर से सीमित है। 'भीतरसे सीमित होनेका कारण यह है

कि व्यवस्थापिका कुछ निश्चित सामाजिक परिस्थितियोंकी उपज है और समाजका निर्धारण करनेवाली शक्तियोंसे वह भी निर्धारित है। बाहरसे सीमित होनेका कारण यह है कि क़ानून लागू करनेकी उसकी शक्ति लोगोंकी क़ानून माननेकी प्रेरणा पर निर्भर है और यह प्रेरणा स्वयं सीमित है। यदि व्यवस्थापिका यह निर्णय करे कि नीली आंखोंवाले सभी बच्चोंको मार डालना चाहिए तो ऐसे बच्चोंको बचाये रखना ग़ैरक़ानूनी हो जायगा पर ऐसा क़ानून पास करनेवाली व्यवस्थापिका पागल ही कही जायगी और वह प्रजा जड़ और मूर्ख होगी जो ऐसे क़ानूनके आगे सिर झुका दे (७५ : १४३)।'

इस सारी आलोचनाका उत्तर आस्टिन के अनुयायी यह कह कर देते हैं कि ऊपर बताये गये प्रतिबन्ध नैतिक हैं, वैधानिक नही और वह स्वयं अपने ऊपर लागू किये गये है। क़ानूनी दृष्टिसे राज्य सर्वशक्तिमान है (५१ : ५१)।

(ख) प्रथाओं या परम्पराओं द्वारा लगाये जानेवाले प्रतिबन्धोंकी चर्चा पहले की जा चुकी है। संसारके कुछ भागोंमें प्रथाएँ वास्तविक प्रतिबन्ध लगा देती हैं। यह कहना कि पंजाबमें रणजीत सिंह ने प्रथाओंको अपनी अनुमति दी थी, यह कहनेके बराबर है कि पाठक आकर्षण-सिद्धान्त (law of gravitation) को काम करनेकी अनुमति देता है। रणजीत सिंह ने उस बातकी अनुमति दी जिसे वह बदल न सके। आस्टिन इस आलोचनाका उत्तर यह दे सकते हैं कि सम्प्रभुता-सम्बन्धी उनकी परिभाषा केवल सभ्य राज्यों पर लागू होती है, अर्ध-सभ्य अथवा आदिम-समाजों पर नहीं। पर कठिनाई यह है कि सभ्य राज्योंमें भी यह परिभाषा कमसे कम कुछ अंश तक भाव कल्पना-मात्र है। सर जेम्स स्टीफ़ेन (Sir James Stephen) लिखते हैं, 'जिस प्रकार प्रकृतिमें कोई परिपूर्ण वृत (perfect circle) नही है अथवा पूर्णरुपेण कठोर वस्तु (rigid body) नहीं है या कोई ऐसी यान्त्रिक व्यवस्था नहीं है जिसमें कोई संघर्ष न हो या समाजकी कोई ऐसी अवस्था नही है जिसमें लोग केवल स्वार्थके दृष्टि-कोणसे ही काम करते हों, उसी प्रकार प्रकृतिमें कोई ऐसा सम्प्रभु नही है जो परमपूर्ण हो (५१ : ५७)।' असीमित अधिकार शक्ति कही नही होती। तानाशाही देशोंमें भी ऐसे अनेक प्रभाव होते हैं जो सम्प्रभुता पर प्रभाव डाला करते हैं। एक स्वतंत्र व्यवस्थित राजनीतिक समाजमें ऐसे प्रभावोके निचोड़को राजनीतिक सम्प्रभुता कहते हैं।

आस्टिन जिस बातके लिए बहुत बेचैन थे वह थी (१) विधान और नैतिक मान्यताओके बीच भेद करना और (२) आदेशमूलक विधि (positive law) और परम्पराओंके बीच भेद करना। यद्यपि सम्प्रभुताकी उनकी परिभाषा संकीर्ण और पंडिताऊ हो सकती है, फिर भी सामाजिक परम्पराओंके रूपमें प्रतिक्रियावादका जो बोलबाला है उसको सुधारनेमे वह कल्याणकारी काम करती है। आस्टिन के व्यावहारिक उद्देश्योंमें से एक उद्देश्य यह भी था कि वैधानिक व्यवस्थाको परम्पराओंके निर्जीव बोझसे मुक्त किया जाय।

(ग) सम्प्रभुताकी परमपूर्णताके सिद्धान्त पर संघवाद की ओर से एक आपत्ति की जाती है। यह कहा जाता है कि आस्टिन ने जिस समय अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन किया था उस समय वर्तमान राज्य अपने आरम्भिक कालमे ही था। इसलिए यह तर्क दिया जाता है कि उनका सिद्धान्त एकात्मक राज्य (unitary state) पर चाहे जितना लागू हो किन्तु संघात्मक राज्यों पर तो बहुत कम या बिल्कुल ही नही लागू होता। संघ-राज्यमें सम्प्रभुताकी स्थिति निश्चित करना कठिन भले ही हो पर असम्भव नही हैं। गलत धारणाएँ इसलिए पैदा हो जाती है कि लोग राज्य और सरकार को ही समझनेमे भ्रम कर बैठते है।

(घ) कुछ लोग यह कहते हैं कि सम्प्रभुता सम्बन्धी आस्टिन का सिद्धान्त वैधानिक निरंकुशताको उत्पन्न करेगा। आस्टिन ने पहले ही समझ लिया था कि इस प्रकारकी आलोचना होगी। पर वह ठीक कहते थे कि 'सर्वोच्चताकी ऐसी कोई महन्तशाही नहीं हो सकती, न स्रष्टाओंका ऐसा कोई सगठन हो सकता है और न सम्प्रभुओंकी ऐसी कोई शृखला बन सकती है जो अनन्त (infinity) की कोटि तक चढ़ती चली जाय (२२ : १८१)'। यह ध्यान रखना चाहिए कि परमपूर्ण सम्प्रभुता का सिद्धान्त प्रतिपादन करनेमें आस्टिन का उद्देश्य उन्नीसवी शताब्दीके इंगलैण्डके व्यवस्थापनमें होनेवाले सुधारको सहायता देना था न कि निरंकुश शासनको फिरसे जीवित करना (३०)। उस समयके बहुतसे रूढ़िवादी (conservatives) बेन्थम की सुधार-योजनाओंके विरोधी थे और आस्टिन इस प्रकारके आलोचकोंसे केवल यही कहते हैं कि 'परम्पराएँ या प्रथाएँ, दैवी नियम आदि राज्यके विधानसे न तो मुक्त हैं न उससे ऊपर हैं। वे सब राज्यके विधानके अधीन है। इसलिए सर्वोच्च व्यवस्थापिका वैधानिक दृष्टिसे सर्वसमर्थ (omnicompetent) है'।

(ङ) लास्की ने असीमित और अनन्त सम्प्रभुताके सिद्धान्तकी आलोचना पाण्डित्य, बहुलवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावादके दृष्टिकोणसे की है। वास्तविक ऐतिहासिक अनुभवके आधार पर उन्होंने यह सिद्ध किया है कि कहीं भी 'किसी भी सम्प्रभुने असीमित अधिकार शक्ति नहीं बरती और हमेशा ऐसे अधिकार बरतनेके प्रयत्नका फल संरक्षणोंकी स्थापना ही हुआ करता है'। वह ठीक ही कहते हैं कि इंगलैण्ड की पार्लियामेण्टको वास्तविक व्यावहारिक तौर पर निरंकुश अधिकार शक्ति नहीं प्राप्त है।' 'क़ानूनी दृष्टिसे संसद तथा सम्राट् लोकमतकी अवहेलना कर सकते हैं पर व्यावहारिक दृष्टिसे वह ऐसा केवल इसी छिपी हुई शर्त पर कर सकते हैं कि ऐसा करने में सम्राट् और पार्लियामेण्ट दोनों ही अन्तत. सम प्त हो जायें (४७ : ५८)।' पांडित्यके दृष्टिकोणसे विचार करते हुए लास्की इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यद्यपि आस्टिन के सिद्धान्तकी रूप-रेखा सुरक्षित है पर उसका तत्व समर्पित किया जा चुका है।

लास्की एक बहुलवादी और अन्तर्राष्ट्रीयतावादीके रूपमें सम्प्रभुताको राज्यके भीतरके दूसरे संघोंके हितमें तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावादके हितमें सीमित रखना चाहते

हैं। उनका कथन है कि कुछ अर्थोंमें दूसरे संघोंकी शक्ति भी उतनी ही मौलिक और पूर्ण है जितनी स्वयं राज्यकी। वह लिखते हैं 'अपने-अपने क्षेत्रमें यह संघ स्वयं राज्य की अपेक्षा कुछ कम प्रभुता-सम्पन्न नहीं हैं (४७ : ५०)।' इसलिए यह धारणा कि अधिकारसत्ता न केवल सीमित है बल्कि उसे सीमित होना चाहिए, राजनीतिक दर्शनकी एक आधारभूत मान्यता है (४७ : ६३)।'

इसी तरह लास्की का कहना है कि मानवताके हितमें भी सम्प्रभुताका सीमित होना आवश्यक है। वह इस तत्वको भली-भाँति समझते हैं कि सर्वशक्तिशाली स्वतंत्र राज्योंका आपसमें प्रतियोगी होना विश्वकी शान्ति और एकताके लिए घातक है। संसारमें परस्पर एक दूसरेके आश्रित रहनेका ज़ोरदार शब्दोंमें समर्थन करते हुए वह कहते हैं, 'निश्चित तौर पर बाहरी दृष्टिसे एक ऐसे परमपूर्ण और स्वतंत्र सर्वशक्तिशाली राज्य—जो अपने सदस्योंसे अपनी सरकारके प्रति पूर्ण राज्य-भक्तिकी (unqualified allegiance) मांग करता हो और अपने आदेशके बलसे वफ़ादारीको लागू करता हो—की कल्पना मानवताके हितोंसे मेल नहीं खाती। हमारे सामने समस्या यह नहीं है कि हम मानवताके हितोंका मेल इंगलैण्ड के हितोंसे मिलायें; समस्या यह है कि हम इस प्रकारसे काम करें कि इंगलैण्डकी नीतिमें स्वभावतः मनुष्यका हित शामिल रहे (४७ : ६४)।'

लास्की की इस आलोचना पर हम अगले उस अध्यायमें अलगसे विचार करेंगे जिसमें बहुलवादके अनेक पक्षोंकी विवेचना की गयी है। इस समय इतना कहना ही पर्याप्त है कि वैधानिक दृष्टिकोणसे आस्टिन का सिद्धान्त पूर्ण है। यह सिद्धान्त स्पष्ट और तर्कसंगत है यद्यपि इसमें अधिक गम्भीर विवेचन नहीं किया गया है। इस सिद्धान्तकी बहुत-सी आलोचनाएँ ग़लत आशंकाओं और धारणाओंके कारण की गयी हैं।

११

राज्यों तथा संविधानों का वर्गीकरण

(Classification of States and Constitutions)

१. राज्योंका वर्गीकरण.

'राज्योंका वर्गीकरण' और 'सरकारोंका वर्गीकरण'—इन दो में से किसका प्रयोग अधिक उपयुक्त है—इस विषय पर राजनीतिक विचारकोंमें कुछ विवाद है। गिलक्राइस्ट 'सरकारोंका वर्गीकरण' शब्दावलीको पसन्द करते हैं। वे लिखते हैं: 'निश्चित तौर पर सभी राज्य एक ही से हैं। विद्यार्थीको यह याद रखना चाहिए कि "राज्यका स्वरूप" वास्तवमें "सरकारका स्वरूप" है'।[१] हम राज्योंका वर्गीकरण लिखना इसलिए पसन्द करते हैं कि राज्यके बिना सरकार हो ही नहीं सकती। जैसा किसी पिछले अध्यायमें बताया जा चुका है सरकार राज्यका केवल एजेण्ट या यंत्र है।

विलोबी के इस कथनमें राज्योंके वर्गीकरणकी बुद्धिमत्ता पर शंका प्रकट की गयी है: 'तत्वतः वे सब एक ही से हैं—उनमेंसे हरएक और सबकी विशेषता सम्प्रभुता है।'[२]

(क) प्लेटो और अरस्तू.

राज्योंका वर्गीकरण एक आधुनिक विचार नहीं है। यह विचार राजनीतिक चिन्तनके उन दो आचार्यों—प्लेटो और अरस्तू—के युगसे चला आ रहा है जिन्हें 'ज्ञानियोंके आचार्य' कहा गया है।

इस क्षेत्रके अगुआ होनेके कारण प्लेटो अपने वर्गीकरणमें दृढ़ नहीं हैं। अपने ग्रन्थों रिपब्लिक (*Republic*) और स्टेट्समैन (*Statesman*) में उन्होंने दो भिन्न प्रकारके वर्गीकरण दिये हैं। सामान्यतः वह तीन प्रकारके राज्योंकी चर्चा करते हैं:

(क) सर्वोपरि विचार अथवा तर्कका राज्य। इसको प्लेटो 'विचार-तंत्र' (ideocracy) कहते हैं। यह पूर्ण ज्ञानका राज्य है; इस राज्यमें असली सम्प्रभु

---

[१] R. N. Gilchrist: op. cit., p. 225.
[२] W. W. Willoughby : The Nature of the State, ch. XIII.

राज्य ही है। प्लेटो का विश्वास था कि ऐसा राज्य कभी कहीं नहीं रहा। फिर भी यह एक ऐसा आदर्श है जिसके लिए राजनीतिक प्रयत्न किये जा सकते हैं। इस आदर्शको कभी-कभी एक सर्वज्ञ दार्शनिकका राज्य अर्थात् आदर्श राजतंत्र कहा जाता है। अन्य अवसरों पर उसे आदर्श कुलीन तंत्र कहा गया है।

(ख) वे राज्य जहां अपूर्ण ज्ञान है। ऐसे राज्योंमें क़ानून आवश्यक होते हैं। मनुष्यकी अपूर्णताके कारण कानून जरूरी हो जाते हैं। प्लेटो की पुस्तक 'दि लाज' *(The Laws)* में निश्चित तौरसे यही दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है। अपनी पहले की पुस्तक 'दि रिपब्लिक' में प्लेटो ने एक आदर्श राजतंत्र (अथवा एक आदर्श कुलीनतंत्र) को पसन्द किया है जिसमें कोई विधान नही होंगे, बल्कि सर्वज्ञ दार्शनिक राजा ही समय-समय पर आदेश जारी किया करेगा। पर ऐसे राजाओंको ढूंढ पानेमें असमर्थ हो जाने पर प्लेटो ने अपनी बादकी पुस्तक 'दि लाज' में विधानोंका समर्थन किया है।

(ग) वे राज्य जिनमें ज्ञानका अभाव है। वे अज्ञानके राज्य है। इन राज्योंमें विधान होते है पर उनका पालन नही किया जाता है।

इस प्रकार प्लेटो ने राज्योंका जो वर्गीकरण किया है उसका आधार है ऐसे राज्य जहाँ विधानोंका पालन किया जाता है और ऐसे राज्य जिनमें विधानोंका पालन नहीं किया जाता।

गिलक्राइस्ट ने इस विषयको निम्नलिखित चार्टमें इस प्रकार स्पष्ट किया है :

	राज्य जिनमें क़ानूनका पालन होता है।	राज्य जिनमें क़ानूनका पालन नहीं होता
एक व्यक्तिका शासन	राजतंत्र (Monarchy)	निरंकुश या आततायी शासन (Tyranny)
कुछ व्यक्तियोंका शासन	कुलीन तंत्र (Aristocracy)	अल्पतंत्र या स्वार्थीतंत्र (Oligarchy)
अनेक व्यक्तियोंका शासन	उदार या नरम लोकतंत्र (Moderate Democracy)	अतिवादी लोकतंत्र (Extreme Democracy)

प्लेटो का पदानुगमन करनेवाले अरस्तू अपने गुरुकी अपेक्षा अधिक यथार्थवादी थे। उनके वर्गीकरणके आधार परिमाणमूलक और गुणमूलक दोनों थे। अर्थात् उनका आधार था उन लोगोंकी संख्या जिनमें सम्प्रभुशक्ति निहित थी और वह लक्ष्य या उद्देश्य जिसके प्रति उस शक्तिका संचालन होता था। जिन राज्योंका उद्देश्य सबके जीवनका कल्याण है, वे सच्चे या सामान्य राज्य हैं। इस लक्ष्यसे हट जानेवाले राज्य भ्रष्ट राज्य हैं। इस प्रकार अरस्तू ने राज्योंका जो वर्गीकरण किया है वह चार्ट द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

संविधानका रूप	सामान्य राज्य जो सार्वजनिक कल्याणकी चेष्टा करते हैं	भ्रष्ट राज्य जो सार्वजनिक कल्याणकी उपेक्षा करते हैं
एक व्यक्तिका शासन	राजतंत्र (Monarchy)	निरंकुश शासन (Tyranny)
कुछ व्यक्तियोंका शासन	कुलीनतंत्र (Aristocracy)	अल्पतंत्र या स्वार्थीतंत्र (Oligarchy)
अनेक व्यक्तियोंका शासन	समाजतंत्र (Polity)	लोकतंत्र (Democracy)

उक्त वर्गीकरणकी और अधिक व्याख्या करें तो कहना होगा कि शुद्ध राजतंत्रमें एक व्यक्ति सबके हितमें शासन करता है। जब वह व्यक्ति सबके हितमें शासन न करके अपने ही हितमें शासन करने लगता है तब वह शासन भ्रष्ट होकर निरंकुश शासन हो जाता है। जब कुछ लोग सार्वजनिक कल्याणके लिए शासन करते है तब वह कुलीनतंत्र शासन होता है पर जब वे कुछ लोग जनताकी भलाईके लिए शासन न करके अपने स्वार्थके लिए शासन करने लगते हैं तब कुलीनतंत्र भ्रष्ट हो कर अल्पतंत्र हो जाता है। जब बहुत-से लोग सबके हितमें शासन करते हैं तब उस शासन को समाजतंत्र (polity) या उदार लोकतंत्र (mild democracy) कहते हैं। लेकिन जब वे अपने वर्गके हितमें ही शासन करने लगते हैं तब वह शासन प्रजातंत्र (democracy) या भीड़का शासन हो जाता है। हमे यहाँ यह याद रखना चाहिए कि आजकल जिस शासनके लिए लोकतंत्र (democracy) शब्दका प्रयोग होता है उस शासनके लिए अरस्तू ने समाजतंत्र (polity) शब्दका प्रयोग किया है। जिसे वह 'डेमोक्रेसी'

कहते हैं उसे आजकल हम लोग 'भीड़का शासन, (mob rule) कहेंगे। अरस्तू के पॉलिटी (polity) शब्दका समानार्थी 'वैधानिक राजतंत्र' (constitutional monarchy) है जिसकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—सार्वजनिक कल्याण के लिए अनेक लोगोंका स्वार्थहीन शासन।

प्लेटो द्वारा किये गये वर्गीकरणकी अपेक्षा अरस्तू द्वारा किया गया वर्गीकरण कहीं अधिक पूर्ण और यथार्थवादी है। कुछ समय पूर्व तक अरस्तू द्वारा किया गया वर्गीकरण पर्याप्त समझा जाता था। इस पर टीका करते हुए गिलक्राइस्ट इस प्रकार लिखते हैं: 'आधुनिक सरकारोंके स्वरूपोंके लिए यह वर्गीकरण पर्याप्त नहीं है; पर आज तक जितने भी वर्गीकरण किये गये हैं उन सबके लिए यह ऐतिहासिक आधार रहा है।'[1]

प्लेटो और अरस्तू के विचारों पर मोटे तौर पर विचार कर यह कहना सही होगा कि अरस्तू वहीं से शुरू करते हैं जहाँ प्लेटो ने समाप्त किया था। प्लेटो ने एक आदर्श राजतंत्र (ideal monarchy) से प्रारम्भ किया है और उन्होंने समाप्त किया है एक मिश्रित कुलीनतंत्र (mixed aristocracy) में अर्थात् भू-सम्पत्तिशाली कुलीनतंत्र द्वारा शोधित सामर्थ्य-कुलीनतंत्रमें। अरस्तू ने ऐसे ही कुलीनतंत्रको आदर्श राज्य मानकर शुरू किया तथा मिश्रित संविधानमें समाप्त किया। यह मिश्रित संविधान एक व्यावहारिक आदर्शके रूपमें बहुत कुछ वही है जिसे वह पॉलिटी कहते हैं। उदार लोकतंत्र और उदार अल्पतंत्रमें वह बहुत अधिक भेद नही करते। इसके विपरीत संविधानके विभिन्न प्रकारोंको क़ायम रखनेमें वह बहुत अधिक ज़ोर देते हैं। इस मामलेमें वह आदर्शवादी प्लेटो की अपेक्षा यथार्थवादी मेकियावेली (Machiavelli) के अधिक निकट हैं।

(ख) अरस्तू के बाद.

राज्यका वर्गीकरण करनेवाले अतीत कालके कुछ लेखक ये हैं—पोलीबियस, सिसरो, मैकियावेली, बोदाँ, हॉब्स, लॉक, मॉन्टेस्क्यू, रूसो और ब्लंश्ली।

पोलीबियस (Polybius) राज्योके परम्परागत वर्गीकरण—राजतंत्र, कुलीनतंत्र और लोकतंत्र—को मानते थे। उनका विश्वास था कि ये राज्य अपने भ्रष्ट रूपोके साथ एक दूसरेके बाद एक चक्रके रूपमें हुआ करते है। इस प्रकार उनका क्रम था: राजतंत्र, निरंकुश शासन, कुलीनतंत्र, अल्पतंत्र, लोकतंत्र और भीड़का शासन। जब इनमें से अन्तिम अर्थात् भीड़का शासन असहनीय हो जाता है तब एक बार फिर राजतंत्रका उदय होता है और वही क्रम फिर चल पड़ता है, इस विषयमें पोलीबियस के अन्य विचार हैं (१) मिश्रित संविधानका महत्त्व और (२) रोक या सन्तुलनका महत्त्व। रोमके गणतंत्रीय संविधानके स्थायित्वके कारण की खोज करते हुए पोली-

---

1. R. N. Gilchrist: op. cit., p. 228.

बियस ने मिश्रित संविधानकी बहुत अधिक प्रशंसा की है। इस प्रकार राजतंत्र सिद्धान्तका प्रतिनिधित्व दण्डनायक (consuls), कुलीनतंत्रके सिद्धान्तका प्रतिनिधित्व परिषद (senate) और लोकतंत्रीय सिद्धान्तका प्रतिनिधित्व जनप्रिय सभाएँ करती थीं। जब तीनों संस्थाएँ एक दूसरेके विरुद्ध रोक और सन्तुलनका काम करती थीं तब उसका परिणाम स्थायित्व और सुदृढ़ता होता था।

पोलीबियस का अनुगमन करनेवाले सिसरो (Cicero) ने भी कोई नयी बात नहीं कही। पोलीबियस की भाति उन्होंने भी मिश्रित संविधान और रोक तथा सन्तुलन की व्यवस्थाकी प्रशसा की। उन्होंने केवल एक नयी बात यह की कि सरकारके तीनों अंगोंकी व्याख्या उन्होने स्थायित्वके लिए आवश्यक तीन सिद्धान्तोंके प्रतिनिधिके रूपमें की। इस प्रकार राजतंत्र शक्ति अथवा अधिकार-सत्ताके सिद्धान्तका, परिषद मर्यादा और प्रभावके सिद्धान्तका, तथा जनप्रिय सभाएँ स्वतंत्रताके सिद्धान्तका प्रतिनिधित्व करती है। तीनो सिद्धान्तोंके उचित अनुपातमें संयुक्त किये जाने पर व्यवस्था और स्थिरता आती है। पोलीबियस की भांति सिसरो का भी विश्वास था कि सरकारके तीनों रूप अपने भ्रष्ट रूपोंके साथ एक चक्रकी तरह एक दूसरेके बाद आते रहते है। 'शुद्ध स्वरूपोंमें से सिसरो राजतंत्रको सर्वोत्तम, कुलीनतंत्रको मध्यम और लोकतंत्रको सबसे खराब मानते थे।'[1]

योरोपीय इतिहासके आधुनिक युगके प्रारम्भमें, जीन बोदाँ (Jean Bodin) को वर्तमान कालका प्रथम महत्त्वपूर्ण राजनीतिक दार्शनिक माना जा सकता है। उन्होंने राज्योंका वर्गीकरण उन लोगोंकी संख्याके आधार पर ही किया जिनके हाथों में राज्यकी सम्प्रभु शक्ति रहती है। जब सत्ता एक व्यक्तिके हाथमें रहती है तब शासनका रूप राजतंत्र होता है। जब सत्ता नागरिकोंकी बहुसंख्यासे कम लोगोंके हाथमें रहती है तब शासन कुलीनतंत्र होता है और जब सत्ता नागरिकोंकी बहु-संख्याके हाथमें रहती है तब लोकतंत्र होता है। बोदां ने राजतंत्रके यह तीन प्रकार बतलाये हैं: (१) शुद्ध राजतंत्र (royal or pure), (२) तानाशाही राजतंत्र (despotic), और (३) आततायी राजतंत्र (tyrannical)।

अपनी पुस्तक 'लेवियाथन' *(Leviathan,* पृष्ठ ९६-९७) में हॉब्स लिखते हैं: 'जब केवल एक व्यक्ति प्रतिनिधि हो तब राजतंत्र है, जब प्रतिनिधि एक में मिलनेको इच्छुक लोगोंकी सभा हो तब वह लोकतंत्र या जनप्रिय शासन है; जब केवल एक ही दलकी सत्ता हो तब वह कुलीनतंत्र है।' इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस वर्गीकरणमें कोई नयी बात नहीं है। यदि तुलना ही करना है तो यह कहना होगा कि अरस्तू द्वारा किये गये वर्गीकरणकी अपेक्षा यह वर्गीकरण निम्नकोटि का है—अरस्तू के अनुसार राज्यके संचालनका उद्देश्य एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है। हॉब्स अपने वर्गीकरण का आधार केवल इस बातमें मानते हैं कि सम्प्रभुता एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियों या अनेक व्यक्तियोंमें निहित है।

---

1. R. G. Gettell: History of Political Thought, p. 75.

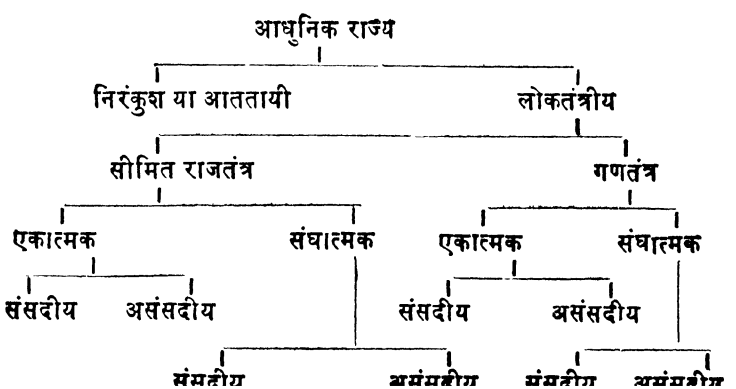
लॉक और हॉब्स में कोई मौलिक भेद नहीं है। लॉक राज्योंका वर्गीकरण राजतंत्र, अल्पतंत्र और लोकतंत्रमें करते हैं। वह राजतंत्रको दो प्रकारका बतलाते हैं—वंशानुगत राजतंत्र और निर्वाचित राजतंत्र।

मान्टेस्क्यू (Montesquieu) ने राज्योंका वर्गीकरण इस प्रकार किया है: (१) गणतंत्र (क) प्रजातंत्रीय गणतंत्र और (ख) कुलीनतंत्रीय गणतंत्र, (२) राजतंत्र और (३) निरंकुशतंत्र। इन सभी सरकारोंके पीछे एक प्रेरक और स्थापक (sustaining) शक्ति होती है। प्रजातंत्रके पीछे जनसेवाकी भावना रहती है। कुलीनतंत्रका आधार संयमका सिद्धान्त है; राजतंत्रका आधार सम्मान है; निरंकुश शासनका आधार भय होता है।

अरस्तू ने राज्योंका जो वर्गीकरण किया है उसे ब्लंश्ली (Bluntschli) मौलिक वर्गीकरण मानते है और इस वर्गीकरणमें चौथे प्रकारका राज्य भी जोड़ देते हैं जिसे वह धर्मतंत्र (theocracy) कहते हैं। धर्मतंत्रके भ्रष्ट रूपको वह उपासकतंत्र (idolocracy) कहते है।

आधुनिक समयके लेखकोंमें जे० ए० आर० मेरियट (J. A. R. Marriott) संविधानका वर्गीकरण इस प्रकार करते हैं—(१) एकात्मक और संघात्मक (२) अनम्य या रूढ़ (rigid) तथा आनम्य या नमनशील (flexible), (३) राजतंत्रीय और अध्यक्षात्मक। वह संसदात्मक, उत्तरदायी अथवा मंत्रिमण्डलीय सरकारकी भी चर्चा करते हैं।

लीकॉक (Leacock) निरंकुश तथा लोकतंत्रात्मक राज्योंके बीच स्पष्ट अन्तर करते हैं। वह लोकतंत्रीय राज्योंको (क) सीमित राजतंत्र और (ख) गणतंत्रमें विभाजित करते हैं। इन दोनोंको वह फिर (१) एकात्मक और (२) संघात्मकमें विभाजित करते हैं। और इनको फिर वे दो प्रकारों, संसदीय और असंसदीय, में विभाजित करते हैं। गिलक्राइस्ट द्वारा बनाया गया निम्नलिखित चार्ट इन सारे विभेदोंको स्पष्ट कर देता है:



ब्राइस, जेंक्स और मेरियट द्वारा सुझाया गया राज्योंका वर्गीकरण[1]

		विभेदका आधार	क	ख
१		राज्यके कार्य-क्षेत्र सम्बन्धी धारणा	उदार	सर्वाधिकारवादी (क) साम्यवादी (ख) फ़ासीवादी (fascist)
२		राजनीतिक संगठन का स्वरूप		
	१	राज्यका स्वरूप	एकात्मक	संघात्मक
	२	संविधानका स्वरूप	आनम्य या नमन शील	अनम्य या रूढ़
	३	निर्वाचक-मण्डलका स्वरूप	(१) वयस्क मताधिकार (२) एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र	(१) सीमित मताधिकार (२) बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र
	४	विधान मण्डलका स्वरूप	द्विसदनात्मक (क) निर्वाचित अथवा अंशतः निर्वाचित दूसरा सदन (ख) अनिर्वाचित द्वितीय सदन	एक सदनात्मक
	५	कार्यपालिकाका स्वरूप	ससदात्मक	असंसदात्मक
	६	न्यायपालिकाका स्वरूप	विधान-राज्य (The Rule of Law)	प्रशासकीय विधान

[1] Modern Political Constitutions—C. F. Strong.

यह वर्गीकरण निम्नलिखित दो विचारों पर आधारित है:

(१) राज्यका कार्य-क्षेत्र; और

(२) राजनीतिक संगठनका स्वरूप।

उक्त चार्टकी सहायतासे स्ट्रांग (Strong) अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी संविधानोंका वर्गीकरण इस प्रकार करते है:

अंग्रेजी संविधान	फ्रांसीसी संविधान
उदार	उदार
एकात्मक	एकात्मक
आनम्य (नमनशील)	अनम्य (रूढ़)
वयस्क मताधिकार	सीमित मताधिकार (तीसरे गणतंत्रमें)
एक-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र	एक-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र
द्विसदनात्मक-विधान मण्डल —अनिर्वाचित द्वितीय सदन सहित	द्विसदनात्मक विधानमण्डल—निर्वाचित द्वितीय सदन सहित
संसदात्मक कार्यपालिका और विधान-राज्य (The rule of Law)	ससदात्मक कार्यपालिका और प्रशासकीय विधि

जॉर्ज शाज़िनबर्गर (George Schwarzenberger) ने राज्योंका वर्गीकरण जातीय-राज्य (national state) और बहु-जातीय राज्यों (multi-national states) में किया है। उनका कहना है कि बहु-जातीय राज्योंको निम्नलिखित भागोंमें बाँटा जा सकता है: (१) राजवंशीय राज्य (उदाहरणार्थ प्रथम विश्व युद्धके पूर्व आस्ट्रिया-हंगरी); (२) धार्मिक राज्य (उदाहरणार्थ, १९१९ तक ऑटोमन साम्राज्य); (३) औपनिवेशिक राज्य; (४) राष्ट्रमण्डलीय राज्य; (५) संघात्मक राज्य; और (६) कृत्रिम संघात्मक राज्य (pseudo-federal state)।

२. संविधानों के स्वरूप तथा परिभाषा

संविधानका स्वरूप .

आधुनिक राज्य संवैधानिक राज्य हैं अतएव उनका वर्गीकरण उनके संविधानों के रूपके अनुसार किया जाता है; जैसे, संविधान लिखित है अथवा अलिखित; अनम्य (रूढ़) है अथवा आनम्य (नमनशील)। प्रायः संविधानके सम्बन्धमें हमारी

धारणा यही होती है कि वह लिखित होता है। पर 'संविधान अलिखित भी हो सकता है और अलिखित होते हुए भी लिखित संविधानकी भाँति ही उपयोगी सिद्ध होना भी सम्भव है'।[१]

बॉवियर (Bouvier) ने अपने 'वैधानिक शब्दकोष' (*Legal Dictionary*) में संविधानकी परिभाषा इस प्रकारकी है, 'किसी राज्य का वह मौलिक विधान जो उन सिद्धान्तोंका निर्देश करता है जिन पर सरकारकी नीव डाली जाती है, जो सम्प्रभु शक्तिके व्यवहार और उपयोगका नियमन करता है, और जो निर्देश देता है कि ये शक्तियां किन-किन सस्थाओं और व्यक्तियोंको सौंपी जा सकती हैं और किस प्रकार उनका उपयोग किया जायगा'।[२] जार्ज कॉर्नवाल लेविस (George Cornewall Lewis) लिखते हैं, 'सविधान" शब्द समाजमें सम्प्रभु शक्तिकी व्यवस्था और वितरण अर्थात् सरकारके स्वरूपका द्योतक है'।[३]

संविधान राज्यके सामान्य ढाँचेको निश्चित करता है। संविधानको हम राज्य का ढाँचा कह सकते हैं। इस विषयके अधिकारी, चार्ल्स व गीड (Charles Borgeaud) इस प्रकार कहते हैं, 'संविधान वह मौलिक विधि है जिसके अनुसार किसी राज्यकी सरकार संगठित होती है और जिसके अनुकूल व्यक्तियों अथवा नैतिक पुरुषोंके साथ समाजके सम्बन्ध निश्चित किये जाते है। संविधान एक लिखित संलेख (written instrument)—एक सम्पूर्ण आलेख या कई आलेख जिसे किसी निश्चित समयमें सम्प्रभु शक्ति द्वारा स्वीकृत व लागू किया गया हो—हो सकता है; अथवा वह न्यूनाधिक रूपमें वैधानिक विधेयकों, अध्यादेशों, न्यायाधीशोके निर्णयों, पूर्ण निर्णयों और भिन्न स्रोत तथा असमान महत्वकी परम्पराओंका निश्चित परिमाण हो सकत है'।[४]

संविधानकी आवश्यकता.

अमरीकी क्रान्तिके पहले भी लिखित संविधानकी आवश्यकता एक आवश्यक तथा मौलिक आलेखके रूपमे बहुत कुछ अनुभव की जाती थी। पर जैसे-जैसे १९ वीं शताब्दी बीतती गयी वसे-वैसे यह विचार अधिकाधिक जड़ पकड़ता गया कि हर राज्य का एक संविधान होना चाहिए और उस संविधानको समस्त जनताकी स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिए। अब तो सविधानको लोकतंत्रका आधार ही माना जाता है। संविधानकी आवश्यकता विभिन्न कारणोंसे होती है:

---

[१] The Elements of Political Science by Alfred De Grazia, p 299. (Alfred A. Knopf, New York, 1952).
[२] Ibid.
[३] Use and Abuse of Political Terms, P. 20.
[४] The Origin of Written Constitution—Political Science Quarterly Vol. II, P. 613.

(१) मौलिक विधि (fundamental law) के द्वारा सरकारकी शक्तियों पर अंकुश लगानेके लिए।

(२) व्यक्तिके हितमें सरकारका नियंत्रण करनेके लिए।

(३) वर्तमान और भावी पीढ़ियोंको मनमानी न करने देनेके लिए। जॉन ऐडम्स (John Adams), जेम्स मेडीसन (James Madison) तथा अमरीकी सर्वोच्च न्यायालयके अनेक न्यायाधीशोंमें से एकके बाद दूसरेने इस दृष्टिकोण पर ज़ोर दिया है। दूसरी ओर जेफर्सन (Jefferson) चाहते थे कि किसी भी सविधान की अवधि सीमित होनी चाहिए।[१]

आज अधिकांश विद्वान् शुल्ट्स् (Schulze) की इस रायसे सहमत होंगे कि 'राज्य कहलानेका अधिकार रखनेवाले हर समाजका संविधान अवश्य होना चाहिए अर्थात् ऐसे सिद्धान्तोंकी सहिता होनी चाहिए जो सरकार और उसकी प्रजाके सम्बन्ध निश्चित करे और जिसके अनुसार राज्य अपनी शक्तिका प्रयोग करे। संविधानहीन राज्यकी कल्पना ही नही की जा सकती'।[२]

३. संविधानों के भेद

(क) लिखित संविधान.

संविधानवादके युगका आरम्भ अमरीकी संविधानसे होता है। कई अन्य देशों ने अमरीकाका अनुकरण किया है। संविधानवाद परिवर्तनका दर्शन-शास्त्र बन गया है जिसे वैधानिक, नैतिक और सामाजिक दृष्टिकोणसे युक्ति-संगत बनाया जाना चाहिए।

लिखित संविधान वह है जिसमें अधिकांश धाराएँ एक विधिवत लिखित आलेख में अथवा कई आलेखोंमें व्यक्त रहती हैं। 'यह एक सामास कृति और उस प्रयत्नका परिणाम है जिसके द्वारा वे मौलिक सिद्धान्त निश्चित किये जाते हैं जिनके अनुसार सरकार संगठित होगी और चलायी जायगी'।[३]

लिखित सविधान एक ही आलेख (document) में हो सकता है जिस पर एक ही तारीख पड़ी होती है, जैसे अमरीका, भारत और बर्मा आदिका सविधान; अथवा कई आलेखों या आलेख मालामें भी हो सकता है, जैसे फ्रांस और आस्ट्रिया का संविधान। लिखित संविधानवाले देशोंमें प्रायः विधानकी दो संहिताएँ होती हैं—एक वैधानिक और सर्वोच्च तथा दूसरी व्यवस्थामूलक और अधीनस्थ। पर लिखित संविधानवाले देशोंमें यह विभेद हमेशा नहीं पाया जाता है।[४]

---

[१] Grazia. op. cit., p. 302.
[२] 'Dentsches Statsrecht', Vol. 1. p.19.
[३] Jameson : The Constitutional Convention.
[४] Garner: op. cit., pp. 509-10.

(ख) अलिखित संविधान.

अलिखित संविधान वह सविधान है जिसके, सब नहीं तो अधिकांश, अधिनियम या सिद्धान्त कभी लिपिबद्ध नही किये गये और कभी किसी एक विधिबद्ध आलेख अथवा आलेख-संहितामें संग्रहित नहीं किये गये। अलिखित संविधान अधिकतर परम्पराओं, रीतियों, न्यायाधीशोके निर्णयों और समय-समय पर पास किये गये मौलिक महत्वके विधेयकोंसे मिलकर बनता है। अलिखित सविधानको संविधान सभा या अन्य कोई संस्था एक ही बारमें समाप्त नहीं कर सकती। ऐसे संविधान सर जेम्स मैकिन्टॉस (Sir James MacIntosh) के इस कथनको सिद्ध करते हैं कि 'संविधानोंका विकास होता है, वे बनाये नहीं जाते'।[1] ब्रिटेनका संविधान अलिखित संविधानका सबसे अच्छा उदाहरण है।

लिखित और अलिखित सविधानोंमें संविधानके वर्गीकरणको अपर्याप्त और राजनीतिक दृष्टिसे महत्त्वहीन कहा गया है। इन दोनोंमें जो अन्तर है वह प्रकारका अन्तर न होकर केवल मात्राका अन्तर है क्योंकि सभी लिखित सविधान समय बीतने पर 'अलिखित तत्वोंमें ओझिल हो जाते है'। जैसा कि ब्राइस ने कहा है, लिखित संविधान 'व्याख्याओं द्वारा विकसित, निर्णयों द्वारा परिवर्धित और परम्पराओं द्वारा संवर्धित' हो जाते है।[2] हमारा अनुभव हमें बतलाता है कि सभी सिद्धान्तोंको किसी भी एक लिखित आलेखमे लिपिबद्ध कर देना असम्भव है और एक लिखित संविधान के होते हुए भी परम्पराएँ पनपती ही हैं।

इसलिए सविधानोंका लिखित और अलिखितमें वर्गीकरण करना न केवल अवैज्ञानिक है बल्कि भ्रम पैदा करनेवाला भी है। इस वर्गीकरणका परिणाम यह होता है कि कुछ अलिखित सविधानोंको लिखित सविधानोंकी श्रेणीमें और कुछ लिखित संविधानोंको अलिखितकी कोटिमें रखना पड़ता है। इसलिए यह सुझाव दिया गया है कि संविधानके स्रोतके आधार पर नही बल्कि संविधान और सामान्य विधिके सम्बन्धोंके आधार पर सविधानोका वर्गीकरण करना अधिक उपयोगी और वैज्ञानिक होगा। इस कसौटीके आधार पर संविधानोंका वर्गीकरण आनम्य या नमनशील सविधान तथा अनम्य या रूढ़ संविधानमें किया जाता है।

(ग) आनम्य या नमनशील (flexible) संविधान.

वे सभी संविधान आनम्य या नमनशील संविधान हैं जिनमें सामान्य क़ानूनोंकी अपेक्षा कोई अधिक वैधानिक सत्ता नहीं होती और जिन्हें उसी प्रकार परिवर्तित या संशोधित किया जा सकता है जिस प्रकार साधारण क़ानूनोंको परिवर्तित या संशोधित

---

[1] Ibid, p. 508.
[2] Constitutions, p. 7.

किया जाता है चाहे वे एक आलेखके रूपमें हों या बहुत-सी परम्पराओंके रूपमें। ऐसे संविधान लिखित होने पर भी नमनशील होते हैं और इच्छानुसार उतनी ही आसानीसे बदले जा सकते हैं जितनी आसानीसे साधारण क़ानून बदले जाते हैं। ब्रिटेन और कुछ हद तक भारतके संविधान इसी श्रेणीमें आते हैं।

(घ) अनम्य या रूढ़ (rigid) संविधान.

वे संविधान जिन्हें एक विशिष्ट संस्था द्वारा बनाया जाता है, जिनकी स्थिति साधारण क़ानूनोंसे उच्चतर होती है, और जिनमें ख़ास पद्धतिसे ही परिवर्तन किया जा सकता है, हम अनम्य, अपरिवर्तनशील या रूढ़ संविधान कहते हैं। यदि हम अमरीका, आस्ट्रेलिया या स्वीटज़रलैण्डके संविधानोंमें संशोधन करनेकी पद्धतिका सावधानीसे अध्ययन करें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। संशोधन करनेकी प्रणाली अत्यन्त कठिन होनेके कारण ही सन् १७८९ में स्वीकार किये जानेके बादसे आज तक अमरीकी संविधान केवल पचीस बार संशोधित हुआ है, जबकि आस्ट्रेलियाका संविधान सन् १९०१ से १९३५ तक केवल तीन बार संशोधित हुआ; यद्यपि उसमें संशोधन करनेके लिए संसदमें बावन विधेयक पेश किये गये।[1] संविधानमें परिवर्तनके प्रति यह दृष्टिकोण संशोधन प्रणाली में परिलक्षित होते हैं। पहले संविधान बनानेवालोंका विश्वास था कि संविधानके साथ बहुत जल्दी-जल्दी दखलन्दाजी अर्थात् उसमें परिवर्तन नहीं करना चाहिए। पर आजकल प्रवृत्ति यह है कि संशोधनोंके लिए एक सुगम पद्धतिकी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे कि भावी पद्धतियाँ विगत पीढ़ियों द्वारा पहलेसे ही बाँधी न जा सकें।

लिखित संविधान प्रायः रूढ़ और अलिखित संविधान प्रायः नमनशील होते हैं। अब हमें रूढ़ और लिखित संविधान तथा नमनशील और अलिखित संविधानोंके गुण-दोषों पर विचार कर लेना चाहिए।

लिखित संविधानके गुण यह हैं कि वे—

(१) स्पष्ट और सुनिर्धारित होते है।

(२) बड़ा साधध नो और सोच-विचारसे तैयार किये जाते हैं।

(३) सार्वजनिक भावावेशों अथवा विधान-सभाओंकी निरंकुशताके अनुसार मोड़े या बदले जानेसे बचे रहते हैं।

(४) स्थायी और स्थिर होते हैं।

और वे (५) व्यक्तिकी सुरक्षा तथा जनताके अधिकारोंको बनाये रखनेमें मदद देते हैं।

दोष.

(१) लिखित संविधान एक राष्ट्रके कुल आदर्शों और राजनीतिक सिद्धान्तोंको

[1] Alexander Brady : Democracy in the Dominions (1947).

एक ही आलेखमें समेट लेनेकी कोशिश करता है। जैसा कि गार्नर ने कहा है कि संविधानका यह प्रयत्न एक व्यक्तिके शरीर पर उसके भावी विकास और परिवर्तित आकारका विचार किये बिना ही एक पोशाक फिट करनेके प्रयत्नके समान है।

(२) लिखित संविधानमे संशोधन करना कठिन होता है। रूढ़ता और रूढ़िवादिताके बहुत आगे बढ़ जानेस दुर्बलता पैदा होती है और राष्ट्रीय हितोको हानि पहुँचती है। इस सबका परिणाम क्रान्ति भी हो सकती है।

(३) लिखित संविधानके अन्तर्गत न्यायपालिकाका मुख्य काम यह मालूम करना होता है कि देशका क़ानून संविधानकी धाराओके अनुकूल है या नही क्योकि न्यायाधीश प्रायः रूढ़िवादी होते हैं इसलिए वह समयकी भावनाकी उपेक्षा करते हैं। पर हालमें संयुक्त-राज्य अमरीकामें ऐसा नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ अमरीकाके सर्वोच्च न्यायालयने सन् १९५५ में निर्णय दिया था कि रंग-भेद करनेवाले स्कूल संविधानके विपरीत हैं। पर साधारणतः हम लास्की के इस कथनसे सहमत हो सकते है कि न्यायाधीशोंको यह 'अधिकार देना कि वे विधान मण्डलकी इच्छाओकी अवहेलना कर सकें, उन्हें राज्यकी निर्णायक शक्ति बना देना है।'[1]

अलिखित संविधानकी विशेषताएँ निम्नलिखित है:

(१) अलिखित संविधान आसानीसे गतिशील समाजकी बदलती हुई परिस्थितियोके अनुकूल बनाये जा सकते हैं।

(२) इस नमनशीलताके कारण संविधानकी अवहेलना करनेका प्रलोभन दूर हो जाता है। सार्वजनिक आकाक्षाओंको पूरा करने और क्रान्तियोंको रोकनेका वैधानिक उपाय मिल जाता है।

(३) जैसा कि ब्राइस ने कहा है कि 'इस प्रकारके संविधानोंको उनकी रूप रेखा भग किये बिना संकट-कालीन परिस्थितियोंका मुक़ाबला करनेके लिए मोड़ा या बढ़ाया जा सकता है। संकटकाल समाप्त हो जाने पर वे फिर अपने पूर्व रूपको ठीक उसी पेड़की तरह प्राप्त कर लेते हैं जिसकी डालोंको किसी सवारी निकलनेके लिए एक ओर मोड़ दिया जाता है।'[2]

अलिखित संविधानमें निम्नलिखित दोष होते हैं:

(१) ऐसे संविधान अस्थिर और निरन्तर बदलनेवाले होते हैं।

(२) व्यक्तियों और राजनीतिक दलोंकी सूझ और समझके अनुसार उन्हें संशोधित किया जा सकता है।

(३) ऐसे संविधान कभी-कभी 'अदालतोंके हाथके खिलौने' बन जाते हैं।

(४) कुछ लोगोंका कहना है कि ऐसे संविधान प्रजातंत्रोंकी अपेक्षा कुलीन समाजोके लिए अधिक उपयुक्त हैं।

एस्मीन (Esmein) और न्यायाधीश जेमसन (Justice Jameson) दोनोंका

---

[1] H. J. Laski: A Grammar of Politics, p. 304.
[2] Jameson: op. cit.

विचार है कि लिखित संविधान 'परम्पराकी दृढ़ भावना और बाहरी रूढ़िवादी चेतना वाले लोगोंके लिए अधिक उपयुक्त है।' हमारा अनुभव हमें यह बतलाता है कि ऐसे राष्ट्रके लिए लिखित संविधान अधिक उपयुक्त है जिसमें राजनीतिक चेतना न हो और जो प्रजातन्त्रीय अधिकारोकी सुरक्षाके लिए तत्पर न हों।

एक आदर्श लिखित संविधानमें निम्नलिखित बातें होनी चाहिए:

(१) नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारोका आलेख जो नागरिकोंकी स्वतंत्रताका क्षेत्र निश्चित कर राज्यकी अधिकार सत्ताको सीमित करे।

(२) सरकारके संगठन और उसकी रूपरेखा निश्चित करनेवाली धाराएँ जो सरकारके हर अंगके अधिकार और कर्त्तव्य, उनके पारस्परिक सम्बन्ध और उनके तथा निर्वाचक मण्डलोंके बीचके सम्बन्धोंको निश्चित करें।

(३) संविधानमें सशोधन करनेकी उचित व्यवस्था होनी चाहिए। इस बारेमें आजकल यह धारणा है कि 'अतीतकाल की वैधानिक धारणाओका बोझ संविधान द्वारा वर्तमान पीढ़ी पर नही डालना चाहिए।' सविधानके सशोधनकी व्यवस्था सरल होनी चाहिए तथा इस सम्बन्धमें जनतासे समय-समय पर परामर्श लेते रहना चाहिए।

संविधानका कलेवर कितना बड़ा हो इस सम्बन्धमें कोई निश्चित नियम नही है। पहलेके संविधान, उदाहरणार्थ अमेरिकाका संविधान, मौलिक विधिके सामान्य सिद्धान्तोको स्थिर करने तक ही अपनेको स्थिर रखते थे। लेकिन बादमें बननेवाले संविधानोने उन धाराओको भी अपने में शामिल कर लिया जिन्हे साधारण विधि कहना ही उपयुक्त होगा। इस प्रवृत्तिके कारण आधुनिक सविधानोंका कलेवर लम्बा तथा भारी-भरकम हो गया है। सन् १९४९ में बना भारतीय संविधान, जिसमें ३९५ धाराएँ तथा ८ अनुसूचियां (schedules) हैं, संसारका सबसे बड़ा सविधान है। यद्यपि पाठ्य-पुस्तकोके लेखक छोटे-छोटे मसलों पर बहुत अधिक विवरण देनेवाले सविधानोकी निन्दा करते हैं पर बहुत-से अमरीकी लोगोका कहना है कि संविधानमें जितना ही अधिक विवरण हो उतना ही अच्छा।'

४. एकात्मक तथा संघात्मक राज्य

शक्तियोंके केन्द्रीयकरण अथवा वितरणके आधार पर तथा केन्द्रीय और स्थानीय शासनोंके पारस्परिक सम्बन्धोके आधार पर आधुनिक सरकारोका वर्गीकरण एकात्मक तथा संघात्मक सरकारोंमें किया जाता है। एकात्मक व्यवस्थामे सरकार को समूची शासन-शक्ति संविधान द्वारा केन्द्रीय सरकारको दे दी जाती है। स्थानीय शासन केवल अपनी शक्ति और स्वायत्तता ही केन्द्रीय सरकारसे प्राप्त नहीं करते हैं, बल्कि उनका अस्तित्व भी केन्द्रीय सरकार पर ही निर्भर करता है। इस प्रकारके राज्यकी प्रमुख विशेषताएँ ये हैं:

(१) एकात्मक राज्यमें एक ही राज्य और एक ही सरकार होती है। केन्द्रीय

सरकार और स्थानीय सरकारोंके बीच शक्तिका वैधानिक विभाजन या वितरण नहीं होता। शक्तिका केवल एक ही स्रोत होता है तथा इच्छा भी एक ही होती है।

(२) प्रशासकीय सुविधाके लिए एकात्मक राज्य इकाइयोंमें बँटे रहते हैं। इन इकाइयोंको विभाग, प्रान्त, जिला या कम्यून आदि कहते हैं। इन्हें कुछ सीमित स्वायत्त शासन प्राप्त रहता है परन्तु वे केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वेच्छापूर्वक बनाये या मिटाये जा सकते हैं। उनके बनाने या मिटानेमें संविधानका हाथ नहीं रहता।

(३) इस वास्तविकताको इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि इन स्थानीय सरकारोंको जो भी शक्ति और स्वशासन प्राप्त रहता है वह मौलिक नहीं होता। वह शक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा दी गयी होती है और उसीकी इच्छानुसार घटायी या बढ़ायी जा सकती है।

(४) संक्षेपमें एकात्मक राज्यमें स्थानीय अधिकारी केन्द्रीय व्यवस्थाके केवल अंग ही होते हैं। ये केन्द्रीय सरकार द्वारा इसलिए बनाये जाते हैं कि वे केन्द्रके एजेन्ट की तरह स्थानीय प्रशासन चलायें।

एकात्मक राज्यके गुण.

(१) एकात्मक राज्य देश भरमें एक कोनेसे दूसरे कोने तक विधान, नीति और प्रशासनमें एकरूपता स्थापित कर सकते हैं। इस एकरूपतासे देशमें एक एकात्मक और संगठित शासन यंत्र क़ायम करनेमें सहायता मिलती है।

(२) देशकी सुरक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंमें एकात्मक राज्यकी शक्ति और दृढ़ता विशेष रूपमें दिखायी पड़ती है। इसका कारण यह है कि एकात्मक राज्यमें अधिकार-सत्ताका संघर्ष नहीं होता, किये जानेवाले कामके उत्तरदायित्वका झगड़ा या भ्रम पैदा नहीं होता, अधिकार क्षेत्रोंका अतिक्रमण नहीं होता, तथा ऐसा दोहरा काम या दोहरा संगठन आदि नहीं होता जिसे तुरन्त संभाला और ठीक न किया जा सके।[1]

(३) एकात्मक राज्यका संगठन संघात्मक राज्यकी अपेक्षा सरल और कम खर्चीला होता है क्योंकि उसमें दोहरे सरकारी विभाग और सेवाएँ नहीं होतीं।

(४) एकात्मक संविधान इंगलैण्ड सरीखे छोटे देशके लिए, जिसके निवासी एक जातिके हों, अधिक उपयुक्त है।

एकात्मक राज्यके दोष.

(१) एकात्मक व्यवस्थाका एक बड़ा दोष यह है कि उसमें सुदृढ़ प्रादेशीय और क्षेत्रीय संस्थाओंका अभाव रहता है। स्थानीय नीतियोंका संचालन और मामलोंका

---

[1] Willoughby; The Government of Modern State, p. 177.

निपटारा वहाँ से दूर बैठे अधिकारी करते हैं।

(२) प्रादेशिक और स्थानीय मामलोंकी जिम्मेदारीसे केन्द्रीय सरकार पर बोझ बढ़ जाता है। इसका परिणाम समस्याओंके हल होनेमे अत्यधिक देरी और नौकरशाही प्रशासन होता है।

(३) केन्द्रीय अधिकारियोंको बहुधा स्थानीय परिस्थितियों और आवश्यकताओं का आवश्यक ज्ञान नही होता। इसका फल यह होता है कि स्थानीय हितोंको हानि पहुँचती है।

(४) एकात्मक राज्यकी प्रवृत्ति स्थानीय प्रेरणा (initiative) को दबा देने तथा सामाजिक समस्याओमें रुचियोको निरुत्साहित करनेकी होती है। दृढ़ स्वशासन के आदी और स्थानीय स्वतंत्रताके प्रेमी लोग एकात्मक राज्यको पसन्द नहीं करते।

संघात्मक राज्य.

जैसा कि गार्नर कहते हैं, संघात्मक राज्यमें समूची शासकीय शक्ति एक केन्द्रीय सरकार और उन राज्यों अथवा क्षेत्रीय उपविभागोंके बीच विभाजित रहती है जिसको मिलाकर संघ बनता है। शक्ति-विभाजनका कार्य या तो राष्ट्रीय संविधान द्वारा किया जाता है या उसे जन्म देनेवाले ससदके मौलिक विधान द्वारा।[1] हैमिल्टन के शब्दोंमें सघात्मक राज्य राज्योंका वह संगठन है जो नये राज्यका निर्माण करता है।' या फिर डायसी की परिभाषाके अनुसार 'राष्ट्रीय एकता और राज्योंके अधिकारों में मेल बैठानेका यह राजनीतिक तरीक़ा है।'

संघकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

(१) राज्य एक होता है पर उसमें सरकारें अनेक होती हैं।

(२) केन्द्रीय सरकार तथा राज्य या प्रान्तीय सरकारोंमे शासकीय शक्तिका औपचारिक विभाजन तथा वितरण होता है।

(३) एक लिखित सविधान जो सर्वोच्च होता है।

(४) सविधानके विपरीत राज्यों या केन्द्रका कोई क़ानून या कार्य अवैध होता है। झगड़ोंको तय करनेके लिए एक सर्वोच्च न्यायालय स्थापित किया जाता है। इस न्यायालयको संविधानका संरक्षक' कहते है।

(५) संघीय संविधान अपेक्षाकृत अनम्य (रूढ़) होता है जिससे कि जल्दबाजी में त्रुटिपूर्ण क़ानून न बन सकें।

(६) संघके विभिन्न राज्यों या प्रान्तोंको उनके अधिकार केन्द्रीय सरकारसे न मिलकर सीधे संविधानसे मिलते हैं।

संघ राज्यकी आवश्यकताएँ.

ऐतिहासिक दृष्टिसे संघ राज्यकी उत्पत्ति अनेक छोटे-छोटे सम्प्रभु राज्योंके एक

---

[1] Garner: Op. Cit., P. 348.

में मिल जानेसे होती है। ये राज्य सैनिक अथवा आर्थिक सुरक्षाके लिए एक सामान्य सरकार बनानेके उद्देश्यसे एकमे मिलते हैं। स्विटज़रलैण्ड, सयुक्त-राज्य अमरिका और आस्ट्रेलिया इसके उदाहरण है। हमारे युगका भारतीय संघ इस नियमका अपवाद है। इसकी उत्पत्ति एक एकात्मक राज्यको कई स्वायत्त इकाइयोमें बांटकर हुई है।

संघका निर्माण चाहे जैसे हुआ हो उसकी सुदृढ़ता और स्थिरताके लिए निम्न-लिखित बातें आवश्यक है :

(१) एकताकी इच्छा। संघ-राज्य बननेसे पहले यह आवश्यक है कि विभिन्न राजनीतिक इकाइयोंके लोगोमे अपने सामान्य हितोंकी सिद्धिके लिए एक केन्द्रीय सरकार बनानेकी इच्छा हो।

(२) लोगोमे एकताकी इच्छा तो हो, पर एक हो जानेकी इच्छा न हो। अनिवार्य सामान्य मसलोको छोड़कर अन्य मसलोमे अपनी व्यक्तिगत स्वतत्रता क़ायम रखनेकी प्रबल इच्छा सघकी इकाइयोमे होनी चाहिए। पर यह इच्छा ऐसी न हो कि इकाइयोंका व्यक्तिगत अस्तित्व समाप्त होकर एकात्मक राज्यकी स्थापना हो जाय।

(३) भौगोलिक सामीप्य—संघ बनानेकी इच्छुक इकाइयोंको भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरेसे मिले होनेसे संघका निर्माण आसान हो जाता है। यदि इकाइयां एक दूसरेसे दूर होती है तो संघ निर्माणकी इच्छा ठीक प्रकारसे पूरी नही की जा सकती।

(४) इकाइयोमें असमानता न हो। कोई भी इकाई इतनी सबल और प्रभावशालिनी न हो कि वह शेष अन्य इकाइयोंकी स्वामी बन बैठे।[1]

(५) जनता राजनीतिक दृष्टिसे शिक्षित होनी चाहिए। जनताकी राजनीतिक शिक्षा उच्च स्तरकी होनी चाहिए। सघकी सफलताके लिए यह आवश्यक है कि जनता केन्द्रीय और स्थानीय दोनों सरकारोके प्रति निष्ठाके महत्वको समझे और इन दोनों निष्ठाओंमे किसी प्रकारका परस्पर विरोध न होने दे। जनता दोनों सरकारों के क़ानूनोंको माननेको इच्छुक हो। न्यायालयोके अधिकारको विशेष तौर पर तत्परताम माना जाय। भारतमें राज्योंके पुनर्गठनके मसलेको लेकर जो हलचल पैदा हुई है उससे यह सिद्ध होता है कि हमारे देशमें अब भी बहुत-से ऐसे लोग हैं जिनमें राष्ट्रीय निष्ठा बहुत ही कम और प्रादेशिक तथा स्थानीय निष्ठा अत्यधिक है।

संघमें शक्तियोंका विभाजन.

संघ राज्यमे सरकारी शक्तिका विभाजन जिस सिद्धान्तके अनुसार होता है वह यह है कि जो मसले राष्ट्रीय महत्वके होते हैं और जिनमें नियमन और नियंत्रणकी

---

[1] Dicey : Introduction to the Study of the Law of the Constitution.

एकरूपता आवश्यक होती है वे सब मसले केन्द्रीय सरकारको दे दिये जाते हैं। जो मसले सामान्य हितके नही होते है वह स्थानीय सरकारोंको सुपुर्द कर दिये जाते हैं। केन्द्र और इकाइयोंमे शक्तिका विभाजन निम्नलिखित तीनमे से किसी भी एक तरीक़े से किया जा सकता है :

(१) केन्द्रीय सरकारके अधिकार संविधानमें स्पष्टत: बता दिये जाते हैं। शेष अधिकार राज्योंके पास छोड़ दिये जाते है। अमरीकामे ऐसा ही हुआ है।

(२) इसका उल्टा तरीका भी अपनाया जा सकता है जैसा कि कनाडामें किया गया है। राज्योके अधिकार संविधानमे निश्चित कर दिये जाते है तथा अवशिष्ट अधिकार (residuary powers) केन्द्रके पास छोड़ दिये जाते हैं।

(३) केन्द्र और राज्यों दोनोके अधिकार निश्चित कर दिये जाते हैं। इसके बाद अवशिष्ट अधिकार केन्द्रके पास रहते है। भारतमे ऐसा ही हुआ है। भारतमें केन्द्र और राज्योके अधिकारोंकी सूची उन विषयोंकी है जिन पर केन्द्र और राज्यों का अधिकार है। इस सूचीको समवर्ती सूची कहते है। संघर्ष होने पर केन्द्रीय सरकारको प्राथमिकता दी जाती है।

संघ राज्यके गुण.

(१) यह छोटे और कमज़ोर राज्योंको आपसमें मिलकर एक बड़ा राज्य बनाने का अवसर देता है। इन राज्योंका अपना स्वतंत्र और पृथक अस्तित्व भी क़ायम रह जाता है।

(२) राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वतंत्रता दोनोंकी अच्छाइयां एक साथ रखनेके कारण संघ उन बड़ी जनसंख्यावाले राज्योंके लिए विशेष लाभदायक होते हैं जिनमें विभिन्न जाति, संस्कृति और भाषाओंके लोग रहते हैं।

(३) ऐसे राज्योंमें संघीय व्यवस्था ही संयोजनशील (centripetal) और विघटनशील (centrifugal) शक्तियोंमें सामंजस्य स्थापित कर सकता है। संघका महत्व भारत जैसे देशके लिए विशेष है जहां भाषा, प्रान्तीयता और जातीयताकी समस्याएँ हैं।

(४) संघके कारण नीति, कानून और प्रशासनमें जहां एकरूपताकी आवश्यकता होती है वहां एकरूपता और जहां विभिन्नताकी ज़रूरत होती है वहां विभिन्नता सम्भव है।

(५) राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रयोगोंके लिए संघ सरकार सबसे अच्छी होती है। भारतमें मद्य-निषेध तथा कई अन्य सामाजिक और आर्थिक योजनाएँ सीमित क्षेत्रोंमें लागू की गई है। उनके परिणामोंका सावधानीसे अध्ययन और मूल्यांकन किया जा रहा है।

(६) विभिन्न इकाइयोंके निवासियोंको स्थानीय स्वतंत्रता देकर सार्वजनिक कार्योंमें जनताकी रुचिको संघ बढ़ावा देता है।

(७) अधिकारोंके विभाजनके कारण संघमें केन्द्रीय सरकार पर से प्रशासनका बोझ कुछ हल्का हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि कामके निपटानेमें देरी लगाने या लाल फीते (red-tapism) की प्रवृत्ति कमजोर पड़ जाती है।

(८) लार्ड ब्राइस के कथनानुसार संघमें एक निरकुश शासक द्वारा जनताके अधिकार हड़प लिये जानेका खतरा नही रहता।

संघ राज्यके दोष.

(१) लीकॉक की राय है कि 'राजनीतिक दृष्टिसे और विदेशी मामलोंमें संघने अपनेको शक्तिशाली सिद्ध किया है पर आर्थिक दृष्टिसे और आन्तरिक मामलोंमें संघ अपनेको कमजोर सिद्ध कर रहा है। अमरीकाकी बढ़ती हुई शक्ति और सम्पन्नताको देखते हुए लीकॉक के उक्त विचार ठीक नहीं मालुम होते।

(२) कुछ लेखकोंका कहना है कि वैदेशिक मामलोंके निपटानेमें संघ कमजोर होता है। हालका अनुभव हमें बतलाता है कि यह कथन सही नहीं है। कोई भी यह नहीं कह सकता कि अमरीका, रूस या भारतकी वैदेशिक नीति कमजोर और ढुलमुल है।

संघके वास्तविक दोष निम्नलिखित हैं:

(१) विधान, नीति और प्रशासनमें विभिन्नता।

(२) सरकारी संगठन, राजकीय सेवाओं और विभागोंकी आवृत्ति (duplication) और उनका पेचीदा होना।

(३) राष्ट्रीय सरकार और राज्य सरकारोमे अधिकार क्षेत्रके बारेमें सम्भावित संघर्षका खतरा।

(४) प्रशासनका भारी व्यय।

(५) विच्छेदका खतरा।

५. प्रसंघान (Confederations)

अब हमें संघ और प्रसंघानके अन्तरको समझ लेना चाहिए। प्रसंघान भी राज्योंका संघ है। अन्तर यह है कि प्रसंघानका निर्माण प्रभुता-सम्पन्न राज्य कुछ निश्चित उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए करते हैं।

प्रसंघानके प्रमुख लक्षण निम्नलिखित होते है :

(१) प्रसंघान बनानेवाले राज्य या सघकी इकाइयां अपनी सम्प्रभुता बनाये रखती हैं। संघके जितने सदस्य होते हैं उतने ही राज्य होते हैं।

(२) प्रसंघानमें कोई सामान्य सरकार नहीं होती।

(३) विभिन्न इकाइयां अपने क़ानून स्वय बनाती हैं और उन्हें अपने-अपने क्षेत्रोंमें लागू करती हैं।

(४) प्रसंघान अस्थायी होता है और किसी भी समय भंग किया जा सकता है।

(५) प्रसंघान समझौतेका परिणाम है, जबकि संघ संविधान पर आधारित होता है।

(६) प्रसंघानमें सम्मिलित होनेवाले इकाई राज्योंको अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बनी रहती है। वे अन्य प्रभुता-सम्पन्न राज्योंसे राजनयिक (diplomatic) सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। संघ राज्यमें यह सम्भव नहीं है।

(७) प्रसंघानकी इकाइयोंमें यदि युद्ध छिड़ जाता है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध होता है। सघ राज्यकी इकाइयोंका युद्ध गृह-युद्ध होता है।

(८) प्रसंघानमें स्थापित सामान्य संस्था इकाई राज्योंकी सरकारोंसे सम्बन्ध रखती है। जनतासे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। पर संघ-राज्यमें केन्द्रीय सरकारका सम्बन्ध सीधे जनतासे रहता है।

Select Readings

Dicey, A.V.—*The Law of the Constitution.*
Finer, H.—*Theory and Practice of Modern Government*—Vol. 2.
Garner, J.W.—*Political Science and Government.*
Gettell, R.G.—*Introduction to Political Science.*
Gilchrist, R.N.—*Principles of Political Science.*
Iyengar, S.S.—*Problems of Indian Democracy.*
Marriott, J.A.R.—*The Mechanism of the Modern State*—Vol. 2.
Ramaiyer—*Politics.*

१२

सरकार का संगठन

(Organization of Government)

कार्यपालिका (The Executive)

आधुनिक राज्यमें कार्यपालिकाका स्थान इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि प्रायः उसके लिए 'सरकार' शब्दका प्रयोग किया जाता है। अप्रजातंत्रवादी देशोंमें कार्यपालिकाकी सत्ता ही सब कुछ होती है। प्रजातंत्रीय देशोंमें भी इसकी अधिकार-सत्ता जितनी महत्त्वपूर्ण समझी जाती है उससे बहुत अधिक होती है। फ़ाइनर (Finer) का कहना है कि संसद और न्यायालय आदि सरकारके अन्य अंगोंमें जब अधिकारोंका बँटवारा हो चुकता है तब बचे हुए समस्त अधिकारोंकी शेषाधिकारी (residuary-legatee) कार्यपालिका ही होती है। विधान-मण्डल द्वारा बनाये गये और अदालतों द्वारा लागू किये गये क़ानूनोंके कार्यान्वयके अतिरिक्त और भी बहुत-से दूसरे काम वह करती है।

नाममात्रकी कार्यपालिका (The Nominal Executive). कार्यपालिका के तीन स्वरूपोंमें प्रायः भेद किया जाता है। ये स्वरूप हैं, नाममात्रकी या आलंकारिक (ornamental) कार्यपालिका, राजनीतिक कार्यपालिका और स्थायी कार्यपालिका। इंगलैण्डमें नाममात्रकी कार्यपालिका सम्राट् है, प्रधान-मंत्री तथा उसकी मंत्रिपरिषद राजनीतिक कार्यपालिका है तथा स्थायी कार्यपालिका प्रशासन है। यही बात स्वशासित ब्रिटिश उपनिवेशोंमें भी पायी जाती है। अन्तर केवल इतना है कि वहां सम्राट्का प्रतिनिधित्व गवर्नर-जनरल करता है। अमरीकामें यह अन्तर इतना स्पष्ट नहीं है। राष्ट्रपति राज्यका प्रधान है, राजनीतिक कार्यपालिका भी है और उसे अनेक प्रशासकीय कार्य भी करने पड़ते हैं। उसके द्वारा की गयी अनेक नियुक्तियाँ उसकी पदावधि तक ही सीमित रहती हैं। फ़्रांसमें नाममात्रकी कार्यपालिका राष्ट्रपति होता है पर क्योंकि वह सात वर्षके लिए चुना जाता है और उसका सम्बन्ध बहुधा एक राजनीतिक दलसे होता है इसलिए उसकी उतनी प्रतिष्ठा नहीं होती जितनी कि इंगलैण्डके सम्राट्की होती है। वीमर संविधान (Weimar Constitution) के अनुसार जर्मनीमें राष्ट्रपतिकी स्थिति अमरीकी और फ़्रांसीसी राष्ट्रपतियोंके बीचकी सी है। यद्यपि उसका झुकाव फ़्रांसीसी राष्ट्रपतिकी स्थितिकी ओर अधिक होता है।

संसदीय शासनके देशोंमें नाममात्रकी कार्यपालिकाको देशके वास्तविक शासन का काम बहुत कम करना पड़ता है। वैसे तो सारा शासन उसीके नाम पर होता है पर उसके सारे कार्यों पर एक मन्त्रीकी सहमति आवश्यक होती है जोकि मंत्रिमण्डल, विधानमण्डल और जनताके प्रति उत्तरदायी होता है। नाममात्रकी कार्यपालिका द्वारा किये जानेवाले अनेक कार्य एक प्रकारके रस्मी काम होते हैं, जैसे इंगलैण्डके सम्राट् द्वारा किये जानेवाले कार्य। वह ससदका अधिवेशन बुलाता है, स्थगित करता है और उसे भंग करता है पर यह सब काम तत्कालीन मंत्रिमण्डल द्वारा निश्चित व्यवस्थाके अनुसार होता है। सम्राट् तो नाममात्रके लिए सम्प्रभु होता है। वह राज्य तो करता है पर शासन नहीं करता। यह सही है कि प्रधान-मन्त्रीके चुनावमें सम्राट्का कुछ हाथ रहता है, विशेषकर जब किसी दलमें एकसे अधिक स्वीकृत नेता होते हैं या जब निचले सदनमें किसी भी एक दलका पूर्ण बहुमत नहीं होता। पर इस मामलेमें भी उसका विशेषाधिकार सीमित है। सन् १७८४ ई० से लेकर आजतक कोई भी मंत्रिमण्डल भग नहीं किया गया यद्यपि सम्राट्को ऐसा करनेका वैधानिक अधिकार है। निषेधाधिकार (the power of veto) का प्रयोग १७०७ से आजतक नहीं हुआ। देशमें सम्राट्को जो शक्ति है वह उसके प्रभावके कारण और दलबन्दीसे परे होनेके कारण है न कि प्रत्यक्ष रूपसे बरती जानेवाली उसकी अधिकार-सत्ताके कारण। वह सरकारके प्रति आदर तथा क़ानूनोंको पालन करनेकी भावनाको जन्म देता है। बेगहाट (Bagehot) के अनुसार सम्राट्के वैधानिक अधिकार हैं, सलाह लिये जानेका अधिकार, प्रोत्साहन देनेका अधिकार, और चेतावनी देनेका अधिकार। जहां तक अंग्रेजी साम्राज्यका सम्बन्ध है, सम्राट् साम्राज्यकी एकताका प्रतीक है और संसारके विभिन्न भागोंमें फैले विभिन्न देशों और जातियोंको एकमें बांध रखने वाला महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

फ़्रांस मे नाममात्रकी कार्यपालिका वहांका राष्ट्रपति होता है। उसका चुनाव सात वर्षके लिए दोनों सदनोंकी सम्मिलित बैठकमें होता है। यह संयुक्त अधिवेशन विशेषरूपसे इसी कार्यके लिए बुलाया जाता है। सिद्धान्त रूपसे उसे वे सब अधिकार प्राप्त है जो अमरीकाके राष्ट्रपतिको प्राप्त होते हैं—केवल एक निषेधाधिकार छोड़ कर। इंगलैण्डके सम्राट्का जो अधिकार हैं वे अधिकार फ़्रांसके राष्ट्रपतिको भी हैं। पर व्यवहारमें वह न तो राज्य करता है और न शासन करता है। यह कथन सत्य ही है कि वह लोहेके पिंजरेमें बन्दीके समान है। उसके प्रत्येक कार्यके लिए यह आवश्यक है कि वह किसी मंत्रीके द्वारा प्रतिहस्ताक्षरित (countersigned) हो। यह मंत्री स्वयं संसदके प्रति उत्तरदायी होता है इसलिए फ़्रासमें वास्तविक शासन करनेवाली अधिकार-सत्ता संसद है, न कि राष्ट्रपति। केवल एक ही काम ऐसा है जिसे राष्ट्रपति मंत्रीकी मंजूरीके बिना कर सकता है और वह काम है राष्ट्रीय उत्सवोंमें सभापतिका आसन ग्रहण करना। वह केवल नाममात्रका प्रधान है, ससद उसे कार्यकाल समाप्त होनेके पहले ही त्यागपत्र देनेके लिए मजबूर कर सकती है, जैसा कि मिलरां

(Millerand) के मामलेमें हुआ था। प्रतिनिधि सभा (Chamber of Deputies) उसके ऊपर घोर देश-द्रोहका अभियोग लगा सकती है और सीनेट (Senate) उस अभियोग पर विचार करता है।

वीमर संविधानके अनुसार जर्मनीमें राष्ट्रपति नाममात्रकी कार्यपालिका था। फ्रांसके राष्ट्रपतिके विपरीत उसे जनता चुनती थी और जनताको उसको प्रत्यावर्तन करनेका भी अधिकार था। जर्मनीके राष्ट्रपतिको फ्रांसके राष्ट्रपतिकी अपेक्षा अधिक व्यापक अधिकार दिये गये थे। जर्मनीका राष्ट्रपति संसद द्वारा स्वीकृत जिन विधेयकोंको स्वीकार नही करता था उन्हे लोक-निर्देश (referendum) के लिए जनताके सम्मुख उपस्थित कर सकता था। उसे निषेधाधिकार नहीं प्राप्त था। वह युद्धकी स्थितिकी घोषणा कर सकता था, नागरिकोंके अनेक संवैधानिक अधिकारोंको स्थगित कर सकता था और एक तानाशाहकी भाँति शासन कर सकता था। पर फ्रांसमे केवल विधानमण्डल ही युद्धकी स्थितिकी घोषणा कर सकता है। फ्रासमें राष्ट्रपति सीनेटकी स्वीकृतिमे ही निचले सदनको भंग कर सकता है परन्तु जर्मनीका राष्ट्रपति अपने अधिकारके बल पर ही निचले सदनको भंग कर सकता था। पर व्यावहारिक तौर पर इस अधिकारका कोई विशेष अर्थ नहीं था क्योंकि इंगलैण्डके सम्राट् और फ्रासीसी राष्ट्रपतिकी भाति जर्मनीके राष्ट्रपतिके कार्योंका भी किसी उत्तरदायी मत्री द्वारा प्रति हस्ताक्षरित होना आवश्यक था। पर साथ ही विधानमण्डलको यह अधिकार नही था कि वह उसके अधिकार घटाकर उसे अपने अधीन कर ले और उसे त्यागपत्र देनेके लिए मजबूर कर सके जैसाकि फ्रासमे हो सकता है। विधानमण्डल निचले सदनके दो-तिहाई बहुमतसे राष्ट्रपतिको निलम्बित (suspend) कर सकता था और उसे जन-प्रत्यावर्तन (popular recall) के लिए जनताके सम्मुख पेश कर सकता था। यदि जनता राष्ट्रपतिमे अपना विश्वास प्रकट कर दे तो संसद (Reichstag) भंग कर दी जाती थी और नया सदन चुना जाता था। राष्ट्रपतिको स्वभावत: सात वर्षके लिए दूसरी पदावधि मिल जाती थी। ससदके दो-तिहाई वोटोंसे राष्ट्रपति पर अभियोग भी लगाया जा सकता था और उसके विरुद्ध संसदके संविधानका अपराध-मूलक उल्लघन करनेके लिए सर्वोच्च न्यायालयमें मुकदमा भी चलाया जा सकता था।

संघीय गणराज्य (पश्चिमी जर्मनी) के वर्तमान संविधानके अनुसार संघके राष्ट्रपतिका चुनाव संघ-अधिवेशनमें बिना विवादके होता है। इस अधिवेशनमें निचले सदन (Bundestag) के सदस्य और प्रशासकीय इकाइयोंके जनप्रिय प्रतिनिधियों (Laendar) द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्वके आधार पर चुने गये सदस्य बराबर संख्यामे सम्मिलित होते है। इस प्रकार आजकल सघके राष्ट्रपतिका चुनाव सीधे जनता द्वारा नही होता, जैसा कि वीमर संविधानके अन्तर्गत होता था। यह चुनाव फ्रांसकी भाँति एक संयुक्त संसदीय संस्था जिसमे विधान-सभा (Bundestag) के सदस्य और प्रशासकीय इकाइयों द्वारा निर्वाचित सदस्य बराबर संख्यामें शामिल होते हैं।

राजनीतिक कार्यपालिका (Political Executive). जब हम नाममात्रकी कार्यपालिकासे हट कर राजनीतिक कार्यपालिकाकी ओर ध्यान देते है तो हमे उसके चार निश्चित स्वरूप दिखायी देते हैं, अंग्रेजी, अमरीकी, स्विस और फ्रांसीसी। इंगलैण्डमें प्रधान-मंत्री और मंत्रिमण्डलको मिलाकर राजनीतिक कार्यपालिका बनती है। वे तभी तक पदारूढ़ रह सकते है जब तक उन्हें ससदका समर्थन प्राप्त है। वे विधानमण्डलके दो में से किसी भी सदनके सदस्य हो सकते है और विधि-निर्माणके उपक्रममें महत्वपूर्ण भाग लेते हैं। वे विभागोंके प्रशासकीय अध्यक्ष भी होते है और इस प्रकार वे न केवल नीतिके सम्बन्धमें ही बल्कि शासनके विवरणके सम्बन्धमे भी संसदके समक्ष उत्तरदायी होते हैं। वे एक टीमकी भाँति काम करते हैं और उनका पतन और उत्थान एक साथ होता है। प्रधान-मत्री मत्रिमंडलका स्वामी नही होता। इस बारेमें वह अमरीकाके राष्ट्रपतिसे बिल्कुल भिन्न होता है। वह अपने बराबर वाले सहयोगियोंमें प्रथम होता ह और समूचे मत्रिमण्डलके कार्योंके लिए सम्राट् और देशके सम्मुख उत्तरदायी होता है। यह उसकी पसन्दकी बात है कि वह अकेले काम करे या अन्य सदस्योंके साथ मिलकर काम करे। जरूरी सुधार करना भी उसीका काम है।

अंग्रेजी शासन-पद्धतिमे कार्यपालिका और विधानमण्डलके बीच शान्तिपूर्ण और सुन्दर सम्बन्ध रहते है। समदके साथ अपने व्यक्तिगत दैनिक सम्बन्धो तथा ससदके प्रति अपने उत्तरदायित्वके कारण मंत्रीगण सीधे और सही रास्ते पर चलते है। जितनी प्रशंसा या निन्दाके पात्र वे होते है वह सब उन्हें उचित समय पर मिलती रहती है, यद्यपि असली परीक्षा-काल तो आम-चुनाव ही होता है। संसद भी अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार करनेकी हिम्मत नही कर सकती, क्योकि मत्रिमण्डल पांच वर्षकी निश्चित अवधिसे पहले ही उसे भग करनेकी धमकी दे सकता है। और इस धमकीको वास्तवमें कार्यान्वित भी कर सकता है। इन सब गुणोके होत हुए भी व्यवहारमें हम देखते है कि जब किसी दलका अत्यधिक बहुमत होता है तब वह विरोधी दलकी आलोचनाओ और जनमतकी ओरसे उदासीन हो जाता है। उसमें आलस और झूठी आत्मसन्तोषकी भावना भी पैदा हो जाती है।

ब्रिटेनके मत्रिमण्डलकी महत्ताका सार बतलाते हुए फाइनर इस प्रकार लिखते हैं: 'सब ले देकर·····अंग्रेजी मंत्रिमण्डलीय व्यवस्थासे देशको गतिवान्, सामर्थ्यवान्, विचारशील तथा उत्तरदायी नेतृत्व प्राप्त होता है। उसका नियमन और नियंत्रण होता है, पर इससे वह कुण्ठित नही हो जाता। उसे दण्डका भय रहता है, पर यह भय कार्यान्वित कभी नही किया जाता। उससे प्रश्न किये जाते हैं, पर उस पर अविश्वास नहीं किया जाता। यह नेतृत्व राजनीतिक दृष्टिसे दलीय होता है पर व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेषसे मुक्त रहता है। उत्तरदायित्वपूर्ण अधिकारकी भावनाके साथ ही अपनी प्रथाओं और अनुज्ञाओं (institutions and sanctions) से वह नियंत्रित रहता है। जेनस (Janus) की भाँति वह एक साथ ही जनता और सीनेट दोनोंका ध्यान रखता है (२०: ९९४)।

अमरीकी शासन-प्रणालीमें राष्ट्रपति राजनीतिक और आलंकारिक दोनों ही प्रकारकी कार्यपालिकाका कार्य करता है। आज भी वैधानिक रूपसे उसका निर्वाचन ऐसे निर्वाचक-मण्डल द्वारा होता है जिसमें संघके विभिन्न राज्योंके प्रतिनिधि रहते हैं। पर वास्तविक व्यवहारमें उसको जनता निर्वाचित करती है। उसका कार्यकाल चार वर्षका होता है। इस अवधिके पहले देशद्रोहके अपराधके अतिरिक्त और किसी भी कारणसे वह हटाया नही जा सकता। क्योंकि वह विधानमण्डलका सदस्य नहीं होता इसलिए जो भी वैधानिक योजनाएँ वह कार्यान्वित करना चाहता है उन्हे वह व्यक्तिगत विधायकों और कांग्रेसकी समितियोंकी सहायतासे ही कर सकता है। वह समय-समय पर कांग्रेसको अपने संदेश भी भेजता है जिसमें वह अपनी नीति और वैधानिक कार्यक्रमकी रूप-रेखा बतलाता है। यह प्रणाली सन्तोषजनक नहीं है और इससे कार्यपालिका और विधायनी-शक्तिके अच्छे सम्बन्ध बिगड़ सकते है और उनमें आपस में संघर्ष छिड़ सकता है। राष्ट्रपति विधायनी-शक्तिसे लगभग पूरी तरहसे स्वतंत्र होता है। उसे विधानमण्डलको स्थगित करनेका निषेधाधिकार (suspensive veto) प्राप्त है। पर इसका उपयोग तब तक नही किया जाता जब तक उसे यह विश्वास नही हो जाता कि उसके इस कार्यको जनताका समर्थन प्राप्त है। विशेष कठिनाइयाँ तो उस समय उत्पन्न होती हैं जब विधानमण्डलमे एक दलका बहुमत होता है और राष्ट्रपति दूसरे दलका सदस्य होता है। ऐसी कठिनाइयाँ १९४६ में राष्ट्रपति ट्रूमेन (President Truman) के समयमें पैदा हुई थीं। कभी-कभी राष्ट्रपतिको बदनाम करनेके लिए अच्छे विधेयक भी नामंजूर कर दिये जाते है।

राष्ट्रपति अपने मंत्रि-परिषदके सदस्योंको स्वयं मनोनीति करता है। मंत्री-गण राष्ट्रपतिके प्रति उत्तरदायी होते है, संसद (Congress) के प्रति नहीं। वे विधान-मण्डलके सदस्य भी नही होते अतएव केवल राष्ट्रपतिके प्रति ही उत्तरदायी होते हैं। संसदमें पूछे जानेवाले प्रश्नों अथवा प्रश्नोत्तरोंको सुविधाके अभावमे अमरीकाकी कांग्रेसको जाँच-पड़ताल सम्बन्धी प्रस्तावों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। ससदमे होने-वाले प्रश्नोत्तर अनियमित प्रशासकीय कार्यवाहियोंको रोकने और तत्कालीन महत्व-पूर्ण समस्याओं पर जानकारी प्राप्त करनेके सफल साधन है। पर अमरीकी पद्धति तो ऐसी सूचना प्राप्त करनेका एक टेढ़ा-मेढ़ा तरीक़ा है।

राष्ट्रपतिका विधानमण्डलके साथ बहुत कम सम्बन्ध रहनेके कारण उसकी शक्ति कम हो जाने पर भी वह ससारके सबसे अधिक शक्तिशाली राजनीतिक अधिकारियोंमें से एक है। विल्सन (Wilson) राष्ट्रपतिके प्रभावको प्रायः असीमित मानते थे। सरकारके कार्यपालक या प्रशासकीय प्रधानके रूपमें, राजनीतिक दलके नेताके रूपमें और विधि-निर्माण तथा नीति-निर्धारणमें राष्ट्रके पथ-प्रदर्शकके रूपमें राष्ट्रपतिको व्यापक अधिकार और शक्तियां प्राप्त हैं। वही एक ऐसा व्यक्ति है जिसे राष्ट्रका प्रवक्ता माना जा सकता है और जिस सभा-मंचसे वह अपने देशको संदेश देता है वही राष्ट्रीय-मंच होता है। संकट-कालकी स्थितिमें उसे व्यापक अधिकार प्राप्त

होते हैं।[१]

स्विटज़रलैण्डकी कार्यकारिणी निस्सन्देह अपने ढंगकी अनूठी है। इसमें सात सदस्योंकी एक परिषद होती है जिसका चुनाव संसदके दोनों सदनोंकी सम्मिलित बैठकमें तीन वर्षोंके लिए किया जाता है। इसका नियंत्रण विधानमण्डलके हाथोंमें रहता है। इस बातका कोई प्रश्न ही नहीं उठता कि वह अविश्वास या निन्दाके प्रस्तावके कारण त्यागपत्र दे दे। यदि विधानमण्डल परिषदके कारणों अथवा उसकी नीतियोंका समर्थन नहीं करती तो परिषद उसमें आवश्यक संशोधन कर देती है और अपना काम चालू रखती है। यह दलीय-शासन नहीं है और इसमें कोई प्रधान-मंत्री नहीं होता। सात सदस्योंमें से एक को प्रति वर्ष सभापति चुना जाता है। वह केवल सभापति होता है। वह 'समान सहयोगियोंमें प्रथम नहीं होता जैसा कि ब्रिटेन का प्रधान-मंत्री होता है। उसे अपने सहयोगियोंकी अपेक्षा अधिक अधिकार नहीं प्राप्त होते। वह कार्यपालिकाके सभी रस्मी काम करता है। परिषदका कार्य विभागोंमें बँटा रहता है और हर विभाग एक सदस्यके सुपुर्द रहता है। क्योंकि परिषदका नियंत्रण किसी एक के हाथमें नहीं होता, इसलिए स्विटज़रलैण्डकी कार्य-कारिणी-परिषदको बहुल-कार्यकारिणी (plural-executive) कहा जाता है। यद्यपि साधारण रूपसे बहुल-कार्यकारिणीके कारण एकता, निर्देशन और कार्य हस्तान्तरणका अभाव हो जाता है, फिर भी जिलोंमें इस प्रकारकी कार्यकारिणीके बहुत अधिक समय तक प्रचलित रहनेसे इस प्रथाकी अभ्यस्त जनताने परिषदको भी सफल बनाया है। इसके अतिरिक्त स्विटज़रलैण्डके निवासियोंका स्वभाव दल-बन्दीकी तीव्र भावनाओंसे मेल नहीं खाता।

फ़्रांसकी कार्यपालिका एक संसदीय-कार्यपालिका है। गुटबन्दीके कारण फ़्रांस में कार्यपालिका कई राजनीतिक दलोंके मेलसे बनती है और इसीलिए इंगलैण्डके मंत्रिमण्डलकी अपेक्षा वह विधान मण्डल पर अधिक निर्भर रहती है। फ़्रांसके मंत्रियोंको दोनों सदनोंकी कार्यवाहीमें भाग लेने और भाषणका अधिकार है। फ़्रांस के मंत्रिमण्डल अस्थायी होनेके लिए बदनाम हैं। सन् १८७८ से १९२८ तक फ़्रांसके मंत्रिमंडलकी औसत अवधि साढ़े नौ मास थी। फ़ाइनर का कहना है कि फ़्रांस में कोई मंत्रिमण्डल नहीं होता। वहाँ मंत्रियोंका संकलनमात्र रहता है। इन मंत्रियों को भी कोई वास्तविक प्रशासकीय नियंत्रण प्राप्त नहीं हो पाता क्योंकि उनका अस्तित्व हमेशा खतरेमें रहता है। सरकारके वैधानिक, आर्थिक और प्रशासकीय कार्योंमें मंत्रिमण्डलोंकी अपेक्षा विभिन्न आयोग बहुत अधिक और कभी-कभी उनके

---

[१] लिण्डसे रॉजर्स (Lindsay Rodgers) के अनुसार विधि-निर्माण जो राष्ट्रपतिका उपान्तर (minor) कर्त्तव्य था, अब उसका प्रधान कार्य हो गया है। अब वह प्रधान विधि-निर्माता है। उसका मूल्यांकन अब कार्यपालिकाके रूपमें उसकी सफलताकी अपेक्षा एक विधायकके रूपमें उसकी सफलताके आधार पर किया जाता है।

प्रतिद्वन्द्वी रूपमें भाग लेते हैं। राष्ट्रपतिके सभापतित्वमें मंत्रिमण्डलकी बैठकोंमें नीति पर विचार होता है और प्रधानमंत्रीके सभापतित्वमें मत्रिमण्डल कार्य करनेके ढंग पर विचार करता है (२०:१०६३)।

सन् १९३५ ई० के संविधानके अनुसार भारतके गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तोंके गवर्नरोकी स्थिति ब्रिटिश उपनिवेशोंके गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरोंसे बिल्कुल भिन्न थी। वे नाममात्रकी कार्यपालिकासे कहीं अधिक शक्तिमान थे। उन्हें ऐसे अधिकार प्राप्त थे जिनका प्रयोग वे अपने व्यक्तिगत विवेक और निर्णयके आधार पर कर सकते थे। इसके अतिरिक्त जनताके कुछ विशिष्ट वर्गों और सार्वजनिक पदाधिकारियोके हितोके भी वे संरक्षक थे।

श्री श्रीनिवास आयंगर भारतके लिए ग़ैर-दलीय राजनीतिक कार्यपालिकाका समर्थन करते थे। कुछ अन्य लोगोंने ऐसी कार्यकारिणीका समर्थन किया है जिसमें विधानमण्डलके विभिन्न दलोंके प्रतिनिधि हों। हमारे विचारसे न तो एक ग़ैर-दलीय कार्यपालिका और न सर्वदलीय कार्यपालिका ही सन्तोषजनक हल है। सर्व-दलीय कार्यपालिकाका अर्थ होगा मंत्रिमण्डलके भीतर और बाहर निरन्तर संघर्ष। उसका परिणाम एकता और सहयोगकी कमी, डाँवाडोल स्थिति और निरन्तर खींचा-तानी होगा। दलमुक्त कार्यपालिका व्यावहारिक राजनीतिके क्षेत्रसे बाहरकी बात प्रतीत होती है। क्योंकि हम लोग ब्रिटिश-संसदीय परम्पराके अभ्यस्त हैं इसलिए कभी प्रयोगमें न लाये गये नये-नये प्रयोगोंका रास्ता न अपनाना ही हमारे लिए उचित होगा।

मंत्रिमण्डलीय, संसदीय अथवा उत्तरदायी कार्यपालिका

यह सरकारकी ऐसी व्यवस्था है जिसमें वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मंत्रि-मण्डल या मंत्रिपरिषद अपने समस्त कृताकृत कार्योंके लिए वैधानिक और प्रत्यक्ष रूपमें विधानमण्डलके प्रति और उसके द्वारा निर्वाचक-मण्डलके प्रति उत्तरदायी होती है। नामधारी कार्यपालिका पूर्णरूपेण अनुत्तरदायी बनी रहती है।

मंत्रिमण्डलीय कार्यपालिकाकी प्रमुख विशेषताएँ यह हैं:

(१) **नाममात्रका अध्यक्ष.** मंत्रिमण्डलीय सरकारमें नाममात्रके अध्यक्ष और वास्तविक कार्यपालिकामें स्पष्ट अन्तर रहता है। अध्यक्षके पास, चाहे वह वंशानुगत हो या निर्वाचित, नाममात्रके अधिकार रहते हैं।

(२) **वास्तविक कार्यपालिका.** जनता द्वारा चुना गया मंत्रिमण्डल सभी सरकारी कार्योंके लिए ज़िम्मेदार होता है। प्रशासनका सारा काम उसीके आदेशा-नुसार और उसीकी देख-रेखमें होता है।

(३) **राजनीतिक एकरूपता.** मंत्रिमण्डल या मंत्रिपरिषदके सभी सदस्य एक ही राजनीतिक दलके होते हैं। यह राजनीतिक दल प्रायः वह दल होता है जिसका

विधानमण्डलमें बहुमत होता है। पर संकटके समय या जब किसी विशेष कारणसे विशेष व्यक्तियोंको मंत्रिमण्डलमें लेनेकी ज़रूरत पड़ती है, तब इस नियमको शिथिल कर दिया जाता है। संयुक्त-मंत्रिमण्डलमें उन सभी दलोंके सदस्य रहते हैं जिन दलोंको मिलाकर संयुक्त सरकार बनती है।

(४) **सामूहिक उत्तरदायित्व.** मंत्रिमण्डलकी सामूहिक ज़िम्मेदारी होती है। इसके अर्थ हैं कि नीति सम्बन्धी निर्णय मंत्रिमण्डल सामूहिक रूपसे करता है। सभी मंत्री एक साथ डूबते या पार लगते हैं। वित्त-मंत्रीकी ग़लतीके कारण—यदि मंत्रियोंने विधानमण्डलका विश्वास खो दिया है तो—एक समर्थ युद्ध-मंत्रीको भी अन्य मंत्रियोंके साथ त्याग-पत्र देना पड़ता है।

(५) **मंत्रिमंडलीय उत्तरदायित्व.** मंत्रिमण्डल अपने सभी कार्योंके लिए विधानमण्डलके प्रति उत्तरदायी होता है। वह तभी तक शासनारूढ़ रह सकता है जब तक उसे विधानमण्डलका विश्वास प्राप्त रहता है। इस उत्तरदायित्वको प्रभावपूर्ण बनानेके लिए यह आवश्यक कर दिया गया है कि सभी मंत्री संसदके किसी न किसी सदनके सदस्य अवश्य हों। इस व्यवस्थासे मंत्रिमण्डलीय सरकारमें विधानमण्डल और कार्यपालिकामें मेल और सहयोग बना रहता है।

(६) **प्रधान-मंत्री एक नेताके रूपमें.** बहुमत दलके नेताके रूपमें प्रधान-मंत्री मंत्रिमण्डलके कामोंका नियंत्रण करता है, और उनमें सन्तुलन क़ायम रखता है। वैसे तो सभी मंत्री बराबर होते हैं; पर इन सब 'बराबरवालोंमें प्रथम' होनेके नाते प्रधान-मंत्री ही कार्यपालिकाका वास्तविक प्रधान होता है। यह ठीक ही कहा गया है, 'प्रधान-मंत्री मंत्रिमण्डके जन्मका केन्द्र, उसके जीवनका केन्द्र और उसकी मृत्युका केन्द्र होता है।'

मंत्रिमण्डलीय कार्यपालिकाके गुण.

(१) मंत्रिमण्डलीय कार्यपालिका विधानमण्डल और कार्यपालिकाके बीच सामंजस्य स्थापित रखती है। इसका परिणाम यह होता है कि विधानमण्डल और कार्यपालिकामें गतिरोध उत्पन्न नहीं हो पाता और दोनों समान उद्देश्योंके लिए काम करते हैं।

(२) मंत्रिमण्डलीय सरकार अनम्य (नमनशील) और लचीली (flexible) होती है क्योंकि इस व्यवस्थामें विधानमण्डल 'आवश्यकता पड़ने पर एक शासक चुन सकता है।' (बेगहॉट)

(३) यह व्यवस्था जनताकी अन्तिम सम्प्रभुताको स्वीकार करती है। मंत्री-गण संसदमें बैठनेवाले जनताके प्रतिनिधियोंके प्रति अपनी ज़िम्मेदारी द्वारा जनताकी भावनाओंको परखते हैं।

(४) जनताको राजनीतिक तौर पर शिक्षित करनेके लिए यह व्यवस्था बहुत

उपयोगी होती है। विभिन्न दलोंका अस्तित्व, समय-समय पर निर्वाचनोंका होना तथा विभिन्न दलोकी ओरसे किया जानेवाला प्रचार जनताको राजनीतिक तौर पर चैतन्य बनाते है।

मंत्रिमण्डलीय व्यवस्थाके दोष.

(१) मन्त्रिमण्डलीय व्यवस्था शक्तियोके पृथक्करणके सिद्धान्तका अतिक्रमण करता है।

(२) सिजविक आदि का कहना है कि मन्त्रियोंको विधानमण्डलीय कार्य इतने अधिक करने पड़ते है कि वे कार्यपालिकासे सम्बन्धित कार्योको ठीक प्रकारसे नहीं कर पाते है।

(३) मंत्रिमण्डलीय सरकार अस्थिर होती है क्योंकि इसका कार्यकाल विधान-मण्डलकी इच्छा पर निर्भर करता है। पर राजनीतिक दलोके विकाससे यह दोष कम हो गया है।

(४) सत्तारूढ़ दलके हर कामका विरोध विरोधी-दल केवल विरोध करनेके लिए करते है।

(५) मन्त्रिमण्डलीय सरकारको प्रेमानुशीली लं गो (amateurs) की सरकार कहा जाता है जो इसे अकुशल कहनेका दूसरा ढंग है।

(६) दलीय-पद्धतिके विकास और दलगत अनुशासनके कारण मंत्रिमण्डलीय सरकार दलगत सरकार हो जाती है।

(७) मंत्रिमण्डलीय व्यवस्थामें संकट-कालीन अवस्थामे तत्काल कार्यवाही करनेकी तत्परता और क्षमताकी कमी होती है।

अध्यक्षात्मक कार्यपालिका

अध्यक्षात्मक सरकार वह व्यवस्था है जिसमें कार्यपालिका अपने कार्य कालके लिए विधानत: विधानमण्डलसे स्वतंत्र होती है और अपनी राजनीतिक नीतियोंके लिए विधानमण्डलके प्रति उत्तरदायी नहीं रहती। इस व्यवस्थामें :

(१) कार्यपालिकाका प्रधान केवल नामके लिए ही अध्यक्ष नहीं होता, वह वास्तविक कार्यपालिका होता है। सविधान द्वारा दी गयी समस्त शक्तियोंका वह प्रयोग करता है।

(२) वह जनताका निर्वाचित प्रतिनिधि होता है। उसका कार्य-काल पहलेसे तय रहता है। वह अपने पदसे प्रधान-मंत्रीकी तरह आसानीसे हटाया नहीं जा सकता। उस पर अभियोग (impeachment) लगानेकी प्रक्रिया बहुत कठिन होती है।

(३) वह न तो विधानमण्डल पर आश्रित रहता है और न उसके प्रति जिम्मेदार होता है।

(४) सरकारके तीन अंगोंके बीच शक्तियोंका पूर्णरूपसे पृथक्करण रहता है।

(५) कार्यपालिका और विधानमण्डलमें हमेशा सहयोग नहीं रहता क्योंकि कार्यपालिकाके सदस्य विधानमण्डलके सदस्य नहीं होते हैं इसलिए दोनोंमें बहुधा संघर्ष बना रहता है।

(६) विधानमण्डलको भंग नहीं किया जा सकता।

अध्यक्षात्मक सरकारके गुण.

(१) अध्यक्षात्मक सरकार उत्तरदायी न होते हुए भी अपना प्रतिनिधि मूलक स्वरूप बनाये रखती है।

(२) अध्यक्ष निश्चित वर्षोंके लिए चुना जाता है और उसके पुनः चुने जानेकी सम्भावना रहती है। इसलिए नीतिकी अविच्छिन्नता और स्थितरताकी भावना बनी रहती है।

(३) सभी शक्तियाँ एक ही व्यक्तिके पास रहनेके कारण काम करनेमें दृढ़ता और निश्चय करनेमे तत्परता रहती है।

(४) विभिन्न हितों, संस्कृतियों आदि वाले राज्योंके लिए अध्यक्षात्मक सरकार बहुत उपयोगी होती है।

(५) मन्त्रियोके लिए यह जरूरी नही होता कि वे विधानमण्डलमें बराबर उपस्थित रहें। इसलिए विभागीय कार्य करनेके लिए उनके पास अधिक समय रहता है।

(६) विधानमण्डल दलोय अनुशासनसे कम प्रभावित होते हैं।

अध्यक्षात्मक सरकारके दोष

(१) ऐस्मीन का कहना है कि अध्यक्षात्मक सरकार निरंकुश, अनुत्तरदायी और खतरनाक होती है। क्योंकि संविधान द्वारा निश्चित की गयी सीमाओके भीतर रहते हुए अध्यक्षको अधिकार रहता है कि वह जो चाहे करे।

(२) कार्यपालिकामें विधि-निर्माणके सम्बन्धमे प्रेरणा (initiative) का अभाव रहता है। फलतः शक्ति नष्ट होती है। जब देखो तब विधानमण्डल और कार्यपालिकामें गतिरोध उत्पन्न होता रहता है।

(३) ब्राइस के अनुसार विधानमण्डलमें बहुत-सी समितियोंके बनानेसे काम होनेमें देरी होती है, अव्यवस्थता फैलती है, और विरोधी उद्देश्योंके लिए काम किये जाते हैं।

(४) ब्राइस का यह भी कहना है कि 'शक्तिके पृथक्करणका वास्तविक परिणाम यह हुआ है कि स्वाभाविक तौर पर संयुक्त चीजें भी एक दूसरेसे अलग हो गयी है'।

(५) मंत्रिमण्डलीय सरकारकी अपेक्षा अध्यक्षात्मक सरकार अवसरके भरोसे चीजोंको अधिक छोड़ देती है।

(६) अध्यक्षात्मक कार्यपालिका नमनशील नहीं होती। क्योंकि सरकारको संविधानकी व्यवस्थाओके अनुकूल ही कार्य करना होता है।

एकात्मक तथा बहुल कार्यपालिका (Single and plural executive). सभी प्रसिद्ध विचारक इस बातसे सहमत हैं कि एकात्मक कार्यपालिका बहुल कार्यपालिकाकी अपेक्षा अधिक उपयुक्त होती है। नैपोलियन ने ठीक ही कहा था कि दो अच्छे सेनानायकोंकी अपेक्षा एक बुरा सेनानायक कही अच्छा है। प्राचीन एथेन्समें कार्यपालिकाकी शक्ति टुकड़ोंमें बँटी हुई थी। रोममें भी बहुत दिनों तक दो प्रशासक (consuls) थे और उनकी शक्तियोंका कोई स्पष्ट विभाजन नही किया गया था। फलतः एक प्रशासक दूसरे प्रशासकके कार्योंका निषेध कर सकता था। वर्तमान समयमें केवल स्विटज़रलैण्डमें ही बहुल कार्यपालिका है। पर वहाँ भी कार्यकारिणी-परिषदके सदस्योंकी शक्तियोंका अतिक्रमण नहीं दिखायी देता। संयुक्त-राज्य अमरीकामें नगर-पालिकाओंके प्रबन्धमें समिति रूप, जिसमें कमिश्नरोंके बीच जिम्मेदारी बँटी रहती थी, समाप्त किया जा रहा है तथा इस प्रथाके स्थान पर नगर-प्रबन्धक (city manager) प्रथाको स्थापित किया जा रहा है। इस नयी प्रथाके अन्तर्गत एक दृढ़ प्रबन्धक नियुक्त किया जाता है।

कार्यपालिकाकी बहुलताका अर्थ है, जिम्मेदारीका विभाजन। इससे भूलोंको छिपानेकी प्रवृत्ति पैदा होती है और समस्याओं पर शीघ्र निर्णय लेनेमें और उद्देश्यकी एकतामें बाधा पहुँचती है। इसमें एकता और सक्रियताका अभाव रहता है। इसके पक्षमें इतना कहा जा सकता है कि इससे शक्तिके दुरुपयोग होने और आकस्मिक राज्य विप्लवकी सम्भावना पर रोक लगती है। इस प्रथामें एकात्मक कार्यपालिकाकी अपेक्षा राज्यकी सेवाके लिए अधिक उच्च कोटिकी सामर्थ्यवाले व्यक्ति मिल सकते हैं। पर इस प्रथाको अनुपयुक्त सिद्ध करनेके लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि इसमें एकता, प्रत्यक्ष कार्यवाही और जल्दी काम करनेका अभाव है। पर यह सम्भव है कि एकात्मक और बहुल कार्यपालिकाके सिद्धान्तोंका समन्वय किया जा सके। आधुनिक शासन व्यवस्था इतनी जटिल और पेचीदी हो गयी है कि कोई भी एक व्यक्ति चाहे वह कितना ही योग्य क्यों न हो, शासनके हर विभागका विशेषज्ञ नहीं हो सकता। आवश्यकता इस बातकी है कि प्रशासनके विभिन्न स्तरों पर उत्तरदायित्व बँटा हुआ हो और ऊपरी सिरे पर एकात्मक कार्यपालिका हो।

कार्यपालिकाकी कार्यावधि (Tenure of the executive). आनुवंशिक कार्यपालिकाकी कार्यावधि जीवन भरकी होती है। कार्यावधिका प्रश्न केवल मनोनीत कार्यपालिकाओके बारेमें ही उठता है। आजकल यह कार्यावधि एकसे लेकर सात वर्ष

तक की होती है। अमरीकाके अधिकांश राज्योंमें राज्यपाल दो वर्षके लिए चुने जाते हैं। वहांका राष्ट्रपति चार वर्ष तक पदासीन रहता है। फ्रांस और जर्मनीके राष्ट्रपतियोंकी पदावधि सात वर्षोंके लम्बे समयकी है। इंगलैण्ड और उसके उपनिवेशोंमें अधिकतम कार्यावधि पाँच वर्षकी है। पर इसमें भी मंत्रिमण्डलके लिए निचले सदनका विश्वास प्राप्त रखना आवश्यक है। इस अवधिके पहले भी कार्यपालिका भंग किये जानेकी सम्भावना बनी रहती है। भारत जब इंगलैण्डके अधीन था तब गवर्नर-जरनल और गवर्नरोंकी नियुक्ति पाँच वर्षके लिए होती थी।

आधुनिक परिस्थितियोंमें एक या दो वर्षकी अवधि बिल्कुल ही व्यर्थ है। यह नीतिकी निरन्तरताके लिए घातक है। अनुभव प्राप्त करने, बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाने और उन्हें कार्यान्वित करनेके लिए कार्यपालिकाको पर्याप्त समय नहीं मिल पाता। जल्दी-जल्दी होनेवाले चुनावका प्रभाव सार्वजनिक जीवन पर बहुत बुरा पड़ता है। बहुधा उससे भ्रष्टाचार और बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। कार्यपालिकाको जनताकी कृपा पर निर्भर रहना पड़ता है, विशेषकर उस दशामें जब उसे दुबारा चुनाव लड़ना होता है। वह दुर्बल और अस्थिर-बुद्धि रहती है और साहस और स्वतंत्रताके साथ कोई काम करनेसे डरती है।

दूसरी ओर सात वर्षकी अवधि निर्वाचित कार्यपालिकाके लिए, चाहे वह नाममात्रकी कार्यपालिका ही क्यों न हो, बहुत लम्बी अवधि है। यदि कार्यपालिका कोकेवल रस्मी कर्तव्य ही पूरे करने हैं तो उसकी कार्यावधि छोटी होनी चाहिए जिससे बहुत-से लोगोंकी महत्वाकांक्षाएँ सन्तुष्ट हो सकें। इस दृष्टिसे मद्रासके मेयरका वार्षिक चुनाव समर्थनके योग्य है। राजनीतिक कार्यपालिकाओं और अनेक नाममात्रकी कार्यपालिकाओंके लिए चार या पाँच वर्षकी कार्यावधि उपयुक्त जान पड़ती है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि अमरीकी संविधानके निर्माताओंमें से हैमिल्टन राष्ट्रपतिके लिए सद्व्यवहार आवश्यक समझते थे।

यह एक विवाद-ग्रस्त प्रश्न है कि प्रधान कार्यपालिकाको अपना ही उत्तराधिकारी बनने दिया जाय अथवा नहीं। अंग्रेजोंके समयमें भारतमें गवर्नर-जनरल और गवर्नरोंकी नियुक्ति उसी पद पर या उसी प्रकारके अन्य पदों पर बहुत कम होती थी। अमरीकी परम्पराके अनुसार राष्ट्रपति केवल एक बार ही दुबारा चुनाव लड़ सकता है, परन्तु राष्ट्रपति रूजवेल्टके लगातार चार बार राष्ट्रपति चुने जानेसे यह परम्परा समाप्त हो गयी है। आधुनिक वैधानिक व्यवस्था यह है कि कोई भी व्यक्ति राष्ट्रपति पद पर लगातार दो से अधिक बार निर्वाचित नहीं हो सकता। पुनर्निर्वाचनके पक्षमें यह कहा जा सकता है कि इससे 'कल्याणकारी नीतिकी निरन्तरता सुरक्षित होती है।' इसके विपक्षमें यह कहा जा सकता है कि इससे जनतामें कुटिलताकी भावना आ जाती है क्योंकि कार्यपालिका इतनी दबी रहती है कि स्वतंत्रतापूर्वक काम नहीं कर सकती। साधारणतः हम यह देखते हैं कि एक स्वार्थी व्यक्ति पदके लिए चाहे एक बार खड़ा हो सके या अनेक बार उसका व्यवहार स्वार्थपूर्ण ही होगा। वास्तविक समस्या

तो यह निर्णय करना है कि एक परखा हुआ प्रधान कार्यपालिका असाधारण सामर्थ्य वाला ऐसा व्यक्ति है या नहीं जिसकी शक्ति पूर्ण है और जिसमें प्रगतिशील योजनाओं और नीतियोंको कार्यान्वित करनेके लिए आवश्यक परिवर्तन लानेका संकल्प है। यदि निर्वाचक-मण्डलको ऐसा व्यक्ति मिल जाय तो जनता उसे जितनी बार चाहे उतनी बार चुन सकती है और इसमें कोई वैधानिक रुकावट नही होनी चाहिए।

कार्यपालिकाकी शक्ति और कर्त्तव्य (Powers and functions of the executive). विधानमण्डल राज्यकी इच्छाको प्रगट करता है और कार्यपालिका उस इच्छाको कार्यान्वित करती है। गार्नर ने कार्यपालिकाकी शक्तिको पाँच भागोंमें बाँटा है: राजनयिक शक्ति, प्रशासकीय शक्ति, सैनिक शक्ति, न्यायिक शक्ति और वैधायनी शक्ति।

(१) **राजनयिक या कूटनीतिक शक्ति (diplomatic power)** में वैदेशिक सम्बन्धोकी व्यवस्था सम्मिलित है। कार्यपालिका दूसरे देशोमें अपने राजनयिक प्रतिनिधि नियुक्त करती है और उन देशोके प्रतिनिधियोका स्वागत करती है। दूसरे देशोके राजनयिक प्रतिनिधियोंका स्वागत करनेकी शक्तिका यह मतलब लगाया जाता है कि दूसरे देशोकी स्वाधीनता और उनकी सरकारोंको मानने या न माननेका अधिकार कार्यपालिकाको प्राप्त है।

कार्यपालिका अकेले ही या एक या दोनों सदनोंकी सहमतिसे सन्धियाँ और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय समझौते करती है। संधियोंको गोपनीय बनाये रखनेके लिए कमसे कम शुरूमें विधानमण्डलको अलग रखा जाता है। १९१४-१८ के महायुद्धके दौरान में और उसके बाद इंगलैण्डमें इस नीतिकी बड़ी कड़ी आलोचना की गयी थी। कुछ लोगोंने तो यहाँ तक कहा था कि इगलैण्डको ग़लत गुप्त कूटनीतियोंने उसे जर्मनीसे लड़वा दिया। मजदूर दलीय सरकार संसदके सम्मुख उसकी स्वीकृतिके लिए सभी सन्धियाँ उपस्थित करनेको तैयार थी। द्वितीय महायुद्धके समय कूटनीति अधिक स्पष्ट हो गयी थी। इगलैण्ड और अमरीका एक इकाईके रूपमें काम करते रहे।[1] पश्चिमी राष्ट्रों और सोवियत संघ द्वारा सावधानीपूर्वक प्रत्यक्ष या गुप्त साधनोंसे अन्य देशोंको अपना सहयोगी बनानेके प्रयत्नोंके बावजूद संयुक्त राष्ट्र (United Nations) की कार्यवाहीने अभी तक के गुप्त एक-पक्षीय सन्धि और समझौतोंकी बातचीतको बहुत हद तक समाप्त कर दिया है।

इंगलैण्डमें आज भी सन्धि करनेकी शक्ति बहुत कुछ कार्यपालिकाके हाथोंमें है। संसदका उसमें कोई हाथ नहीं रहता। संसद संधियोंमें तभी हस्तक्षेप करती है जब सन्धिको पूर्णता प्रदान करने अथवा उसे प्रभावपूर्ण बनानेकी आवश्यकता होती

---

[1] इस युद्धके दौरानमें भी ऐसे समझौते हुए जिनमें अप्रकाशित गुप्त अभियानों की शर्तें थीं, जैसे काहिरा, याल्टा और पोट्सडेम के समझौते। इस युद्धके बाद इन गुप्त शर्तोंकी बहुत अधिक आलोचना की गयी, विशेषकर संयुक्त-राज्य अमरीकामें रिपब्लिकन दल द्वारा, जिसका उद्देश्य दलगत अधिक था।

है। कार्यपालिका ही सन्धियोंकी बातचीत करती है और पूरा करती है। अन्य अनेक देशोंमें विधान मण्डलकी स्वीकृति आवश्यक होती है। संयुक्त-राज्य अमरीका मे कुछ खास तरहके अन्तर्राष्ट्रीय समझौते केवल राष्ट्रपतिके अधिकार पर ही किये जा सकते हैं, उदाहरणके लिए पारस्परिक व्यावसायिक समझौते (reciprocal trade agreements)। दूसरे प्रकारकी सन्धियोंके लिए सीनेटकी स्वीकृति आवश्यक है। सीनेटने इस अधिकारका अर्थ यह लगाया है कि उसे सन्धियोंके मसविदे को न केवल स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करनेका अधिकार है बल्कि उनमें संशोधन करनेका भी अधिकार है। प्रतिनिधि-सभा (The House of Representatives) संधियाँ करनेमे अप्रत्यक्ष रूपसे धनके बलके कारण ही भाग ले पाती है। सन्धिकी शर्तोंको कार्यान्वित करनेके लिए आवश्यक व्यय-विनियोगों (appropriations) को वह अस्वीकार कर सकती है। वह उन सन्धियोंको भी अस्वीकार कर सकती है जो विदेशी व्यापारके नियमसे सम्बन्ध रखती हैं। जर्मन गणराज्यमें साधारण समझौतोके अतिरिक्त अन्य सभी सन्धियों और समझौतोंके लिए निचले सदनकी स्वीकृति आवश्यक थी। फ्रांसमें अधिकाश सन्धियोंको दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत करानेका ही रिवाज है। सदनोंको सन्धियाँ स्वीकार या अस्वीकार करनेका ही अधिकार है, उनमे संशोधन करनेका नही। स्विटज़रलैण्डमें यह व्यवस्था है कि पन्द्रह वर्षसे अधिक अवधिकी सन्धियोंको जनताके सम्मुख लोक-निर्देशके लिए पेश किया जाय। अमरीकामें यह प्रस्ताव विचाराधीन है कि वर्तमान पद्धतिके स्थान पर सन्धियोंको दोनों सदनोंमें साधारण बहुमत द्वारा स्वीकृत कराया जाय।

(२) **प्रशासकीय अधिकार (administrative power)** का तात्पर्य क़ानूनको कार्यान्वित करने और सरकारके प्रशासन सम्बन्धी अधिकारसे है। कुछ देशोंमें सरकारके प्रशासकीय अधिकारोंको व्यापक रूपसे काममे लाया जाता है और कहीं-कहीं साधारण रूपसे। कुछ लोग कार्यपालिकाकी प्रशासकीय शक्तिको आन्तरिक अधिकार और कुछ लोग गृह-अधिकार कहते है। इसमें आर्थिक, व्यावसायिक, कृषि-सम्बन्धी और शिक्षा-सम्बन्धी प्रशासन सम्मिलित हैं। फ्रांसमें कार्यपालिकाको राजनीतिक अथवा सरकारी कर्त्तव्यों और शुद्ध प्रशासकीय कर्त्तव्यों के बीच उपयोगी अन्तर किया गया है। अनेक देशोंमें कार्यपालिका द्वारा की गयी नियुक्तियोंके लिए दो में से किसी एक सदनकी मंजूरी आवश्यक होती है। अमरीका में नियुक्तिके लिए सीनेटकी स्वीकृति आवश्यक होती है। पर पदच्युत करनेका अधिकार केवल राष्ट्रपतिको ही है। साधारण तौर पर मुख्य कार्यपालिका द्वारा नियुक्तियोंका यह अधिकार केवल उच्च कोटिके राजनीतिक, न्यायिक और सैनिक कर्मचारियों तक ही सीमित रहता है। जेकोस्लोवाकियामें विश्व विद्यालयके अध्यापकोंकी नियुक्ति भी प्रधान-कार्यपालिका ही करती है। अमरीकाके राज्यों, नगरों आदिमें अनेक सार्वजनिक पदों पर नियुक्तियाँ सार्वजनिक चुनाव द्वारा

ही होती हैं। स्विटज़रलैण्ड में विधानमण्डल द्वारा कर्मचारियोंका चुना जाना प्रचलित है।

नियंत्रण और निर्देशनका अधिकार विभिन्न राज्योंमें और कभी-कभी एक ही राज्यमें भिन्न प्रकारका दिखायी देता है। जिन देशोंमें राजतंत्रकी परम्परा अब भी है वहाँ मंत्रिमण्डलकी शक्ति बहुत अधिक है। संयुक्त-राज्य अमरीका में राष्ट्रपति के नियंत्रण और निर्देशन सम्बन्धी अधिकारको बहुधा वैधानिक साधनोंसे सीमित और नियंत्रित किया जाता है। फिर भी विभागीय अध्यक्षोंको निर्देश और आज्ञाएँ देनेका अधिकार राष्ट्रपतिको प्राप्त है। इंगलैण्डमें स्थायी सार्वजनिक अधिकारी (permanent civil service) मंत्रिमण्डलके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हुए अपना काम करते हैं।

(३) **सैनिक अधिकार शक्ति.** इंगलैण्डकी तरह जिन देशोंमें राजतंत्रकी परम्परा है उन देशोंमें कार्यपालिकाके सैनिक अधिकारोंमें युद्धकी घोषणा करनेका अधिकार शामिल है। फ्रांसमें विधानमण्डलके दोनों सदनोंकी मंजूरीसे ही युद्धकी घोषणा की जा सकती है। अमरीकामें केवल संसद (कांग्रेस) ही युद्धकी घोषणा कर सकती है। पर राष्ट्रपति वैदेशिक मामलोंके संचालनमें ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है कि युद्धकी घोषणा अनिवार्य हो जाय। राष्ट्रपति जल, थल और नभ सेनाओं का सर्वोच्च सेनानायक होता है। संकट-कालीन परिस्थितिमें राष्ट्रपति देशमें सेना-विधि (martial law) लागू कर सकता है तथा नागरिकोंके वैधानिक अधिकारोंको स्थगित कर सकता है। नागरिकोंका 'बन्दी प्रत्यक्षीकरण' (writ of habeas corpus) जैसा महत्वपूर्ण अधिकार भी स्थगित किया जा सकता है। राष्ट्रपति समाचार पत्रोंको बन्द कर सकता है। द्वितीय विश्वयुद्धके दिनोंमें कांग्रेस ने कई अधिनियम बनाकर राष्ट्रपतिको व्यावहारिक रूपमें तानाशाही अधिकार दे दिये थे। युद्धमें लगे दूसरे देशोंमें भी कार्यपालिकाओंको ऐसे ही अधिकार दिये गये थे।

(४) **न्यायिक अधिकार-शक्ति (Judicial power).** कार्यपालिकाके न्यायिक अधिकारोंमें से एक महत्वपूर्ण अधिकार अपराधियोंको क्षमा करनेका है। मॉन्टेस्क्यू (Montesquieu) गणतंत्र राज्योंमें इस अधिकारको बिल्कुल अनावश्यक मानते थे। पर न्याय और मानवताके विचारसे हर संविधानमें, चाहे वह राज-तंत्रात्मक हो या गणतंत्रात्मक, क्षमाके लिए स्थान होना ही चाहिए क्योंकि क़ानून अपूर्ण ही होता है और अत्यधिक कठोरतासे लागू किया जाता है। यह सम्भव हो सकता है कि वर्तमान क़ानूनमें और न्यायाधीशों द्वारा उनके उपयोग किये जानेके ढंगमें त्रुटियाँ हों, या अपराधको हल्का बनानेवाली परिस्थितियों पर या उन परिस्थितियों पर जिनमें अपराध किया गया था पूरी तरहसे विचार न किया गया हो; यह भी सम्भव है कि सज़ा सुनाये जानेके बाद अपराधके बारेमें नयी बातें मालूम हों। इन सभी परिस्थितियोंमें न्यायका तक़ाजा है कि अपराधीको सन्देहका लाभ दिया जाय और इस परमाधिकार (prerogative) का प्रयोग करनेके लिए सबसे

अधिक उपयुक्त व्यक्ति सर्वोच्च कार्यपालिका ही है। इंगलैण्डमें इस अधिकारका प्रयोग गृह-मन्त्रीकी सलाहसे सम्राट् करता है। अमरीकाके अनेक राज्योंमें एक परामर्शदातृ समिति (advisory board) राज्यपालको इस अधिकारका प्रयोग करनेमें सहायता देती है। अनेक संविधानोंके अनुसार महाभियोगोंके अपराधियोंको क्षमा नहीं किया जा सकता। अमरीकाके राष्ट्रपतिको अपराध सिद्ध होनेके पहले भी और उसके बाद भी क्षमा करनेका अधिकार है। वह जुर्मानोंको और ज़ब्त की हुई सम्पत्तिको वापस कर सकता है। वह प्राणदण्डके स्थगन और उसे हल्का करने की आज्ञा दे सकता है तथा अपराधके लिए दण्डित बहुतसे व्यक्तियोंको क्षमा कर सकता है।

प्रजातंत्रवादी संविधानोंके अन्तर्गत कार्यपालिकाके सामान्य निरीक्षणमें काम करनेवाले सरकारी विभागोंको अर्ध-न्यायिक कोटिके व्यापक अधिकार दिये गये हैं। इस प्रकार इंगलैण्डमें स्वास्थ्य मंत्रालय अपने प्रशासकीय कार्योंके सिलसिलेमें लोगों पर जुर्माने कर सकता है और हर्जाना वसूल कर सकता है। आजकल अधिकाधिक राज्य प्राणदण्डकी व्यवस्था समाप्त करते जा रहे हैं।

(५) **विधायनी-शक्ति (Legislative power).** सभी संविधानोंके अन्तर्गत विधानमण्डल और कार्यपालिका दोनों का एक दूसरे पर नियंत्रण रहता है। संसदीय शासन प्रणालीके राष्ट्रोंमें कार्यपालिकाको विधानमण्डलके अधिवेशनों को बुलाने, उसे प्रारम्भ करने, तथा उसे निश्चित या अनिश्चित समयके लिए स्थगित करनेका अधिकार रहता है। कार्यपालिका का यह अधिकार अध्यक्षात्मक प्रणालीमें सीमित रहता है क्योंकि वहाँ विधानमण्डलके अधिवेशन अपने आप होते रहते हैं। संसदीय संविधानोंमें कार्यपालिकाको विधानमण्डल भंग करने और नये चुनाव करनेका अधिकार भी होता है। उसका प्रारम्भ भी एक रस्मी तौर पर होता है। अध्यक्षात्मक पद्धतिमें यह सब बातें नहीं पायी जातीं।

अध्यक्षात्मक सरकारके देशोंमें क़ानून बनानेके बारेमें कार्यपालिकाका अधिकार सीमित रहता है। कार्यपालिका इस सम्बन्धमें यह कार्य करती है : 'विधान मण्डलको देशकी वैधानिक आवश्यकताओंके बारेमें सूचना देना; विधान मण्डलके विचारार्थ विधि सम्बन्धी प्रस्ताव पेश करना; कभी-कभी वैधानिक आयोजनाओं का प्रारम्भ करना (यद्यपि ऐसा बहुत कम होता है); व्यवस्थापिकाके क़ानूनोंको स्वीकार या अस्वीकार करना और स्वीकृत क़ानूनोंको लागू करना (२३ : ७२६)।'

अध्यक्षात्मक प्रणालीमें कार्यपालिकाको एक असाधारण अधिकार प्राप्त होता है। वह अधिकार है निषेधाधिकार (power of veto) का। अमरीकामें यह स्थगनात्मक निषेधाधिकार (suspensive veto) है। हर सदनके दो-तिहाई मतसे इस अधिकारका उल्लंघन किया जा सकता है। इस अधिकारसे जल्दबाजीमें और बिना ठीक प्रकार सोचे-विचारे बनाये गये क़ानूनों पर रोक लगती है। जब अध्यक्ष अपने निषेधाधिकारका प्रयोग करता है तब उसे विधानमण्डलके कार्यको स्वीकार न

करने के लिए अपने कारण बतलाने पड़ते हैं। विधानमण्डलको इस बातका मौका दिया जाता है कि वह अपने निर्णय पर फिरसे विचार करे। फ्रांसमें स्थगनात्मक निषेधाधिकारका व्यावहारिक दृष्टिसे कोई मूल्य नहीं रह गया है क्योंकि अब वहाँ इसका प्रयोग नहीं किया जाता।

अधिकांश आधुनिक राज्योंमें कार्यपालिकाको अध्यादेश (ordinance) जारी करनेका अधिकार रहता है। इसे उपाश्रित व्यवस्थापन (subordinate legislation) का अधिकार कहते है। इस अधिकारका प्रयोग आज्ञप्तियों, आदेशों, नियमों और अधिनियमोंके रूपमें होता है। इनमें से कुछके लिए संसदकी स्वीकृति आवश्यक होती है। इस अधिकारके प्रयोग करनेकी सामान्य शर्त यह है कि इससे व्यवस्थापित विधान न तो एकदम बदल जाय और न स्थगित हो बल्कि इससे विधान को लागू करनेमें सहायता मिले और विधानके विवरणोंकी पूर्ति हो। देश और जनता की सुरक्षाके लिए अधिनियम लागू करनेका असाधारण अधिकार कभी-कभी संकटकालीन अवस्थामें कार्यपालिकाको दिया जाता है। यह अधिकार प्रायः सीमित होता है। इस अधिकारके अन्तर्गत देशमें वस्तुतः सैनिक-विधि (martial law) लागू किया जा सकता है।

जर्मन लेखक वैधानिक अध्यादेशोंमें और प्रशासकीय अध्यादेशोंमें अन्तर करते हैं। वैधानिक अध्यादेश नये क़ानून बनाते हैं या वर्तमान कानूनोंमें संशोधन करते हैं। दूसरी ओर प्रशासकीय अध्यादेशोंमें प्रशासकीय अधिकारियोंको उनके अधीन कर्मचारियोंके आचरण और कार्योंके बारेमें आदेश या निर्देश दिये जाते हैं। जनता पर उसका कोई सीधा प्रभाव नही पड़ता और न वह उनसे बाध्य होती है।

गार्नर के अनुसार अध्यादेश तीन प्रकारके होते है। प्रथम प्रकारके अध्यादेशोंमें ऐसे क़ानून शामिल रहते हैं जिन्हें 'संविधि (Statute) द्वारा प्राप्त अपने सामान्य व्यवस्थापनके अधिकारके अनुसार प्रधान कार्यपालिका लागू करती है।' इस कोटिमें राष्ट्रपतिकी आज्ञप्तियों द्वारा चलनेवाला फ्रांसीसी उपनिवेशोंका शासन आता है। दूसरे प्रकारके अध्यादेशोंमे वे अध्यादेश आते हैं जो 'कुछ विशेष विषयोंका नियमन करनेके लिए कार्यपालिका द्वारा अपनी विधायनी शक्तिके अनुकूल लागू किये जाते हैं।' तीसरे प्रकारके अध्यादेश वे हैं जो विधानमण्डलके निमंत्रण पर किसी विशेष विधानकी विवरण पूर्ति और उसके कार्यान्वयके लिए अधिनियम स्वीकृत करनेके उद्देश्यसे लागू किये जाते हैं। इस प्रकारके अध्यादेशोंका प्रयोग फ्रांसमें अधिक होता है क्योंकि वहाँ संसद विधानकी सामान्य रूपरेखा ही बनाती है और विधानके विवरणोंको अध्यादेशों द्वारा पूरा किये जानेके लिए छोड़ देती है। सन् १९०७ ई० तक प्रधान प्रशासकीय न्यायालय अध्यादेशोंकी वैधताके बारेमें हस्तक्षेप करनेसे इनकार कर देते थे चाहे अध्यादेश विधानके विपरीत ही क्यों न हों। पर सन् १९०७ के एक महत्वपूर्ण निर्णयके अनुसार अध्यादेश-शक्ति पर न्यायालयोंका नियंत्रण हो गया है।

संयुक्त-राज्य अमरीकामें अध्यादेशोंके लिए अधिक स्थान नहीं है क्योंकि वहाँ कांग्रेस क़ानूनोंको पूरे विवरणके साथ बनाती है। फिर भी कार्यपालिकाके हर विभाग के कार्योंका नियंत्रण करनेके लिए राष्ट्रपतिकी उद्घाषणाओं, कार्यकारिणीके आदेशों और अधिनियमोंकी संख्या बहुत अधिक है। इनके अतिरिक्त विभिन्न विभागों द्वारा जारी किये गये विशेष नियमों, अधिनियमों और निर्देशोंकी संख्या बहुत अधिक है।

इंगलैण्डमें अब सम्राट्को उद्घोषणाओं और अध्यादेशों द्वारा विधान बनानेका अधिकार नही है फिर भी सार्वजनिक कार्योंके उचित सचालनके लिए अधिनियम जारी करनेका अधिकार सम्राट्के सेवकोंको दिया जा सकता है। अध्यादेशोंकी रचना 'परिनियत नियम (statutory rules) और आदेशों' के रूपमें होती है और वे समाज पर क़ानूनोंके समान ही लागू होते है। विवरण पूरा करनेका काम प्रायः प्रशासकीय विभागोंके लिए छोड़ दिया जाता है, विशेषकर शिक्षा और सार्वजनिक स्वास्थ्य जैसे मामलोंमें।

अच्छी कार्यपालिकाकी कसौटी (Tests of a good executive). शीघ्र निर्णय, एकता, पूर्णता, और कभी-कभी कार्य-विधिकी गोपनीयता अच्छी कार्यपालिकाकी कसौटी है। कार्यपालिका छोटी होनी चाहिए, अन्यथा शीघ्र निर्णय और तेज़ीसे काम करना असम्भव हो जाता है। इस मामलेमें तानाशाही शासन लोकतंत्रीय राज्योंसे अच्छा है। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि संकटके समयमें अमरीकाके राष्ट्रपतिको असाधारण अधिकार दिये जाते है। ऐसे ही अधिकार युद्ध के दौरानमें भारतके गवर्नर-जनरलको भी दिये गये थे। इंगलैण्डमें शीघ्र निर्णय करने और तेज़ीसे काम करनेके लिए छः सदस्योंकी एक युद्ध परिषद बनायी गयी थी।

कार्यपालिकाकी उन्मुक्ति (Immunity of the executive). अच्छे शासनके लिए यह आवश्यक है कि कार्यपालिका अदालतोंके अधिकार-क्षेत्रसे परे रहे। इंगलैण्डमें तो यह सिद्धान्त माना जाता है कि 'राजा कोई अपराध कर ही नहीं सकता।' अमरीकाका राष्ट्रपति अपने कार्यकालमें साधारण अदालतोंके न्यायक्षेत्र से मुक्त रहता है। उसके अपराधोंके लिए सीनेट 'अभियोग न्यायालय' (court of impeachment) के रूपमें उस पर मुक़दमा चला सकती है और अपराधी साबित होने पर उसे पदच्युत कर सकती है। उसके बाद साधारण अदालतोमें उस पर मुक़दमा चलाया जा सकता है। राष्ट्रपतिके कार्यकालमें उसे गिरफ्तार नहीं किया जा सकता और न व्यक्तिगत रूपसे किसी न्यायालयमें उपस्थित होनेके लिए या किसी न्यायिक कार्यवाहीका पालन करनेके लिए उसे बाध्य किया जा सकता है। ऐसी ही छूट भारतमें गवर्नर-जनरल और गवर्नरों को प्राप्त थी।

प्रशासकीय-सेवा (The Civil Service).

आधुनिक राज्यमें प्रशासन-सेवा ही स्थानीय कार्यपालिका है। जबकि संसद,

मंत्रिमण्डल और राष्ट्रपति राज्य करते हैं तब वास्तवमें प्रशासन-सेवा ही शासन करती है। लोकप्रिय सम्प्रभुता, संसदकी सर्वोच्चता और मंत्रिमण्डलीय नियत्रण आदि के सिद्धान्त राजनीति-शास्त्र का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियोंके लिए केवल सैद्धान्तिक महत्व रखते है पर प्रशासकीय अधिकारियोंके कार्योका सम्बन्ध उनके और साधारण नागरिकके दैनिक जीवन और सम्बन्धोंसे रहता है।

१. परिभाषा और इतिहास (Definition and History)

फ़ाइनर प्रशासन-सेवाकी परिभाषा इस प्रकार करते है, 'एक स्थायी वेतन-भोगी कुशल कार्याधिकारी वर्ग।' यह सभी विशेषताएँ आधुनिक हैं। काफ़ी समय तक संसारके कुछ उन्नत देशोंमें शासन कार्य अवैतनिक व्यक्तियों द्वारा अपने अवकाशके समय पूरा किया जाता था। इंगलैण्डमें अठारहवी शताब्दीके अन्त तक यही अवस्था थी। पर उस समयसे प्रशासन-सेवा एक कुशल व्यवसाय बन गया है।

प्रशासन-सेवाको यह नाम उसे सैनिक और न्यायिक अधिसेवासे पृथक रखनेके लिए दिया गया है। इस बातके प्रमाण है कि प्राचीन मिस्रमें टोलमी और फेरयो (Ptolemies and Pharaohs) राजाओंके समय किसी न किसी प्रकारकी प्रशासन-सेवा वर्तमान थी। प्राचीन एथेन्समें एक व्यवसायके रूपमें प्रशासन-सेवा नहीं पायी जाती थी। इसका कारण यूनानका यह अतिवादी प्रजातंत्रीय सिद्धान्त था कि एक व्यक्ति लोक-सेवाके लिए उतना ही उपयुक्त है जितना कि कोई दूसरा व्यक्ति। अधिकाश अधिकारी निर्वाचित होते थ। पर कभी-कभी निर्वाचन के साथ भाग्यपत्र (lots) डालकर चुनाव किया जाता था। प्राचीन एथेन्सकी भाँति गणतत्रवादी रोममें भी कोई प्रशासन-सेवा नही थी पर साम्राज्यवादी रोम विशिष्ट कोटिके प्रशासकीय अधिकारियोसे काम लेता था। केवल कुलीन-वर्गोके व्यक्ति ही उत्तरदायित्वपूर्ण प्रशासकीय पदों पर नियुक्त किये जाते थे। निम्न कोटिके लोगोंको गुप्तचरो और छोटे-छोटे अधिकारियों (subordinate officers) तथा साम्राज्यके दूरके भागोंमें प्रधान अधिकारियोंके पदों पर नियुक्त किया जाता था। प्राचीन चोन और भारतमें भी इसी प्रकारको नौकरशाही थी।

मध्ययुगमें योरोपमे शिल्पों और शिल्प सघोंके साथ-साथ प्रशासन-सेवाका विकास एक व्यवसायके रूपमें हुआ। प्रशासन-सेवाके सम्मान और प्रतिष्ठा पर वेतनकी अपेक्षा अधिक ध्यान दिया जाता था। सामन्तशाही कुलीन-वर्गोकी अपेक्षा मध्यवर्गके लोग इन पदों पर अधिक नियुक्त किये जाते थे।

आधुनिक युगमें प्रशासन-सेवाका आयोजन करनेमें प्रशा (Prussia) अगुआ रहा है। उस देशमें जन-सेवकोंको भर्ती करने और उनके प्रशिक्षणके बारेमें बड़ी सावधानी बरती जाती थी। व्यापक नियम बनाकर प्रशासन-सेवाको अधिकसे अधिक कुशल और उपयोगी बनाया गया था। आज भी जर्मनीमें प्रशासन-सेवकों के अधिकारों और सुरक्षाकी सबसे अच्छी व्यवस्था है। जहाँ तक कर्त्तव्योंका

सम्बन्ध है यह कहना पड़ेगा कि जर्मनीकी प्रशासन-सेवामें अधिकारिक प्रवृत्तिकी परम्परा अब भी क़ायम है। पर नाज़ियोंके प्रादुर्भावके पहले इस बातके सभी सम्भव प्रयत्न किये जा रहे थे कि प्रशासन-सेवाकी कठोरताको दूर किया जाय। और उसकी अधिकारपूर्ण हस्तक्षेपकी प्रवृत्तिको अच्छी सेवा भावनामें बदल दिया जाय। फ़्रांसके बोरबा (Bourbon) राजाओं ने योरोपमें प्रशासन-सेवाकी परम्परा बनानेमें कुछ योग दिया था पर नियुक्तियाँ और पदच्युत करना मनमाने ढंगसे ही किया जाता रहा।

आजकल संसारकी सर्वोत्तम प्रशासन-सेवाओंमें से एक इंगलैण्डमें पायी जाती है। इसका प्रारम्भ गत शताब्दीके मध्यसे हुआ था। फ़ाइनर इंगलैण्डकी प्रशासन-सेवाको संसारके लिए ईर्ष्याकी वस्तु कहते है। इसमें यान्त्रिक कौशल और मानवीय सेवा-भावका सम्मिलन है जो अन्य किसी प्रशासन-सेवामें नही है। ग्रेहम वेलेस (Graham Wallas) के शब्दोंमें, 'इस अधिसेवाका निर्माण उन्नीसवीं शताब्दीके इंगलैण्डका एक महान् राजनीतिक आविष्कार था।'

इगलैण्डकी प्रशासन-सेवा अपने उद्भव और विकासकी दृष्टिसे वहाँके मंत्रि-मण्डलीय शासनकी कमियोंकी आवश्यक प्रतिपूर्ति (counterpart) है। इंगलैण्डके मंत्रिमंडलके नब्बे प्रतिशत सदस्योंको जिन विभागोंके प्रशासन का कार्य सौंपा जाता है उन्हें उन विभागोंकी भीतरी कार्य-प्रणालीका ज्ञान बहुत कम या नहीं के बराबर होता है। मंत्री अपने कामको सम्भालनेमें ऐसे दृष्टिकोण और बुद्धिबलसे काम लेता है जो पूर्व-निर्धारित भावनाओं और नौकरशाहीकी अड़ंगेबाज़ीसे मुक्त होता है और प्रशासन-सेवा उस विषयके कुशल वैज्ञानिक ज्ञान और अनुभवका सहारा उसे देती है। दोनोंके समन्वयका परिणाम सुन्दर शासन होता है। पर लॉर्ड हेवर्ट (Lord Hewart), रेमज़े म्योर (Ramsay Muir) और सी० के० ऐलन (C. K. Allen) आदि लेखक इस पद्धतिकी आलोचना करते हैं। उनका कहना है कि इस पद्धतिसे स्थायी प्रशासन-सेवाको आवश्यकतासे अधिक महत्व मिल जाता है। रेमज़े म्योर के अनुसार विधि-निर्माण, प्रशासन, अर्थ-व्यवस्था और नीति निर्धारणमें प्रशासन-सेवा ही वस्तुतः सारा निर्देशन करती है। यद्यपि यह काम अप्रत्यक्ष रूपसे होता है। वह यह देखकर आतंकित हो उठते हैं कि मंत्रिमण्डलीय उत्तरदायित्वके नाम पर नौकरशाही पनपती है।

उपर्युक्त आलोचनामें चाहे जितनी सच्चाई हो पर इस बातसे बिल्कुल इनकार नहीं किया जा सकता कि इंगलैण्ड संसारके उन देशोंमें से एक है जिनका प्रशासन सर्वोत्तम ढंगसे होता है। इसका कारण यह है कि उसे एक कुशल, विचारशील और निष्पक्ष प्रशासन-सेवा प्राप्त है जो शासनके दैनिक कार्योंको पूरा करती है।

अंग्रेज़ी राज्यमें भारतमें भी प्रशासन ने बड़ा महत्वपूर्ण काम किया। इसका कार्य-क्षेत्र इतना अधिक व्यापक था कि 'शासन' शब्दके अन्तर्गत जो कुछ भी आ

जाता है वह सब उसके अन्दर समझा जाता था। वह प्रशासन सम्बन्धी अपनी वैध जिम्मेदारीको तो पूरा करता ही था, साथ ही साथ नीति-निर्धारण और विधि-निर्माणमें भी उसका महत्वपूर्ण हाथ रहता था। भारतमें बहुधा प्रशासन अधिकारियोंको नौकरशाहीके पुर्ज कहा जाता था। इसका अर्थ यह होता था कि यह अधिकारी लोकमतसे प्रभावित हुए बिना अनुत्तरदायी ढंगसे अधिकारोंका प्रयोग करनेके आदी थे। पर यह परिस्थिति उत्तरदायी शासनके विकासके साथ-साथ समाप्त हो गयी।

संयुक्त-राज्य अमरीकामें प्रशासनका आरम्भ असन्तोषजनक तरीकेसे हुआ। इसका कारण 'लूट-खसोटकी प्रथा' (spoils system) थी जिसके अनुसार राष्ट्रपति के हर चुनावके बाद प्रशासन-सेवाके सैकड़ों पदोंका चुनावमें जीतनेवाले दलके समर्थकोंसे भरा जाता रहा है। पदोंके इस चक्रावर्तन (rotation) तथा सार्वजनिक पदोंको राजनीतिक रूप देनेकी इस प्रथाकी जिम्मेदारी ऐण्ड्रयू जैक्सन (Andrew Jackson) पर है जिन्होंने राष्ट्रपतिके पदसे (१८२९—३६) यह घोषणा की थी: 'प्रशासन-सेवकोंके कर्त्तव्य इतने स्पष्ट और सरल है कि समझदार आदमी आसानी से अपनेको उन कर्त्तव्योंको पूरा करने मे योग्य बना सकता है; और मैं पूर्णतः यह विश्वास करनेके लिए विवश हूँ कि एक लम्बी अवधि तक लोगोंके पदों पर बने रहनेसे जो हानि होती है वह उनके अनुभवसे होनेवाले लाभकी अपेक्षा कहीं अधिक है। किसी भी व्यक्तिको दूसरे व्यक्तिकी अपेक्षा सार्वजनिक पद पर नियुक्त होनेका अधिक नैसर्गिक अधिकार नही है।' इस खतरनाक नीतिका परिणाम अकुशलता, दलबन्दी, भ्रष्टाचार और घूसखोरी हुआ। बुराई इस हद तक पहुँच गयी कि देशको सन् १८८८ में मजबूर होकर प्रतियोगी परीक्षाओंके आधार पर स्थायी प्रशासन-सेवाका सिद्धान्त मानना पड़ा। लोक-सेवा आयोगोकी स्थापना की गयी, पर उनकी उपयोगिता इस कारण बहुत कुछ समाप्त हो गयी कि इन आयोगों को दोनों प्रधान राजनीतिक दलोंका प्रतिनिधि बना दिया गया। सन् १९०५ में एक और सुधारकी लहर आई पर वह भी 'लूट-खसोट' को प्रथाको निर्मूल न कर सकी। १९१६ तक प्रशासनके आधे से अधिक पदों पर नियुक्ति प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर होने लगी। कुछ विभागोंके सर्वोच्च अधिकारियोंको छोड़कर अब सभी सरकारी अधिकारी प्रशासन-सेवाके अन्तर्गत हैं। दलबन्दी तथा पक्षपातको मिटानेके लिए बहुत कुछ किया जा रहा है।

२. प्रशासन-अधिकारियोंकी भर्ती और उनका प्रशिक्षण

स्वस्थ प्रशासन-सेवाके निर्माणमें भर्ती और प्रशिक्षणका प्रश्न सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इंगलैण्ड और भारत दोनों ही देशोंमें गत शताब्दीके मध्य तक कुनबापरस्ती या आश्रयदान (patronage) का बोलबाला रहा है। ईस्ट इण्डिया कम्पनीके संचालक मण्डल में एक सदस्य स्कॉटलैण्डके थे। उन्होने अपने १९ लड़कोंमें से प्रायः सबके लिए किसी न किसी पदकी व्यवस्था कर दी थी।

(Recruitment and Training of Civil Servants)

नियंत्रण-समितिके सभापतिकी हैसियतसे डेण्डास ने अनेक स्कॉट लोगोंको भारत भेज दिया था। सन् १८५८ में जॉन ब्राइट ने कहा था, 'इंगलैण्डकी वैदेशिक नीति अपने देशके कुलीन वर्गको देशके बाहर सुविधाएँ देनेकी एक विशाल योजनासे अधिक और कुछ नहीं है।'

आश्रय-दानकी बुराइयाँ इतनी बढ़ गयी कि चुनाव करनेका कोई दूसरा तरीक़ा खोजना पड़ा। आश्रय-दानका क्षेत्र सीमित करनेके लिए भारतीय प्रशासन-सेवाके सम्बन्धमें पहला क़दम यह उठाया गया कि उम्मीदवारोंकी योग्यता परखनेके लिए एक परीक्षा चालू की गयी और हेलीबरीमें व्यापक प्रशिक्षण दिया जाने लगा। सन् १८५३ में जब ईस्ट इण्डिया कम्पनीका चार्टर पार्लियामेण्टके सम्मुख पुनर्विचारके लिए पेश किया गया तब मैकॉले ने आश्रय-दानकी प्रथाको समूल उखाड़ कर उसके स्थान पर प्रतियोगी पद्धतिकी स्थापना करनेका सफल प्रयास किया। उन्होंने कहा, 'मुझे ऐसा मालूम होता है कि कभी कोई तथ्य इतने अधिक प्रमाणों और विविध अनुभवोंसे सही सिद्ध नहीं हुआ जितना यह तथ्य सही सिद्ध हुआ है कि जो लोग युवावस्थामें अपनेको अपने समकालीन व्यक्तियोंकी अपेक्षा एक विशिष्ट कोटिका सिद्ध कर देते हैं, वे अपनी इस विशेषताको आजीवन क़ायम रखते हैं।' प्रशासनमें भर्ती किये जानेके लिए मैकॉले ने किसी यांत्रिक या व्यावसायिक शिक्षाका समर्थन नहीं किया। वह प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा परखी गयी बौद्धिक चैतन्यता, और सामर्थ्य पर अधिक ज़ोर देते थे। उनका कहना था कि कार्य संचालनका यांत्रिक चातुर्य बादमें भी प्राप्त किया जा सकता है। वह किसी विशेष प्रकारकी शिक्षाकी अपेक्षा उदार व्यापक शिक्षाको अधिक महत्व देते थे।

भारतमें मैकॉले द्वारा किये सुधारोंका फल इंगलैण्डमें सन् १८५३ में नार्थकोट (Northcotte) और ट्रिवेलियन (Trevelyan) की रिपोर्टके रूपमें मिला। उन्होंने भी उम्मीदवारोंके चुनावमें दलबन्दीको समाप्त करने और प्रतियोगिता आरम्भ करनेकी सिफ़ारिश की थी। उनके सुझावोंको कौंसिलकी सम्मतिसे दिये गये एक आदेशके द्वारा सन् १८५५ में आंशिक रूपमें कार्यान्वित किया गया। उसी वर्ष प्रथम लोक-सेवा आयोगकी स्थापना की गयी। आगे चलकर अन्य सुझाव भी किये गये।

भारत और इंगलैण्डमें आजकल प्रचलित पद्धतिके अनुसार भर्ती अधिकतर एक खुली प्रतियोगिता द्वारा होती है। इस प्रतियोगिताके पूरक रूपमें एक मौखिक परीक्षा भी होती है। दोनों ही परीक्षाओंका संचालन एक लोक-सेवा आयोग करता है। कुछ विभागोंमें भर्ती सीमित प्रतियोगितासे होती है, जैसे इंगलैण्डकी वैदेशिक और राजनयिक सेवाके लिए। सभी प्रतियोगी परीक्षाओंमें मौखिक परीक्षा—जो सन् १९१७ से इंगलैण्डमें लागू की गयी थी—को मुख्य स्थान दिया जाता है।

प्रशासन-सेवाओंकी भर्ती नियमत: कम उम्रमें ही की जाती है, क्योंकि इस उम्रमें नये विचारोंको ग्रहण करनेकी बौद्धिक शक्ति अधिक होती है। इंगलैण्डके लोक-सेवा

आयोगमें तीन सदस्य होते हैं। इन सदस्योंकी नियुक्ति सम्राट् स्वयं कौंसिलमें पास किये गये आदेश द्वारा करता है। इसका तात्पर्य यह है कि यह नियुक्तियाँ मंत्रिमण्डल सर्वोच्च सत्ताके परामर्शसे करता है। लोक-सेवा आयोग बाहरी प्रभावोंसे—विशेषकर राजनीतिक प्रभावोंसे—मुक्त रहता है। इसके निर्णयों पर कभी आपत्ति नहीं की जा सकती। इसे ईमानदारी तथा कार्यक्षमताका संरक्षक समझा जाता है। यह एक कठिन कार्यको पूरा करता है। सन् १९३५ में इस आयोगने लगभग २३,००० पदों पर नियुक्तियाँ की थी। भारतमें भी ऐसे ही आयोग केन्द्र और राज्योंमें कार्य कर रहे हैं।

इंगलैण्डमें सफल उम्मीदवारोंको चुने जानेके बाद एक वर्षकी परीक्षण अवधिमें रहना पड़ता था। इस अवधिमें उन्हें कुछ विशेष विषयों और कुछ सामान्य विषयोंका अध्ययन करना पड़ता था। यह विषय होते थे: विधि-संहिताएँ (codes), क़ानून, इतिहास, जन-भाषाएँ, घुड़सवारी और स्वास्थ्य-विज्ञान आदि।

इस अवधिकी समाप्ति पर एक बार फिर परीक्षा होती थी। परीक्षण अवधिमें हर अंग्रेज उम्मीदवारको ३०० पौण्ड और हिन्दुस्तानी उम्मीदवारको ३५० पौण्ड वार्षिक मिलता था। उम्मीदवारोंके हिन्दुस्तान जानेका खर्च सरकार देती थी। छः महीनेके बाद हिन्दुस्तानमें फिर परीक्षा होती थी यह परीक्षा वह विभाग लेता था जिससे उम्मीदवारका सम्बन्ध होता था।

जर्मनीमे सन् १९४० के पहले भर्तीकी अवस्था इंगलैण्ड और हिन्दुस्तानमें निश्चित अवस्थासे भी कम थी। 'जर्मनीमें अब भी ज्ञान प्राप्त करने पर अधिक जोर दिया जाता है, पर अब झुकाव अंग्रेजी-पद्धति अर्थात् उदार व्यापक शिक्षाकी ओर है। क़ानून (विधि) और समाज-शास्त्रोंके अध्ययन पर अधिक ज़ोर दिया जाता था। जर्मन प्रशासन-सेवकोंके शिक्षणका एक महत्वपूर्ण अंग एक ऐसा निश्चित सेवा काल रहा है जिसमें वे अपने कर्त्तव्य-पालनके लिए तैयार हो सकें। जर्मनीकी पद्धतिकी सबसे बड़ी आलोचना यह है कि इसमें प्रशासन-सेवकोंकी तैयारीमें ही बहुत समय लगा दिया जाता है।

इंगलैण्डमें प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा सामान्य योग्यता और सामर्थ्यको परखा जाता है। पर अमरीकामें यांत्रिक कार्य कौशल (technical efficiency) को परखनेके लिए यह परीक्षाएँ होती हैं। अमरीकामें अनेक नियुक्तियोंके लिए प्रतियोगी परीक्षाओंकी अपेक्षा उम्मीदवारोंको योग्य घोषित करनेवाली परीक्षाएं होती हैं। फलतः उच्च कोटिके शिक्षित व्यक्ति अमरीकी प्रशासनमें शामिल होनेकी कोशिश नहीं करते। अनेक श्रेणीके पदोंके लिए 'साधारण हाई स्कूल परीक्षाके साथ कुछ व्यवहार-कुशलतासे अधिक शिक्षाकी आवश्यकता नहीं होती।'

यदि सरकार अपने सेवकोंसे यथासम्भव उच्च कोटिकी सेवा चाहती है तो उसे उनके लिए पर्याप्त वेतन और अभाव तथा असुरक्षासे मुक्ति (विशेषकर बुढ़ापेमें)

की व्यवस्था करनी होगी। इंगलैण्ड और भारतमें प्राप्त वयस्कता (super-annuation) तक सेवाविधिकी सुरक्षाका सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है। एक बार जब कोई प्रशासन-अधिकारी अपने परीक्षा कालको सफलतापूर्वक समाप्त कर लेता है और विभागीय परीक्षाओं (चाहे वह जो भी हों) को पास कर लेता है तब उसे अपनी नौकरीके बारेमें उस समय तक किसी बातकी आशंका नहीं रहती जब तक उसका काम सन्तोषजनक रहता है तथा उसकी मानसिक और शारीरिक शक्तियों पर उसका पूरा क़ाबू रहता है। इस प्रकारकी सुरक्षाके कारण सरकारी नौकरीको जीवन-वृत्ति (career service) माना जाता है और उसमें जीवनका सर्वोत्तम काल लगा दिया जाता है। अमरीकामें प्रशासन सेवाकी परम्पराएँ अभी बन ही रही हैं अतएव वहाँ प्रशासन-अधिकारियों द्वारा दूसरी अधिक वेतन देनेवाली नौकरियोंकी तलाश असाधारण बात नही है।

३. प्रशासन-सेवाकी शर्तें (Conditions of Service)

सन् १९४० के पहले इंगलैण्डमें प्रशासन-अधिकारियोंका वेतन भारतके असाधारण रूपसे लम्बे वेतनों और भत्तोंकी अपेक्षा बहुत कम था। इंगलैण्डमें प्रधान प्रशासकीय अधिकारियोंका अधिकसे अधिक वेतन ३००० पौंड प्रतिवर्ष था। इन प्रधान अधिकारियोंकी संख्या ४० के लगभग थी। उनमें से बहुतोंको शहरमें १०,००० पौंड प्रतिवर्ष मिल सकता था। भारतमे एक जिलाधीशको उसके समुद्र पारके वेतन को मिलाकर अधिकतम २६५० रुपये प्रति मास मिलता था। पर एक बड़ी संख्या ऐसे पदोंकी थी जो अवस्थाके प्रतिबन्ध (time-scale) से मुक्त थे और जिनका वार्षिक वेतन २७०० पौंड से लेकर ३६०० पौंड तक था। इस प्रकारके पद यह थे: प्रादेशिक, आर्थिक और न्यायिक कमिश्नरोंके पद, प्रान्तीय मुख्य सचिवोंके पद और भारत सरकारके सचिवोंके पद आदि। बहुतसे प्रान्तोंमें गवर्नरका पद भी प्रशासन-सेवाओंके लिए खुला था। मद्रास प्रान्तमें कमिश्नरका पद न होनेके कारण वहांके प्रशासन-सेवकोंका अधिकतम वेतन अपेक्षाकृत ऊँचा रहता था। अपनी नौकरीके प्रारम्भिक वर्षोंमें एक प्रशासन-सेवक न्यायाधिकारी भी बन सकता था और क्रमशः उच्च-न्यायालय (High Court) तक उन्नति कर सकता था। वह राजस्व परिषद (Board of Revenue) का सदस्य बन सकता था। यह परिषद राजस्व सम्बन्धी मामलोंका उच्चतम न्यायालय थी। वह वित्त आयुक्त बन सकता था। अनेक विशिष्ट पदोंके द्वार उसके लिए खुले हुए थे, जैसे आय-व्यय निरीक्षक (audit), आगम-शुल्क (customs), डाक-तार विभाग, राजनीतिक विभाग, प्रशुल्क-मण्डल (tariff board), और लोकसेवा आयोगकी सदस्यता आदि।

नौकरीके प्रारम्भिक चार वर्षोंके बाद समुद्र पारका वेतन १० रुपये प्रति पौंडकी दरसे स्टर्लिंगमें परिवर्तित किया जा सकता था। अवकाश ग्रहणके समय अच्छी पेंशन दी जाती थी। भारतीय प्रशासन-सेवाके सदस्य अवधिसे पहले ही अवकाश

ग्रहण कर सकता था और आनुपातिक पेंशन पा सकता था। छुट्टियोंके बारेमें भी उसे बहुत उदार सुविधाएं प्राप्त थी।

कार्याविधिकी सुरक्षा (security of tenure), पर्याप्त वेतन और छुट्टियोंकी उदार सुविधाओंके अतिरिक्त प्रशासन-सेवाओमे पद-वृद्धिके उचित अवसर, योग्यता और सामर्थ्यके अनुकूल कार्य और निष्ठापूर्वक कर्तव्यपालनमें सुरक्षाकी व्यवस्था भी की जानी चाहिए। इंगलैण्डमें अभिसाधन सम्बन्धी तथा क्लर्कोंकी सेवाओंको कार्यकारिणी और प्रशासकीय सेवाओंसे भिन्न माना जाता है। इन दोनों प्रकारकी सेवाओं के लिए भिन्न प्रकार की प्रवेश परीक्षाएं ली जाती है। उच्च कोटिकी सेवाओंमें सीधे ही भर्ती नही की जाती बल्कि निम्न स्तरके सर्वाधिक समर्थ कर्मचारियोंको भी पदोन्नति करके उसमें भर्ती किया जाता है। सन् १९२० के बादसे एक विभागसे दूसरे विभागमें स्थानान्तरण और पदोन्नति सम्भव हो गयी है।

नौकरीकी ज्येष्ठता (seniority in service) के अनुसार पदोन्नति करना अनेक परिस्थितियोमे अच्छी नीति है। इससे कमसे कम तमाम प्रशासकीय असुविधाएँ टल जाती है। पर केवल ज्येष्ठता ही पर्याप्त नहीं है। योग्य और सामर्थ्यवान् व्यक्तियों को एक पदसे दूसरे पद पर तेजीके साथ उन्नति करनेका अवसर मिलना चाहिए। फाइनर का कहना है कि कार्य-कुशलताके आधार पर प्रशासन सेवकोंका वर्गीकरण करनेसे और कार्यकुशलताके ही आधार पर वेतनकी घटती-बढ़ती, पदोन्नति, पदच्युत करनेसे राज्यके कर्मचारियोमें कमसे कम बुराई पैदा हो पाती है। कर्मचारियोंका वर्गीकरण करनेकी कलामें अमरीकाने बड़ी तेज़ीसे उन्नति की है। इंगलैण्डमें विभिन्न विभाग जिस रिपोर्ट-फार्मोंको काममें लाते हैं उनका उद्देश्य सेवकोंकी पिछली कार्य-कुशलताकी तुलना करना रहता है। इन फ़ार्मोंमें निम्नलिखित बातोंकी सूचना मांगी जाती है—(क) शाखा और (ख) विभाग सम्बन्धी ज्ञान, व्यक्तित्व और चरित्र बल, विवेक शक्ति, उत्तरदायित्व निभानेकी शक्ति, प्रेरणा-शक्ति (initiative), यथार्थता, वाक्-शक्ति और चातुर्य (address and tact), कर्मचारियोंका नियंत्रण करनेकी शक्ति, उत्साह और शासकीय व्यवहार। यह सही है कि इस प्रकारकी रिपोर्ट भरनेमें भी व्यक्तिगत साम्य सम्बन्धका हाथ रहेगा ही पर फिर भी इससे पक्षपातकी सम्भावना कमसे कम हो जाती है।

प्रशासन-सेवा एक गूँगी और नामहीन सेवा है। अपने संगठन स्वरूपके कारण वह खुलकर अपने ऊपर लगाये गये आरोपोंका उत्तर नहीं दे सकती। ऐसी हालतमें यह आवश्यक है कि निष्ठापूर्वक अपने कर्त्तव्य-पालनमें प्रशासन-अधिकारीको सुरक्षा दी जाय। फ्रांस तथा योरोपके अन्य देशोंने इस तथ्यको मानते हुए विशेष प्रशासकीय न्यायालय क़ायम किये हैं जो ऐसे मुक़दमोंकी सुनवाई करते हैं जिनका सम्बन्ध सरकारी कर्मचारियोंसे होता है। इसके विपरीत अंग्रेजी-भाषी देशोंमें व्यक्तिगत नागरिकोंके अपराधों तथा जिन अपराधोंमें सरकारी कर्मचारी फँसे रहते हैं, दोनोंकी सुनवाईके लिए एक ही न्याय-पद्धति और एक ही प्रकारके न्यायालय होते हैं। पर

हाल ही में आस्ट्रेलियामें इस व्यवस्थाको त्याग दिया गया है। ये न्यायालय सरकारी कर्मचारियोंके उत्तरदायित्वके सार्वजनिक स्वरूपको और कभी-कभी राजनीतिक स्वरूपको भी नहीं समझ पाते। इस सम्बन्धमें हमें ऐसा लगता है कि अंग्रेजी पद्धति की अपेक्षा योरोपीय देशोंमें प्रचलित पद्धतिके पक्षमें बहुत कुछ कहा जा सकता है। आशाके विपरीत, प्रशासकीय न्यायालय बिल्कुल दयालु नहीं होते। यह न्यायालय मामलोंके प्रशासकीय पक्ष पर विचार करते हैं और इन्होने बहुधा बहुत सुन्दर फैसले दिये हैं। अपने कर्मचारियों द्वारा किये गये अपराधोंका उत्तरदायित्व राज्य स्वीकार करता है।

फ़ाइनर के अनुसार जर्मनीकी प्रशासन-सेवाको सुनिश्चित अधिकार प्राप्त हैं। यह अधिकार उसे क़ानून द्वारा प्राप्त और अन्तिम रूपसे जनता द्वारा स्वीकृत हैं। ऐसे भी साधन है जिनके द्वारा एक अधिकारी अपने विरुद्ध की गयी कार्यवाहीका विरोध कर सकता है। केवल अनुशासनसे सम्बन्धित छोटी कार्यवाहियोके विरुद्ध आवाज़ नही उठायी जा सकती।

प्रशासन-सेवा न केवल एक मूक सेवा-कार्य है, बल्कि उसे कठोर अनुशासनके अधीन भी रहना पड़ता है। इगलैण्डमें विशेषकर इस बातकी आशा की जाती है कि जो भी राजनीतिक दल सत्तारूढ़ हो, प्रशासन-सेवा समान श्रद्धा और तत्परतासे उसकी सेवा करे। इसलिए अधिकारियोंको राजनीतिमें सक्रिय भाग लेने से रोक दिया गया है। वे चुनावमें खड़े नही हो सकते है, पर जिसे चाहें वोट दे सकते है। फ़्रांसमें प्रशासन-अधिकारियोको राजनीतिक कार्यमें भाग लेने की अनुमति है। यह दुर्भाग्य-पूर्ण बात है। जर्मनीके वीमर संविधानमें प्रशासन-अधिकारियोको निर्वाचनमें भाग लेने की अनुमति दी गई थी।

प्रशासन-अधिकारियों द्वारा सभा और हड़ताल करनेके अधिकारके सम्बन्धमें विभिन्न विचार हैं। इंगलैण्डमें १९१७ तक अधिकारियोंको व्यक्तिगत रूपसे तथा अपने संघोंके माध्यमसे शिकायतों तथा कष्टोंको स्मृति-पत्रों द्वारा दूर करवा सकनेका अधिकार था। स्मृति-पत्र विभिन्न अधिकारियोके हाथों गुजरते हुए विभागीय अध्यक्षोंके पास और अन्तमें सरकारके पास पहुँचते थे। इस सम्बन्धमें सारी बातचीत लिखित रूपमें होती थी और यथासम्भव व्यक्तिगत विवादको बचाया जाता था। १९१७ में असार्वजनिक उद्योगोंके बारेमें ह्विटले रिपोर्ट (Whitley Report) की सिफ़ारिशोंको स्वीकार किया गया। उसके बादसे ७०० पौण्ड प्रति वर्षसे कम वेतन पानेवाले निम्न वर्गके प्रशासन-कर्मचारियोंके लिए संशोधित ह्विटले समितियाँ काम करती हैं। इस श्रेणीके सेवकोंके वेतन और काम करनेकी परिस्थितियोके सम्बन्धमें क़ानूनकी जो धाराएँ लागू होती हैं उनकी व्याख्या करनेके लिए इगलैण्डमें विशेष अदालतें हैं। पर उन अदालतों द्वारा दिये गये निर्णयोंकी अन्तिम व्याख्या सरकार ही करती है। इंगलैण्डमें अपनी पदच्युतिके विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही करनेका अधिकार एक प्रशासन अधिकारीको प्राप्त नहीं है क्योंकि वयस्कता सम्बन्धी अधिकारों

(superannuation rights) की अन्तिम व्याख्या सरकार करती है, कोई न्यायालय नहीं करता। यदि यह जरूरी है कि जनतासे प्रशासन अधिकारियोंकी रक्षा की जाय तो यह वांछित है कि प्रशासन-कर्मचारियों द्वारा अधिकारका स्वेक्षाजन्य प्रयोग किये जानेके विरुद्ध जनताकी रक्षा की जाय। यह सुरक्षा निग्रह और सन्तुलन (checks and balances) की व्यवस्थासे जनताको प्राप्त होती है। इस व्यवस्था की प्रतिष्ठा प्रशासन पर लगे हुए कुछ वैधानिक नियंत्रणों द्वारा और कुछ न्यायिक नियंत्रणों द्वारा हुई है जिसमे कुछ लेख (writs) ये हैं : परमादेश (mandamus), व्यादेश (injunction), बन्दी प्रत्यक्षीकरण (*habeas corpus*), अधिकार प्रच्छा (*quo warranto*) और उत्प्रेषण (*certiorari*)। ये सब वे आज्ञाएँ हैं जो न्यायालय सार्वजनिक अधिकारियोंको देते हैं। इन आज्ञाओं द्वारा अधिकारियोंसे कुछ करनेको कहा जाता है तथा उन्हें कुछ कार्य करनेसे रोका जाता है। फ़ाइनर की रायमें जनता की इस सुरक्षाके बारेमें फ्रांस और जर्मनीकी स्थिति सबके लिए स्पर्धाका विषय है। इंगलैण्डकी स्थिति सबसे निम्न तथा अमरीकाकी स्थिति मध्यम है।

४. प्रशासन-अधिकारियोंके कर्त्तव्य (Functions of Civil Servants)

प्रशासन-अधिकारियोंका यह कर्त्तव्य है कि जो विधान या क़ानून उन्हें सौंपा जाय उसे वे कार्यान्वित करें। इस सम्बन्धमें वे लोग वस्तुतः विधान-मण्डल और सर्वोच्च न्यायपालिकाके सेवक होते हैं। राजनीतिक कार्यपालिकाके साथ अपने व्यक्तिगत सम्बन्धोंके कारण नीति-निर्धारणमें उनका अप्रत्यक्ष हाथ भले ही रहता हो पर कमसे कम स्वतंत्र देशोंमें प्रत्यक्ष रूपसे उनका कोई दखल नहीं रहता।

भारत और इंगलैण्डके प्रशासन-अधिकारियोंके कार्योंके स्वरूपमें मौलिक अन्तर है। यद्यपि ब्रिटेनके प्रशासन-अधिकारी विशेषज्ञ होते हैं फिर भी वे देशकी राजनीतिक नीतिका निर्धारण नहीं करते। यह काम तत्कालीन मंत्रिमण्डल पर छोड़ दिया जाता है। स्थायी उपसचिव (permanent under secretary) और उसके सहायक कर्मचारी सभी प्रकारका ज़रूरी परामर्श और सुझाव देते हैं पर वे आदेश नहीं देते। यह सम्भव है कि प्रशासन अधिकारी एक कमज़ोर मंत्रीका आसानीसे नेतृत्व कर ले जाय, पर एक समर्थ और दृढ़ मंत्री हमेशा अपने मनचाहे मार्ग पर चल सकता है।

अंग्रेजी शासनमें भारतीय प्रशासन-सेवाकी हालत बिल्कुल भिन्न थी। अधिकतर प्रान्तोंके गवर्नरों, कार्यकारिणी और विधान-मण्डलके सदस्यों और गवर्नरोंके सलाहकारोंके रूपमें भारतीय प्रशासन अधिकारी नीति तय करने और उसे लागू करनेमें निर्णायक भाग लेते थे। पर मॉण्टेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधारके बाद—विशेषकर प्रान्तीय स्वायत्त-शासन प्रारम्भ होनेके बाद—प्रशासन अधिकारियोंकी यह शक्ति काफ़ी कम हो गयी। नये श्रेणीके भारतीय प्रशासन-अधिकारियोंकी चर्चा करते हुए सर ई० ब्लन्ट ने कहा है : 'जहाँ उनके पूर्ववर्ती अधिकारी आज्ञाएँ देते थे वहाँ अब उन्हें सलाह

देनी चाहिए। जो प्रशासन अधिकारी पहले शासन करके जनताकी सेवा करते थे उन्हे अब सेवा करके शासन करना सीखना चाहिए।'

आजकल प्रशासन-अधिकारी नीतिका निर्माण नहीं करते। इनका मुख्य कर्त्तव्य है परामर्श देना और प्रशासन करना। स्वस्थ संसदीय शासनकी प्रतिष्ठाके लिए यह आवश्यक है कि मंत्री-गण नीति निर्धारित करें और अधिकारी-वर्ग उस नीतिको सच्चाईके साथ कार्यान्वित करें—चाहे वे उस नीतिसे सहमत हों या न हों।

ब्रिटेनका प्रशासन-अधिकारी अपना अधिकाश समय अपनी मिसलों और पोथियोंके बीच बिताता है पर भारतके अधिकारियोंको विविध काम करने पड़ते थे। जिलाधीशके रूपमे उसे वर्षके तीन चार महीने जनतासे सम्पर्क स्थापित करनेके लिए शिविरोंमें बिताने पड़ते थे। वह ज़िलेका राजस्व समाहर्ता (collector of revenue) और जिलेका दण्ड-नायक (district magistrate) होता था। उसे 'मौके पर की सरकार' कहा जाता था। वही 'सरकार' था। परगनाधीश, डिप्टी कलेक्टर, तहसीलदार आदि उसके अधीन होते थे। वह माल और फौजदारीके मुकदमेंकी सुनवाई करता था तथा दूसरे और तीसरे दर्जेके मजिस्ट्रेटों द्वारा दिये गये निर्णयोंके विरुद्ध अपीलें सुनता था।

भारतमें ही नही वरन् अन्य देशोंमें भी प्राशसन-अधिकारियोंका मुख्य कर्त्तव्य केवल शासन चलाना नहीं है। उन्हें अर्ध-वैधानिक तथा अर्ध-न्यायिक अधिकार दिये जाते हैं। विभागोंके अधिकारियोंको ऐसे नियम एवं अधिनियम बनानेका अधिकार प्राप्त रहता है जो उनके अधीन काम करनेवाले कर्मचारियों और साधारण जनताके लिए मान्य होते हैं। इनमेसे कुछ तो विशेषकर युद्ध-कालमें—संसदकी औपचारिक स्वीकृति पानेसे पहले ही लागू हो जाते है। स्थायी कार्यपालिका विस्तारसे यह तय करती है कि किस प्रकार संसदीय संविधि (statutes) की आवश्यकताएँ पूरी की जाय और किस प्रकार उस सविधि द्वारा प्रदत्त अधिकारका उपभोग किया जाय। प्रदत्त विधान (delegated legislation) के बारेमे इंगलैण्डकी स्थिति फ्रांस और अमरीकाके मध्य की है। प्रशासकीय विभागोंको सौपें गये प्रदत्त विधानकी बढ़ती हुई मात्राके कारण पर प्रकाश डालते हुए मैरियट (Marriott) इस प्रकार लिखते हैं: 'अंशतः औद्योगिक और सामाजिक परिस्थितियोंकी बढ़ती हुई जटिलताके कारण अंशतः फेबियन समाजवाद (Fabian Socialism) के सूक्ष्म प्रभावके कारण, अंशतः हस्तक्षेप न करनेकी नीति (laissez faire theory) का सार्वजनिक त्याग किये जानेके कारण तथा जीवनके सभी क्षेत्रोंमें सरकारी निर्देश और नियंत्रणकी बढ़ती हुई माँगके कारण, तथा अंशतः विधानकी बढ़ती हुई माँगको पूरा करनेकी अपनी असमर्थता और निराशाके कारण ससदने यह प्रवृत्ति अपनायी है कि प्रशासकीय विभागोंको अधिकाधिक रूपसे विवेकसे कार्य करनेका अधिकार (discretion) सौंप दिया जाय' (मैरियट, दूसरा खण्ड, पृष्ठ २३३)।

जैसा कि मैरियट ने लिखा है, अर्ध-वैधानिक कर्त्तव्यका दूसरेको सौंपा जाना जहाँ

एक ओर सुविधाजनक वैध और अनिवार्य है, वहाँ दूसरी ओर उसके दुरुपयोग किये जानेकी भी आशंका है। इस खतरेसे बचनेके लिए मैरियट ने तीन उपाय बतलाये हैं: (१) जिस शक्तिको सत्ता सौंपी जाय उसे पूरी तरहसे विश्वसनीय होना चाहिए; (२) जिन हितों पर प्रभाव पड़नेवाला हो उनके प्रतिनिधियोंसे सलाह कर ली जाय; (३) प्रदत्त अधिकार-शक्तिकी सीमाएं हर हालतमें सुनिश्चित होनी चाहिए। १९१६ में प्रिवी कौन्सिल (Privy Council) ने ज़मोरा *(Zamora)* के मामलेमें यह फैसला दिया था कि सम्राट्को अपनी कौन्सिलकी स्वीकृतिसे किसी आदेश द्वारा देशके क़ानूनको बदलनेका तब तक कोई अधिकार नहीं है जब तक उसे ऐसा अधिकार संविधि द्वारा न दिया जाय। अमरीकाके सर्वोच्च न्यायालयने एन० आर० ए० (National Rejlo Association) की कुछ धाराओंको इसलिए अवैध घोषित कर दिया था कि कार्यपालिकाको बहुत अधिक व्यापक और अनिश्चित अधिकार सौंप कर विधान-मण्डलने अपने अधिकार-क्षेत्रका अतिक्रमण किया और ऐसे मानदण्ड कायम नहीं कर सकी जिससे कार्यपालिकाके कार्योंका पथ-प्रदर्शन हो सके।

अनेक देशोंमें प्रशासकीय विभागोंको अर्ध-न्यायिक काम करने होते हैं। उदाहरण के लिए अमरीकामें अन्तर्राज्य-वाणिज्य-आयोगको अपने अधीन कर्मचारियोंके सरकारी कामोंके विरुद्ध जनता द्वारा लगाये गये आरोपोंके सत्य-असत्यकी जाँच करनेके लिए व्यापक अधिकार दिये गये है। 'यदि नागरिक आयकर निर्धारणके सिलसिलेमें आय-कर विभागके किसी कर्मचारीके विरुद्ध शिकायतें करते हैं तो इन शिकायतोंकी सुनवाई केवल आयकर कमिश्नर ही कर सकता है।'

इसी प्रकार उद्योग-विभागका कोई उच्च अधिकारी ही यह निर्णय करता है कि कारख़ानोंमें काम करनेवाले मजदूरोंको काम करते हुए जो अंगक्षति होती है उसके लिए उन्हें क्या मुआवज़ा मिले।

प्रशासन-कार्यके सम्बन्धमें एक और विचारणीय विषय, वह अस्त-व्यस्त व्यवस्था है जिसमें विभागों और उनके उपविभागोंकी संख्याको बुरी तरह बढ़ने दिया गया है। यदि मितव्ययिता और कार्य-कुशलता अच्छे लोक-प्रशासनकी कसौटियाँ हैं तो यह ज़रूरी है कि सरकारके विभिन्न विभागोंका संगठन सावधानीसे किया जाय ताकि कार्यों और अधिकारोंका पारस्परिक अतिक्रमण न हो और परस्पर घनिष्ठ रूपसे सम्बन्धित विभाग एक सामान्य नियंत्रणके अधीन लाये जा सकें। विभागोंका केन्द्री-करण, जैसा कि फ्रांसमें होता है, उतना ही त्रुटिपूर्ण है जितना अनुचित विकेन्द्रीकरण। विभिन्न विभागोंका परस्पर सम्बन्ध रखना ही मध्यम मार्ग है, क्योंकि इससे प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर सहयोगकी जरूरत पड़ती है और अन्तिम रूपमें यह प्रगति एक सर्वोच्च अधिकार सत्तामें परिणत हो जाती है।

१९१७ में लॉर्ड हैल्डेन (Lord Haldane) की अध्यक्षतामें नियुक्त शासन-यंत्र-समितिने सेवाके अनुरूप विभेद करनेका समर्थन किया था। उसने सिफारिश की थी कि सरकारी विभागोंका पुनर्गठन इस प्रकार किया जाय: (१) वित्त विभाग,

(२) राष्ट्रीय सुरक्षा, (३) वैदेशिक विभाग, (४) अनुसंधान और सूचना विभाग, (५) संरक्षण (इसमें कृषि, जंगल और मत्स्य-पालन सम्मिलित हैं), यातायात और वाणिज्य विभाग, (६) वृत्ति नियोजन विभाग (employment), (७) रसद विभाग (supplies), (८) शिक्षा विभाग, (९) स्वास्थ्य विभाग और (१०) न्याय विभाग। कुछ बड़े विभागोंमे एकसे अधिक मत्रियोकी आवश्यकता पड़ेगी। भविष्यमें मंत्रिमण्डल युद्धकालीन मत्रिमण्डलकी भाँति छोटा होना चाहिए। उसका काम प्रशासन करना न होकर विभिन्न विभागोंका नियत्रण करना और उनमें सन्तुलन कायम करना होना चाहिए।

हैल्डेन कमटीके एक सुझावने बहुत अधिक ध्यान आकर्षित किया। वह सुझाव यह था कि सरकारके हर विभागके लिए एक स्थायी याजना कमीशन या विचारक समिति होनी चाहिए। यह कमीशन या समिति विभिन्न विभागोसे सम्बन्धित न रहकर पूरी सरकारके साथ सम्बद्ध रह सकती है। इसका काम प्रशासनकी समस्याओके बारेमें शोध करना होगा। यह भविष्यके लिए ऐसी याजनाएं भी बनायगी जिससे समूचा शासन-यत्र, कार्य-कुशल, मितव्ययी, प्रगतिशील और जनसेवामे समर्थ हो सके।

५. प्रशासन-सेवा की अच्छी व्यवस्था की कसौटियां (Tests of a good system of Civil Service)

सार्वजनिक प्रशासन, वाणिज्य प्रशासनकी तरह पैसा कमानेवाली संस्था नहीं है। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि जहाँ कहीं सेवाकी सबसे अधिक अपेक्षा हो वहीं सेवा की जाय। लोक-सेवा करते समय प्रशासन अधिकारियोका हरएक के प्रति न्याय पूर्ण होना चाहिए। उन्हें किसी व्यक्ति या वर्गके साथ पक्षपात नहीं करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्तिके प्रति उनका व्यवहार समान विधान पर आधारित होना चाहिए। उन्हे अपने आपको सही अर्थोमे जनता का सच्चा सेवक बनाना चाहिए। भारतीय प्रशासन-अधिकारियो के विरुद्ध बहुधा यह आरोप लगाया जाता है कि वे जनताके साथ अपने व्यवहारमे उद्दण्ड, असहिष्णु और घमण्डी होते थे। परन्तु अब भारतीय प्रशासन-सेवा (Indian Administrative Service) के सदस्य जनताके लिए अधिक सुलभ है और उनमे बड़प्पनकी भावना भी उतनी अधिक नहीं है।

फाइनर का कथन है कि प्रशासन-सेवामें चैतन्यता, अनुसन्धान शक्ति, जनताकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेकी क्षमता और, उद्योगशीलता होनी चाहिए। प्रशासन अधिकारियोंमें एक बहुत बड़ी कमी यह होती है कि वे लकीरके फ़कीर बन जाते हैं और उससे ऊपर उठनेकी आवश्यक प्रवृत्ति और क्षमता उनमें नहीं होती। निस्सन्देह सार्वजनिक कार्योंकी व्यवस्थामें थोड़ी बहुत फीताशाही (red-tapism) और नियमित कर्म (routine) का पालन जरूरी होता है पर इसको प्रधान स्थान नहीं देना चाहिए। सरकारी कार्योके नियोजन तथा निष्पादन (execution) में हमेशा मानवीय मूल्योंको प्रमुख स्थान देना चाहिए।

जनतामें साधारणतः सरकारी कर्मचारियोंके विरुद्ध भय और विरोधकी भावना रहती है। उसे दूर करनेके लिए प्रशासन अधिकारीको यथासम्भव प्रयत्न करना चाहिए। इस सम्बन्धमें फाइनर इस प्रकार लिखते हैं, 'जनता सरकारी कर्मचारियोंका विरोध करती है, उनसे डरती है, उन्हें गलत समझती है और कभी-कभी उनकी प्रशंसा करती है।' फाइनर का कहना है कि इगलैण्डमे साधारणतः आम जनता प्रशासन-सेवाके अस्तित्व और उसके कार्योंके प्रति बहुत अधिक उदासीन रहती है। भारतमें अशिक्षित ग्रामीणोंको इस बातका पूरा-पूरा विश्वास रहता है कि सरकारी कर्मचारी आश्चर्यजनक काम करनेकी क्षमता रखता है। इसके साथ ही उसे इस बात का भय भी रहता है कि उसका भाग्य सरकारी कर्मचारीकी ही मुट्ठीमें है।

शासकको जहाँ एक ओर भय और पक्षपातसे रहित होकर कार्य करना चाहिए, वही दूसरी ओर अपने ऊँचे पदके कारण उसे जानबूझ कर लोकमतकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। किसी भी अवस्थामें उसे राजनीतिक कार्यपालिका अथवा विधान-मण्डलके अधिकारोंका अपहरण नही करना चाहिए। उसे अपनी ही रायको ठीक माननेकी प्रवृत्ति छोड़ देनी चाहिए। उसे बहुत अधिक पत्र-व्यवहार नहीं करना चाहिए। उसे सम्मानका भूखा नही होना चाहिए और देरी उत्पन्न करनेवाले औपचारिक तरीक़ोंको नही अपनाना चाहिए।

भारत जैसे विभिन्न सम्प्रदायवाले देशमें सुन्दर शासनके लिए साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्वको आवश्यक शर्त माना गया था। इस सम्बन्धमें इतना ही कहना आवश्यक है कि यदि हम शासन व्यवस्थाकी ईमानदारी और कार्यक्षमताको सुरक्षित रखना चाहते है तो यह वांछित है कि सार्वजनिक प्रशासन राजनीतिज्ञोंके हाथका खिलौना न बनने पाये। और सब बातोंके बराबर रहने पर, किसी भी सम्प्रदायको उसकी संख्या अथवा शक्तिके अनुपातसे ही प्रशासन-सेवाओंमें स्थान मिलना चाहिए। पर यह सदैव याद रखना चाहिए कि हर सम्प्रदाय और जाति अथवा भिन्न भाषा-भाषी गुटको प्रशासन सेवाओंमें अपनी सख्याके अनुपातमें प्रतिनिधित्व पानेके अधिकारकी अपेक्षा नागरिकोंका अकुशल और निकम्मे अधिकारियोंसे सुरक्षित रहने का अधिकार अधिक महत्वपूर्ण है।

फाइनर के अनुसार जर्मनीके प्रशासन-अधिकारियोंके निम्नलिखित कर्त्तव्य हैं :

(१) प्रशासन-अधिकारीको सविधान और क़ानूनोंके अनुसार अपने कर्त्तव्योंका पालन करना चाहिए। उसे अपने ऊपरके अधिकारियोंकी आज्ञाओंको वहाँ तक मानना चाहिए जहाँ तक ये आज्ञाएँ क़ानूनके प्रतिकूल न हों।

(२) उसे अपने कर्त्तव्योंका पालन पूरी ईमानदारी और सच्चाईके साथ, अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-सुविधाका विचार किये बिना, एकदम निष्पक्ष होकर पूरे परिश्रम और सावधानीके साथ करना चाहिए।

(३) उसे अपने काम पर आने और वापस जानेके समयका ठीक पालन करना चाहिए।

(४) उसे ऐसे दूसरे अतिरिक्त काम करनेके लिए तैयार रहना चाहिए जिन्हें पूरा करनेके लिए वह अपनी योग्यताके कारण उपयुक्त है। इस अतिरिक्त कामके लिए उसे अधिक वेतनकी माँग नही करनी चाहिए।

(५) उसे अपने सरकारी कार्योंमें सच्चा होना चाहिए। उसे ऐसे महत्वपूर्ण बातोंकी मूक अभिव्यक्ति नही करनी चाहिए जिनका प्रकाशमें आना विभागके लिए चिन्ताकी बात हो सकती है।

(६) उसे अपने ऊपरके अधिकारियोंका कार्यालयके भीतर और बाहर सब स्थानों पर सम्मान करना चाहिए। भले ही उच्च अधिकाकारी चरित्र और व्यवहार आपत्तिजनक हो।

(७) अधिकारियोंको जनताके साथ हमेशा नम्रतासे व्यवहार करना चाहिए।

(८) प्रशासन-अधिकारीको अपमान चुपचाप बर्दाश्त नहीं कर लेना चाहिए, अन्यथा प्रशासन-सेवाकी प्रतिष्ठा गिर जानेका भय है।

(९) किसी भी अधिकारीको ऐसा अतिरिक्त पद या वृत्ति मंजूर नहीं करनी चाहिए जिसके लिए उसने उपयुक्त विभागीय अधिकारीसे अनुमति न ले ली हो।

(१०) प्रशासन-अधिकारीको सरकारी गोपनीय बातोंको गुप्त रखना चाहिए।

विधान-मण्डल
(The Legislature)

सरकारके विभिन्न अगोंमें से (विशेषकर एक लोकतत्रवादी देशमें) विधान-मण्डलको सबसे अधिक महत्त्व और गौरवका स्थान प्रदान किया जाता है। पर हमेशासे ही यह स्थिति नहीं रही है। जैसा कि जेंक्स कहते हैं, पुराने ज़मानेमें क़ानून बनाये नही बल्कि खोजे जाते थे। वे लोक-विधान (folk-law) होते थे जो समाजमें प्रचलित प्रथाओं पर आधारित होते थे। इन क़ानूनोंकी खोज करना सरकारी तथा धार्मिक सत्ताका कार्य था। जैसे-जैसे समय बीतता गया तैसे-तैसे लोक-विधानोंका महत्त्व कम होता गया और क़ानून शान्ति स्थापित करनेके लिए कार्य-कारिणी द्वारा दिये गये अध्यादेशों और आदेशोंका रूप ग्रहण करते चले गये। पर वे इतने स्थायी नहीं थे जितने कि लोक-क़ानून; और उनका क्षेत्र भी उतना व्यापक नहीं था। कुछ समय और बीतनेके बाद क़ानून प्रतिष्ठित जागीरों द्वारा बनाये जाने लगे। ये जागीरें बहुत कुछ प्रतिनिधि सभाओंके समान थीं। अन्ततोगत्वा संसदों और संसदीय सम्प्रभुताका उदय हुआ।

पहले-पहल संसदोंका आयोजन क़ानून बनानेमें सहायता लेनेके लिए नहीं बल्कि सम्राट् की नीतियोंको लागू करनेके लिए सम्भूतियों (supplies) की मंजूरी पानेके लिए हुआ था। इस समय संसदकी सदस्यता कोई गौरव और प्रभावकी बात नहीं थी जिसकी लोग लालसा करते, बल्कि वह एक बोझिल जिम्मेदारी समझी जाती थी

जिससे लोग बचना चाहते थे। पर शीघ्र ही संसदके प्रतिनिधियोंने यह अनुभव किया कि सम्भूतियोंकी स्वीकृति देनेके पहले वे अपनी शिकायतें दूर करने पर ज़ोर दे सकते है। विदेशी युद्धों और आन्तरिक कठिनाइयोंमें फँसे हुए सम्राट्को यह सब करना पड़ा। यहीपे विधान-मण्डल द्वारा कानून बनानेका लम्बा इतिहास प्रारम्भ होता है। यह ध्यान देनेकी बात है कि इंगलैण्डमें आज भी कानून "परम महारक" (His Majesty) द्वारा 'संसदमें उपस्थित आध्यात्मिक और भौतिक अधिपतियों (Lords Spiritual and Temporal) की सलाह और मंजूरीसे बनाये जाते हैं।' सम्भूतियाँ 'संसदमें उपस्थित लोक-सभा' द्वारा 'स्वेच्छापूर्वक मुक्त हस्त' होकर 'परम महारक' के लिए स्वीकार की जाती हैं। पहले-पहल कानूनोके लिए सम्राट् से प्रार्थना की जाती थी। पर बादमें क़ानून विधेयकोंके रूपमें बनाये जाने लगे।

सरकार के प्रशासकीय विभाग द्वारा बनाये गये विधान

आजकल राज्यमें केवल विधान-मण्डल ही क़ानून नहीं बनाते। उदाहरणके लिए अमरीकाकी कार्यपालिकाका प्रधान संधियाँ करता है, परन्तु उनके लिए यह आवश्यक है कि वे सीनेटके दो-तिहाई मत द्वारा मंजूरी की जायँ। ब्रिटिश संसद (Parliament) के पास न तो इतना समय रहता है और न उसे इतना ज्ञान ही होता है कि वह विधान बनानेके सभी कार्योंका पूरा-पूरा विवरण तैयार करे। इसलिए वह बहुधा विधानकी ऊपरी रूप-रेखा ही मंजूर करती है और सम्बन्धित विधानका विवरण पूरा करनेका काम कार्यपालिकाके विभिन्न विभागों पर छोड़ दिया जाता है। इस कामको यह विभाग अपने प्रशासकीय आदेशों, विधियों और नियमों द्वारा करते हैं। उनमेसे कुछ तो स्थायी होते हैं और उनके लिए संसदकी मंजूरी ज़रूरी होती है और कुछ के लिए इस औपचारिकताकी भी ज़रूरत नहीं रहती। इस प्रकारका "प्रदत्त" (delegated) अथवा उपाश्रित विधान (subordinate legislation) इतना बढ़ गया है कि मुख्य न्यायाधीश हेवर्ट ने उसे 'नवीन निरंकुशता' की उपाधि दी है।

जनता द्वारा विधि-निर्माण

स्विटज़रलैण्ड राजनीतिक युक्तियोंका घर है। वहाँ पर लोक-निर्देश (referendum) और आरम्भ करनेकी प्रेरणा (initiative) द्वारा प्रत्यक्ष विधि-निर्माणके प्रयोग किये गये हैं। आस्ट्रेलिया आदि कुछ देशोंने और कुछ राज्य संविधानोंने उसका अनुसरण किया है। लोक-निर्देशका तात्पर्य केवल इतना है कि कोई भी क़ानून विधान-मण्डल द्वारा स्वीकार किये जाने पर भी तब तक मान्य नहीं होता जब तक उसे मतदाताओंका एक निश्चित बहुमत स्वीकार न कर ले। कुछ मामलों

में लोक-निर्देश वैकल्पिक होता है। मतदाताओं अथवा संघकी इकाइयोंकी एक निश्चित संख्या ऐसे मामलेमें लोक-निर्देश लिए जानेकी प्रार्थना करती है। पर दूसरे मामलोंमें, विशेषकर संवैधानिक संशोधनोंके मामलोंमें लोक-निर्देश अनिवार्य होता है। ऐसा ही आस्ट्रेलियामें भी है।

लोक-निर्देशका स्वरूप निषेधात्मक (negative) है। क्योंकि वह विधायनी प्रस्तावोंको स्वीकार अथवा अस्वीकार भर करता है। इसके विपरीत आरम्भ करनेकी प्रेरणा (initiative) का स्वरूप सक्रियात्मक (positive) है। क्योंकि उसमें मतदाताओंको विधि-निर्माणमें स्वयं आगे बढ़नेका अवसर मिलता है। इस पद्धतिके अनुसार मतदाताओंकी एक निश्चित संख्याको किसी एक निश्चित समस्या पर विधि-निर्माणके लिए प्रार्थना करनी होती है। मतदाता चाहे तो उस विधानकी रूपरेखा और उसका विवरण सभी कुछ स्वयं ही तैयार कर लें अथवा चाहें तो प्रस्तावित विधानका सामान्य उद्देश्य विधान-मण्डलको बता दें और उसीको विधान का विवरण तैयार करनेका काम सौंप दें। दोनों ही हालतोंमें विधान पर जनताकी राय ली जाती है। वह विधान तभी माना जाता है जब मतदाताओंका बहुमत उसे स्वीकार कर ले। अमरीकाके राज्योंकी सरकारोंमें लोक-निर्देशकी अपेक्षा आरम्भ करनेकी प्रेरणाका अधिकार ही अधिक प्रचलित है।

जब किसी भू-प्रदेशको एक राज्यसे दूसरे राज्यको हस्तान्तरित करना होता है या नये राज्यका निर्माण करना होता है तब उस प्रदेशकी जनताकी राय जाननेके लिए जनमत-संग्रह (plebiscite) की व्यवस्था की जाती है। योरोप में यह व्यवस्था अठारहवीं शताब्दीके अन्तसे काममें लायी जा रही है। सन् १९३५ में जनमत-संग्रह के फलस्वरूप ही जर्मनीको सार प्रदेश वापस दिया गया था। वैसे तो यह व्यवस्था प्रजातन्त्रवादी मालूम होती है पर वर्तमान युगमें जनमत-संग्रहके नाम पर बहुत अधिक धमकी और भयका प्रयोग किया गया है; उदाहरण स्वरूप आस्ट्रिया और जेकोस्लोवाकियामें। भारत ने कश्मीरमें जनमत-संग्रह करानेका वचन दिया था; पर कुछ असाध्य कठिनाइयोंने इसे रोक दिया है। सन् १९५६ में सीटो कॉन्सिल ने इस बात पर जोर दिया था कि संयुक्त-राष्ट्र संघके तत्वावधानमें जनमत-संग्रहका काम शीघ्रतासे होना चाहिए।

प्रत्यक्ष विधि-निर्माणका मूल्यांकन करते हुए यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र लोकतंत्रवादी संगठनोंके आदी छोटे-छोटे प्रदेशोंमें यह विधि-निर्माण सफलता प्राप्त कर सकता है जैसे स्विटज़रलैण्डके जिलों और प्रान्तों (cantons) में। पर बड़े-बड़े देशोंमें, जिनमें लोकतंत्र और स्थानीय स्वशासनकी परम्पराएँ स्विटज़रलैण्ड के समान नहीं हैं, इस विधि-निर्माणसे लाभकी अपेक्षा हानि ही होनेकी अधिक सम्भावना है। श्री श्रीनिवास आयंगर की राय है कि प्रत्यक्ष विधि-निर्माण विधान-मण्डलका गौरव घटानेके बजाय संकटके समयमें विशेष रूपसे बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। इससे दलबन्दीको भावना बढ़ने नहीं पाती, राष्ट्रीय शील-सामर्थ्यको बल

मिलता है और राजनीतिकी व्यावहारिक शिक्षाका यह सबसे अच्छा साधन है।

विधान-मण्डल का संगठन
(The Organisation of Legislature)

राजनीतिके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही में विधान-मण्डलके संगठनकी समस्या पर बहुत अधिक विचार हुआ है। सब देशोंमे विधान-मण्डलमें दो सदन होते हैं; विशेषकर केन्द्रमें। प्रान्तों और संघोंकी इकाइयोंमें दो सदनवाला विधान-मण्डल सब जगह नहीं पाया जाता। भारत के अनेक राज्योमे नये संविधानके अन्तर्गत द्विसदनात्मक विधान-मण्डल है। इंगलैण्ड मे द्विसदनात्मक विधान-मण्डल का कारण ऐतिहासिक परिस्थितियाँ है न कि कोई पूर्व निश्चित योजना। जिन देशों ने इंगलैण्ड की समदात्मक शासन प्रणालीको अपनाया है उन्होने उसकी द्विसदनात्मक व्यवस्थाको भी मान लिया है।

जिन देशोंमें विधान-मण्डलके दो सदन हैं वहाँ यह युक्तिसंगत मालूम होता है कि इन दोनोंकी रचना, अधिकार और कर्त्तव्य भिन्न हो जिससे ईर्ष्या और सघर्ष न पैदा हो सके। निचला सदन, जिसे लोकसभा भी कहते हैं स्वयं जनता द्वारा ही निर्वाचित होता है। जनसंख्या और व्यापक मताधिकारके आधार पर प्रतिनिधि चुने जाते हैं। ऊपरी सदन, जिसे द्वितीय सदन भी कहते हैं, बहुधा समाजके वर्गों या स्वार्थों अथवा सघके राज्योंका प्रतिनिधित्व करता है। और उसका चुनाव प्रायः प्रत्यक्ष रीतिसे नही होता।

इंगलैण्डकी लार्ड सभा (House of Lords) अधिकतर वंशानुगत है। उसके सदस्योकी संख्या कॉमन्स सभा (House of Commons) के सदस्योंकी सख्यासे अधिक है। सयुक्त राज्य अमरीकाके ऊपरी सदन, सीनेटमे ९६ सदस्य होते हैं। अमरीकाके ४८ राज्योमें से हर राज्यसे दो प्रतिनिधि (१९१३ के बादसे) प्रत्यक्ष रूपसे इस सदनके सदस्य निर्वाचित होते है। यह एक स्थायी सस्था है। इसका प्रत्येक सदस्य ६ वर्षके लिए निर्वाचित होता है। सदस्योंकी कुल सख्याका एक-तिहाई भाग प्रति दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण कर लेता है। यह यदि संसार भरके समस्त ऊपरी सदनों मे से सबसे अधिक शक्तिमान नही है तो सबसे अधिक शक्तिमान सदनोमें से एक अवश्य है। स्विटज़रलैण्ड और आस्ट्रेलियामे दूसरे सदनोका संगठन उन्ही सिद्धान्तों पर हुआ है जिन सिद्धान्तों पर अमरीकी सीनेटका। स्विटज़रलैण्डका हर कैण्टन दो प्रतिनिधि और आस्ट्रेलियाके ६ राज्योमे से हर राज्य ६ प्रतिनिधि देशके दूसरे सदन में भेजता है, इस प्रकार यह सदन प्रतिनिधित्वके आधार पर सगठित है। अमरीकी सीनेटकी भाँति कनाडाकी सीनेटमें भी ९६ सदस्य रहते हैं। पर वे मंत्रिमण्डलकी सलाहके अनुसार गवर्नर-जनरलके द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। प्रतिनिधित्व प्रान्तों के आधार पर न होकर मोटे तौर पर जनसंख्याके आधार पर होता है। वीमर

संविधानके अनुसार जर्मनीकी संसदके ऊपरी सदन (*Reichstag*) में जनताके बजाय राज्योंका प्रतिनिधित्व होता है। यह व्यवस्था कार्यपालिका और विधान-मण्डल दोनों के ही लिए है। पर राज्योंको समान प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है। फ्रांसका आज-कलका ऊपरी सदन, 'कॉन्सिल आफ़ रिपब्लिक,' तीसरे गणतंत्र (Third Republic) की सीनेटकी निर्जीव छाया-सी है। इस परिषदमें ३२० सदस्य होते हैं जिनका चुनाव साम्प्रदायिक और विभागीय संस्थाओं द्वारा वयस्क मताधिकारके आधार पर किया जाता है। फ्रांसका निचला सदन, नेशनल असेम्बली, (National Assembly) आनुपातिका प्रतिनिधित्वके आधार पर ऊपरी सदनके लिए स्वयं चुनाव कर सकता है। पर इस प्रकार चुने जानेवाले सदस्योंकी संख्या कॉन्सिल आफ़ रिपब्लिकके सदस्योकी समूची संख्याके $\frac{1}{5}$ से अधिक नहीं होगी। दक्षिणी अफ़्रीकाकी यूनियनमें नामजदगी और निर्वाचनके सिद्धान्तोंका मिश्रण किया गया है। आस्ट्रेलियाके कुछ प्रान्तोंमे ऊपरी सदनके सदस्य जीवन भरके लिए गवर्नर द्वारा नामजद किये जाते हैं। कुछ प्रान्तोमें वे एक विशेष सकुचित आधार पर निर्वाचित होते हैं। तुर्कीमें एक-सदनात्मक प्रणाली है।

नार्वेका द्वितीय सदन अनुपम है। नार्वेकी लोकसभा, स्ट्रूदिंग (Strothing) हर तीसरे साल चुनी जाती है। निर्वाचित होते ही यह सदन अपने सदस्योमें से एक-चौथाई सदस्योंको फिरसे चुनता है। और ये सदस्य ऊपरी सदन लेदिंग (Lagthing) का निर्माण करते है। शेष सदस्यों को मिलाकर आडेदिंग (Odesthing) बनता है। ऊपरी सदन, लेदिंग, को अपनी ओर से विधान बनानेका अधिकार नही है। पर आडेदिंग द्वारा भेजे गये विधेयकोके बारेमें वह संशोधन प्रस्तावित कर सकता है। यदि वे संशोधन स्वीकार नहीं किये जाते और ऊपरी सदन (लेदिंग) भी अपने सशोधनों पर अड़ा रहता है तो दोनों सदनोंका सम्मिलित अधिवेशन होता है जिसमें निणय दो तिहाई बहुमत द्वारा किया जाता है।

भारतकी सघीय ससद और कुछ राज्योमें दो सदन हैं। भारतीय संसदके दो सदन हैं: (१) लोक-सभा और (२) राज्य परिषद। राज्य परिषदके सदस्योंकी अधिकतम संख्या २५० है। इनमे से १२ सदस्योंको कला, साहित्य, समाज-सेवा आदि क्षेत्रोमें उनकी असाधारण सेवाओंके उपलक्षमें राष्ट्रपति नियुक्त करता है। शेष सदस्योंका चुनाव राज्योंकी विधान सभाओं द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्वके आधार पर किया जाता है। सीटोंका वितरण संविधानके चौथे परिशिष्ट (Schedule) के अनुसार किया जाता है। राज्य-सभा सर्वदा क़ायम रहती है। इसके सदस्योंका चुनाव ६ वर्षके लिए होता है। एक तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते है। इस समय १२ मनोनीत सदस्योंको मिलाकर कुल २१६ सदस्य हैं।

यदि दूसरे सदनकी कोई आवश्यकता है तो उन्हें पहले सदनसे भिन्न होना चाहिए। उन्हें स्वतंत्रतापूर्वक और ज़िम्मेदारीसे काम करना चाहिए। निचले

सदनके कार्योंका सफल संशोधन करनेके लिए उनमें आवश्यक शक्ति, योग्यता और पक्षपातहीनता होनी चाहिए।

क्या दूसरे सदन आवश्यक हैं ?

दूसरे सदनोंका सब देशोंमें पाया जाना इस बातका द्योतक नहीं है कि वे अनिवार्य हैं। दूसरे सदनोंके पक्षमें प्रायः निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं:

(१) निचले सदन द्वारा भली-भाँति सोचे-विचारे बिना जल्दबाजीमें बनाये गये विधानों पर इन सदनों द्वारा रोक लगती है और ऐसा होना बहुत उपयोगी है।

(२) संघात्मक संविधानोंमें दूसरे सदन संघकी इकाइयोंके हितोंकी रक्षा करते हैं। इन दोनों ही तर्कों पर गम्भीर शंकाएँ की गयी हैं और इस सम्बन्धमें अन्तिम रूपसे अभी तक कोई निर्णय नहीं हो सका है।

पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में जे० एस० मिल ने यह आशंका प्रकट की थी कि केवल एक सदनके होनेसे वह 'निरंकुश' या 'अहंकार-पूर्ण' हो सकता है और 'अविभाजित शक्ति'के पतनोन्मुख प्रभाव' को रोकनेके लिए दूसरे सदनका होना आवश्यक है। सर हेनरी मेन का कहना तो यहाँ तक था कि दूसरा सदन, चाहे वह जिस प्रकार का क्यों न हो, न होनेसे अच्छा है। उनका कहना था कि एक सुसगठित दूसरा सदन 'प्रतिस्पर्धी संस्था' न होकर एक 'अतिरिक्त सुरक्षा' की व्यवस्था है। लॉर्ड ऐक्टन (Lord Acton) दूसरे सदनको स्वाधीनताके लिए एक आवश्यक सुरक्षा मानते है। इससे राज्यकी विधि-निर्माण नीतिमे आवश्यक शक्ति-सन्तुलन होता है, अल्पसख्यकोको सुरक्षा प्राप्त होती है; और वह एक अच्छे प्रत्यालोचन सदन (revising chamber) का काम करता है।

इंगलैण्डमें वृहद्कालीन संसद (long parliament) ने अपने उत्तरकालमें दूसरे सदनको समाप्त कर देनेकी कोशिश की थी। उसने यह भी प्रयास किया था कि वह अपने आपको निर्वाचक-मण्डलसे स्वतंत्र तथा स्थायी रूपमें प्रतिष्ठित कर ले। पर परिणाम इतना बुरा हुआ कि क्रॉमवेल ने उसे संसारकी सबसे अधिक भयानक निरंकुशता' कहा था। कन्वेंशन-पार्लियामेन्ट ने अपना यह मत प्रकट किया था कि शासन 'सम्राट्, लॉर्ड-सभा और कामन्स-सभा द्वारा ही होना चाहिए।'

फ्रांसने भी एक संसदीय व्यवस्थाका प्रयोग किया था पर उसे एक निष्फल प्रयत्न पाकर छोड़ दिया। हमारे समयमें ही यूनान ने वही प्रयोग किया। पर कोई अच्छा फल नहीं निकला। मैरियटका कहना है कि इस सबसे यह स्पष्ट है कि द्विसदनात्मक विधान-मण्डलोंके पक्षमें एक अद्भुद् एकता दिखायी देती है। पर दूसरी ओर श्री एस० एम० आयंगर का कहना है कि प्रजातंत्रमें द्विसदनवाद (bicameralism) एक 'जीर्ण-शीर्ण सिद्धान्त' है। उनका कहना है कि द्विसदनात्मक प्रणालीका कारण 'प्रजातंत्रमें विश्वासकी कमी और अल्पसंख्यकोंको खुश रखने

की इच्छा है।' और 'इस बातका कोई कारण नहीं दिखायी देता कि लोक-सम्मतिको अपनी अभिव्यक्तिके लिए दो साधन खोजने पड़े और प्रजातंत्रको दो प्रकारके स्वरों में बोलना पड़े।' उनका कहना है कि दूसरे सदनोंकी सत्ता इसलिए बना रखी गयी है कि 'राजनीतिक दलोंके उन व्यक्तियोंकी महत्वाकांक्षाएँ पूरी होनेका अवसर मिले जिन्हें पहले सदनमें स्थान नहीं मिल पाता, दलके भीतर नेतागीरीकी होड़ कुछ कम हो और साधारण रूपसे पार्टीके प्रभावका दायरा बढ़े।' ऐसा प्रतीत होता है कि पिछले समयमें भारतके प्रान्तोंमें द्विसदनात्मक प्रथा निहित स्वार्थोंकी जड़ जमाने और निचले सदनकी सम्भाव्य क्रान्ति-मूलक प्रवृत्तियों पर रोक लगानेके लिए प्रचलित की गयी थी। निचले सदनकी भू-सम्पत्ति सम्बन्धी प्रवृत्तियोंके बारेमें खास-तौर पर ऐसा सोचा गया था।

द्विसदनवादके विरुद्ध अबेसियस (Abbe Sieyes) का शास्त्रीय तर्क इस प्रकार है 'यदि दूसरा सदन पहले सदनसे असहमत होता है तो वह शरारती और हानि पहुँचानेवाला है; और यदि सहमत होता है तो उसकी कोई जरूरत नहीं रह जाती।' फ़ाइनर के शब्दोंमें विचारोंको निष्क्रिय बनानेवाली इस भ्रान्तिमूलक स्थितिका सटीक उत्तर यह है : 'यदि दोनों सदन सहमत होते है तो विधानकी न्यायपूर्णता और विवेकशीलता पर हमारे विश्वासको और भी अधिक बल मिलता है। यदि वे असहमत होते हैं तो लोगोंको अपने दृष्टिकोण पर फिरसे विचार करनेका अवसर मिलता है।'

निस्सन्देह सैद्धान्तिक तौर पर समुचित ढंगसे संगठित दूसरे सदनके पक्षमें बहुत कुछ कहा जा सकता है। एक प्रत्यालोचक संस्थाके रूपमे दूसरा सदन विधि-निर्माण मे बहुत महत्वपूर्ण योग दे सकता है। अपने संगठनकी विशेषताओं—सदस्योंकी लम्बी अवधि, अधिक अनुभव और लोकसभाकी उत्तेजनाओं तथा ईर्ष्या-द्वेषों आदिसे उनकी अपेक्षाकृत मुक्ति—के कारण यह सदन विधेयकों पर सभी दृष्टिकोणोंसे, बहुत कुछ तटस्थ रूपमें, विचार कर सकता है। पर व्यवहारमें तो दूसरा सदन रूढ़िवादिता और कभी-कभी प्रतिक्रियाका गढ़ होता है। इंगलैण्डमें अनेक बार लॉर्ड-सभाको तर्क-संगत दृष्टिकोण अपनानेके लिए 'धमकी' दी गयी थी और १९११ के पार्लियामेण्ट ऐक्ट ने तो उसे शक्तिहीन-सा बना दिया है। अब लॉर्ड-सभा अर्थ-विधेयकों में हस्तक्षेप नहीं कर सकती और सामान्य क़ानूनोके मामलोंमें भी उसके अधिकार कॉमन्स सभा के बराबर नही हैं। अब लॉर्ड-सभा अधिकसे अधिक इतना ही कर सकती है कि वह विधि-निर्माणको लगभग तीस महीनों तक या पार्लियामेण्टके लगातार तीन अधिवेशनो तक रोके रहे।[1]

---

[1] १९४९ के पार्लियामेण्ट ऐक्ट ने लॉर्ड-सभा द्वारा किसी विधेयकको क़ानून बननेसे रोकनेकी अवधि को और कम कर दिया गया है। यह अवधि तीन अधिवेशनों और दो वर्षों से घटाकर दो अधिवेशनों और एक वर्षकी कर दी गयी है। यह संशोधन १९४७-४८ के अधिवेशनसे, जबकि यह विधेयक पहले-पहल प्रस्तावित हुआ, अनुदर्शी रूपमें (retrospectively) लागू किया गया था।

यह तर्क हमें निस्सार मालूम होता है कि जल्दबाजी में तथा ठीक प्रकार सोचे-विचारे बिना बनाये गये विधानों पर रोक लगानेके लिए दूसरा सदन आवश्यक है। एक विधेयकके अनेक वाचन होते हैं। उस पर विशेष समितियाँ विचार कर चुकती हैं। विधेयक पर समाचार-पत्र और सार्वजनिक सभा मंचों द्वारा जनता अपना मत प्रकट करती है। ये सब बातें जल्दबाजीसे काम किये जानेके विरुद्ध पर्याप्त संरक्षण मालूम होते हैं। इसके अतिरिक्त अत्यधिक आवश्यक सुधारोके बारेमें ऊपरी सदन को विलम्ब करनेका अधिकार देनेका अर्थ सम्भवतः अंतिम रूपमें घातक होगा और जन-क्रान्तिका रास्ता साफ़ करेगा।

इस दूसरे तर्क पर कि दूसरा सदन संघ सिद्धान्त का एक मौलिक अंग है, शंका की जा सकती है। स्थानीय समस्याओंको स्थानीय विधान-मण्डल सुलझाते हैं और राष्ट्रहितके मुकाबिलेमे राज्योके हितोंकी रक्षा करनेके लिए दूसरे सदनकी कोई आवश्यकता नही है। संयुक्त-राज्य अमरीकाका उदाहरण लेते हुए हम देखते है कि प्रतिनिधि सभाके मुकाबिलमें सीनेट कम राष्ट्रीय या प्रगतिशील नही रही है। यह धारणा बना लेना ग़लत है कि एक सदन केवल प्रान्त या राज्योके हितोको सोचेगा और दूसरा सदन राष्ट्रीय हितोंकी चिन्ता करेगा। सम्भावना तो यह है कि दोनों ही सदनोंमें प्रान्तीय और राष्ट्रीय दृष्टिकोणवाले लोग होंगे। इसलिए हम मैरियट के इस विचारको अत्युक्ति मानते हैं कि संसदीय सविधानके संरक्षणके लिए दूसरा सदन एक मौलिक और प्रभावपूर्ण साधन है।

सारांश यह है कि दूसरा सदन आवश्यक है या नहीं, इस प्रश्नका कोई ऐसा उत्तर नही दिया जा सकता जो सभी अवस्थाओं पर लागू हो। बहुत कुछ तो ऐतिहासिक घटनाओं पर निर्भर करता है। संयुक्त-राज्य अमरीका और फ्रांसमे द्वितीय सदनोंकी समाप्ति से निस्सन्देह इन देशोंको कुछ हानि ही होगी। दोनों ही सदनोने परिपक्व बुद्धि और अनुभवके व्यक्तियोंको आकर्षित किया है और उन्होंने विधि-निर्माण तथा नीति-निर्धारणमें बहुत महत्वपूर्ण भाग लिया है। लॉर्ड-सभाके मिटा देने से इंगलैण्ड भी कमजोर हो जायगा, क्योकि वह भवन मंत्रियों और ज्ञान तथा प्रशासकीय अनुभवका आगार रहा है। कुछ तत्कालीन महत्वपूर्ण प्रश्नोंका विवेचन इस भवनके कारण सम्भव हो सका है। दूसरी ओर यदि कनाडाकी सीनेटको समाप्त कर दिया जाय तो उस देशको कुछ अधिक हानि न होगी। भविष्यके लिए संविधान निर्माणके बारे में दूसरे सदनको एक सामान्य नियम न मानकर अपवाद मानना चाहिए। समय और धनकी बर्बादीको रोकनेके लिए यह व्यवस्था की जा सकती है कि विवादास्पद विधेयकोंको निचले सदनसे दो बार पारित कराया जाय और जरूरत पड़ने पर विधेयकोंके लागू किये जानेसे पहले आम चुनाव करा लिया जाय।

विधान-मण्डल की शक्तियाँ और उसके कर्तव्य
(Powers and functions of the Legislature)

विधान-मण्डलोंका काम केवल विधान बनाना ही नहीं है। वे बजट पर विचार करते हैं, सम्भूतियों (supplies) की स्वीकृति देते हैं, और शासनका सामान्य निरीक्षण करते हैं। विधान बनानेमें सामान्यत: निचले सदनको अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहता है। वित्त-विधेयक (finance bills) केवल निचले सदनमें ही पेश किये जा सकते हैं। भारतमें भी ऐसा ही है। वित्त-विधेयकके अतिरिक्त अन्य विधेयक अनेक देशोंमें किसी भी सदनमें पेश किये जा सकते हैं। दोनों सदनोंमें परस्पर विरोध होने पर ऊपरी सदनको ही झुकना पड़ता है। अनेक देशोके संविधानों में दोनों सदनोंके या दोनों सदनोंकी समितियोंके सम्मिलित अधिवेशनकी व्यवस्था है। इन अधिवेशनोंमे निर्णय एक निश्चित प्रतिशत मतो द्वारा ही किये जाते हैं। पर क्योंकि प्राय: सभी कहीं निचले सदनके सदस्योंकी संख्या अधिक होती है, इसलिए पाँसा उन्ही के पक्षमें पड़ता है।

ब्रिटिश पार्लियामेण्ट संसारकी सबसे अधिक शक्तिमान संसदोंमें से एक है। उसके अधिकार वहाँ तक है जहाँ तक जनमत और निर्वाचक-मण्डल उसे सहन करे। उसके काम सवैधानिक (constituent) और वैधानिक (legislative) दोनों ही हैं। सयुक्त-राज्य अमरीका और स्विटज़रलैण्ड में संविधानको बदलनेके लिए एक व्यापक संस्था संगठित की जाती है। आस्ट्रेलियामें भी संविधानमे परिवर्तन करनेके लिए एक विशेष प्रक्रियाकी आवश्यकता होती है। फ्रांसमें सशोधनकी प्रणाली अमरीकाकी अपेक्षा अधिक आसान है, यद्यपि उसकी विधि बहुत कठिन प्रतीत होती है।

जिन देशोंमें संसदीय शासन व्यवस्था है वहां संसद प्रश्नोत्तरों द्वारा शासन पर नियंत्रण रखती है। यद्यपि इस सम्बन्धमें इंगलैण्डमें अविश्वासका प्रस्ताव उपस्थित नहीं किया जा सकता, पर फ्रांसमें ऐसी प्रणाली प्रचलित है और वहाँ बहुधा मंत्रि-मण्डलोको उलटनेमे इस विधिसे काम लिया जाता है। लोक-प्रशासनके लेखक विधान-मण्डलकी तुलना एक व्यावसायिक संस्थाके संचालक मण्डलसे करते हैं। दोनोका ही काम निर्देशन, निरीक्षण और नियत्रण करना है, कार्यान्वय करना नहीं। 'सरकारके प्रशासकीय विभागका संगठन किस प्रकार किया जाय, विभिन्न विभागोंके बीच कर्तव्योंका विभाजन कैसे हो और वे किस प्रकार काम करें—इन सब प्रश्नोंका निर्णय करनेका अन्तिम अधिकार संयुक्त-राज्य अमरीकामें सरकारकी विधायनी (legislative) शाखा को है।'

विधान-मण्डलको, विशेषकर उसके ऊपरी सदनको, कुछ न्याय-सम्बन्धी कार्य भी करने होते हैं। आज भी लॉर्ड-सभाका सभापति, लॉर्ड चान्सलर, इंगलैण्डकी सर्वोच्च न्यायाधिकरण-सत्ता है। वह न्याय सम्बन्धी ६ अन्य: लॉर्डोंके साथ राज्यके

सर्वोच्च न्यायालयके रूपमें काम करता है। वैसे तो न्याय-समिति (Judicial Committee) में इन सात लॉर्डोंके अतिरिक्त अन्य लार्ड भी बैठते हैं; पर समितिका काम वास्तवमें यही सात करते हैं। संयुक्त-राज्य अमरीकामें प्रतिनिधि-सभा द्वारा लगाये गये अभियोगों (impeachment) की सुनवाई सीनेटमें होती है। फ्रांसमें भी सीनेट ही उच्च न्यायालय थी।

कुछ देशोंमें ऊपरी सदनको कार्यपालिकाके कर्त्तव्य भी पूरे करने होते हैं। संयुक्त-राज्य अमरीकामें मन्त्रियों, सर्वोच्च न्यायालयके न्यायाधीशों, राजदूतों, वाणिज्य दूतों आदि अधिकारियोंकी राष्ट्रपति द्वारा की गयी नियुक्तियोंके लिए सीनेटकी स्वीकृति आवश्यक होती है। फ्रांसमें तीसरे गणतंत्रके अधीन राष्ट्रपति सीनेटकी स्वीकृतिसे प्रतिनिधि-सभाको भंग कर सकता था। पर परम्पराने ऐसा नहीं होने दिया और प्रतिनिधि-सभा अपने कार्यकालकी समाप्ति तक काम करती रही है। अमरीकामें ऊपरी सदन बहुत अधिक शक्तिशाली है। इसके अधिकार करीब-करीब निचले सदनके समान ही है। अमरीकामें सीनेट वित्त-विधेयकोंको प्रस्तावित नहीं कर सकता, पर उनमें संशोधन कर सकता है। पर वैदेशिक मामलोंमें प्रतिनिधि सभाकी अपेक्षा सीनेट अधिक प्रभावशाली है। अपने अनुभव, परिपक्वता, लम्बी अवधि, अभंग स्वरूप, सीमित आकार, राजनीतिक संस्थाओंसे अपना सम्बन्ध, और क़ानून द्वारा मिली हुई अपनी अधिकार-सत्ताके कारण देशमें इस सीनेटकी अधिक प्रतिष्ठा है। फ्रांसमें दोनों सदनोंको मिलानेवाली सुदृढ़ दल-व्यवस्थाके अभावने और प्रतिनिधि-सभाके सदस्योंके बुरे आचरणने सीनेटको शक्तिशाली बनाया है। फ्रांसमें सीनेटका इतना अधिक प्रभाव है कि इसकी बातका उल्लंघन करनेका साहस किसी भी मंत्रि-मण्डलमें नहीं हो सकता और हर मंत्रिमण्डलमें साधारण तौर पर सीनेटके तीन या चार सदस्योंको शामिल किया जाता है। सीनेटको अधिकार है कि वह प्रतिनिधि-सभा द्वारा स्वीकृत ऋणोंको स्वीकार करे या अस्वीकार करे, घटाये या बढ़ाये।

विधान-मण्डल की कार्य-प्रणाली
(Legislative Procedure)

आजकल विधि-निर्माण आसान नहीं है। इसके लिए कुशल आलेखकों (draftsmen) की, विधेयकके सामान्य सिद्धान्तोंकी सावधानीसे विवेचना करनेकी, और साथ ही साथ प्रत्येक धारा पर विस्तारपूर्वक विचार करनेकी आवश्यकता होती है। इंगलैण्डमें हर विधेयकको प्रथम वाचन, द्वितीय वाचन, समिति अवस्था (committee stage), सूचनावस्था (report stage) और तृतीय वाचनकी स्थितियोंको पार करना होता है। विरोधी दलकी अड़ंगे लगानेवाली चालोंको रोकने और सदनका समय बचानेके लिए विवाद-बन्ध (guillotine) प्रस्ताव आदि विवाद का अन्त करने वाले साधनोंको अपनाया जाता है।

विधान-मण्डलकी कार्यवाही पर राजनीतिक दलों तथा 'प्रभाव डालनेवाले गुटों' का बड़ा असर पड़ता है। उम्मीदवारोंको इस बातका वादा करना पड़ता है कि वे दल की नीति और कार्यक्रमका समर्थन करेंगे और तभी उन्हें उम्मीदवार बनाया जाता है। कभी-कभी किसी विशेष योजनामें रुचि रखनेवाले मतदाताओके दल उम्मीदवारोंका समर्थन करनेसे पहले उनसे यह लिखवा लेते हैं कि वे उन योजनाओंका समर्थन करेंगे। कुछ संविधानोंमें, उदाहरणके लिए संयुक्त-राज्य अमरीकाके राज्य संविधानोमें, इस बातकी व्यवस्था है कि जब विधान-मण्डलका कोई सदस्य निर्वाचक-मण्डलका आंशिक या सम्पूर्ण विश्वास खो देता है तब उसे फिरसे चुनाव लड़नेके लिए मजबूर किया जाता है। यह काम विधान-मण्डलकी अवधि-समाप्त होनेके पूर्व प्रत्यावर्तन (recall) द्वारा किया जाता है।

आजकल दलों, दबाव डालनेवाले गुटों, और सार्वजनिक सभाओंकी शक्ति बहुत अधिक है। अतएव अब इस पुराने प्रश्नका महत्त्व समाप्त हो गया है कि प्रतिनिधि केवल प्रतिनिधि मात्र है या वह अपने विवेकका भी उपयोग कर सकता है। कुछ विचारकोंकी राय है कि प्रतिनिधि एक जीता-जागता टेलीफोन मात्र है, जिसे सचाई और ईमानदारीके साथ वही कहना चाहिए जो कुछ निर्वाचक-मण्डल उससे कहलाना चाहता है। यह सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं है। एक तो यह व्यक्तिके आत्म-सम्मानको गिरानेवाली बात है और दूसरे कोई पहले यह कैसे मालूम कर सकता है कि चुनाव समाप्त हो जानेके बाद कौन-सी और कैसी परिस्थितियाँ पैदा हो जायँगी। इसके अतिरिक्त एक प्रतिनिधिका अपने निर्वाचन-क्षेत्रके प्रति जितना कर्त्तव्य होता है उतना ही कर्त्तव्य सम्पूर्ण जातिके प्रति भी होता है। इसलिए उसे दूसरे प्रतिनिधियों और दलों द्वारा उपस्थित किये गये सभी प्रश्नों पर विचार करनेके लिए तैयार रहना चाहिए।

यद्यपि इस सम्बन्धमें कोई सामान्य नियम नहीं है कि किन परिस्थितियोंमें किसी प्रतिनिधिका कर्त्तव्य होता है कि वह त्याग-पत्र दे दे, फिर भी साधारणतः यह स्वीकार किया जाता है कि जब कभी वह एक दलको छोड़कर दूसरे दलमें जाय या अपने निर्वाचन क्षेत्रकी स्पष्ट इच्छाके विरुद्ध नीति या कार्य पद्धति अपनाये अथवा चुनावके समय दिये गये अपने तात्विक वचनोको भंग करे तब उसे त्याग-पत्र दे देना चाहिए और फिरसे चुनाव लड़ना चाहिए।

यद्यपि इस सम्बन्धमें कोई सामान्य नियम नहीं है कि किन परिस्थितियोंमें किसी प्रतिनिधिका कर्त्तव्य होता है कि वह त्याग-पत्र दे दे, फिर भी साधारणतः यह स्वीकार किया जाता है कि जब कभी वह एक दलको त्याग कर दूसरे दलमें जाय, या अपने निर्वाचन-क्षेत्रकी स्पष्ट इच्छाके विरुद्ध नीति या कार्य-पद्धति अपनाये अथवा चुनावके समय दिये गये अपने तात्विक वचनोंको भंग करे तब उसे त्यागपत्र दे देना चाहिए और फिरसे चुनाव लड़ना चाहिए।

संसदीय पद्धतिमें सत्तारूढ़ सरकारके बारेमें भी यही बातें लागू होती हैं। फ़ाइनर

के अनुसार इंगलैण्डमें निम्नलिखित तीन परिस्थितियोंमें सरकारका भंग करना उचित माना जाता है:

(१) जब मौलिक महत्त्वकी नयी नीति लागू करनेकी बात सोची जाती है; जैसा कि बाल्डविन (Baldwin) ने १९२३ मे किया था। बॉनर ला (Bonar Law)—जिनके बाद बाल्डविन प्रधान-मंत्री बने थे—चुनावमें घोषणा कर चुके थे कि वह चुंगी की दरों (tariffs) मे कोई वृद्धि नहीं करेंगे। अतएव बेकारीको दूर करनेके लिए संरक्षण लागू करनेके पहले बाल्डविन ने नये चुनाव करा लेना उचित समझा।

(२) जब सरकारको इस बातका स्पष्ट प्रमाण मिल जाय कि अब उस पर देश का विश्वास नहीं रहा।

(३) जब दलोकी स्थिति ऐसी हो जाती है कि गतिरोध पैदा हो जाता है, आवश्यक विधानोंके पारित होनेमे बाधा पड़ती है, और जब तीव्र आलोचनाओंके कारण सरकारके लिए प्रतिष्ठापूर्वक सत्तारूढ़ बना रहना असम्भव हो जाता है।

समिति-प्रणाली
(Committee System)

आधुनिक विधान-मण्डल अपना अधिकांश काम समितियोंके द्वारा करते हैं। कार्यपालिका और विधान-मण्डलके अलग-अलग होनेसे अमरीकामें काग्रेसका सारा काम समितियों द्वारा होता है। समितियाँ गुप्त रूपसे अपना काम करती हैं। यद्यपि इन समितियोमे दोनों दलोंके प्रतिनिधि रहते हैं पर बहुमत दलके सदस्य अधिक होते हैं और उसी दलका सदस्य सभापति होता है। दलके सदस्य एक साथ मिलकर काम करते हैं। मंत्रिमण्डलके सदस्योंको कभी-कभी इन समितियोमें उपस्थित होनेको कहा जाता है; पर यह जरूरी नहीं है कि उनकी सलाह मान ली जाय। कुछ महत्त्वपूर्ण समितियोंके सभापति वस्तुत: मंत्रियोकी सी स्थिति रखते हैं, जैसे साधनोपाय-समितियों (committee on ways and means) और संविनियोग समितियों (committee on appropriations) के सभापति। फ्रांस मे भी ऐसी ही व्यवस्था है; वहाँ पर एक कमीशनका अध्यक्ष (rapporteur) वित्तीय मामलोमें भी मत्रीका प्रतिद्वन्द्वी बन सकता है। इस पद्धतिमें प्रतिनिधि सभा शासन और विधि निर्माण दोनोंका ही नियंत्रण करती है। इंगलैण्ड की कॉमन्स सभामें समितियाके सभापतियोको उतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नही है जितना अमरीका की काग्रेस में (यहाँ सदनमें मंत्रिगण उन पर छाये रहते हैं)।

संसद की अवधि
(Duration of Parliament)

संसदका कार्यकाल कितना होना चाहिए इस प्रश्नका कोई निश्चित उत्तर नहीं

है। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि संसदका कार्यकाल इतना छोटा होना चाहिए कि प्रतिनिधिगण और जनतामें निकटका सम्पर्क बना रहे तथा इतना लम्बा भी होना चाहिए कि संसदके सदस्य अनुभव प्राप्त कर सकें और जनताको बार-बार चुनावके झंझटमें न पड़ना पड़े। नियत्रण रखनेकी चिन्तामें अमरीकी जनताने अपने निचले सदनका कार्यकाल बहुत ही छोटा रखा है। प्रतिनिधि सभाकी अपेक्षाकृत कमजोरीके कारणोमें से एक कारण यह है कि इसके सदस्योंका चुनाव केवल दो वर्ष के लिए होता है। इंगलैण्ड, फ्रांस, और जर्मनीमें निचले सदनके कार्यकालकी अवधि क़ानून द्वारा तय कर दी गयी है। पर इस बातकी व्यवस्था भी है कि कुछ विशेष परिस्थितियोंमें निचले सदनको कार्यकाल समाप्त होनेके पहले भी भंग किया जा सकता है। इंगलैण्डकी कॉमन्स सभाकी पाँच वर्षकी अवधि वास्तवमें बहुत लम्बी अवधि है। क्योंकि इस अवधिके कारण इस बातकी सम्भावना है कि सदनके सदस्य मतदाताओकी इच्छाओ और आवश्यकताओसे अपना सम्बन्ध न बनाये रख सकें। दूसरी ओर तीन वर्षकी अवधि जैसा कि १९१९ के सुधारमें भारतकी प्रान्तीय कान्सिलोके लिए रखी गयी थी, बहुत कम है। संसदीय सरकारोंके लिए चार वर्ष की अवधि सर्वोत्तम है, पर साथ ही इस अवधिके पहले भी संसदको भंग किये जाने की व्यवस्था हो। इंगलैण्डका सम्राट् पार्लियामेण्टको भंग करता है पर भंग करनेका अधिकार वस्तुतः मन्त्रिमण्डलके हाथमें रहता है।

जहाँ तक दूसरे सदनका सम्बन्ध है, वंशानुगत संस्थाओंको छोड़कर उन परिषदों का कार्यकाल—चाहे वह प्रत्यक्ष रूपसे चुनी जाती हों या अप्रत्यक्ष रूपसे, अथवा उनके कुछ सदस्य निर्वाचित और कुछ मनोनीत होते हों जैसा कि भारत की प्रान्तीय विधान परिषदोंमें होता था—पाँच वर्षसे अधिक नहीं होना चाहिए। ऐसे दूसरे सदन जो स्थायी सस्थाके रूपमें काम करते हैं, ६ वर्ष तक चल सकते हैं। उनके एक तिहाई सदस्य हर दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते रहते हैं, जैसा कि संयुक्त-राज्य अमरीका और भारतकी राज्य परिषदमें होता है। श्री एस० एस० आयंगर, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, कहते हैं कि किसी भी व्यक्तिको किसी भी विधान-मण्डलमें दो बारसे अधिक जनताका प्रतिनिधि नहीं बनने देना चाहिए। क्योंकि इससे राजनीतिमें व्यावसायिकता फैलती है और बनावटी उद्देश्योंको पूरा प्रोत्साहन मिलता है। श्री आयंगर का विश्वास है कि ऐसे प्रतिबन्धोंसे 'आज हमें राजनीतिमें जो बासीपन और उत्तरदायित्वकी कुण्ठित भावना तथा जान बचाने और आत्म-सन्तोषकी प्रवृत्ति दिखाई देती है उस पर रोक लग जायगी।' इस दृष्टिकोणके विरूद्ध, अनुभव और स्थायित्व (continuity) के पक्षमें भी कुछ कहा जा सकता है। इसके अलावा एक व्यक्तिको केवल दो ही बार जनताका प्रतिनिधि बननेकी अनुमति देनेसे उन लोगोंके लिए द्वार बन्द हो जायगा जिन्हें अवकाश नहीं मिलता और जो राजनीतिमें प्रतिष्ठित जीवनकी आशा रखते हैं। विधान-मण्डलके प्रभावशून्य, स्वार्थी और दब्बू सदस्योंको छाँट कर बाहर कर देना आजकल मुख्य समस्या है।

विधायकों का वेतन (Salary of Legislators)

अधिकतर आधुनिक सरकार विधान-मण्डलके सदस्योंको वेतन देती हैं। अमरीकामें सीनेट तथा कांग्रेस दोनोंके ही सदस्योंको १५,००० डालर प्रति वर्ष दिया जाता है। फ्रांसमें भी दोनों सदनोंके सदस्योंको वेतन मिलता है। इंगलैण्डमें भी मज़दूर दलके आगमन (१९१९) के बादसे कॉमन्स सभाके सदस्योंको वेतन मिलता है। भारत में केन्द्रीय विधान-मण्डलके सदस्योंको ४०० रु० मासिक वेतन, मुफ्त रेल यात्रा और अधिवेशनके दिनोंमें २२ रु० रोज भत्ता दिया जाता है। श्री एस० एस० आयंगर का कहना है कि वेतन देनेकी यह प्रथा हानिकारक है क्योंकि इससे बहुतसे विधायक अपने दलके गुलाम बन जाते हैं। सदस्योंका ध्यान सेवाके बजाय वेतन पर लगा रहता है। वे थोड़े स्वार्थके लिए अपने विश्वासोंको छोड़नेके लिए तैयार रहते हैं। दूसरी ओर यह भी कहना ज़रूरी है कि यदि हम चाहते हैं कि सभी श्रेणीके नागरिक शासन कार्यमें उचित भाग लें तो यह उचित ही है कि उनके द्वारा की गई सेवाओंके लिए उन्हें उचित पारिश्रमिक मिले। पर साथ ही वेतन इतना अधिक भी नहीं होना चाहिए जिससे निस्वार्थ सेवाका उद्देश्य असम्भव हो जाय। सरकारके सभी विभागोंमें काम करनेका पुरस्कार लोक-सेवासे मिलनेवाला सन्तोष और लाखों व्यक्तियोंके भाग्य-निर्माणका विशेषाधिकार ही है।

विधायकों के विशेषाधिकार (Privileges of Legislators)

सभी देशोंमें विधान-मण्डलके सदस्योंके कुछ विशेषाधिकार होते हैं। ब्रिटिश पार्लियामेन्टका सम्राट्के साथ होनेवाले संघर्षके फलस्वरूप इन अधिकारोंका प्रादुर्भाव हुआ। भाषणकी स्वाधीनता और दीवानी मामलोंमें गिरफ्तारीसे मुक्ति महत्त्वपूर्ण विशेषाधिकार है। किसी भी सदस्यको किसी भी ऐसी बातके लिए सज़ा नहीं दी जा सकती जो उसने सदनमें कही हो। इसका अर्थ यह नहीं है कि लोग असंसदीय भाषाका प्रयोग करें। इसका नियंत्रण सदनके अध्यक्ष द्वारा होता है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि लोग ऐसे लम्बे भाषण दें जिनका अन्त ही न हो। इनका नियंत्रण, समापन (closure) और विवाद-बन्ध (guillotine) सम्बन्धी नियमों द्वारा होता है। साधारण तौर पर विधान-मण्डलके अधिवेशनसे ४० दिन पहले और ४० दिन बाद तक दीवानी मुक़दमोंके बारेमें सदस्योंको गिरफ्तारीसे मुक्ति मिली रहती है। अमरीकामें यह छूट सदस्योंके सदनमें उपस्थित रहने और सदनमें आने और जानेकी अवधिके लिए रहती है। इसमें किसी भी दीवानीके मामलेके सम्मन दिये जानेकी छूट शामिल नहीं है।

विधान-मण्डल और कार्यपालिका के पारस्परिक सम्बन्ध
(Relation between the Legislature and Executive)

विधान-मण्डल और कार्यपालिकाके आपसी सम्बन्धके निम्नलिखित चार विभिन्न स्वरूप होते हैं:

(१) अंग्रेजी आदर्शके अनुसार मंत्रिमण्डल संसदकी कार्यसंचालन समिति (Steering Committee) होता है। मंत्रिमण्डल ही संसदके समय, नीति, विधान और वित्तीय उत्तरदायित्वका नियमन करता है।

(२) फ्रांसीसी आदर्शके अनुसार मंत्रिमण्डल अपने अस्तित्वके लिए विधान-मण्डल पर आश्रित है। फ्रांसीसी आदर्श भी संसदात्मक है। मंत्रिमडलका भाग्य हमेशा विधान-मण्डलकी सनक पर निर्भर रहता है। कोई ऐसे निश्चित सिद्धान्त नही होते जिनके अनुसार विधान-मण्डल मंत्रिमण्डलके साथ सहयोग या असहयोग करे।

(३) स्विटजरलैण्डके आदर्शके अनुसार कार्यपालिका दलबन्दीसे मुक्त और सामूहिक होती है। उसका कार्यकाल निश्चित होता है। यदि उसके कार्यों अथवा नीतियोंको विधान-मण्डल अस्वीकार कर देती है तो वह इस्तीफा नहीं देती। वह विधान-मण्डलके साथ आवश्यक समाधान कर लेती है।

(४) अमरीकी आदर्शमें राष्ट्रपति और प्रतिनिधि सभामें कोई वैधानिक सम्बन्ध नहीं है। विधान-मण्डल और कार्यपालिकाके बीच कोई सहयोगमूलक सम्बन्ध नहीं है, पर ऐसी अनेक बातें हैं (विशेषकर सीनेटके बारेमे) जिनको लेकर उनमें संघर्ष हो सकता है।

निर्वाचक-मण्डल
(The Electorate)

किसी देशके उस जनसमूहको निर्वाचक-मण्डल कहते हैं जिसे मतदानका अधिकार प्राप्त होता है। निर्वाचक-मण्डल अपने इस अधिकार द्वारा ही सरकार बनाते या बिगाड़ते हैं। ऐसा बहुत ही कम होता है कि पूरा देश एक ही निर्वाचन-क्षेत्र (constituency) रहे, जैसा कि फ़ासीवादी इटलीमें होता था। सामान्य प्रथा यह है कि देशको ऐसे निर्वाचन-क्षेत्रोमें बाँट दिया जाता है जिनकी व्यवस्था आसानीसे हो सके और जिनकी जनसंख्या लगभग बराबर हो। जिस निर्वाचन-क्षेत्रको केवल एक प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार होता है उसे एक प्रतिनिधि-निर्वाचन-क्षेत्र (single-member constituency) कहते हैं। जिस निर्वाचन-क्षेत्रसे एक-से अधिक प्रतिनिधि चुने जाते हैं उसे बहु-प्रतिनिधि-निर्वाचन-क्षेत्र (multi-member constituency) कहते हैं। इंगलैण्ड और भारतमें अधिकांश रूपमें एक प्रतिनिधि-निर्वाचन-क्षेत्र ही

हैं। इंगलैण्डके हाउस ऑफ कॉमन्सकी ६१५ सीटोंमें ५७६ सीटें एक प्रतिनिधि निर्वाचन-क्षेत्रोंसे ही भरी जाती हैं।

भारतमें स्वतंत्रताके पहले अल्प-संख्यकों और विशिष्ट स्वार्थों, जैसे व्यवसाय, भू-स्वामियों आदिके लिए पृथक निर्वाचन-क्षेत्र थे। विश्वविद्यालयोंके निर्वाचन-क्षेत्र भी अलग थे। ये सब बातें प्रजातंत्रीय न थीं और एक शुद्ध राष्ट्रीय तथा प्रजातंत्रवादी राज्यके विकासमें अड़चने डालती थीं। सम्प्रदायवाद क़बीली-जीवनका द्योतक है तथा विशिष्ट स्वार्थ सामन्तवादके बचे-खुचे अंश हैं।

जागीरोंका प्रतिनिधित्व योरोपके अनेक देशोंमें कुछ समय पहले तक प्रचलित था। इंगलैण्डके राजनीतिक सुधारकोंने बहुत समय तक 'एक सदस्य एक वोट' के सिद्धान्तका आन्दोलन किया। सुधारकोंमें सर्वश्रेष्ठ, जेरेमी बेन्थम के शब्दोंमें 'प्रत्येक की गणना एक होनी चाहिए, किसीको भी एक-से अधिक नहीं गिना जाना चाहिए।' एक दो असंगतियोंके होते हुए भी यह सुधार सभी प्रजातंत्रवादी देशोंमे स्वीकृत हो चुका है। इंगलैण्डमें १९५० तक बहुल मतदान (plural voting) की प्रथा थी। इसके अनुसार एक व्यक्ति एक निर्वाचन-क्षेत्रके निवासीके रूपमें तो वोट देता ही था; साथ ही एक ऐसे व्यावसायिकके रूपमे भी वोट देता था जिसके व्यावसायिक उपनय (business premises) का किराया १० पौण्ड वार्षिक होता था। विश्वविद्यालयों के स्नातक भी अपना दूसरा वोट विश्वविद्यालय निर्वाचन-क्षेत्रसे प्रतिनिधि चुननेके लिए दे सकते थे। वर्तमान क़ानून है—एक सदस्य एक वोट। अभी कुछ समय पहले तक स्त्रियोंको मताधिकार प्राप्त नहीं था, विशेषकर राष्ट्रीय निर्वाचनोंमें। अपने निरन्तर संघर्षमय आन्दोलन और महायुद्धके समय प्रशंसनीय सेवाओंके कारण इंगलैण्डमें १९१८ से ३० वर्षसे अधिक आयवाली स्त्रियोंको मताधिकार मिला। १९२८ में अवस्थावाली शर्त हटा दी गयी और स्त्री तथा पुरुष एक ही कोटिमें आ गये। संयुक्त-राज्य अमरीकामें १९१९ में संविधानके १९वें संशोधन द्वारा स्त्रियोंको मताधिकार दिया गया। जर्मनीमें 'वीमर संविधान' में स्त्रियोंको मताधिकार दिया गया। फ्रांसमे १९४५ तक तथा इटलीमें १९४८ तक स्त्रियोंको मताधिकार नहीं दिया गया था। इसका कारण यह आशंका थी कि स्त्रियोंको मताधिकार देनेसे राजनीतिमें धार्मिक पुरोहितोंका अनुचित प्रभाव बढ़ जायगा। एक दूसरे कैथोलिक देश स्पेनमें स्त्रियों परसे यह प्रतिबन्ध कुछ समय पहले हट गया था। सोवियत रूसमें मताधिकारके मामलेमें स्त्री और पुरुष एक समान माने जाते हैं। विदेशी-निवासी भी वोट दे सकते हैं। भारतमें सभी प्रकारके निर्वाचनोंमें स्त्रियोंको वही मताधिकार प्राप्त हैं, जो पुरुषोंको प्राप्त हैं।

स्त्रियोंको मताधिकार दिये जानेका स्वागत बहुतसे लोगोंने यह कह कर किया है—इससे राजनीतिमें शुद्धता, सामाजिक न्याय और मानव-दयावाद (humanitarianism) का युग प्रारम्भ होगा। पर महिलाओने प्रायः अपने मताधिकारका उपयोग पुरुषोंकी अपेक्षा कुछ अधिक विवेकपूर्ण ढंगसे नहीं किया है। मताधिकारके लिए

संघर्ष करनेके बावजूद अनेक उनका प्रयोग करनेमें असफल हुई हैं। फिर भी स्त्री-प्रतिनिधियोंकी उपस्थितिके फलस्वरूप और महिलाओं तथा उनके संघों द्वारा देशके सामाजिक जीवनमें अधिक रुचि लेनेके कारण सामाजिक समस्याओंकी ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। भारत जैसे देशमें स्त्रियोंकी वैधानिक और सामाजिक असमर्थताओं (disabilities) को हटाने और बच्चोंकी आवश्यकताओंकी पूर्तिकी ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

किसी व्यक्ति द्वारा मताधिकार प्राप्त करनेकी अवस्था भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न-भिन्न है। अधिकतर देशोमें यह अवस्था २१ वर्ष है। भारत और इगलैण्डमें यही अवस्था है। तुर्की और सोवियत रूसमें नवयुवकोंको १८ वर्षकी अवस्थासे ही मताधिकार प्राप्त हो जाता है जबकि इनमे से बहुतेरे अपरिपक्व ही रहते है। १९१९ के जर्मनीके संविधानने २० वर्षसे अधिकके स्त्री-पुरुषोंको मताधिकार दिया था। कुछ देशोमे तो २५ वर्षसे कमके लोगोंको मताधिकार नहीं दिया जाता। कुछ लोगों का कहना है कि युवकोंको मताधिकार नहीं दिया जाना चाहिए। क्योकि वे अनुत्तरदायी और अपने विचारोमें उग्र होते हैं। पर प्राय: यह माना जाता है कि २१ वर्षकी अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते युवकोंको अपने चारों ओरके संसारका इतना ज्ञान हो जाता है कि वे समझदारीके साथ अपने मताधिकारका प्रयोग कर सकें। अधिकारियोकी अत्यधिक रूढ़िवादिताको देखते हुए नवयुवकोंकी तथाकथित उग्र सुधारवादी भावनाओको बुरा नही मानना चाहिए। फिर युवकोको तो अनुभवसे ही सीखना है।

राष्ट्रीय विधान-मण्डलके लिए चुनाव लड़नेकी अवस्था मताधिकारकी अवस्था से प्राय: ऊँची रहती है। अमरीका, जर्मनी और फ्रासमें उम्मीदवारको कम-से-कम २५ वर्षका और जापानमें कम-से-कम ३० वर्षका होना चाहिए। ब्रिटेन और रूसमें मताधिकार और उम्मीदवारीकी अवस्था एक ही रखी गयी है। भारतमें वर्तमान विधानके अनुसार प्रान्तीय विधान सभाओं तथा लोकसभाकी सदस्यताके लिए आवश्यक अवस्था २५ वर्ष और राज्य-सभा तथा राज्योकी विधान-परिषदोंके लिए (जिन राज्योमें वे हों) ३० वर्ष है। सदस्यताके लिए अधिकतम उम्रका निश्चय शायद कहीं नहीं हुआ। इंगलैण्डमे उम्मीदवारके लिए यह आवश्यक नही है कि वह जिस निर्वाचन-क्षेत्रसे खड़ा होना चाहता हो वहाँका निवासी भी हो; पर संयुक्त-राज्य अमरीकामें यह आवश्यक है।

आधुनिक सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही सार्वभौम, समान और वयस्क मताधिकारके पक्षमें हैं। पर कुछ देशोंमें कुछ प्रकारके लोग मताधिकारसे वंचित रखे गये हैं। ऐसे लोग हैं, पागल, जिनका दिमाग बिगड़ गया हो, कुछ खास प्रकारके अपराधी, भिखमंगे (paupers) और दिवालिये। रूसको छोड़कर अन्य सभी देशोंमें विदेशियोंको मताधिकारसे वंचित रखा गया है। विदेशियोको नागरिकता प्राप्त करनेके लिए अधिकांश देशोमें कुछ नियम बने हुए हैं। प्राय: देशमें कुछ वर्षों तक

निवास आवश्यक माना गया है। संयुक्त-राज्य अमरीकाके प्रत्येक राज्यमें निर्वाचन सम्बन्धी योग्यताओंके अपने-अपने नियम हैं। कुछ राज्योंमें निवासके साथ नागरिकता और अंग्रेजी भाषा-ज्ञानकी परीक्षा आवश्यक है। संविधानके १५वें संशोधनमें यह कहा गया है कि किसी भी व्यक्तिको केवल जाति या रंगके आधार पर मताधिकारसे वंचित नहीं किया जा सकता। पर दक्षिणी राज्योंमें रंगभेदकी भावना बहुत अधिक है। वहाँ नीग्रो लोगोंको मताधिकारसे अलग रखनेके लिए अनेक उपाय काममें लाये गये हैं। दक्षिण-अफ्रीका संघ (Union of South Africa) में काले लोगोंको मताधिकार प्राप्त नहीं है यद्यपि वे कुल जनसंख्याके ⅘ हैं। काले और अर्ध-काले मतदाताओंको सार्वजनिक मतदाताओंकी सूचीसे १९५६ में हटा दिया गया है। हिटलर के समयमें जर्मनीने यहूदियोंको कोई भी राजनीतिक अधिकार देना स्वीकार नहीं किया था। योरोपके अनेक देशोंमें राष्ट्रीय अल्प संख्यकोंको मताधिकारसे वंचित रखा गया है। कुछ देशोंमें कुछ श्रेणीके सरकारी नौकरोंको—चुनाव अफसर, सैनिक आदिको—भी मताधिकारसे वंचित रखा जाता है।

प्रायः सम्पत्ति और शिक्षाकी योग्यताको मताधिकारके लिए आवश्यक माना गया है पर प्रजातंत्रके प्रादुर्भावसे सम्पत्ति और शिक्षाकी योग्यताको यथासम्भव कम से कम रखा गया है। इसके पहले यह सिद्धान्त था कि केवल उन्हीं लोगोंको वोट देनेका अधिकार है जिनका देशमें कुछ निश्चित स्वामी स्वार्थ हो—जैसे सम्पत्तिशाली वर्ग। पर इसका फल यह हुआ कि अनेक निहित स्वार्थ उत्पन्न हो गये और अन्याय स्थायी हो चला। इगलैण्डमे १८३२ और १८६७ के सुधार विधेयकोंने अत्यधिक सम्पत्तिकी योग्यताके आधार पर लगाये गये प्रतिबन्धोंके विरुद्ध क़दम उठाया। १९१९ तक प्रशा (Prussia) में प्रत्यक्ष राजस्व देनेके आधार पर बनायी गयी तीनों वर्गोंवाली व्यवस्था कायम रही। इसके अनुसार प्रथमवर्गके मतदाताको दूसरे वर्गके मतदाताकी अपेक्षा लगभग चार गुनी और तीसरे वर्गके सदस्यके मुकाबले १६ गुनी अधिक राजनीतिक शक्ति प्राप्त थी।

शिक्षा सम्बन्धी योग्यताके बारेमें, क्षेत्रीय भाषाका साधारण ज्ञान काफ़ी माना जाता है। भाषाका ज्ञान निस्सन्देह एक बहुत बड़ी सुविधा है फिर भी निरक्षरताको ही एक बहुत बड़ी अयोग्यता नहीं मानना चाहिए। जैसा कि भारतीय स्थितिके सम्बन्धमें लोदियन समिति (Lothian Committee) ने लिखा है : 'निरक्षरताका यह अर्थ कदापि नहीं है कि व्यक्ति अपने ज्ञान या अनुभवकी परिधिमें आनेवाले मामलों पर समझदारीके साथ वोट देनेमें असमर्थ है।' श्री एस० श्रीनिवास आयंगर कहते हैं, 'अखबारोंमें विवादोंको पढ़ने और प्रतियोगी नीतियों और योजनाओंके सम्बन्धमें तथ्यों और तर्कोंका विश्लेषण करनेवाले समाचार-पत्रों और ग्रन्थोंको पढ़ने की शक्ति स्वस्थ प्रजातंत्रवादी व्यवस्थाके लिए अनिवार्य है।' निर्वाचक-मण्डलको शिक्षित करनेमें राजनीतिक दल बहुत बड़ा योग दे सकते हैं।

हम इस पुराने सिद्धान्तमें विश्वास नहीं करते कि मताधिकारके साथ यह कर्तव्य

भी जुड़ा हुआ है कि आवश्यकता पड़ने पर अपने वोटका समर्थन शारीरिक बल द्वारा किया जाय। आज कोई भी यह दावा नही करता कि महिलाओंको पुरुषके समान युद्ध-क्षेत्रका भार वहन न करनेके कारण मताधिकारसे वंचित रखा जाय। मताधिकारके लिए सैनिक योग्यता आजकल असंगत है। हर व्यक्तिको सुन्दर जीवन बितानेका अधिकार है और इसलिए हर सामान्य व्यक्तिको, जो राज्यका शत्रु नही है, मताधिकार प्राप्त होना चाहिए।

अनेक विचारकोंका कहना है कि मताधिकार कोई ऐसा अधिकार नही है जो प्रत्येक नागरिकको अपने आप प्राप्त हो। उनका कहना है कि यह एक विशेषाधिकार है जो केवल उन्हीं लोगोंको दिया जाता है जो इसका प्रयोग लोक-हितके लिए कर सकते हैं। इस प्रकार कुछ लोगोंका तर्क है कि वोट देना केवल एक नैतिक कर्तव्य ही नहीं है, वरन् एक वैधानिक उत्तरदायित्व भी है इसी कारणसे स्विटजरलैण्ड, आस्ट्रिया, बेल्जियम और अर्जेन्टाइना गणतन्त्रके कुछ प्रदेशोमे वोट देना अनिवार्य बना दिया गया है। मैक्सिकोमें यदि कोई व्यक्ति एक बार अपना वोट नही देता तो, पर्याप्त कारणोंके अभावमें उसे आगामी चुनावमें मत देनेके अधिकारसे वंचित कर दिया जाता है। इस सम्बन्ध में दबाव उतना ही अनुचित है जितना अन्य अनेक मामलोंमे। इससे दबाव डालने का उद्देश्य विफल हो जाता है। वोट न देनेका उचित प्रतिकार दबाव नही है, बल्कि मतदानमें रुचि उत्पन्न करना और बार-बार होनेवाले चुनावोको कम करना है।

प्रतिनिधित्वका पुराना सिद्धान्त सामुदायिक प्रतिनिधित्वका था। वर्गो तथा जागीरोंके आधार पर जनताके समुदाय बना दिये जाते थे और प्रत्येक वर्ग पृथक रूपसे अपना वोट देता था। आधुनिक समयमें प्रादेशिक प्रतिनिधित्वकी प्रथा प्रचलित रही है। परन्तु हाल ही में इस प्रथाकी बहुत आलोचना भी हुई है। संघ-समाजवादियों (Guild-Socialists) और श्रमिक-सघवादियों (syndicalists) आदिका कहना है कि एक निश्चित प्रदेशमें रहनेका अर्थ यह नहीं है कि उसमे रहनेवाले सभी लोगोंके स्वार्थ एक है या एक हो जाते हैं। उदाहरणके लिए कोयलेके खानमें काम करनेवाले एक मजदूरका हित निश्चित रूपसे एक व्यावसायिक यात्री या स्कूल मास्टरके स्वार्थकी अपेक्षा कोयलेकी खानमें काम करनेवाले किसी दूसरे मजदूरके हितसे मेल खायेगा, भले ही वह व्यावसायिक यात्री या स्कूल मास्टर उसका पड़ोसी हो और दूसरा मजदूर उससे पचास मील दूर रहता हो। इस तर्कके आधार पर यह दावा किया जाता है कि व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (vocational representation) प्रतिनिधित्वकी सच्ची प्रणाली है। मुसोलिनो के अधीन इटलीमें इस प्रणालीको आजमाया गया था। निश्चित तौर पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह पद्धति प्रादेशिक प्रतिनिधित्वकी अपेक्षा अधिक अच्छी सिद्ध होगी। व्यावसायिक प्रतिनिधित्वके विरुद्ध एक मुख्य तर्क यह दिया जाता है कि यह निर्णय करना सदैव आसान नहीं है। कौन-कौनसे व्यवसाय या पेशे प्रतिनिधित्वके अधिकारी माने जाने चाहिएँ। इस पद्धतिसे प्रतिस्पर्धी स्वार्थों और वर्गोमें वृद्धि होना और सच्ची नागरिकताकी उत्पति और उसकी स्थितिमें बाधा 'पड़ने'

की भी सम्भावना है। मानव जीवनमें 'पड़ोस' उतना ही महत्वपूर्ण है जितना 'व्यवसाय'। विधान-मण्डलका प्रधान कर्तव्य प्रतिस्पर्धी आर्थिक वर्गोंके स्वार्थोंकी रक्षा करना नहीं है, उसका कर्तव्य है सम्पूर्ण जाति या राष्ट्रके स्वार्थोंकी रक्षा तथा उन्नति करना।

मताधिकार के सिद्धान्त

प्रोफेसर शेपर्ड[1] (Professor Shepard) के अनुसार मताधिकारके तीन सिद्धान्त समय-समय पर प्रचलित रहे हैं:

(१) नगर राज्यमें प्रचलित प्रारम्भिक कबायली सिद्धान्त। इसके अनुसार मताधिकार राज्यकी सदस्यताका एक आवश्यक अंग था।

(२) सामन्तशाही सिद्धान्त जिसके अनुसार भूमि-स्वामियोंको ही मताधिकार प्राप्त था।

(३) नैतिक सिद्धान्त जो मताधिकारको व्यक्तिके व्यक्तित्वके विकासका आवश्यक और अनिवार्य साधन मानता है। यह अन्तिम सिद्धान्त ही आजकल माना जाता है। इस सिद्धान्तके अनुसार वोट देना हर नागरिकका स्वाभाविक और जन्म-जात अधिकार है। जो व्यक्ति राज्यका सदस्य है उसे इस सदस्यताके नाते ही मताधिकार प्राप्त है। यह विचार दिन प्रतिदिन अधिकाधिक बल पकड़ता जाता है कि मताधिकार सार्वजनिक कर्तव्य है जिसके बिना कोई भी व्यक्ति अपनी नागरिकताका ठीकसे प्रयोग नहीं कर सकता है।

वोट देनेको सार्वजनिक कार्य माननेके परिणाम स्वरूप इस सिद्धान्तका जन्म हुआ है कि वोट देना एक ऐसा सार्वजनिक कर्तव्य है जिसे पूरा करनेके लिए हर नागरिकको मजबूर किया जा सकता है। फलतः कुछ देशोंमें वोट देना अनिवार्य कर दिया गया है जैसे बेल्जियम (१८९३), रूमानिया, अर्जेन्टाइना (१९१२), नीदरलैण्डस् (१९१७), चेकोस्लोवाकिया (१९२०) और स्विटज़रलैण्डके कुछ कैण्टन। मताधिकारका प्रयोग न करने पर बहुत साधारण दण्ड दिये जाते है।

मताधिकारके अनिवार्य प्रयोगका विरोध इन दो आधारों पर किया गया है: (१) यदि लोग दण्डसे बचनेके लिए वोट देंगे तो वे सार्वजनिक भलाईका ख्याल किये बिना ही वोट देंगे। इसका फल यह होगा कि मताधिकारका महत्व ही कम हो जायगा। (२) अनिवार्य वोटोंको आसानीसे खरीदा जा सकता है इन आशंकाओंके बावजूद अनिवार्य मतदान बेल्जियममें बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ है।

सार्वजनिक मताधिकार (Universal Suffrage). वयस्क मताधिकारने धीरे-धीरे सार्वजनिक क़ानूनका रूप धारण किया। पहले यह मताधिकार धीरे-धीरे

---

[1] American Political Science Association: Supplement to American Political Science Review: Vol. VII.

केवल पुरुषोंको ही दिया गया और वह भी अनिच्छापूर्वक। कई साल तक आन्दोलन के बाद ही महिलाओंको मताधिकार मिला। इंगलैण्ड जैसे प्रगतिशील देशमें १९१८ के पूर्व महिलाओंको मताधिकार प्राप्त नहीं था। और उस वर्ष भी तीस वर्षसे अधिक आयुकी महिलाओंको ही मताधिकार दिया गया। १९२८ में २१ वर्षकी महिलाओंको वोट देनेका अधिकार दिया गया। तबसे २१ वर्षके सभी पुरुषों और महिलाओंको मताधिकार प्राप्त है। मताधिकारके सम्बन्धमें जनताके विजयका विरोध सदैवसे किया गया है।

(१) लॉर्ड मैकॉले का कहना था कि सार्वजनिक मताधिकारका परिणाम व्यापक लूट होगा। 'थोड़ेसे अर्ध-नग्न मछुवे बड़ेसे बड़े यूरोपीय नगरोंके खण्डहरोंको उल्लुओं और लोमड़ियोंके साथ बाँट लेंगे।'[१]

(२) लेकी (Lecky) का कहना था कि जनता को मताधिकार देनेमें इस बात का भय है कि अज्ञानी और अनियन्त्रित जनताकी सरकार स्थापित हो जायगी। वह चाहते थे कि शिक्षा और सम्पत्ति के आधार पर सीमित मताधिकार दिया जाय। वह पूछते हैं कि 'संसार पर अज्ञानियोंका शासन होना चाहिए या बुद्धिमानोंका'।[२] उनका विश्वास था कि जनता स्वार्थी व्यक्तियों और संगठनोंके बहकावे में आकर वोट देगी।

(३) सर जेम्स स्टीफ़ेन का विचार था कि सार्वजनिक मताधिकार बुद्धिमानी और मूर्खताके सही और स्वाभाविक सम्बन्धको उलट देता है।

(४) सर हेनरी मेन का कहना है कि जनता आधुनिक प्रगति पसन्द नहीं करती। अतः सार्वजनिक मताधिकारके कारण बहुत-सी प्रगतिशील बातों पर रोक लग जायगी।[३]

(५) बेल्जियम के ऐमिले लेवलेये (Emile Levaleye) का विचार था कि संसदीय ढंगकी सरकारका परिणाम होगा 'स्वतंत्रता, व्यवस्था और सभ्यताका अन्त'।[४] उनका कहना था 'अज्ञानियों को मताधिकार देनेका नतीजा यह होगा कि पहले अराजकता फैलेगी और फिर निरंकुश शासन स्थापित होगा।'

(६) ब्लंश्ली की राय है कि शासकों को चुननेका अधिकार अक्षम और अयोग्य लोगोंको देनेका अर्थ होगा राज्यकी आत्म-हत्या।

वयस्क मताधिकारकी माँगके साथ-साथ महिलाओंको भी मताधिकार देनेकी माँग की गयी थी। महिलाओंको मताधिकार दिये जानेके विरोधमें अनेक तर्क दिये गये हैं:

(१) यदि महिलाएँ राजनीतिमें सक्रिय भाग लेंगी तो उनके स्त्री-जातिके गुण समाप्त हो जायँगे।

---

१ Fisher: The Republican Tradition in Europe, p. 325.
२ Democracy and Liberty, Vol. I. p. 13.
३ Popular Government, p. 36.
४ Le Government deus la democratigne, Vol. II, pp. 51-52.

(२) महिलाओंका उचित स्थान उनका घर है, राजनीतिक अखाड़ा नहीं। महिला मताधिकार गृह-जीवनके आधार पर आघात करता है।

(३) महिला मताधिकारसे परिवारमें फूट फैलेगी।

(४) कैथोलिक देशोंमें महिला मताधिकारसे राजनीति पर कैथोलिक प्रभाव पड़ने लगेगा।

(५) महिलाएँ नागरिकोंके सभी प्रमुख काम ठीक प्रकारसे नहीं कर सकतीं। उदाहरणार्थ सैनिक सेवा।

उक्त सभी तर्कोंका मुंह-तोड़ जबाब सिज़विक (Sidgwick), जॉन स्टुअर्ट मिल, ऐस्मीन (Esmein) आदि ने दिया है। इन लोगोंने महिला मताधिकारका समर्थन निम्नलिखित आधार पर किया है:

(१) मताधिकारका आधार नैतिक और बौद्धिक है; शारीरिक या भौतिक नहीं।

(२) महिलाएँ शरीरसे कमज़ोर होती है; अतः उन्हें क़ानून और समाज पर अधिक आश्रित रहना पड़ता है। इसलिए महिलाओंको पुरुषोंकी अपेक्षा मताधिकार की आवश्यकता अधिक है।

(३) पुरुषोंके अत्याचार और अन्यायपूर्ण क़ानूनोंसे अपनी रक्षा करने के लिए महिलाओंको मताधिकारकी आवश्यकता है।

(४) महिलाओकी राजनीतिक मुक्तिके बाद उन्हें नागरिक मताधिकार देना तर्कपूर्ण है।

(५) राजनीतिक जीवनमें महिलाओंके प्रवेश करने से हमारी राजनीति शुद्ध, सुन्दर और उदार हो जायगी।

वयस्क मताधिकारका पहले जो विरोध किया जाता था वह अब एकदम समाप्त हो गया है। अब तो सार्वजनिक मताधिकारको राजनीतिक वयस्कताका प्रतीक माना जाता है। मैकॉले, मेन, लेकी आदिकी चेतावनी सही नहीं निकली हैं। फिर भी यदि लोकतंत्रको भ्रष्ट न होने देना है तो इस बातका निश्चित प्रबन्ध किया जाना चाहिए कि इन लोगोंकी आशंकाएँ कभी सही न हो सकें।

सार्वजनिक मताधिकारकी बुराइयाँ दूर करने के लिए एकसे अधिक वोट देने (weightage system), बहुल मताधिकार (plural voting) के तरीक़ोंका प्रयोग किया जाता है।

एकसे अधिक वोट देनेकी प्रणाली (Weightage System).

बेल्जियममें १८९३ में वोट देनेके सिलसिलेमें एक विशेष विधि-लागू की गयी थी जिसके अनुसार प्रत्येक पुरुष नागरिक जो

(१) २५ वर्षकी आयुका हो,

(२) और कमसे कम एक साल कम्यून (commune) में रह चुका हो, एक वोट दे सकता था।

एक अतिरिक्त वोट उस नागरिक को मिलता था जो :

(१) ३५ वर्ष की आयु प्राप्त कर चुका हो,

(२) एक वैध-सन्तानवाला हो,

(३) राज्यको पांच फ़ैंक कर देता हो।

एक अतिरिक्त वोट देनेका अधिकार २५ वर्षवाले ऐसे भू-स्वामी को भी प्राप्त था जिसकी भूमिका मूल्य दो हजार फ़ैंक हो।

दो अतिरिक्त वोट उन लोगोंको प्राप्त थे जो

(१) माध्यमिक शिक्षा या अन्य उच्चतर शिक्षा प्राप्त हों तथा २५ वर्षकी आयु प्राप्त कर चुके हों,

(२) वह नागरिक जो किसी ऐसे सार्वजनिक पद पर रहे हैं या जो ऐसा व्यवसाय कर चुके हैं जिसके लिए माध्यमिक शिक्षा आवश्यक हो।

किसी नागरिक को तीनसे अधिक वोट देनेका अधिकार नही था।

एकसे अधिक वोट देनेकी प्रणाली (weightage system) मेन के इस सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप है कि मतोंको गिना न जाय बल्कि तौला जाय। उनका कहना था कि समाजमें कुछ ऐसे लोग होते हैं जिनकी रायको सार्वजनिक अधिकारियोंके चुनावमें अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। मेन के उक्त सिद्धान्तका समर्थन जॉन स्टूअर्ट मिल ने इस आधार पर किया था कि यह कम शिक्षा प्राप्त लोगोंकी संख्या अधिक होनेके विरोधमें संरक्षणका कार्य करेगा। मेन का सिद्धान्त इस बहुसंख्या पर उचित नियंत्रण है।

एकसे अधिक वोट देनेकी प्रणालीके विरुद्ध आपत्तियाँ.

(१) मत गिननेका कोई भी मानदण्ड निरंकुश (arbitrary) ही होता है।

(२) बहुधा लोगोंको दैव योगसे सम्पत्ति मिल जाती है। अतः सम्पत्तिको राजनीतिक अधिकारका आधार बनाना अनुचित है।

(३) इससे एक वर्गीय सरकारकी स्थापना होती है।

(४) एस्मीन (Esmein) के अनुसार इस सिद्धान्तमें विरोधाभास है। वह पूछते हैं कि यदि इस प्रणालीका लक्ष्य वयस्क मताधिकारकी बुराइयोंको दूर करना है तो फिर क्या यह युक्तिसंगत न होगा कि सब जनताको मताधिकार दिया ही न जाय।

बहुल मताधिकार (Plural Voting).

इस प्रणालीके अन्तर्गत एक व्यक्ति कभी-कभी दो वोट देता है। उदाहरणार्थ विश्वविद्यालयका एक स्नातक उस निर्वाचन क्षेत्रमें, जिसमें वह रहता है, वोट देनेके

साथ ही विश्वविद्यालय-क्षेत्रसे भी वोट दे सकता है। एक व्यक्ति जिसका निवास-स्थान एक निर्वाचन-क्षेत्रमें है और १० पौण्ड वार्षिक किरायेकी उसकी दुकान दूसरे निर्वाचन-क्षेत्रमे है तो वह दोनों निर्वाचन-क्षेत्रमे वोट दे सकता है। बहुल मताधिकार किसी समय इंगलैण्ड, भारत और जर्मनीमें प्रचलित था पर अब इसकी प्रथा लगभग समाप्त हो गयी है।

अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व (Minority Representation).

अल्पसंख्यकोंको प्रतिनिधित्व देनेके लिए कुछ तरीके अपनाये जाते हैं, भले ही यह प्रतिनिधित्व उनकी संख्याके अनुपातमें न हो।

इनमें से एक संचयीमत प्रणाली (Cumulative Vote System) है। इस प्रणालीमें

(१) निर्वाचन-क्षेत्र अवश्य ही बहु-सदस्यीय होंगे।

(२) मतदाताको उतने वोट देनेका अधिकार होता है जितने प्रतिनिधि चुने जाने होते हैं।

यदि पांच प्रतिनिधि चुने जानेको हैं तो एक मतदाताको पांच मत देनेका अधिकार होता है। यदि मतदाता चाहे तो पांचों वोट एक ही प्रतिनिधिको या विभिन्न प्रतिनिधियोंको दे सकता है। इस प्रणाली द्वारा सुसंगठित अल्पसंख्यक समुदाय अपने सभी वोट अपने उम्मीदवारको देकर कमसे कम अपना एक प्रतिनिधि अवश्य चुन सकता है।

सीमित मत (Limited Vote) प्रणालीके अन्तर्गत भी

(१) निर्वाचन क्षेत्रोंका बहु-सदस्यीय होना आवश्यक है।

(२) जितने प्रतिनिधि चुने जानेको होते हैं उससे एक या दो कम वोट देनेका अधिकार मतदाताको होता है।

(३) मतदाताओंको विभिन्न उम्मीदवारोंके पक्षमें वोट देना होता है।

इस प्रणालीके अन्तर्गत बहुसंख्यक दल या समुदाय सभी सीटों पर अपना एक-मात्र अधिकार नहीं कर सकता। अल्प-संख्यक दल या समुदाय अपने दो एक प्रतिनिधि अवश्य चुन सकता है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation). एक-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्रोंमें जब कभी एक सीटके लिए दो से अधिक उम्मीदवार हो जाते है तब प्रायः असंगत परिणाम होते है। वोट इस प्रकार बँट जाते है कि बहुधा जीतने वाला उम्मीदवार निर्वाचक-मण्डलके बहुमतकी अपेक्षा अल्पमतका प्रतिनिधित्व करता है। नवम्बर १९३५ मे इंगलैण्डके आम-चुनावमें बाल्डविन (Baldwin) का समर्थन करनेवाले दलने कॉमन्स सभाकी ४३० सीटें प्राप्त की, यद्यपि देश भरमें उन्हें कुल १,१७,६४,६६० वोट मिले थे। दूसरी ओर बाल्डविन के विरोधी दलोने

१,००,७१,९९३ मत पानेके बाद भी केवल १८५ सीटों पर अधिकार कर पाया। इस असंगत अवस्थाको दूर करनेके लिए अनेक युक्तियां निकाली गयी हैं। ये युक्तियां हैं: द्वितीय मतपत्र (second ballot), वैकल्पिक मत (alternative vote), सीमित मत (limited vote), और एकल संक्रमणीय मत (single transferable vote) द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व।

इनमें से अन्तिम प्रणाली अर्थात् एकल संक्रमणीय मत प्रणाली अधिकतम् न्याय-संगत निर्वाचन फल देनेके लिए सबसे अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। इसे हेयर योजना (Hare plan) भी कहते हैं। पर अभी तक इस प्रणालीके लिए बहुत अधिक उत्साह नहीं है। यद्यपि भारत, ब्रिटिश उपनिवेशों और इंगलैण्डके कुछ निर्वाचन क्षेत्रों, जैसे विश्वविद्यालय निर्वाचन-क्षेत्रमें इसका प्रयोग किया जाता है।

इस योजनाके अनुसार किसी भी उम्मीदवारके निर्वाचनके लिए आवश्यक कोटा या निर्धारित भाग पहले से ही तय कर लिया जाता है। इसका निश्चय इस सूत्रके अनुसार किया जाता है।

$$\text{कोटा} = \frac{\text{वैध मत}}{\text{उम्मीदवारों की संख्या} + १} + १$$

मतदाता मतपत्रमें अपनी पसन्दको १, २, ३, ४, ५ आदि अंकोंसे प्रकट करता है। मतदान समाप्त हो जानेके बाद सब मतपत्रोंके नम्बर १ पसन्दकी गणना होती है और जिन उम्मीदवारोंको निश्चित कोटेसे अधिक मत मिलते हैं, वे निर्वाचित घोषित कर दिये जाते हैं। किसी भी वोटको बर्बाद न होने देनेके लिए प्रतिनिधिके कोटेसे अधिक बचे हुए प्रथम वोटोंको पसन्दके क्रमसे मतपत्रकी सूचीमें दूसरे उम्मीदवारोंको दे दिया जाता है। मतपत्रमें प्रकट की गयी पसन्दके क्रमसे न केवल उन्हीं उम्मीदवारों के वोट क्रमिक ढंगसे दूसरे उम्मीदवारोंको दिये जाते हैं जिन्हें आवश्यकतासे अधिक वोट मिलते हैं, बल्कि जिनके चुने जानेकी कोई आशा नहीं होती उन उम्मीदवारोंको भी प्रथम वरेन्यता (first preference) या पहली पसन्दके जितने मत मिलते हैं, वे क्रमिक ढंगसे दूसरोंको दिये जाते हैं। उनके मतपत्रोंकी छान-बीन उन्हें प्राप्त दूसरी, तीसरी, चौथी आदि वरेन्यताओंकी गणनाके लिए की जाती है और उसीके अनुसार वोट दूसरोंको दिये जाते हैं। मतोंका यह दोहरा हस्तान्तरण (two-fold transference) निर्वाचन प्रतियोगिता से बाहर न हो जानेवाले उम्मीदवारोंके बीच तब तक चलता रहता है जब तक आवश्यक कोटा पानेवाले उम्मीदवारोंकी संख्या उतनी नहीं हो जाती जितने प्रतिनिधि उस निर्वाचन-क्षेत्रसे चुने जानेको हैं। ऐसी स्थिति आ जाने पर वोटोंका हस्तान्तरण रुक जाता है और परिणाम घोषित-कर दिये जाते हैं। किसी उम्मीदवारको कोटेसे अधिक मिले हुए मतोंका हस्तान्तरण पहले किया जाता है और जिन लोगोंको बहुत कम मत मिले हैं उनके मतोंका हस्तान्तरण इसके बाद में ही किया जाता है क्योंकि ऐसा करने का अर्थ कुछ उम्मीदवारोंको बाहर निकाल देना होता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्य किसी प्रणालीकी अपेक्षा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा देशके राजनीतिक दलोंकी शक्तिका प्रतिनिधित्व अधिक सच्चाई के साथ हो सकेगा। पर इसमें कुछ त्रुटियां भी हैं। यह प्रणाली देशमें राजनीतिक दलोकी संख्या घटाकर दो या तीन प्रधान राजनीतिक दल रखनेके बजाय दलोंकी संख्या बढ़ाती है और वर्तमान दलोको रूढ़िवादी बनाती है। हर छोटा गुट अपनी अलग विशेषता बनाये रखनेको प्रोत्साहित होता है। छोटे गुट परस्पर सहयोगका आधार खोजकर एक दूसरेमे विलीन होनेकी प्रेरणा नहीं पाते। इस प्रणालीसे दलगत व्यवस्थाकी महत्ता बढ़नेकी सम्भावना रहती है। सफल उम्मीदवार अपने निर्वाचन-क्षेत्रके कल्याणमें पहले जैसी निजी रुचि नहीं रखता। इसका कारण यह है कि उसका निर्वाचन निर्वाचकोंको सफलतापूर्वक अपनी ओर आकर्षित करने और सहानुभूतिपूर्ण बना लेनेकी उसकी क्षमता पर आधारित न होकर गणितके एक सूत्र पर निर्भर करता है। संसदमें प्रतिनिधियोंका बेमेल समूह होता है और इस कारण सुसम्बद्ध एकजातीय मंत्रिपरिषदका बनना असम्भव-सा हो जाता है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर उप-निर्वाचन न हो सकेंगे, जिनसे यह सामान्य संकेत मिल सके कि तत्कालीन सरकारको निर्वाचक-मण्डलका कितना विश्वास प्राप्त है। और फिर एक साधारण मतदाताके लिए यह प्रणाली बहुत ही जटिल है।

इन सभी तर्कोंका उत्तर आनुपातिक प्रतिनिधित्व के समर्थकों ने दिया है। कनाडा और संयुक्त-राज्य अमरीकाकी नगर पालिका समिति जैसी छोटी-छोटी संस्थाओंमें यह पद्धति बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई है। इंगलैण्डमें यद्यपि उदार दल (Liberal Party) आनुपातिक प्रतिनिधित्वका प्रबल समर्थक था पर दोनों प्रधान दलों ने इस पद्धतिको ठीक नहीं समझा।

भारतीय संविधानकी धारा ८० (४) में राज्य परिषदके चुनावमें राज्योंके प्रतिनिधियोंके निर्वाचनके लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्वकी व्याख्या की गयी है। यह धारा इस प्रकार है: 'राज्य-परिषदके लिए प्रत्येक राज्यके प्रतिनिधि उस राज्यकी विधान-सभाके निर्वाचित सदस्यों द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व-पद्धतिके अनुसार एकल सक्रमणीय मत द्वारा निर्वाचित होंगे।' भारतके राष्ट्रपतिका निर्वाचन भी आनुपातिक प्रतिनिधित्वकी पद्धतिसे होता है। इस सम्बन्धमें धारा ५५ (३) इस प्रकार है: 'राष्ट्रपतिका निर्वाचन अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धतिके अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा होगा तथा ऐसे निर्वाचनमें मतदान गूढ़ शलाका द्वारा होगा।'

इस धाराकी टीका करते हुए डा० एम० पी० शर्मा[1] कहते हैं कि राष्ट्रपतिके निर्वाचनकी व्यवस्थाका असली रूप 'वरेन्यतानुसार (by preference) मतदान है, न कि सच्चे आनुपातिक प्रतिनिधित्व द्वारा।'

डॉ० आइवर जेनिंग्स (Dr. Ivor Jennigs) का मत है कि भारतीय संविधान की धारा ५५ (३) की अभिव्यक्ति अच्छी नही है। इसे 'एकल संक्रमणीय मत

---

१. M. P. Sharma: Government of the Indian Republic.

की व्यवस्था' होना चाहिए क्योंकि यह आनुपातिक प्रतिनिधित्वकी व्यवस्था नही है।

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि विभिन्न कारणों से भारत जैसे देशके लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्वकी व्यवस्था बहुत अधिक महत्वकी नही है। ये कारण हैं: आकार और जनसख्याकी विशालता, जनताकी अरुचि और निरक्षरता, स्वस्थ राजनीतिक शिक्षण और अनुभव तथा सुसंगठित राजनीतिक दलोंका अभाव।

कुछ और भी प्रणालियां है जिनके द्वारा अल्प-संख्यकोंको यदि उनकी शक्ति या संख्याके अनुपात से नहीं तो कुछ न कुछ प्रतिनिधित्व मिल ही जाता है। ऐसी प्रणालियाँ हैं संचित मतदान प्रणाली (cumulative vote system) तथा सीमित मतदान प्रणाली (limited vote system)।

राजनीतिक दल
(Political Parties)

डब्ल्यू० बी० मनरो (W. B. Munro) ठीक ही लिखते हैं, 'स्वतंत्र राजनीतिक दलोंका शासन लोकतंत्रीय शासनका दूसरा नाम है। कहीं भी राजनीतिक दलोंके बिना स्वतन्त्र शासन नहीं हो सका है। राजनीतिक दल प्राचीन गणतंत्रों और मध्यकालीन नगरोंमें भी थे यद्यपि उन्हें इस नाम से नहीं पुकारा जाता था। अमरीकी क्रान्तिके बहुत पहले इंगलैण्डमें लंकैस्ट्रियन (Lancastrians) और यॉर्किष्ट (Yorkists) तथा केवेलियर्स (Cavaliers) और राउण्डहेड्स (Roundheads) थे। १३ उपनिवेशोंमें ह्विग (Whigs) और टोरी (Tories) दल थे। ये प्रतिद्वन्द्वी गुट अपने झगड़ोंका निपटारा मत गणनाके बजाय कभी-कभी एक दूसरे का सिर तोड़कर करते थे। फिर भी हमारे आजकलके राजनीतिक दल इन्हीं गुटोंके विकसित स्वरूप है।'[1]

आधुनिक लोकतंत्रकी सफलताके लिए राजनीतिक दल अनिवार्य समझे जाते हैं। राजनीतिक दलसे हमारा मतलब जनताकी एक ऐसी संगठित संस्थासे है जो देशके राजनीतिक जीवनमें कुछ सिद्धान्त और नीतियोंको अपना लक्ष्य बनाकर और उन सिद्धान्तों और आदर्शोंको लागू करके सम्पूर्ण देशको लाभान्वित करना चाहती है। बर्क (Burke) ने राजनीतिक दलकी परिभाषा इस प्रकार की है: 'लोगोंकी एक ऐसी संस्था जो किसी सिद्धान्त विशेषको, जिसे संस्थाके सभी लोग स्वीकार कर लेते हैं, आधार बनाकर अपने सम्मिलित प्रयत्नसे राष्ट्रीय हितोंकी उन्नतिके लिए संगठित होती है।' पर हमें यह याद रखना चाहिए कि राजनीतिक दलका अर्थ दलबन्दी नहीं है और दलके विभिन्न नेताओंके बीच तीखे मतभेदोंको व्यक्तिगत मतभेद या

---

१. W. B. Munro: The Government of the United States, p. 113.

झगड़ा नहीं समझना चाहिए। किसी भी ऐसे राजनीतिक दलको सही अर्थोंमें राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता जिसके निश्चित राजनीतिक सिद्धान्त और कार्यक्रम न हों।

यह तो सभी जानते हैं कि एक ही परिवारके सदस्योंके स्वभाव और दृष्टिकोण एक दूसरेसे भिन्न होते है। कुछ लोग स्वभावसे ही डरपोक, बहुत ही सावधान होते हैं और कोई भी साहसपूर्ण योजना प्रारम्भ करनेसे डरते हैं। साथ ही कुछ लोग निर्भीक, साहसी और अपने विचारोंमें क्रान्तिकारी होते है। जब हम एक व्यापक क्षेत्रमें स्वतंत्र जनताके एक ऐसे बड़े समुदायके बारेमें सोचते हैं जो देशके कल्याणमें दत्तचित हो, तब ऐसे मतभेद एक बड़े पैमाने पर दिखायी देते हैं।

तानाशाहीमें अलग-अलग नीतियों और योजनाओंवाले राजनीतिक दलोंको बर्दाश्त नहीं किया जाता। आधुनिक तानाशाहियाँ एक-दलीय शासन है। उन्हे एक-दलीय शासन कहना भी थोड़े-से लोगोके निरंकुश शासनको शिष्ट नाम देना है। दूसरी ओर संसदीय शासन निश्चित रूपसे राजनीतिक दलका शासन होता है। इस शासनमें जनताको विचार और विवादकी पूरी स्वतंत्रता रहती है। बशर्ते कि संवैधानिक औचित्य और साधारण शिष्टताका उल्लंघन न किया जाय। फलतः जनता अपने आपको ऐसे दलोंमें विभाजित कर देती है, जैसे रूढ़िवादी (Conservatives), उदारदलीय (Liberals) और मजदूर दल (Labour), अथवा गणतंत्रवादी (Republicans) और लोकतंत्रवादी (Democrats)। देशके सार्वजनिक जीवन और उसकी विचारधारामें समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। अतः राजनीतिक दलोंके नामोंसे उन दलोंकी योजनाओंका पता नहीं चल पाता। इंगलैण्डके इतिहासमें एक ऐसा समय था जब उदारदल चाहता था कि देशके औद्योगिक जीवन में सरकार किसी प्रकारका हस्तक्षेप न करे और तटस्थताकी नीति बरती जाय जबकि रूढ़िवादी दल उद्योगोंका पर्याप्त नियंत्रण करने और सामाजिक पुनर्निर्माणका समर्थक था। पर कुछ समय बाद इन दोनों दलोंकी नीति और विचार बिल्कुल उलट गये। मुक्त व्यापार (free trade) और सुरक्षा जैसे मौलिक प्रश्नों पर भी दलोंका दृष्टिकोण स्थिर नहीं रहा। अमरीकाके गणतंत्रवादियों और लोकतंत्रवादियोंके सिद्धान्तोंमें पहले चाहे जो अन्तर रहा हो पर आज कोई अन्तर नहीं है।

संसदीय लोकतंत्रको अपनानेवाले देशोंमें राजनीतिक दलोंकी प्रणाली विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इससे कार्यपालिका और विधान-मण्डलके बीच अच्छा सम्बन्ध कायम करनेमें सहायता मिलती है। यह अच्छा सम्बन्ध ही दलगत शासनकी सफलता का आधार है। विधान-मण्डलमें जो दल सत्तारूढ़ होता है उसीसे कार्यपालिकाका भी निर्माण होता है। जब राष्ट्रीय संकटके समय संयुक्त सरकार बनती है तब मंत्रिमण्डल में दलोंका प्रतिनिधित्व लोकसभामें उनकी शक्तिके अनुपातसे होता है। इंगलैण्डमें द्वितीय महायुद्धके समय विंस्टन चर्चिल (Winston Churchill) के प्रधान मंत्रित्व में ऐसा ही हुआ था।

कार्यपालिका और विधान-मण्डलमें अच्छा सम्बन्ध स्थापित करनेकी सुविधा अमरीकाके संविधानमें नहीं है। अमरीकामें यह सम्भव है कि सरकारके इन दोनों अंगों पर विरोधी दलोंका अलग-अलग अधिकार हो जाय। पर ऐसे देशमें भी राजनीतिक दल महत्वपूर्ण सामयिक समस्याओं पर लोकमत तैयार करते हैं।

निस्सन्देह आधुनिक राज्योंकी जटिल परिस्थितियोंमें समस्याओं और नीतियों को स्पष्ट करनेमें राजनीतिक दल महत्वपूर्ण योग देते हैं। परस्पर विरोधी नीतियों और जटिल विवरणोंके मायाजालके बीच अपना मार्ग तय करनेमें व्यक्तिको राजनीतिक दलोंकी प्रणालीसे बहुत अधिक सहायता मिलती है। आधुनिक सरकारों के सामने समस्याएँ बहुत पेचीदा और मुश्किलसे समझमें आनेवाली होती हैं। ऐसी हालतमें यदि राजनीतिक दल जनताका संगठित मार्ग प्रदर्शन न करें तो एक साधारण मतदाता किंकर्तव्य विमूढ़ हो जायगा। किसी मुकदमे में विभिन्न पक्षोंका समर्थन करनेमें वकील जो काम करते हैं वही काम राजनीतिमें राजनीतिक दल करते हैं। जैसे एक चतुर वकील ग़लतको सही और सहीको गलत सिद्ध कर सकता है, ठीक उसी प्रकार एक राजनीतिक दल भी झूठे प्रचार, नारा और प्रचार चित्रोंके द्वारा जनताको बिल्कुल गलत मार्ग पर ले जा सकता है। पर ऐसी चालें हमेशा सफल नहीं होतीं, विशेषकर यदि मतदाता शिक्षित, जानकार और समझदार है। राजनीतिक दलोंमें होनेवाले विवादोंसे मतदाता स्वयं सत्यको खोज निकालता है। लॉवेल ठीक ही कहते हैं कि राजनीतिक दल 'विचारोंकी दलाली (broker of ideas)' का काम करते हैं। राजनीतिक दल मतदाताओंके सम्मुख अपनी वैकल्पिक योजनाएँ और प्रतियोगी उम्मीदवार पेश करते हैं और मतदाताको उनमेंसे चुनाव करना होता है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण काम राजनीतिक दल यह करते है कि वे लोक-सम्मतिके विकासमें सहायता देते हैं जोकि प्रजातंत्रका सार-तत्व है।

अबतकके विवेचनका निष्कर्ष यह है कि जिन देशोंने शासनकी संसदीय प्रणाली अपना ली है उनमें राजनीतिक दलोंसे सरकारको सबल और स्थायी बनानेमें सहायता मिलती है। दोनों प्रकारके लोकतत्रवादी देशोंमें—जिनमें संसदीय शासन व्यवस्था है और जिनमें ऐसी व्यवस्था नही है—इन राजनीतिक दलोसे निर्वाचकोको मत स्पष्ट करनेमें सहायता मिलती है।

पर कुछ आधुनिक विचारकोंने इस दल-पद्धतिकी उपयोगिताकी यथार्थता पर गम्भीर आशंकाएँ प्रकट की हैं। दल पद्धतिको कायम रखनेके विरोधमें कहा जाता है कि दलगत भावना प्रायः दलबन्दीकी भावना होती है। दलोंसे घूसखोरी और भ्रष्टाचार फैलता है और विधान-मण्डलमें प्रतिनिधियों और सामान्य जनता दोनों पर ही व्यापक अत्याचार होता है। इन सभी आरोपोंमें इतनी सत्यता तो है ही कि वे बाहर से सही दिखायी देते हैं। पर यह भी याद रखना चाहिए कि इन आरोपोंको बढ़ा-चढ़ा कर कहना भी बहुत आसान है।

किसी भी राजनीतिक दलका पहला उद्देश्य होता है सफलता पाना और

राजनीतिक दल सफलता पानेकी धुनमें वोट पानेके लिए अनुचित साधनोंको अपनाते हैं। अधिक से अधिक वोट पानेके लिये दलोंके मंचको अधिकसे अधिक विस्तृत और आकारहीन बना दिया जाता है। ऐसे-ऐसे वादे कर दिये जाते हैं जिनके पूरा करनेका कभी इरादा ही नहीं होता। राजनीतिक विरोधियों और विरोधी राजनीतिक कार्यक्रमोंका यदि मज़ाक नहीं उड़ाया जाता तो कमसे कम उनको ग़लत ढंगसे पेश किया जाता है। निर्वाचकके सामने चुननेके लिए इतना सीमित अवसर रहता है कि प्राय: उसे एक धूर्त और एक मूर्खके बीच चुनाव करना पड़ता है। दल भावना और दलगत निष्ठाको इतना अधिक उकसाया जाता है कि उत्तेजना और ईर्ष्या-द्वेषकी भावनाएँ प्रबल हो उठती हैं और स्थिर चित्त होकर विचार और कार्य करनेका अवसर नहीं मिलता। जब तत्कालीन सरकार द्वारा नियुक्तियोंका समय आता है तब दलके श्रद्धालु समर्थकों को ही चुना जाता है। उनको विरोधी दलों और निर्दलीय सुयोग्य व्यक्तियोंसे भी अधिक उत्तम समझा जाता है। संयुक्त-राज्य अमरीका जैसे देशमें भी राजनीतिक दल शासनको भ्रष्ट बना देते हैं। अमरीकामें कई पीढ़ियों तक 'लूट-खसोट प्रथा (spoils system)' का बोल-बाला रहा है। मत-दाताओंको घूस दी जाती है, उनकी खुशामद की जाती है और उन्हें फुसलाया तथा धोखा दिया जाता है। लॉर्ड ब्राइस का कहना है कि दल प्रथाने 'राजनीतिको पतित और कुत्सित (sordid) बना दिया।' राजनीतिक दलोके सदस्यों पर इतना दृढ़ दलगत अनुशासन रहता है कि व्यक्तिगत विवेक और स्वतंत्र मतदानके लिए कोई अवसर ही नहीं रह जाता।

दलके सदस्योंको विधान-मण्डलोंमें 'मूक पशुओंकी भाँति' काम करना होता है। उन्हें दलके सचेतक (whip) की आज्ञाओंका चुपचाप पालन करना होता है। दलकी गुप्त सभाओंमें विधान-मण्डलके बाहर निर्णय होते हैं और विधान-मण्डलको उन्हें स्वीकार कर लेना होता हैं। व्यक्तित्वको दबा दिया जाता है और सदस्योंको अपने व्यवहारमें असत्य और विचारों तथा कार्योंमें छिछला होनेके लिए उत्साहित किया जाता है। दलकी लगाम कुछ स्वार्थी व्यक्तियोंके नियंत्रणमें रहती है जो अधिपुरुष (boss) बने रहते हैं और सामर्थ्यवान् सच्चे और चरित्रवान् व्यक्तियोंके विरुद्ध गुप्त या खुला संघर्ष प्रारम्भ कर देते हैं। सार्वजनिक कार्योंका निष्पक्ष अध्ययन करनेवाले विद्यार्थीको इन आलोचनाओं में से यदि सब नहीं तो कुछकी गम्भीरताको मानना ही होगा। पर सम्भव है कि वह बाँसकी फाँसके कारण मिश्री फेंक देनेके लिए तैयार न हो। श्री एस० एस० आयंगर को विधान-मण्डलके साधारण सदस्यकी स्वाधीनता छिन जानेकी बड़ी चिन्ता है। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि विधान-मण्डलके सभी सदस्य बड़े गम्भीर विचारक नहीं होते। उनमेंसे बहुतसे ऐसे होते हैं कि उन्हें प्रत्येक विवरण की स्वयं परीक्षा करनेकी अपेक्षा एक बना-बनाया कार्यक्रम और बनी बनायी नीति पानेमें ही अधिक सुख होता है जिसका अनुकरण वे आँख मूँदकर कर सकें। सम्भवत: विवरणोंकी परीक्षा करनेकी उनमें क्षमता ही नहीं होती। इसके अतिरिक्त दलकी बैठकों

में होनेवाले निश्चयों और दलकी नीतियों पर अपना प्रभाव डालना एक सक्रिय सदस्य के लिए सदैव सम्भव रहता है। इसमें कोई शक नहीं कि दलगत अनुशासन व्यक्तिगत सदस्योंकी अहं भावना (egoism) पर रोक लगाता है। वह उनकी महत्वाकांक्षाओं और असगत विचारोंको दबा देता है और उन्हें अपने साथ सोचने और काम करने वाले दूसरे सदस्योंके बीच उपयुक्त ग्रहण करनेमें सहायता देता है। अन्य देशोंकी तरह भारत जैसे देशमें राजनीतिक दलोको बिल्कुल समाप्त कर देनेका तात्पर्य होगा व्यक्तिवादका अनुचित विकास, प्रत्येक व्यक्तिका अलग-अलग अपनी खिचड़ी पकाना। यदि अनुचित अनुशासन बुरा है तो अनुचित व्यक्तिवाद भी उतना ही बुरा है। जो लोग यह आरोप लगाते है कि दल प्रणालीसे तानाशाहीकी उत्पत्ति होती है उनको हमारा उत्तर यह है कि तानाशाही संविधानकी परिधिके भीतर काम करने वाली सुसंगठित दल प्रणालीसे नही उत्पन्न होती। वह तो दल प्रणालीके बिगड़ जाने, टूट जाने (disintegration) से उत्पन्न होती है, जैसा कि फ़ासिस्ट इटली और नाज़ी जर्मनी में हुआ था। चुनावके सभी साधनोंसे सुसंगठित दल प्रणालीके अभावमें समर्थ और सुयोग्य, किन्तु ग़रीब उम्मीदवारोके चुन जानेकी कोई आशा नहीं होती।

अगर हम श्री आयगर के सुझावोको मानकर तथा क़ानून बनाकर राजनीतिक दलोंके कोष और उनके संगठनको समाप्त कर दे तो राजनीतिक दल अवश्य ही किसी दूसरे रूपमे फिरसे पनपेंगे। यह और भी अधिक अनुचित और बुरा होगा। जब राजनीतिक दलोंको गुप्ततौर पर काम करना पड़ता है तब वे कूटदल (secret cliques) बन जाते है और अपने स्वार्थके लिए आपसमे संघर्ष करते है। यह स्मरण रखना शिक्षाप्रद है कि स्विटज़रलैण्डमें भी जहाँ दलगत भावनाका सबसे कम विकास हुआ है, अब प्रवृत्ति दल प्रणालीको मजबूत करनेकी ओर है।

राजनीतिक दलोंकी सफलताके लिए आवश्यक शर्तें: जिन देशोंमे सुदृढ़ द्वि-दलीय व्यवस्था है उन देशोंमे दल प्रणाली सफलतापूर्वक कार्य कर सकी है। दलोंके स्वस्थ कार्य-संचालनके लिए यह आवश्यक है कि देशमे दृढ़ सरकार हो और साथ ही उतना ही दृढ़ विरोधी दल हो जो लोकहितको वैकल्पिक योजनाएँ जनताके सामने उपस्थित करे। यदि दलोंको कूट दलोंका पतित रूप नही ग्रहण करना है तो सरकारी दलके अतिरिक्त विरोधी दलका होना भी आवश्यक है। इगलैण्डमें विरोधी दल सार्वजनिक कार्योंके संचालनमें बहुत ही महत्वपूर्ण योग देता है। सरकारके प्रस्तावित कार्योंकी उत्तरदायित्वपूर्ण आलोचना करके विरोधी दल न केवल सरकारको सचेत और सावधान बनाये रखता है बल्कि जनताकी भी बहुत बड़ी सेवा करता है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नही है कि इंगलैण्डके विरोधी दलको 'सम्राट्का विरोधी दल' कहा जाता है। इंगलैण्ड और कनाडा विरोधी दलके नेताओंको वेतन देते हैं। वेतन देकर इस तथ्यको स्वीकार किया जाता है कि विरोधी दलके नेताका काम संसदमें उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि सत्तारूढ़ सरकारके किसी सदस्य का।

बहुदलीय व्यवस्थाकी कमजोरी फ़ासमें स्पष्ट रूपसे दिखाई देती है। वहाँ सदैव

विभिन्न दलोंके सदस्योंके बीच मोल-भाव और सौदेबाज़ीके बाद सरकारें बनती हैं। ये सदस्य बिना किसी सकोचके जरा-जरासे बहाने लेकर एक दलसे दूसरे दलमे चले जाते हैं। इसलिए इसमे कोई आश्चर्यकी बात नही है कि फ्रासकी सरकारें बिल्कुल ही अस्थायी और विधान-मण्डलकी कृपा पर निर्भर रही है। बहुत सम्भव है कि इतिहासकार फ्रांसकी बहुदलीय व्यवस्थाको ही नाज़ी जर्मनीके हाथों हुई फ्रांसकी पराजयका एक बहुत बड़ा कारण ठहराएँ।

यदि लोकसभामे ओछे और स्वार्थी दलोंका निर्माण रोकनेकी शक्ति नही है तो फिर विधि-निर्माणका सहारा लेना होगा। हर नये दलको कुछ वर्षो तक परखना चाहिए और स्थायी तौर पर उसे मान्यता प्रदान करनेके पहले अपनी सच्चाई सिद्ध करनेके लिए मजबूर करना चाहिए। ऐसे दलोंको जीवित रहनेका कोई अधिकार नही है जिनके पास वर्तमान दलोंसे मौलिक रूपमे भिन्न अपनी पृथक योजनाएँ और नीतियाँ न हों। हमें हमेशा यह कोशिश करनी चाहिए कि एक दूसरेसे मिलते-जुलते छोटे-छोटे गुटोंका एक दूसरेमे विलयन होता जाय ताकि देशमे दो मजबूत गुटोंसे अधिक गुट न रहें। ऐसे किसी दलको स्थिति बर्दाश्त नहीं करनी चाहिए जो दूसरे सभी दलोंका समाप्त कर अपनी तानाशाही स्थापित करना चाहता हो।

राजनीतिमे ऐसे दलोंका कोई स्थायी स्थान नही है जिनका आधार वर्ग, जाति, धर्म या सम्प्रदाय हो। वे राष्ट्रीय दुर्बलताके सफल कारण है। विभेद-मूलक परिस्थितियोंको बढ़ाते रहनेके कारण वे अपनेको स्वार्थी विदेशियोंकी कृपाका पात्र बना लेते है। ऐसे दल व्यापक राष्ट्रीय समस्याओं पर भी जातीय या साम्प्रदायिक दृष्टिकोणसे विचार करते है। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक नीतियों तथा योजनाओंके बारेमे उनके विचार उनके जातीय और साम्प्रदायिक दृष्टिकोणके कारण दूषित हो जाते है। राष्ट्रीय संकटके समय राजनीतिक दलोंको अपने भेद भुलाकर एक साथ मिलकर एक दलकी भाँति काम करनेके लिए तैयार रहना चाहिए।

किसी भी दलको किसी भी अवस्थामे अपनी निजी सेना रखनेकी अनुमति नही मिलनी चाहिए। हम यह भली-भाँति जानते है कि जर्मनीमे नाज़ियों और इटलीमे फ़ासिस्टोने अपनी निजी सेनाओंके बल पर ही राजसत्ता पर अधिकार किया था। लोगोको समझाने-बुझाने और उन्हे विश्वस्त करनेका साधन ही वह साधन है जो किसी भी दलको अपना अनुयायी बनाने या बढ़ानेके लिए प्राप्त हो सकता है। बेसिर पैरकी लम्बी-चौड़ी बाते करना और शारीरिक शक्तिका सहारा लेना जंगलीपनकी निशानी है। लोकतंत्र तभी सफल हो सकता है जब चुनावमें पराजित होनेवाले राजनीतिक अल्पमत अपनी पराजय उदारताके साथ स्वीकार करें। उनका संवैधानिक अधिकार केवल यही है कि वे लोगोंको समझा बुझाकर और उनका विश्वास प्राप्त कर अपना बहुमत बना लें।

दलगत सरकारकी सफलताके लिए यह आवश्यक है कि प्रशासनको राजनीतिक दलों और राजनीतिज्ञोंकी पहुँचके परे रखा जाय। एड़ीसे लेकर चोटी तकके सभी सरकारी

अधिकारियोंका चुनाव योग्यताके आधार पर एक ऐसी संस्था द्वारा किया जाना चाहिए जो अपनी निष्पक्षताके कारण हर व्यक्तिकी श्रद्धाका भाजन हो। जो सरकारी अधिकारी अपनी जाति या सम्प्रदायके लोगोंके साथ पक्षपात करनेके अपराधी पाये जायँ उनके विरुद्ध कठोर बर्ताव किया जाना चाहिए। सरकारी नौकरोंकी भरती, स्थानान्तरण और उनका पदोन्नति सार्वजनिक सेवाके स्वीकृत सिद्धान्तोंके अनुसार होनी चाहिए।

दलोंके अधिपुरुषों (bosses) और अवसरवादियोंका प्रभुत्व समाप्त करनेका हर सम्भव प्रयत्न किया जाना चाहिए। दलको अपने-अपने स्वार्थोंकी सिद्धिका साधन बनानेवालोंको दलसे बाहर निकाल देना चाहिए। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए स्वस्थ लोकमतकी आवश्यकता है। असाधारण सामर्थ्य और असंदिग्ध चरित्रवाले नेता राजनीतिक दलके जीवन मूल है।

दल प्रणालीकी असफलतासे स्वयं जनताकी असफलता सिद्ध होती है। यदि मतदाता समझदार और विवेकपूर्ण नहीं है तो दलीय तानाशाही अनिवार्य है। यह कहना तो मूर्खता है कि क्योंकि किसीके पिता और दादाने किसी विशेष ढंगसे अपना मत दिया था इसलिए उस व्यक्तिको भी उसी ढंगसे अर्थात् उसी दल या व्यक्तिको अपना मत देना चाहिए। यह भी एक मूर्खताकी बात है कि चूंकि किसी वर्ग या व्यवसायके सदस्य किसी एक ढगसे वोट दे रहे है इसलिए उस वर्ग या व्यवसायके हर सदस्यको उसी ढगसे वोट देना चाहिए। एक समझदार मतदाताको आवश्यकता पड़ने पर प्रथाओं और परम्पराओंको तोड़नेके लिए तैयार रहना चाहिए, और उसे अपनी अन्तरात्मा और विवेककी प्रेरणाके अनुसार वोट देना चाहिए।

यदि राजनीतिज्ञोंमें और साधारण जनतामें चरित्रहीनता है तो दल पद्धतिकी विफलता निश्चित है। दलीय शासनकी सफलताके लिए सबसे पहली आवश्यकता है उच्च कोटिकी सार्वजनिक ईमानदारी और आत्म-गौरवकी भावना। सच्चाई, ईमानदारी और सार्वजनिक कल्याणकी प्रबल भावनाके बिना राजनीतिक दल कूटदल मात्र बन जाते है। वे जनताके चरित्रका पतन करते हैं और देशके जीवन तत्वोंको समाप्त करते रहते है। मतदाताका अपनेमें स्वतंत्रता और विवेक, घूसखोरी और भ्रष्टाचार के प्रति घृणा तथा सार्वजनिक कर्त्तव्यकी प्रबल भावना उत्पन्न करनी चाहिए। दलों को सार्वजनिक हित सिद्ध करनेके ऐसे साधन बन जाना चाहिए जिनमे परस्पर सहयोग हो। जनतामें उच्चकोटिका चरित्र हुए बिना किसी प्रकारकी भी सरकार, विशेषकर लोकतंत्रीय सरकार, असफल ही सिद्ध होगी। ईमानदार और जानकार प्रेस और सार्वजनिक वक्ता राजनीतिक दलको सार्वजनिक सदाचारके कठोर और तंग रास्ते पर चलनेके लिए बहुत कुछ मजबूर कर सकते हैं।

न्याय-पालिका
(The Judiciary)

यदि किसी देशमें बहुत अच्छा विधान-मण्डल और कार्यपालिका हो पर स्वतंत्र

और निष्पक्ष न्याय-पालिका न हो तो उस देशके संविधानका अधिक महत्व नहीं होगा। हर नागरिक एक अच्छी सरकारसे यह आशा रखता है कि वह निरंकुश शासनसे उसकी रक्षा करेगी। एक सुसंगठित न्याय-पालिका इस सुरक्षाका सबसे अच्छा साधन है। इसी कारण बहुधा यह कहा जाता है कि किसी देशकी न्याय-पालिकाकी उत्तमता ही उस देशकी सरकारकी उत्तमताका प्रमाण है।

१. न्याय-पालिका का महत्व (The Importance of the Judiciary)

जनता द्वारा सदा न्याय-पालिकाको एक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाना इसी बातसे सिद्ध हो जाता है कि न्याय-कार्यके सम्बन्धमें हमेशासे कुछ दिव्य गुणोंको आरोपित किया गया है। न्याय एक दैवी गुण माना जाता है और न्यायाधीशको एक ऐसे व्यक्तिके समान चित्रित किया जाता है जो आँख मूँदकर सबके साथ निर्भय और निष्पक्ष होकर एक-सा न्याय करता है। प्राचीन समयमें न्यायाधीशके कार्यको धर्माध्यक्ष या पुरोहितके कार्यका एक अंग माना जाता था।

जनताकी दृष्टिमें न्याय-पालिकाका महत्व तो बहुत अधिक है पर उसका विकास बहुत ही धीरे-धीरे हुआ है। प्रारम्भिक कालमें जो न्याय प्रचलित था वह न्यायकी एक क़बायली धारणा थी। उसे इस बातकी परवाह नहीं रहती थी कि अपराधी व्यक्ति को दण्ड मिला या नहीं मिला। यदि अपराधी क़बीलेका दण्ड दे दिया जाता था तो यह समझा जाता था कि न्यायका उद्देश्य पूरा हो गया है। अधिकाश अपराधों पर जो दण्ड दिया जाता था वह अपराधकी तुलनामें बहुत अधिक होता था। इसलिए जब 'जैसे को तैसा' के सूत्रानुसार नाप-तोल कर प्रतिकार लेनेकी भावनाका श्रीगणेश हुआ तब इस दिशामें निश्चित प्रगति हुई। कुछ समय बाद यह विचार उत्पन्न हुआ कि पदार्थों या रुपयोंसे शारीरिक क्षतिका मुआवजा दिया जा सकता है।

इस समूचे युगमें न्याय एक व्यक्तिगत और निजी बात थी। सताया गया व्यक्ति या क़बीला जो कुछ भी कार्यवाही कर सकता था, करता था। इसके अलावा अनेक मामलोंमें किसी फैसलेको लागू करनेका कोई साधन भी नहीं होता था। बहुधा एक कड़ी सजा यह दी जाती थी कि अपराधीका समाजसे बहिष्कृत कर दिया जाता था जैसा कि 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' की केन (Cain) की कहानी से प्रकट होता है। परमात्मा और विभिन्न भूत शक्तियोंका भय भी प्रारम्भिक मनुष्यको संकीर्ण पर सही रास्ते पर चलनेके लिए विवश करता रहा है।

धीरे-धीरे 'राज-शान्ति' (King's peace) की धारणाका विकास हुआ। सबसे पहले इसमें ऐसे अपराध सम्मिलित थे जिनका प्रतिकार धन देकर नहीं किया जा सकता था। कुछ समय बाद चोरी और उससे मिलते-जुलते अन्य अपराध 'राज-शान्ति' की धारणामें सम्मिलित कर लिये गये। बहुत समय तक सामन्त और धर्म संघ अपनी अलग-अलग न्याय-व्यवस्था चलाते रहे और राजा द्वारा न्यायको उन्होने बिना संघर्षके स्वीकार नही किया।

आधुनिक राज्यमें सभी अपराधोंको राज्यके विरुद्ध किये गये अपराध माना जाता है, यद्यपि हम व्यक्तिगत विधि (private law) और सार्वजनिक विधि (public law) की बातें करते हैं। विभिन्न सामाजिक संस्थाएँ अपने सदस्यों पर एक निश्चित आधार-पद्धति लागू करनेके लिए समझाने-बुझाने, नैतिक दबाव, और सामाजिक बहिष्कारका प्रयोग कर सकती है। पर लोगोंको गिरफ़्तार करने, प्राण-दण्ड देने या इसी प्रकारकी अन्य सज़ाएँ देने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। न्याय करना राज्य का कार्य है।

स्वतंत्र न्यायपालिकाका सबसे बड़ा शत्रु एक सर्वशक्तिमान कार्यपालिका है। इंगलैण्डमें प्रथम दो स्टुअर्ट राजाओंके समयमें न्यायपालिकाको कार्यपालिकाके अधीन बनानेके प्रयत्न किये गये। कुछ तत्कालीन न्यायाधीश भी इस अपवित्र काममें शामिल रहे। बेकन के अनुसार न्यायाधीशोंको निस्सन्देह सिंहोंकी भाँति स्वतंत्र होना चाहिए, 'पर वे सिंह सिंहासनके नीचे ही रहेंगे।' दूसरे शब्दोंमें उन्हें कार्यपालिका के हाथोंका खिलौना होना था। इंगलैण्डमें न्यायपालिकाकी स्वतंत्रता अन्तिम रूपसे व्यवस्था अधिनियम (Act of Settlement) के द्वारा प्रतिष्ठित हुई और यह निश्चित हो गया कि न्यायाधीशोंको संसदके दोनों भवनोंकी स्वीकृतिके बाद ही पद-च्युत किया जा सकता है।

न्यायपालिकाकी सुन्दर व्यवस्थाके लिए सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि वह स्वतंत्र हो। न्यायाधीशोंके नियुक्त किये जानेके तरीक़े और उनकी नौकरी की शर्तें ऐसी होनी चाहिएँ कि वे स्वतंत्र रूपसे कार्य कर सकें। कार्यपालिका या जनताके भयका उन पर और उनके कर्तव्य पालनमें कोई असर नही पड़ना चाहिए।

२. कुशल न्याय-पालिका के लिए अपेक्षित परि-स्थितियाँ (Conditions required of an efficient Judiciary)

न्याय-प्रशासनमें निष्पक्षता उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी स्वतन्त्रता। इंगलैण्डके बारेमे यह आमतौर पर कहा जाता है कि वहाँ 'सबके लिए एक ही क़ानून है' और 'कानूनकी दृष्टि में सभी व्यक्ति समान हैं।' धन-सम्पत्ति, बड़प्पन और सामाजिक प्रतिष्ठाके विभेदोंका न्यायाधीशों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। किसी भी हालतमें कार्यपालिकाको इस बातकी अनुमति नही मिलनी चाहिए कि वह न्यायाधीशोंको यह आदेश दे कि किसी मामलेमें क्या फ़ैसला दिया जाय, विशेषकर ऐसे मामलोमें जिनमें कार्यपालिका स्वयं किसी पक्ष में हो।

स्वतंत्र और निष्पक्ष होनेके साथ ही न्यायाधीशको विद्वान और अपने काममें दक्ष होना चाहिए। एक अयोग्य न्यायाधीश अवश्य ही न्यायपालिकाकी प्रतिष्ठा को जनताकी दृष्टिमें घटा देता है। न्यायाधीशको अपने कर्तव्य पालनमें एकदम निर्भय, सच्चा और दृढ़ चरित्र होना चाहिए।

न्यायाधीशोंकी बात छोड़कर न्यायालयोंके बारेमें विचार करते हुए यह कहना

पड़ेगा कि न्याय शीघ्र और निश्चयात्मक होना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीशोंकी संख्या काफी हो जिससे न्यायमें विलम्ब न हो।

संयुक्त-राज्य अमरीकामें यह कहा जाता है कि वहाँ न्याय न तो शीघ्र ही होता है और न निश्चयात्मक ही होता है। क़ानून और उसकी कार्य-पद्धतिमें इतने अधिक गुप्त छिद्र होते है कि एक चतुर वकील या मुवक्किल न्यायमें अनावश्यक विलम्ब तो करा ही सकता है, भले ही उसे एकदम रोक न पाये। यदि न्यायपालिका से गरीबों का लाभ होना है तो यह आवश्यक है कि न्याय इतना मंहगा न हो जितना वह आजकल भारत तथा अन्य देशों में है। न्याय-पद्धति साधारण, सीधी और कम खर्चीली होनी चाहिए। जहाँ एक ओर इस बातकी पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए कि न्यायमें हो जानेवाली भूलोका सुधार करनेके लिए अपील की जा सके, वहाँ दूसरी ओर इस बातकी भी कोशिश होनी चाहिए कि लम्बी और दुःखदायी मुकदमेबाजी न होने पाये। अदालतोंको इस बातकी भरपूर कोशिश करनी चाहिए कि जहाँ-कहीं सम्भव हो आपसमें समझौता या पंचों द्वारा फैसला हो जाये। झगड़ोंको इस तरह शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझानेकी दिशामें भारतकी छोटी अदालतोंको उपयोगी कदम उठाने चाहिए। पर आजकल ऐसा नहीं किया जा रहा है। इसके लिए उन्हें आदेश दिये जाने चाहिए।

३. न्यायपालिका के कार्य (functions of the Judiciary)

(१) न्यायपालिकाका मुख्य काम दीवानी और फ़ौजदारीके मामलोंमें क़ानून को लागू करना है। यह काम इतना आसान नहीं है जितना कि वह ऊपरसे दिखायी देता है। अनेक ऐसे मामले होते हैं जिनमें कानून या तो स्पष्ट रूपसे कुछ निर्देश नहीं करता या उसका निर्देश कुछ न कुछ अस्पष्ट रहता है। इसलिए न्यायाधीशको विधानके अर्थकी व्याख्या करनी होती है। ऐसा करते हुए न्यायाधीशोंने बहुत बड़ी संख्यामें नज़ीरें क़ायम की हैं। आँग्ल-सैक्सन देशोंमें जो मुकदमे परिनियम-विधि (statute law) की परिधिमें नहीं आते, उन पर न्यायाधीश सामान्य विधि (common law) के अनुसार अपना फ़ैसला देते है। फ्रांसमें लगभग सम्पूर्ण प्रशासी-विधि (administrative law) राज्य-परिषदके निर्णयों द्वारा निर्मित हुआ है। यह राज्य-परिषद देशका सर्वोच्च प्रशासी न्यायालय है।

यद्यपि पूर्वोदाहरण (precedents) भावी निर्णयों पर लागू नहीं होते, फिर भी उनका बड़ा सम्मान किया जाता है। वकील और न्यायाधीश दोनों ही उनका उपयोग करते हैं। आँग्ल-सैक्सन देशोंमें पूर्वोदाहरण केवल विधिके प्रमाण ही नहीं माने जाते हैं, बल्कि उन्हें विधिका स्रोत भी माना जाता है। पर फ्रांस, जर्मनी और अन्य यूरोपीय देशोंमें छोटे न्यायालय साधारणतः न्यायिक पूर्वोदाहरणोंको माननेके लिए बाध्य नहीं होते।

गार्नर का कहना है कि पूर्वोदाहरण दो प्रकारके होते हैं: (१) वे पूर्वोदाहरण

जिनमें भविष्यके लिए नये क़ानूनकी सृष्टि होती है और (२) वे पूर्वोदाहरण जो वर्तमान क़ानूनकी केवल घोषणा ही करते हैं। दूसरी प्रकारके पूर्वोदाहरणोंकी संख्या तो बहुत होती है पर वे कम महत्वपूर्ण होते हैं। पूर्वोदाहरणोका एक और वर्गीकरण आधिकारिक (authoritarian) पूर्वोदाहरण और अनुनयात्मक (persuasive) पूर्वोदाहरणमें किया गया है। जैसा कि नाम से ही प्रकट है आधिकारिक पूर्वोदाहरण भविष्यके न्यायाधीशोंके लिए मान्य होते हैं। उच्च वर्ग और निम्न वर्गके न्यायाधीशों के सम्बन्धके बारेमें यह बात सच है। उच्च न्यायालयका न्यायाधीश एक आधिकारिक पूर्वोदाहरणकी अवहेलना कर सकता है, यदि उसे वह पूर्वोदाहरण तर्क अथवा क़ानूनके विपरीत मालूम हो। एक अनुनयात्मक पूर्वोदाहरणका माना जाना अनिवार्य नहीं होता और न्यायाधीश उसके उपयुक्त हो उसे महत्व देता है।

(२) न्याय-पालिकाका दूसरा महत्त्वपूर्ण काम है, राज्यके अनुचित हस्तक्षेपसे व्यक्तिकी रक्षा करना। आँग्ल-भाषीय देशोंमें या बेल्जियममें इसके लिए कोई अलग व्यवस्था नही है क्योंकि इन देशोंमें विधि-शासन (Rule of Law) प्रचलित है। इसके अनुसार सरकारी पदाधिकारियों और व्यक्तिगत नागरिकोंके लिए एक ही विधान होता है और एक ही प्रकारकी अदालतें काम करती हैं। जो विशेष अदालतें होती भी हैं वे साधारण अदालतोंके अधीन होती हैं। फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि अन्य यूरोपीय देशोंमें प्रशासी-विधि लागू करनेके लिए विशेष प्रशासी न्यायालय होते है।

इस प्रश्न पर बड़ा विवाद हुआ है कि विधि-शासन-प्रशासी विधिसे श्रेष्ठ है या प्रशासी-विधि विधि-शासनसे श्रेष्ठ है। विधि-शासनको अत्यधिक महत्त्व दिलानेकी ज़िम्मेदारी ए० वी० डायसी (A. V. Dicey) को है। आँग्ल-भाषी देशोमें प्रचलित इस सम्मतिका श्रेय भी उन्हींको है कि केवल विधि-शासन ही सरकारी पदाधिकारियों के विरुद्ध व्यक्तिकी स्वतंत्रताकी रक्षा कर सकता है। डायसी के समयमे विशेष प्रशासी-न्यायालयोंके बारेमें जितना कुछ मालूम हो सकता था उससे अधिक जानकारी के बल पर अब विचारकोंका विश्वास है कि प्रशासी-न्यायालयों और प्रशासी-विधिका अर्थ अनिवार्यतः मनमाना शासन नहीं है। इस प्रचलित विश्वासका कोई ठोस आधार नहीं है कि प्रशासी-न्यायालय अधिकारियोंको प्रसन्न करनेके लिए या प्रशासी सुविधा के विचारसे ग़लत फ़ैसला करते हैं। प्रशासी-न्यायालयोंके न्यायाधीश केवल विधिके पण्डित ही नही होते वरन् उन्हें पर्याप्त प्रशासी अनुभव भी होता है। इसलिए जिन मामलोंमें सरकारी कर्मचारी फँसे होते हैं उनके सार्वजनिक और व्यक्तिगत दोनों पक्षों पर विचार करनेमें वह समर्थ होते हैं। समय बीतनेके साथ-साथ यह न्यायालय सरकार और उसके कर्मचारियोंके मनमाने अवैध कार्योंके विरुद्ध नागरिकोंके रक्षक बन गये हैं।

एक दृष्टिसे विधि-शासनकी अपेक्षा प्रशासी-विधि श्रेष्ठ है। फ्रांस जैसे देशमें एक व्यक्ति राज्य पर मुकदमा चला सकता है। यदि राज्यके अधिकारियोने उसके साथ अन्याय किया है तो वह उसकी क्षतिपूर्ति करवा सकता है। पर इंगलैण्डमें

साधारणतः व्यक्ति राज्य पर मुकदमा नहीं चला सकता। उसे उस अधिकारी पर मुकदमा चलाना होता है जो उसके साथ अन्याय करता है। यदि वह अधिकारी दिवालिया है या हर्जाना देनेमें असमर्थ है तो फिर क्षतिपूर्ति भी नहीं हो पाती। जब किसी ऊँचे पदाधिकारी पर मुकदमा चलाना होता है तब उसके लिए एक अधिकार याचिका (Petition of Rights) द्वारा अनुमति प्राप्त करनी होती है। इस अनुमति को प्राप्त कर लेना हमेशा आसान नहीं होता।

आधुनिक समयमें एक विशेष बात यह हुई है कि विधि-शासन प्रशासी-विधि दोनोंमें ऐसे परिवर्तन हुए हैं कि वे एक दूसरेके नजदीक आ गये हैं और उनका अन्तर कम हो गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इंगलैण्डमें स्वास्थ्य तथा श्रम जैसे अनेक प्रशासकीय-विभागोंको अर्ध-न्यायिक अधिकार प्राप्त हैं और कुछ मामलोंमें उच्च अधिकारियोंके पास अपील भी नहीं की जा सकती। दूसरी ओर यूरोपीय देशों के प्रशासकीय न्यायालयोंने गवाही और निर्णय आदिके सम्बन्धमें एक निश्चित कार्य-विधि (procedure) को अपना लिया है और अधिक न्याय-संगत बन गये हैं। संसार में ऐसा कोई देश नहीं है जहाँ के प्रशासन अधिकारी अपनी विशेष सुविधाओं और उन्मुक्तियों (immunities) के बारेमें सामान्य स्तर पर हों। ऐसी हालतमें फ़्रांसीसियोंके इस विचारको साफ़-साफ़ मान लेना अधिक ठीक जान पड़ता है कि कर्त्तव्य पालन करते हुए व्यक्तिगत नागरिकोंके हाथ एक प्रशासन अधिकारीका जो सम्बन्ध रहता है वह नागरिकोंके आपसी सम्बन्धोंकी अपेक्षा एक भिन्न कोटिका होता है। एक अंग्रेज लेखक सी० के० ऐलन (C. K. Allen) का कहना है, 'फ़्रांसमें प्रजाको राज्यके विरुद्ध जो प्रतिकार (remedies) प्राप्त हैं वह इगलैण्डमें प्राप्त प्रतिकारोंकी अपेक्षा अधिक आसान, साध्य और बहुत अधिक सस्ते है।' यह कथन संविधान वेत्ताओंके लिए एक सूत्र और फ़्रांसीसी लोकतंत्रके लिए एक ढाल बन गया है कि राज्य-परिषद जनता और नौकरशाहीके बीच एक निरोध निवारक शक्ति बन गयी है।

फ़्राँसकी राज्य-परिषदका सभापति पहले न्याय मंत्री होता था, पर अब इस सर्वोच्च प्रशासी न्यायालयका सभापति एक ऐसा तटस्थ व्यक्ति होता है जिसका राजनीतिसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। एक आधुनिक लेखकका कहना है कि परिषदकी स्थिति कुछ दृष्टियोंसे भारतके लोक-सेवा-आयोगसे मिलती-जुलती है जिसका काम प्रशासन-अधिकारियोंके लिए नियम बनाना, उनकी तकलीफ़ोंकी जाँच करना, और उनकी शिकायतोंकी सुनवाई करना है। राज्य-परिषद इससे अधिक और काम यह करती है कि जो अध्यादेश या नियम विधान-मण्डल द्वारा बनाये हुए नहीं होते उनका न्यायिक पुनर्विलोकन (review) करती है।

(३) संघात्मक संविधानोंमें न्याय-पालिकाका एक महत्वपूर्ण कार्य होता है, संविधानकी व्याख्या करना और ऐसे क़ानूनोंको अवैध घोषित करना जो संविधानसे मेल नहीं खाते। यह बिल्कुल ठीक कहा गया है कि संयुक्त-राज्य अमरीका में अगले पृष्ठ पर उल्लिखित चार प्रकारके क़ानून हैं और चारोंकी आधिकारिकता भिन्न कोटिकी है:

(क) संघ-संविधान, (ख) संघ-परिनियम (statute), (ग) राज्य-संविधान और (घ) राज्य परिनियम। इन चारोंमें से प्रथम सबसे अधिक मान्य होता है।

सर्वोच्च न्यायालयके न्यायाधीश संविधानके संरक्षक हैं। पर उसका यह मतलब नहीं है कि वह हर परिनियम विधिकी सांवैधानिकताकी परख उसके लागू होनेके पहले करते हैं। विधि द्वारा संविधानकी तथाकथित अवहेलना या अतिक्रमणको सर्वोच्च न्यायालयके विचारार्थ उपस्थित करना पीड़ित व्यक्तिका काम है। जैसा कि एक लेखकने हाल ही में लिखा है, 'न्यायालयको तब तक हस्तक्षेप करनेका कोई अधिकार नहीं है जब तक क़ानून द्वारा निर्धारित ढंगके अनुसार उसके सम्मुख लाये गये किसी मामलेमें उसके हस्तक्षेपकी प्रार्थना न की जाय।

सर्वोच्च न्यायालयके न्यायिक पुनर्विलोकन (judicial review) अधिकारसे कार्यपालिका अथवा विधान-मण्डल द्वारा होनेवाले अतिक्रमणोंके विरुद्ध न्याय-पालिकाको संविधानके संरक्षकके रूपमें काम करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। इस व्यवस्थामें प्रशंसनीय ढंगसे कार्य हुआ है यद्यपि ऐसे भी अवसर आये हैं जब न्यायाधीशोंकी द्वेष या पक्षपातकी भावनाओंने संविधानकी रक्षाके नाम पर महत्वपूर्ण सामाजिक विधयनको अस्वीकार करनेमें काफ़ी योग दिया है। इस प्रकार नियोजन दायित्व अधिनियम (Employees Liability Act), श्रमिक क्षति पूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act), न्यूनतम वेतन अधिनियम (Minimum Wages Act), बाल-श्रम-निरोधक अधिनियम (Act to Prevent Child Labour) आदि कांग्रेस द्वारा पारित और राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत हो जानेके बाद भी एक न एक बार सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अस्वीकृत किये गये हैं, यद्यपि आज ये अधिनियम देशके विधान बन चुके हैं।

(४) गार्नर ने न्यायपालिकाके अन्य कर्त्तव्योंको इस प्रकार व्यक्त किया है: (क) अनेक प्रकारके लेख (Writs) और व्यादेश (injunctions) जारी करना; (ख) सम्बन्धित पक्षोंकी प्रार्थना पर यह निर्णय देना कि क्या ठीक, उचित या अधिकार-संगत है और क़ानूनकी माँग क्या है; (ग) कार्यपालिका अथवा विधान-मण्डलकी प्रार्थना पर विधान सम्बन्धी प्रश्नोंके बारेमें परामर्श-मूलक सम्मति देना; (घ) संघात्मक संविधानोंमें विवादग्रस्त अधिकार क्षेत्रोंके मामलोंमें अपना अधिनिर्णय देना; (ङ) न्यायालयके कुछ स्थानीय अधिकारियोंको नियुक्त करना, लिपिकों तथा अन्य कर्मचारियोंको नियुक्त करना, लाइसेंस देना, संरक्षकों और न्यासधारियों (trustees) को नियुक्त करना, वसीयतनामोंको मृत्यु-लेख प्रमाणमें स्वीकार करना, मरे हुए लोगोंकी जायदादोंका प्रबन्ध करना, आदाताओं (receivers) को नियुक्त करना आदि।

न्याय-पालिकाका संगठन कार्यपालिका और विधान-मण्डलसे विभिन्न प्रकारका होता है। जैसा कि गार्नर ने कहा है, 'न्याय-शक्तिका प्रयोग कोई एक न्यायाधीश नहीं करता है, न कोई एक सभा करती है बल्कि इसका प्रयोग न्यायाधीशोंकी एक शृंखला

या सामूहिक रूपसे संगठित न्यायाधिकरणों द्वारा होता है। इस समस्त संगठनके शिखर पर एक सर्वोच्च न्यायालय होता है (२२ : ७८०-१)।'

४. न्यायपालिका का संगठन (Organisation of the Judiciary)

आँग्ल-सैक्सन देशोंमें अपील सुननेवाली अदालतोंको छोड़कर आमतौर पर हर अदालतमें एक ही न्यायाधीश होता है। फ्रांस, जर्मनी और अन्य कई यूरोपीय देशोंमें एक से अधिक न्यायाधीश रखनेकी प्रथा है। यह विश्वास किया जाता है कि न्यायाधीशोंकी संख्या अधिक होनेसे मनमाने निर्णयोंके विरुद्ध जनताकी रक्षा होती है। पर यह प्रणाली बहुत अधिक मंहगी है। इंगलैण्ड और अमरीकाकी निचली अदालतोंमें न्यायाधीशोंकी संख्या अपेक्षाकृत कम रहती है।

आँग्ल-अमरीकी और यूरोपीय न्यायालयोंमें एक अन्तर और है। इंगलैण्ड और अमरीका के न्यायालय एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें चक्कर लगाते हुए मुक़दमेवालोंकी सुविधाके लिए विभिन्न स्थानोंमें मुक़दमोंकी सुनवाई किया करते हैं पर यूरोपीय अदालतें एक स्थानमें ही स्थिर रहती हैं और मुक़दमेवालोंको वहाँ जाना पड़ता है।

अमरीकाके न्यायालयोंकी तुलनामें यूरोपीय न्यायालयोंकी एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यूरोपीय न्यायालयोंकी न्याय-प्रणाली एकात्मक और संश्लिष्ट (integrated) है। यह आवश्यक है कि राज्यके सभी न्यायालयोंका संगठन एक ही व्यवस्थाके अनुकूल हो जिसके अन्तर्गत देशमें एक बड़ा न्यायालय हो जिसके अधीन उसकी विभिन्न शाखाएँ हों।

अमरीका जैसे संघात्मक राज्योंमें 'दो प्रकारके न्यायालय होते हैं। एक का अधिकार-क्षेत्र राष्ट्रीय होता है और दूसरेका स्थानीय' (२२ : ७८३)।

दो प्रकारके न्यायालय होना आवश्यक नहीं हैं। वीमर संविधानके अनुसार जर्मनी में 'संघ और राज्योंके लिए एक ही पद्धति थी' (२२ : ७८३)।

संघ राज्योंके बीच न्याय-क्षेत्रका कोई विभाजन नहीं था और न क़ानूनमें ही कोई विभेद था। इसके विपरीत अमरीकामें तात्विक बातोंके सम्बन्धमें कुछ एक-रूपता और समानता होते हुए भी, विभिन्न राज्योंमें विभिन्न कोटिके न्याय-संगठन और कार्य-प्रणालीकी व्यवस्था है। इसके मतलब यह नहीं हैं कि विभिन्न राज्योंकी अदालतें एक दूसरेको विदेशी मानती हैं। इसके विपरीत वे एक दूसरेके अभिलेखों और न्याय-प्रणालियोंको विश्वास और महत्वकी दृष्टिसे देखती हैं।

गार्नर ने अदालतोंके दो सामान्य विभेद किये हैं: साधारण अदालतें और असाधारण या विशेष अदालतें। असाधारण और विशेष अदालतोंमें निम्नलिखित अदालतें शामिल हैं: प्रशासी-न्यायालय, सैनिक, व्यावसायिक और औद्योगिक न्यायालय, श्रमिक पंच न्यायालय, स्वत्व सम्बन्धी न्यायालय (Court of Claims), संराधन-न्यायालय (Conciliation Courts), महाभियोग न्यायालय (Courts of Impeachment), आदि। दूसरी श्रेणीके अधिकांश न्यायालय स्वेच्छामूलक या अविवादास्पद न्याय-क्षेत्र (non-contentious jurisdiction) का प्रयोग करते हैं।

अमरीकाकी संघीय न्याय-व्यवस्थामें जिला अदालतें क्षेत्रग अपील अदालतें और सर्वोच्च न्यायालय सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त अनेक विशेष अदालतें भी रहती है। सर्वोच्च न्यायालयमें एक प्रधान न्यायाधीश और आठ सहयोगी न्यायाधीश होते हैं। छः सदस्योंका कोरम होता है। सर्वोच्च न्यायालयके प्रारम्भिक न्यायक्षेत्रका निर्धारण संविधान द्वारा हुआ है और इसमें वही मामले आते है जिनमें वादी-प्रतिवादी रूपमें राजदूत या राज्य होते हैं। सर्वोच्च न्यायालयके पुनर्विलोकन न्याय-क्षेत्रका निर्धारण मुख्यत: परिनियम (statute) द्वारा होता है। और निम्नलिखित प्रकारके मुकदमें इसकी परिधिमें आते हैं: राज्य न्यायालयोके वह सब मुकदमे जिनमें राज्य विधान और संघीय विधानके बीच संघर्षका प्रश्न हो, वह सब मामले जिनमें संघीय संविधान अथवा सन्धि या किसी भी संघीय विधानकी व्याख्याका प्रश्न हो, वह मामले जिनमें किसी राज्य संविधान और संघीय संविधानके बीच संघर्ष हो और वह सब मामले जिनमें क्षेत्रग अदालतोंके निर्णय अन्तिम रूपसे मान्य नही होते (५८, दूसरा भाग ३०१)। कुछ दूसरे प्रकारकी अपीलें भी सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सुनी जाती हैं; पर उनके सम्बन्धमें अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। इंगलैण्डमें न्यायाधीशोंको संविधानकी व्याख्या करनेके लिए कभी नहीं कहा जाता पर अमरीका में सर्वोच्च न्यायालयके न्यायाधीशोंको बहुधा ऐसा करना पड़ता है। उन्हें स्वयं क़ानूनोंकी वैधता पर निर्णय देनेका अधिकार है और इस प्रकार वे यथार्थत: संविधानके संरक्षक हैं। उन्हें राष्ट्रपति स्वयं नियुक्त करता है पर सिनेट की स्वीकृति आवश्यक होती है। एक बार नियुक्त हो जाने पर वे आजीवन पद पर बने रहते हैं क्योकि वहां अवकाश ग्रहण करनेके लिए कोई निश्चित अवस्थाका विधान नहीं है। महाभियोग (impeachment) द्वारा ही उन्हें उनके पदसे अलग किया जा सकता है।

'सघ-संविधानकी तरह संघ-न्यायालय भी व्यक्तिगत नागरिकों पर सीधे-सीधे लागू होता है (५८:३०७)।' इसके विपरीत स्विटज़रलैण्ड में कार्यपालिका परिषद द्वारा बनाये गये क़ानूनों और आज्ञप्तियों (decrees) को कार्यान्वित करनेकी ज़िम्मेदारी प्रादेशिक प्रशासकों और न्यायालयों पर छोड़ दी जाती है।

राज्य-न्यायालय (state courts) और संघ-न्यायालय (federal courts) एक दूसरेसे बिल्कुल अलग रहते हैं। इनके बीच न्याय-शासनका बटवारा बिल्कुल स्पष्ट और पूर्ण रूपसे है। 'हर राज्यकी अपनी न्यायालयोंकी एक शृखला है। इन न्यायालयोंसे संघ-न्यायालयोंमें तभी अपील की जा सकती है जब मुक़दमेमे सघ विधानका कुछ सम्बन्ध हो या मुक़दमेका कोई पक्ष किसी दूसरे राज्यका नागरिक हो (५८: ३०८)।'

इंगलैण्डके न्यायालयोंमें केन्द्रीय और स्थानीय न्यायालय सम्मिलित हैं। केन्द्रीय न्यायालय लन्दनमें स्थित हैं और स्थानीय न्यायालय देश भर में फैले हैं। स्थानीय न्यायालयोंमें ग्रामीण क्षेत्रोंके न्यायालय अपमरणान्वेषक न्यायालय (Coroner Courts), एसाइज़ेज न्यायालय (AssizesCourts) और शिविर न्यायालय (Quarter-

Sessions) आदि हैं। लन्दन के उच्च न्यायालयमें पचीस न्यायाधीश होते हैं। यह न्यायालय एक ही निकायके रूपमें काम नहीं करता। इसकी तीन शाखाएँ होती हैं: राज-न्यायपीठ (The King's Bench), न्यायालय (Court of Chancery) और वसीयत, तलाक तथा नौसेना सम्बन्धी न्यायालय। यह न्यायालय प्रारम्भिक मुकदमे भी सुनते हैं और उनकी अपीलें भी। 'अपील अदालतका काम इगलैण्ड भरके नागरिकोंकी उन अपीलोंकी सुनवाई करना है जिनके मुकदमों पर छोटी अदालतों द्वारा पहले विचार किया जा चुका होता है। प्रिवी कौंसिलकी न्याय-समिति साम्राज्यके विभिन्न भागोंसे आनेवाली अपीलोंकी सुनवाई करती है।

स्थानीय न्याय-प्रशासनके लिए इंगलैण्ड आठ मण्डलोंमें बँटा हुआ है और यह आठ मण्डल कई काउण्टियोंमें बँटे हुए हैं। छोटे-छोटे अपराधोंमें तात्कालिक निर्णय दे दिया जाता है। ऐसे मामलोंमें जूरियों द्वारा सुनवाई नहीं होती। इन अदालतों का प्रधान एक अवैतनिक मैजिस्ट्रेट होता है। उसकी सहायता एक क्लर्क करता है जो क़ानूनको अच्छी तरह जानता है। बड़े अपराधियोंकी सुनवाई एसाइज़ेज़ न्यायालयों और शिविर-न्यायालयों द्वारा होती है। इन न्यायालयोंमें जूरी न्यायाधीशकी मदद करते है। अपराधके पक्के प्रमाण मिलनेके बाद ही अपराधीको दण्ड दिया जाता है।

फ़ौजदारीके मुकदमोंमें सरकार मुद्दई या वादी होती है। पर दीवानीके मामलों में वादी और प्रतिवादी दोनों ही अपने व्यक्तिगत रूपमें उपस्थित होते हैं। क्षेत्रग न्यायालय अथवा एसाइज़ेज़ न्यायालय-दीवानी मुक़दमोंकी भी सुनवाई करते हैं, पर उनकी कार्य-विधि और स्थान भिन्न-भिन्न होते हैं।

फ़्रांसमें साधारण अदालतों और प्रशासी अदालतोंकी एक शृंखला है। प्रारम्भिक तथा अपीलीय दोनों क्षेत्राधिकार उनको प्राप्त हैं। फ़्रांसमें राज्य-परिषद सर्वोच्च प्रशासी न्यायालय है। उसके नीचे अधिकारी परिषदें (Councils of Prefectures) होती है जो उन मामलोंकी सुनवाई करती हैं जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष कर-निर्धारणसे और नागरिकों के साथ छोटे अधिकारियोंके व्यवहारसे रहता है (६५:३५६)।' प्रशासी-न्यायालय चुनाव याचिकाओंकी भी सुनवाई करते हैं।

फ़्रासमें सामान्य-विधिका उच्च न्यायालय सर्वोच्च न्यायाधिकरण (Court of Cassation) कहलाता है। यह अपीलें सुननेका सर्वोच्च न्यायालय होनेके साथ ही देशके स्थापित क़ानूनके विपरीत दिये गये निर्णयोंको बदलता है। प्रशासी-न्यायालयों व साधारण न्यायालयोंके बीच क्षेत्राधिकारके झगड़ोंका निबटारा करनेके लिए एक अलग न्यायालय है जिसका नाम विवाद-न्यायालय (Court of Conflicts) है। फ़्रांस के न्यायाधिकारी निर्णय देनेकी अपेक्षा विभिन्न पक्षोंमें सौहार्दपूर्ण आपसी समझौता करानेकी कोशिश करते हैं।

स्विटज़रलैण्डकी न्यायपालिकाको उतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है जितना अमरीकाके सर्वोच्च न्यायालयको प्राप्त है। उसे केवल कैण्टनोंके परिनियमों

(statutes) और संविधानोंका न्यायिक पुनर्विलोकन करनेका अधिकार है, सघ परिनियमों और संघ-संविधानके पुनर्विलोकन करनेका नहीं। वह संघ-संविधान और संघ परिनियमोंका पालन करनेके लिए कैण्टनोंको विवश कर सकती है, पर कैण्टनों के नागरिकोंको विवश नहीं कर सकती है। नागरिकों तक उसकी पहुंच उस कैण्टनके प्रशासनके माध्यमसे ही हो सकती है। स्विटजरलैण्डमें संघ-न्यायालयोकी कोई शृंखला नहीं है जैसा कि संयुक्त-राज्य अमरीकामें है; स्विटजरलैण्डमें केवल एक संघ न्यायालय है जो लॉजेन (Lausanne) में स्थित है और जिसमें चौबीस न्यायाधीश बैठते हैं।

कनाडा और आस्ट्रेलियामें संघ-न्यायपालिका और राज्य न्यायपालिकाके बीच कोई भेद नहीं है। वहां एक ही न्यायपालिका है जो संघ सरकारके अधीन है। उसे न्यायिक पुनर्विलोकनका कोई अधिकार नहीं है जैसा कि अमरीकामें है। 'राज्यों अथवा प्रान्तोंके बीच होनेवाले झगड़ोंमें उसे प्रारम्भिक न्यायक्षेत्र प्राप्त है। राज्यों और प्रान्तोंके न्यायालयोंसे आनेवाले मामलोंमें उसे अपील सुननेका अधिकार है तथा आश्रित क़ानून बनानेवाली संस्थाओं द्वारा पारित किये गये क़ानूनोंका न्यायिक पुनर्विलोकन (judicial review) करनेका अधिकार प्राप्त है (६५ : ३६१)।' १९३१ में वेस्टमिन्सटर परिनियम पारित होनेके बादसे कोई भी उपनिवेश अपने न्यायालयोके निर्णयोंके विरुद्ध प्रिवी कौंसिलमें अपील करनेकी आज्ञा नहीं देता। विधि-शासन, जूरी प्रणाली, और अवैतनिक न्यायाधीशोंकी प्रथा समेत अंग्रेज़ी न्याय पद्धतिको आवश्यक संशोधनोंके साथ भारतमें भी लागू किया गया था। भारतके उच्च न्यायालयोंको वही अधिकार और कर्तव्य नहीं प्राप्त थे जो इंग्लैण्डके उच्च न्यायालयको प्राप्त हैं। प्रिवी कौंसिलकी न्याय समिति भारतके लिए भी सर्वोच्च न्याय सम्बन्धी अधिकार सत्ता थी और उच्च न्यायालयके विरुद्ध अनेक प्रकार की अपीलें सुनती थी। मौलिक अधिकारोंको लागू करनेके लिए लेख (writ) जारी करनेका अधिकार भारतके उच्च न्यायालयोंको है। किसी मामलेमे विधानका कोई महत्वपूर्ण प्रश्न सन्निहित होनेका प्रमाणपत्र मिलने पर ही उच्च न्यायालयके निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालयमें अपील की जा सकती है।

भारतमें एक ज़िलेका कलेक्टर ज़िलेका मैजिस्ट्रेट भी होता था। ज़िलेमें शान्ति व व्यवस्था क़ायम रखना उसकी जिम्मेदारी होती थी। फ़ौजदारी मुक़दमे भी उसीके अधिकार-क्षेत्र में थे। वह अपने अधीन मैजिस्ट्रेटोंके प्रशसाकीय नियंत्रणके लिए भी ज़िम्मेदार था। वह स्वयं फौजदारी मुक़दमोकी सुनवाई बहुत कम करता था। पर वह इस बातका प्रबन्ध अवश्य करता था कि मुकदमोंकी सुनवाई करनेवाले मैजिस्ट्रेट अपना काम ठीक प्रकार करें।

ज़िलेके हर भागमें एक उप-जिलाधीश (Sub-Divisional Magistrate) होता था वह ऐसे सभी मुक़दमोंकी सुनवाई करता था जो सेशन अदालतकी सुनवाईके लायक नही होते थे। वह अपने अधीन मैजिस्ट्रेटोंकी अपील भी सुनता था। उसके फ़ैसलेके विरुद्ध सेशन अदालतमें अपील की जा सकती थी।

तहसीलदारको भी दण्डनायकके अधिकार प्राप्त थे। पर वह उन अधिकारोंका उपयोग बहुत कम करता था। हर परगनेमें उपदण्डनायक (Sub-Magistrate) ऐसे फ़ौजदारी मामलोंकी सुनवाई करता था जो न तो इतने गम्भीर होते थे कि उन्हें उपजिलाधीशके पास भेजा जाना ज़रूरी होता और न इतने मामूली होते थे कि गाँवकी अदालतोंमें ही उनकी सुनवाई हो सकती। जहाँ-कहीं नायब-तहसीलदार होता था वहाँ वह ऐसे मामलोंकी सुनवाई करता था जिनकी सुनवाई अन्यथा उप-दण्डनायक करता।

प्रान्त भरमें दीवानी और फ़ौजदारीके मुकदमोंके लिए सबसे बड़ी अदालत उच्च न्यायालय (High Court) होता था। हाईकोर्टके अधीन ज़िला और सेशन जज होते थे जो दीवानी और फ़ौजदारी दोनों मामलोंकी सुनवाई करते थे। अधीन जजोंका अधिकार-क्षेत्र प्रारम्भिक मुकदमोंकी सुनवाई और दीवानी कार्यवाहियों तक सीमित रहता था। साधारणतः वे अपीलोंकी सुनवाई नहीं करते थे। दीवानीके मामलोंमें अधीन जजोंके नीचे जिलेके मुंसिफ़ और गाँवके मुंसिफ होते थे। छोटे-छोटे मुक़दमोंकी सुनवाई सरसरी तौर पर ज़िला मुंसिफ और जज खफ़ीफ़ा (Sub-judge) करते थे यद्यपि उच्च न्यायालयको पुनर्विलोकनका अधिकार प्राप्त था।

कुछ समय बाद एक सघ-न्यायालयकी स्थापना की गयी जिसका अधिकार-क्षेत्र सीमित था। उस समय दीवानीके मुकदमोंके सम्बन्धमें प्रिवी कौसिलको जो अधिकार प्राप्त थे उनमेंसे कुछ अधिकार संघ न्यायालयको सौंपे जानेकी व्यवस्था की गयी। अब सघ न्यायालयके स्थान पर सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) की स्थापना की गयी है। यह सर्वोच्च न्यायालय 'संविधानका व्याख्याता और संरक्षक, दोनों ही है। देशका यह सबसे ऊँचा न्यायालय है और उसके फ़ैसलोंकी अपील किसी न्यायालयमें नहीं हो सकती।

भारतमें अंग्रेजी न्याय-पद्धतिसे एक अन्तर यह किया गया है कि यदि राज्य किसी व्यक्तिगत नागरिककी सम्पत्तिका अतिक्रमण करता है या किसी नागरिकके साथ कोई अनुबन्ध करता है तो राज्यके विरुद्ध साधारण तरीकेसे ही नियमित मुकदमा जारी किया जा सकता है। इसके विपरीत इंगलैण्डमें जिस किसीको क्षति पहुँची हो वह अधिकार याचिकाके द्वारा आगे बढ़ता है। इस अधिकार याचिका द्वारा सम्प्रभुकी सद्भावनासे अपील की जाती है। भारतमें यह अन्तर इसलिए किया गया था कि चूंकि सरकार ईस्ट इण्डिया कम्पनीकी उत्तराधिकारी थी इसलिए कम्पनीकी ज़िम्मेदारीको वर्तमान वैधानिक व्यवस्थामें कायम रखा जा सकता है।

न्यायपालिकाके संगठनकी विवेचना तब तक पूरी नहीं हो सकती जब तक कि न्यायकी कार्यवाहीमें साधारण जनके दायित्वकी चर्चा न की जाय। छोटे-छोटे मुक़दमोंकी सुनवाईके लिए लोगोंको थोड़ी अवधि के लिए अवैतनिक न्यायाधीश नियुक्त किया जाता है। इंगलैण्डमें यह काम जस्टिस ऑफ पीस (Justice of Peace) और भारतमें अवैतनिक मैजिस्ट्रेट करते हैं। मोटेतौर पर यह कहा जा सकता है कि यह व्यवस्था संतोषजनक तरीक़ेसे काम नहीं कर सकी है। इनसे फ़ैसलोंमें एकरूपता

नहीं रहती। इंगलैण्डमें जस्टिस ऑफ पीसका न्याय अव्यवस्थित होता है, एकरूप नहीं होता। दूसरी ओर इस व्यवस्थासे सम्पन्न लोगोंको जिनके पास पर्याप्त समय है, राजनीतिक शिक्षा और सामाजिक सेवाका अवसर मिलता है यद्यपि अधिकारके दुरुपयोग किये जानेकी सम्भावना रहती है।

अवैतनिक मैजिस्ट्रेटोंसे मिलती-जुलती व्यवस्था जूरियों की है जो अनेक देशोंमें प्रचलित हैं। इसका उद्देश्य न्यायाधीशको मुक़दमोंके तथ्योंको समझनेमें सहायता देना है। इस व्यवस्थाकी उत्पत्ति इंगलैण्डमें हुई थी और बादमें इसे अनेक देशोंने अपनाया। इस व्यवस्थाके पक्षमें यह कहा जाता है कि इससे घूसखोरी और न्यायाधीशको प्रभावित करनेवाले अन्य भ्रष्ट उद्देश्यों और उपायों पर रोक लग जाती है। इस व्यवस्थाको नागरिक कर्तव्यों और दायित्वोंकी शिक्षाका महत्वपूर्ण साधन भी बताया जाता है। यह कहा जाता है कि अपनी निष्पक्ष भावना और अपने व्यावहारिक ज्ञानके कारण जूरी मुक़दमेके तथ्योंको ठीक-ठीक समझनेमें न्यायाधीशको सहायता दे सकते हैं।

पर व्यावहारिक तौर पर जूरी प्रणाली बहुत अधिक सफल नहीं हुई है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें पक्षपात और रागद्वेषपूर्ण जूरीके कारण सच्चे न्यायाधीशके काममें बाधा पड़ी है। इस दोषके कुख्यात उदाहरण वह मुकदमे हैं जिनमें अमरीका में नीग्रो लोगों पर लगाये गये अभियोगोंकी सुनवाई केवल श्वेतांग जूरियोके सामने हुई है। जब कोई मुक़दमा कई दिनों या सप्ताहों तक लगातार चलता है तब अवैतनिक जूरी अपना समय देना पसन्द नहीं करते। जिन मामलोंमें प्रविधिक तथ्यों पर विचार करना होता है उनमें जूरी बिल्कुल ही व्यर्थ होते हैं।

भारतमें जूरी प्रथा १८६१ में शुरू हुई थी। अनेक वर्षों तक इसका परीक्षण होनेके बाद भी यह कहना पड़ेगा कि यह पद्धति सफल होनेकी अपेक्षा विफल ही अधिक हुई है।

एक और पद्धति परामर्शकों (assessors) की है जिसका औचित्य जूरी प्रथासे भी कम है। भारतकी फ़ौजदारी अदालतोंमें परामर्शकोंकी प्रथासे कोई लाभ नहीं हुआ है। एक प्रसिद्ध न्याय-शास्त्रीके अनुसार 'न तो परामर्शक अपने पदों पर रहनेको इच्छुक है और न न्यायाधीश ही परामर्शकोंको रखनेको इच्छुक हैं।'

५. न्यायाधीशोंकी नियुक्ति, कार्यकाल और पदच्युति (Appointment, Tenure and Removal of Judges)

न्यायाधीशोंकी नियुक्तिके निम्नलिखित तीन मुख्य ढंग हैं: (१) विधान-मण्डल द्वारा नियुक्ति, (२) जनता द्वारा निर्वाचन और कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति। यह नियुक्ति कार्यपालिका या तो स्वयं करती है या न्यायालय द्वारा ही प्रस्तुत नामावलीसे या प्रतियोगी परीक्षाके आधार पर, या कार्यकारिणी समितिके अनुमोदनसे या विधान-मण्डलके ऊपरी सदनकी स्वीकृतिसे कार्यपालिका द्वारा की जाती है।

(१) **विधान-मण्डल द्वारा नियुक्ति** का प्रचलन स्विटज़रलैंड में है। संघ-न्यायालयके न्यायाधीश, जिनकी संख्या २४ है, विधान-मण्डलके दोनों सदनोंके संयुक्त अधिवेशनमें ६ सालके

लिए चुने जाते हैं। एक न्यायाधीश कितनी ही बार चुना जासकता है। अमरीकामें क्रान्तिके कुछ वर्षों बाद तक यही प्रथा प्रचलित थी। उसके बादसे चार राज्योंको छोड़कर शेष सभी राज्योंने इस प्रथाको छोड़ दिया है। इस प्रथाकी बुराइयां ये हैं कि न्याय-पालिका अनुचित रूपसे विधान-मण्डल पर आश्रित हो जाती है और नियुक्तियाँ राजनीतिक दलोंकी गुप्त समितियों द्वारा होते हैं। नियुक्तियोंमें प्राविधिक योग्यताओं की अपेक्षा राजनीतिक और भौगोलिक कारणोंको अधिक महत्व दिया जाने लगता है। इन सब बुराइयोंके बावजूद, जो कि अमरीका पर लागू होती हैं, स्विटज़रलैण्ड में यह व्यवस्था सफलतापूर्वक काम करती आ रही है। इस सफलताका कारण यह है कि स्विटज़रलैण्डमें विधान-मण्डलका आकारछोटा है और वहां की राजनीतिमें दलबन्दीकी भावनाका अभाव है।

(२) **जनता द्वारा निर्वाचन.** जनता द्वारा न्यायाधीशोंको चुने जानेकी प्रथा का श्रीगणेश १७९० में फ्रांसमें हुआ था। १७९३ में इस प्रथाका बहुत दुरुपयोग हुआ जब पत्थर काटनेवालों, क्लर्कों, मालियों और साधारण मजदूरोंको न्यायाधीश चुना गया। नैपोलियन ने इस प्रथाको फ्रांसमें समाप्त कर दिया।

आजकल यह प्रथा स्विटज़रलैण्डके कुछ कैण्टनोंमें तथा अमरीकाके कई एक राज्यों में प्रचलित है। सुयोग्य और कुशल न्यायाधीशोंको प्राप्त करनेका यह सबसे बुरा तरीक़ा है। जनता द्वारा चुने गये न्यायाधीशोंमें स्वाधीनता और वैधानिक ज्ञानके अभावकी आशंका है। जनताके पास इतना विवेक और ज्ञान नहीं होता कि वह कुशल न्यायाधीशोंको चुने। जब न्यायाधीश दुबारा चुनावके लिए खड़े हो सकते हैं तो यह प्रथा और भी बुरी हो जाती है। जनताका वोट पानेके लिए न्यायाधीश ऐसे फ़ैसले देते हैं जिनसे जनता प्रसन्न हो। समर्थ तथा निष्पक्ष न्यायाधीश बहुधा चुनावमें हार जाते हैं। इस व्यवस्थाकी निन्दा गार्नर इस प्रकार करते हैं: 'इससे न्यायपालिकाका चारित्रिक पतन होता है, यह व्यवस्था न्यायाधीशको राजनीतिज्ञ बनानेकी चेष्टा करती है और न्यायाधीश पर कुछ ऐसे दबाव डालती है, जिनका विरोध वह हमेशा नहीं कर पाते (७९५-९६)।'

इस व्यवस्थाकी बुराइयोंको संयुक्त राज्य अमरीकामें अंशत: इस प्रकार समाप्त किया गया है कि दलबन्दीसे मुक्त प्राथमिक सभाएँ उम्मीदवारोंको मनोनीत करती हैं और वकीलवर्ग निर्वाचकोंसे उपयुक्त उम्मीदवारोंकी सिफ़ारिश करता है।

(३) **कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति.** यह व्यवस्था सबसे अच्छी जान पड़ती है। इंगलैण्ड, ब्रिटिश उपनिवेशों, अमरीकाके संघ-प्रशासन और उसके ६ राज्योंमें यह प्रथा प्रचलित है। यद्यपि न्यायाधीशको नियुक्त करते समय राजनीतिक बातोंका भी ध्यान रखा जाता है पर एक बार न्यायाधीश नियुक्त हो जानेके बाद वे स्वतंत्र रहते हैं और कार्यपालिकाका उन पर कोई दबाव नहीं होता। फ्रांसमें कार्यपालिकाको इतनी स्वतंत्रता नहीं मिली हुई है। नीचेकी जगहोंके लिए प्रतियोगी परीक्षा होती है: पर वहाँसे पदोन्नति वरिष्ठता (seniority) के आधार पर होती है। इंग्लैण्ड और

अमरीकामें वकील ही अधिकतर न्यायाधीश बनाये जाते हैं। सब मिलाकर कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति ही सबसे अच्छी पद्धति है। नियुक्त किये जानेवाले न्यायाधीशोंकी योग्यताकी परख विधान-मण्डल अथवा जनताकी अपेक्षा कार्यपालिका अधिक अच्छे ढंगसे कर सकती है। इस व्यवस्थासे न्यायपालिकाकी स्वतंत्रता सुरक्षित रहती है क्योंकि न्यायाधीशोंका कार्यकाल उनके 'सदाचार' पर निर्भर करता है। फ्रांसमें यह शिकायत की जाती है कि नियुक्तियाँ करनेमें न्याय-मंत्री प्रायः प्रतिनिधियों द्वारा बाध्य किया जाता है। यह और इस प्रकारकी अन्य बुराइयोंको दूर करनेके लिए कुछ लोगोंका यह सुझाव है कि कार्यपालिका न्यायाधीशोंका चुनाव एक ऐसी सूचीसे किया करे जो उस न्यायालय द्वारा तैयार की जाय जिसमें न्यायाधीशकी नियुक्ति की जानेवाली हो।

न्यायाधीशोंकी कार्याविधि. अमरीकाकी सरकारों में न्यायाधीशोंकी नियुक्ति साधारणतः अल्पावधिके लिए होती है। कार्यकाल २ से २१ वर्ष और औसतन ६ से ९ वर्ष तक का होता है। स्विटज़रलैण्डमें संघीय-न्यायाधीशोंकी नियुक्ति विधान-मण्डलके दोनों सदनों द्वारा ६ सालके लिए होती है, पर वे कितनी ही बार निर्वाचित किये जा सकते हैं। अमरीकासे बाहर प्रायः सब कहीं पदावधि 'सदाचार' पर निर्भर रहती है। यह बहुत अच्छी व्यवस्था है क्योंकि इससे 'एक निरन्तर सच्चे और निष्पक्ष विधान-शासनकी सिद्धि होती है, और अनुभव, ज्ञान और न्यायिक पूर्वोदाहरण भी प्राप्त होते है।

संयुक्त-राज्य अमरीकाके सर्वोच्च न्यायालयके न्यायाधीशोंके अवकाश ग्रहण करनेकी कोई निश्चित आयु-सीमा निर्धारित न करनेकी प्रथाका समर्थन नहीं किया जा सकता। इससे अनेक ऐसे बहुत-से व्यक्ति न्यायाधीश बने रहते हैं जो अत्यन्त रूढ़िवादी होते हैं और अपनेको नई परिस्थितियोंके अनुकूल नहीं बना पाते।

न्यायाधीशोंकी पदच्युति (Removal of Judges) : प्रत्येक संविधानमें भ्रष्ट और अयोग्य न्यायाधिकारियोंको पदच्युत करनेकी व्यवस्था होनी चाहिए। इंगलैण्डमें संसदके दोनों सदनोंकी मांग पर सम्राट् न्यायाधीशोंको पदच्युत कर सकता है। संयुक्त-राज्य अमरीकामें निचला सदन महाभियोग लगाता है और ऊपरी सदन अभियोगकी सुनवाई करता है और इस प्रकार महाभियोग द्वारा न्यायाधीश पदच्यत किये जाते हैं। यह तरीक़ा बहुत ही बोझिल (cumbersome) है। इसका उपयोग दलगत उद्देश्योंके लिए किया जा सकता है। पर इस दुरुपयोगको रोकनेका तरीक़ा यह है कि एक असाधारण बहुमतसे ही न्यायाधीशोंको पदच्युत किया जा सके। अमरीकाके बारह राज्योंमें विधान-मण्डल न्यायाधीशोंको पदच्युत कर सकते हैं; और ९ राज्योंमें विधान-मण्डलके आवेदन पर राज्यपाल उन्हें पदच्युत कर सकता है। अनेक राज्योंमें न्यायाधीशों और निर्णयोंमें लोकप्रत्यावर्तन (recall) की पद्धति प्रचलित है। यूरोपके कई देशोंमें 'न्यायाधीशोंको केवल वही न्यायालय पदच्युत कर सकते हैं जिनके वे सदस्य हैं अथवा सर्वोच्च न्यायालय एक अनुशासन अधिकरण (Disciplinary

Tribunal) के रूपमें नियमित रूपसे विचार करनेके बाद विधानमें स्पष्टतः बताये गये कारणोंसे न्यायाधीशोंको पदच्युत कर सकता है (२२:८०२)।'

शक्तियोंके पृथक्करणका सिद्धान्त
(Theory of the Separation of Powers)

सरकारके अंगोंका परम्परागत पृथक्करण विधायिका, कार्यपालिका और न्याय-पालिका, इन तीन विभागोंमें हुआ है। पर यह पृथक्करण इतना सरल समझा जाता है कि आधुनिक परिस्थितियोंके लिये ठीक नहीं बैठता।

पाश्चात्य राजनीति दर्शनके जन्मदाता अरस्तू पर्यालोचक (deliberative), शासकीय (magisterial) और न्यायिक (judicial) शक्तियोंमें विभेद करते हैं। यद्यपि अरस्तू के लिए इन तीनों शक्तियोंमें सिद्धान्त रूपसे विभेद करना आसान था, फिर भी व्यवहारमें प्राचीन यूनानमें तीनों शक्तियाँ एक ही व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त होती थीं।

अरस्तू के बाद रोमन विचारकों, विशेषकर राजबन्दीकी भाँति इटली ले जाये गये। यूनानी पॉलीबियस तथा सिसरो ने 'शक्तियोंके सन्तुलित साम्य' (balanced equilibrium of powers) की महत्ता पर बहुत ज़ोर दिया है। राजतंत्र, कुलीनतंत्र और लोकतंत्रके तत्वोंको वे क्रमशः रोमके कौंसलों, सीनेट और जनप्रिय एसेम्बलियों में मानते हैं जिनमें सरकारका प्रत्येक अंग दूसरे अंगों पर अवरोध लगाता था। दोनों लेखक स्थिरताके लिए सरकारके एक ऐसे 'मिश्रित' स्वरूपको आवश्यक समझते हैं, जिसमें अवरोध और सन्तुलन(checks and balances) की व्यवस्था हो।

मध्ययुगमें शक्तियोंके पृथक्करणके सिद्धान्तमें कोई प्रगति नहीं हुई।

बोदाँ, जो आधुनिक युगके प्रारम्भिक विचारकोंमें हैं, कार्यपालिका तथा न्यायिक शक्तियोंके विभाजनके महत्वको समझते हैं। वह इस बात पर ज़ोर देते हैं कि शासक को स्वयं ही न्याय-प्रशासनका कार्य नहीं करना चाहिए बल्कि उसे अपनी यह शक्ति एक स्वतंत्र न्यायाधिकरण (tribunal) को सौंप देनी चाहिए। उनका कहना है कि यदि कार्यपालिका और न्यायपालिकाकी शक्तियाँ एक दूसरेसे अलग नहीं होंगी तो न्याय और दयाका अनुचित मिश्रण हो जायगा और न्यायका दृढ़तापूर्वक पालन और उसकी मनमानी अवहेलना दोनों साथ-ही-साथ चलेंगे।

लॉक ने अपनी पुस्तक *Civil Government* में शक्ति-पृथक्करणके सिद्धान्तका उल्लेख किया है। उनके अनुसार जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्तिकी रक्षाके लिए नागरिक समाजकी स्थापना की गयी थी और इन उद्देश्योंको पूरा करनेके साधन भी उतने ही सुनिश्चित हैं जितने कि स्वयं उद्देश्य। ये साधन सरकारके कार्यक्षेत्रके तेहरे या चौहरे विभाजन द्वारा व्यक्त होते हैं। यह विभाजन हैं: विधि-निर्माण—जिसमें इन अधिकारोंको निश्चित करनेवाले प्राकृतिक नियमकी 'प्रामाणिक व्याख्या' करने

की व्यवस्था होती है, सरकारी कार्य व्यापारका न्यायपक्ष अर्थात् समाजके व्यक्तियोंके बीच प्राकृतिक नियमोंकी उपयुक्त व्याख्या करनेके लिए न्यायपूर्ण और निष्पक्ष अधिकार-सत्ताकी व्यवस्था, कार्यपालिका अर्थात् दण्ड-विधान द्वारा क़ानूनके आदेशों को लागू करनेके लिए समाजकी शक्तिका प्रयाग करनेकी व्यवस्था। समाज और उसके व्यक्तियोंके हितोंको दूसरे समुदायके हितोंसे सुरक्षित रखनेका जो कार्य है उसे लॉक' संघात्मक' (Federative) कर्त्तव्य कहते है।

शक्ति-पृथक्करण सम्बन्धी उनके सिद्धान्तमें एक नयी विचारधारा मिलती है। विधायिका और कार्यपालिकाके कार्य अलग-अलग होने ही चाहिए। क़ानून बनाने वालेको ही क़ानून लागू करनेका भार सौंपना बहुत ही अविवेकपूर्ण होगा क्योंकि ऐसा करनेमें यह सम्भावना है कि वह अपनेको कानूनोंसे मुक्त कर ले या फिर ऐसे क़ानून बना ले जिससे उसका उद्देश्य सिद्ध हो।

जहाँ तक लॉक द्वारा किये गये इस सिद्धान्तके विवेचनका सम्बन्ध है, उन्होंने इस सिद्धान्तकी चर्चा विधान-मण्डल और कायपालिकाके पारस्परिक सम्बन्धोंको निश्चित करनेवाले सिद्धान्तके रूपमें ही की है। प्रशासनिक कार्योंके जिस त्रिवर्गीय विभाजन की ऊपर चर्चा की गयी है और उससे सम्बन्धित अवरोध और सन्तुलनके सिद्धान्त जिससे आज हम इतने परिचित हैं, लॉक के लिए उतने विचारणीय नहीं है। इन सिद्धान्तोंके विकासका श्रेय तो फ़ान्सीसी दार्शनिक मॉण्टेस्क्यू को है। इन्होंने ही अंग्रेजी दार्शनिकके सुझावोंको विकसित स्वरूप दिया।

प्रसिद्ध फ़ान्सीसी लेखक मॉण्टेस्क्यू (१६८९-१७५५) ने ही अपनी पुस्तक *Esprit des Lois* में इस सिद्धान्तको अपनाया है। यह एक विचित्र बात है कि मॉण्टेस्क्यू ने इंगलैण्डमें दो वर्षों तक वहाँके संविधानको कार्यान्वित होते हुए देखा और फिर अपना यह सुविचारित मत प्रकट किया कि अंग्रेजी सविधानकी स्थिरताका कारण यह है कि उसमें शक्तियोंका पृथक्करण किया गया है। आज सभी लोग यह मानते हैं कि अंग्रेजी संविधानकी ऐसी व्याख्या करना मॉण्टेस्क्यू की ग़लती थी। मॉण्टेस्क्यू ने अपनी पुस्तक अठारहवी शताब्दीमें लिखी थी। उस समय यद्यपि इंगलैण्डमें मन्त्रिपरिषदीय पद्धतिका पूर्णरूपेण विकास नहीं हुआ था, जिसमें शक्तियोंके पृथक्करणकी पूरी-पूरी अवहेलना की जाती है पर फिर भी उनके समकालीन इंगलैण्डमें भी शक्तियोका कोई स्पष्ट पृथक्करण नहीं था। बीस वर्ष पश्चात् अंग्रेज न्याय-शास्त्री ब्लैक्स्टन ने भी वही भूल की जो मॉण्टेस्क्यू ने की है। उनका भी कहना है कि विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिकाके बीच शक्तियोंका स्पष्ट पृथक्करण अँग्रेजी शासन-पद्धतिका आधारभूत सिद्धान्त है। तथ्य तो यह है कि मॉण्टेस्क्यू और ब्लैक्स्टन दोनोंने ही अँग्रेजी संविधान के सैद्धान्तिक रूपसे ही अपना सम्बन्ध रखा, उसके व्यावहारिक रूपसे नहीं। इस प्रकार इन लोगोंने अपने ऊपर छिछलेपनका आरोप लगाये जानेका अवसर दिया।

मॉण्टेस्क्यू अपने स्वभाव और शिक्षा-दीक्षा दोनोंसे ही कुलीन-वर्गके थे, फिर भी उनके हृदयमें स्वतंत्रताके प्रति गम्भीर श्रद्धा थी। वह स्वतंत्रताको सर्वोच्च मानवीय

निधि मानते थे। इस निधिको प्राप्त करनेके लिए ही मॉण्टेस्क्यू ने शक्तियोंके पृथक्करण का समर्थन किया। उन्होंने अनुभव किया था कि चूंकि सत्ताधिकारी स्वभावतः सत्ता का दुरुपयोग करता है इसलिए स्पष्ट प्रतिबन्धोंके अभावमें निरंकुश शासन अनिवार्य हो जाता है। प्रशासनिक सत्ताके प्रयोग में संयताचार (moderation) सुशासनके लिए आवश्यक है। इस संयताचारके लिए ही उन्होने शक्तियोंके पृथक्करणका अपना प्रसिद्ध सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसके अनुसार प्रत्येक शक्तिका प्रयोग सरकारके एक पृथक अंग द्वारा किया जाना चाहिए और सरकारके विभिन्न विभागोके बीच अवरोध तथा सन्तुलनकी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे कोई भी एक विभाग या अंग सर्वशक्तिमान न बन जाय। मॉण्टेस्क्यू ने स्वयं अपने सिद्धान्तको इस प्रकार व्यक्त किया है:

'जब विधि-निर्माण और कार्यपालिकाकी शक्तियाँ एक ही व्यक्ति या संस्थामें केन्द्रित हो जाती हैं तब स्वतंत्रताका रहना असम्भव है·····यदि न्यायिक और विधि-निर्माणकी शक्तियाँ एकमें मिल जायँ तो प्रजाके जीवन और स्वतंत्रतामें निरंकुश नियंत्रण लग जायगा· ····और यदि न्यायिक और कार्यपालिकाकी शक्तियाँ एक में मिल जायँ तो न्यायाधीश अत्याचारीकी भाँति व्यवहार कर सकता है।'

मॉण्टेस्क्यू ने कार्यपालिका और विधायिकाकी शक्तियोंके पृथक्करण पर विशेष रूप से ज़ोर दिया है। विधायिकामें भी वह दो सदनोंको एक दूसरेका अवरोध करनेके लिए आवश्यक मानते हैं।

इस सिद्धान्तका अमरीकी संविधान-निर्माताओं और फ्रांसके क्रान्तिकारियों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। फ्रांसमें तो यह सिद्धान्त समाप्त हो गया और केवल प्रशासी न्यायालय ही इस सिद्धान्तके स्मृतिचिन्ह रूपमें शेष रह गये और १८७५ ई० के संविधानमें मन्त्रिपरिषदीय पद्धतिको अपना लिया गया, परन्तु संयुक्त-राज्य अमरीका में इस सिद्धान्तका प्रभाव आधुनिक समय तक है। आज भी अमरीकामें विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिकाका संगठन एक दूसरेसे स्वतंत्र रूपमें होता है। अमरीकाका राष्ट्रपति जो कार्यपालिकाका प्रधान होता है और उसके मंत्रिमण्डलके सदस्य विधान-मण्डलके सदस्य नहीं होते। अँग्रेजी शासन-पद्धति अपनानेवाले दूसरे देशोंमें विधान-मण्डल और कार्यपालिकाके बीच जो घनिष्ठता रहती है वह अमरीका में अज्ञात है। विधान-मण्डलके दोनों सदनोंका संगठन भी पृथक रूपसे होता है और उनका कार्यकाल व शक्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। सर्वोच्च न्यायालयके न्यायाधीशोंकी नियुक्ति कार्यपालिका सीनेटकी सहमतिसे करती है परन्तु नियुक्तिकी शर्तें ऐसी हैं कि न्यायपालिकाको एक स्वतंत्र अंग बना देती हैं।

सरकारके विभाग केवल एक दूसरेसे अलग ही नहीं हैं बल्कि हर विभाग शेष विभागों पर कुछ निश्चित अवरोध भी लगाता है। इस प्रकार, राष्ट्रपति द्वाराकी जानेवाली प्रधान अधिकारियोकी नियुक्तियोंके लिए सीनेटकी स्वीकृति आवश्यक होती है। युद्ध और शान्तिकी घोषणा काँग्रेस करती है और कार्यपालिका द्वाराकी गयी

सन्धियोंके लिए सीनेटकी स्वीकृति आवश्यक है। राष्ट्रपतिको इस बातका अधिकार है कि वह अपनी विधि-निर्माण सम्बन्धी योजनाओंको स्पष्ट करते हुए काँग्रेसको अपना सन्देश भेजे। परन्तु संविधानकी परम्पराके अनुसार न तो राष्ट्रपति और न उसके मंत्रिमण्डलका कोई सदस्य ही सरकारी नीतिका समर्थन करनेके लिए काँग्रेसमें उपस्थित हो सकता है। राष्ट्रपतिको विधान-मण्डलके कार्यों पर निषेधाधिकार (veto) प्राप्त है पर यह पूर्ण निषेधाधिकार (absolute veto) न होकर स्थगन निषेधाधिकार (suspensive veto) ही है।

आलोचना.

यद्यपि शक्तियोंके पृथक्करणका सिद्धान्त आमतौर पर ठीक माना गया है क्योंकि इसमें भेद करनेका वैज्ञानिक सिद्धान्त निहित है, फिर भी इसकी व्यावहारिक कठिनाइयोंने इस सिद्धान्तके महत्त्वको कुछ कम कर दिया है। संयुक्त-राज्य अमरीकामें भी शक्तियोंका ठीक तरह पृथक्करण नहीं मिलता है। आधुनिक सरकारोंमें प्रत्येक विधान-मण्डल कार्यपालिकाके कुछ कर्त्तव्योंको करता है और कार्यपालिका न्यायपालिकाके कुछ कार्य करती है। इस सिद्धान्तका मुख्य महत्त्व यह है कि इसमें न्यायपालिकाकी स्वाधीनता पर ज़ोर दिया गया है। परन्तु यह लक्ष्य आसानीसे दूसरे तरीक़ोंसे भी प्राप्त किया जा सकता है। ये तरीक़े हैं—न्यायाधीशोंके कार्यकालकी सुरक्षा, यथेष्ट वेतन जो कि वार्षिक आय-व्ययकी व्यवस्थाओंसे मुक्त हो और न्यायाधीशोंका राजनीतिक दलबन्दी और नियंत्रणसे मुक्त रहना।

इस सिद्धान्तका दूसरा महत्त्व यह है कि इसमें इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि सरकारको भली-भाँति प्रतिष्ठित नियमों और विधानके अनुकूल काम करना चाहिए। निरंकुश शासन सुशासन नहीं है। यह सिद्धान्त कार्यपालिका और प्रशासी अधिकारियोंको चेतावनी देता है कि वे न्याय और विधानके मार्गमें हस्तक्षेप न करें। फ़ाइनर के शब्दोंमें यह सिद्धान्त हर शक्तिको अपने कार्योंके स्पष्टीकरणके लिए विवश करता है।

इस सिद्धान्तके पक्षमें कुछ लोगोंने यह तर्क दिया है कि कर्त्तव्योंको तो सम्मिलित किया भी जा सकता है, पर शक्तियोंको हमेशा सर्वोच्च रहना ही चाहिए। इस भेदमें तो हमें कोई अन्तर नहीं जान पड़ता है। यह समझना कठिन है कि आवश्यक अधिकार-शक्तिके बिना कर्त्तव्य कैसे पूरे किये जायँगे।

शक्तियोंके पृथक्करणका यह सिद्धान्त एक समय राजाओंकी निरंकुशताके विरुद्ध और बादमें पार्लियामेण्टकी निरंकुशताके विरुद्ध बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। पर आज इन दो में से किसी भी निरंकुशताका डर नहीं है। लोकतंत्रात्मक देशोंमें हमें राजनीतिक दलोंके प्रभुत्व और प्रशासन अधिकारियोंकी निरंकुशताके विरुद्ध रक्षाकी आवश्यकता हो सकती है, जबकि तानाशाही देशोंमें राजनीतिक दल और उसके नेता

की तानाशाहीके विरुद्ध रक्षाकी आवश्यकता हो सकती है। इनमेंसे किसी प्रकारके भी प्रभुत्वके विरुद्ध शक्तियोंके पृथक्करणकी व्यवस्था सफल नहीं हो सकती। इसमें स्वभावतः पर्याप्त यांत्रिकता है। लोकतंत्रात्मक देशमें जानकार और जागरूक निर्वाचक-मण्डल वैयक्तिक स्वतंत्रताका सर्वोत्तम रक्षक है।

आधुनिक परिस्थितियोंमें सरकारके ठीक प्रकारसे काम करनेके लिए शक्तियोंके पृथक्करणकी उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी आवश्यकता इस बातकी है कि सरकारकी विभिन्न शक्तियोंमें सहयोग और सन्तुलन हो। सरकारके हर विभागको अपनेको जनताका सेवक समझना चाहिए और अपने उद्देश्यको पूरा करनेके लिए उसे भरसक सब कुछ करना चाहिए। एच० जे० लास्की इस सम्बन्धमें लिखते हैं:

'विधान-मण्डल अपना काम तब तक पूरा नहीं कर सकते जब तक उनमें कानूनके लागू करनेमें हस्तक्षेप करनेकी सामर्थ्य न हो और इस बातकी सामर्थ्य न हो कि आवश्यकता पड़ने पर परिनियम द्वारा न्यायाधीशोंके ऐसे निर्णयोंको रद कर सकें जिनके परिणाम व्यापक रूपसे असन्तोषजनक सिद्ध हो रहे हों। कार्यपालिका क़ानून का प्रयोग करते हुए साधारण सिद्धान्तको भी विवरणसे ढकनेके लिए विवश होती है। आजकल इस कार्यकी सीमा इतनी विस्तृत है कि बहुधा इसमें और विधान-मण्डलके कार्यमें अन्तर करना कठिन हो जाता है। अन्ततः न्यायपालिका जो या तो कार्यपालिकाकी शक्तिको सिद्ध करती है अथवा दो नागरिकोंके बीच केविवादको तय करती है, वास्तवमें एक ऐसा काम करती है जो स्वभावतः वैधानिक है। कार्यपालिका की शक्ति सिद्ध करनेमे न्यायपालिका विधि-निर्माण सम्बन्धी इच्छाके तत्वको निश्चित करती है, और दो नागरिकोंके विवादको तय करनेमें न्यायपालिका या तो राज्यके वैधानिक आदेशोंके भीतर समेटनेके लिए उन्हें विस्तृत करती है या इस बातको अस्वीकार करती है कि किसी विशेष विवादमें जो नवीन स्थिति है वह उन आदेशोंकी परिधिसे बाहर है (२२: ६३)।'

लास्की के मतके विपरीत शक्तियोंके पृथक्करणका सिद्धान्त जहाँ एक ओर कार्य-दक्षता बढ़ाता है वहाँ दूसरी ओर ईर्ष्या, अविश्वास और आन्तरिक संघर्षको भी महत्त्व देता है। अधिकार-शक्तिका स्वभाव ही यह होता है कि जिस किसीके हाथमें इसे सौंप दिया जाता है वह उसका निरंकुश प्रयोग करना चाहता है और दूसरोंको अपनी अधिकार-शक्तिका प्रयोग करनेमे रोकता है। शक्ति-पृथक्करणके सिद्धान्तमें जो बहुत बड़ी कमी है वह राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन के दूसरे कार्यकालमें उस समय स्पष्ट हो गई थी जब राष्ट्रपति द्वारा की गयी सन्धिको स्वीकार करनेसे सीनेटने इन्कार कर दिया था।[1] फ़ाइनर की सुन्दर भाषामें शक्तियोंके पृथक्करणका सिद्धान्त 'सरकारको

---

[1] प्रेसीडेण्ट ट्रूमेन की अनेक राष्ट्रीय कल्याण-मूलक योजनाओं, विशेषकर १९४६ और १९४८ के बीच मूल्य-नियंत्रण और उचित आजीविका व्यवस्था-सम्बन्धी उनकी योजनाओंको असहयोगशील विधान-मण्डलने समाप्त कर दिया था।

विराम और विक्षोभकी अवान्तर स्थितियोंमें डाल देता है।' आधुनिक लोकतंत्रात्मक राज्योंमें जनताका प्रतिनिधित्व करनेवाले विधान-मण्डलका स्थान कार्यपालिका अथवा न्यायपालिकाकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

निस्सन्देह ब्रिटेनकी शासन-पद्धतिमें शासन-कार्य अमरीकी शासन-पद्धतिकी अपेक्षा अधिक कुशलतापूर्वक चलता है यद्यपि उसमें शक्तियोंका कोई ऐसा पृथक्करण नहीं है जैसा मॉण्टेस्क्यू समझते हैं। इसमें विधायिका और कार्यपालिकाके बीच बराबर घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इसमें शासन केन्द्रीभूत हो जाता है। इन दोनों शासन-पद्धतियोंकी चर्चा करते हुए रैमजे म्योर इस प्रकार लिखते हैं: 'यदि शक्तियोंका पृथक्करण अमरीकी संविधानका तात्विक सिद्धान्त है तो उत्तरदायित्वका केन्द्रीकरण अँग्रेजी संविधानका।' एक दूसरे लेखकने कहा है 'शक्तियोंके पृथक्करणका मतलब है शक्तियोंमें गड़बड़ी।'

भिन्न दृष्टिकोण रखनेवाले विलोबी का कहना है कि अंग्रेजी शासन-पद्धतिमें शक्तियोंका विभागीय पृथक्करण तो है परन्तु उनमें व्यक्ति-परक एकता है। अमरीकामें शक्तियोंकी विभागीय एकता है पर उनका व्यक्ति-परक विभाजन हुआ है। इंगलैण्डमें इस सिद्धान्तका दृढ़तापूर्वक पालन किया जाता है कि प्रत्येक शक्तिके प्रयोगका अधिकार एक पृथक विभागको सौंपा जाय। परन्तु अमरीकामें इस सिद्धान्त की अवहेलना की जाती है। अमरीकामें शक्तियोंका व्यक्ति-परक विभाजन है, विभागीय पृथक्करण नहीं।

ब्रिटिश मंत्रिमण्डल व्यक्तियोंकी एकता और विभागीय पृथक्करणका एक अच्छा उदाहरण है (२८ : २५४)। मंत्रिमण्डल, कार्यपालिका, विधान-मण्डल और शासक समिति तीनोंके रूपमें काम करता है। जब वह एक विभागकी भांति काम करता है तब दूसरे विभागोंकी अपनी शक्तियोंको उतने समयके लिए अपनेसे अलग रखता है। इस सम्बन्धमें विलोबी का कहना है कि जब मंत्रिमण्डल कार्यपालिकाके रूपमें काम करता है तब वह पार्लियामेण्टके स्वतंत्र अधिपतिके प्रतिनिधिके रूपमें काम करता है। जब वह विधायिकाके रूपमें काम करता है तब वह वैधानिक क्षेत्रके भीतर ही रहता है और कार्यपालिका अथवा प्रशासकीय कर्त्तव्योंको हाथमें लेनेका प्रयत्न नही करता। जब वह शासक समितिके रूपमें काम करता है तब वह कार्यपालिका अथवा विधायिका की शक्तियोंका प्रयोग नहीं करता और अपने आपको शासनकी समस्याओं तक ही सीमित रखता है।

इस प्रकार अंग्रेजी संविधानमें सरकारके विभिन्न विभाग अलग रखे गये हैं परन्तु उन विभागोंको उन्हीं व्यक्तियोंके हाथोंमें सौंप कर उन्हें यह बताया जाता है कि वे एक ही सामान्य संगठनके विभिन्न अंग हैं।

अमरीकी संविधानके सम्बन्धमें विलोबी लिखते हैं कि बहुत-से लोग यह सोचते हैं कि अमरीकी जनताकी स्वतंत्रताकी रक्षा शक्तियोंके पृथक्करण द्वारा होती है, पर तथ्य तो यह है कि वहां शक्तियोंका पर्याप्त एकीकरण है। अमरीकी संविधान लागू

करनेमें जो कठिनाई होती है वह शक्तियोंके पृथक्करणके कारण नहीं है, बल्कि दो या अधिक अधिकारियों द्वारा शक्तियोंके सम्मिलित प्रयोगके कारण है।

विलोबी कहते हैं कि अमरीकी संविधानमें न तो शक्तियोंके पृथक्करण और न शक्तियोंके एकीकरणका ही दृढ़तासे पालन किया जाता है। परिणाम यह हुआ है कि कार्यपालिका और विधायिकामें निरन्तर एक संघर्ष चल रहा है। यह संघर्ष इसलिए और भी तेज़ हो गया है कि अमरीकी संविधान सरकारकी एक पृथक शाखाके रूपमें प्रशासनके महत्वको स्वीकार नहीं करता।

मोटेतौर पर शक्तियोंके पृथक्करणका सिद्धान्त एक बहुमूल्य सिद्धान्त है पर यह सिद्धान्त अपने सहयोगी, अवरोध और सन्तुलनके सिद्धान्तके साथ भी अपनेको स्वतंत्रताका बहुत बड़ा संरक्षक सिद्ध नहीं कर सका है और न यह सरकारके कार्य ठीक प्रकार करनेमें सहायक सिद्ध हुआ है। उदाहरणके लिए मैकार्थी (McCarthy) और मैकार्थीवाद अमरीकी जनताकी स्वतंत्रताकी रक्षाके अनुकूल नहीं हुए। दूसरी ओर अनेक भले और निरपराध व्यक्ति विधान-मण्डलकी जांच समितियोंके भय और आतंकसे पीड़ित रहते हैं। ये समितियां लोगोंके कालिख पोतने और 'चोट कर ग़ायब हो जाने' की नीति बरतती हैं। इन समितियोंने प्रशासनमें बहुत अधिक हस्तक्षेप किया था। इसके बदलेमें राष्ट्रपति ट्रूमेन ने अपने १९४८ के निर्वाचनमें प्रतिनिधि-सभाको अपदस्थ करने या नीचा दिखाने और इसे भट्ठीमें झोंकनेमें कोई कसर बाक़ी नहीं रखी। सरकारके कार्योंमें एकता और मेल पैदा करनेके बजाय शक्तियोंके पृथक्करणके सिद्धान्तने बहुधा संघर्ष और फूट पैदा की है। इसी प्रकारके तथ्यों पर विचार करते हुए सैबाइन कहते हैं कि मॉण्टेस्क्यू ने 'तथ्योंको अति सरल बनानेका अपराध किया था।'[१] 'उन्होंने अपने सिद्धान्तको स्वतंत्रताके संवैधानिक सिद्धान्तों की एक पिछली व्याख्याके साथ मिला दिया।'[२]

फ़ाइनर ने अनुभव किया है कि आधुनिक परिस्थितियोंमें शक्तियोंके पृथक्करण के सिद्धान्तको दृढ़तापूर्वक लागू करना व्यर्थ है। इसलिए उन्होंने सरकारकी शक्तियों को संकल्पात्मक शक्तियों (resolving powers) और कार्यकारिणी शक्तियों (executive powers) में विभाजित किया है। वह संकल्पात्मक शक्तियोंमें निर्वाचक-मण्डल, राजनीतिक दलों, संसद, मंत्रिमण्डल और राज्यके प्रधानको शामिल करते हैं। दूसरे विभागमें वह मंत्रिमण्डल, राज्यके प्रधान, राजकीय लोक प्रशासकों और न्यायालयोंको शामिल करते हैं।

आधुनिक लोकतंत्रात्मक राज्योंमें सरकारके तीन नहीं बल्कि सात विभिन्न अंग हैं। ये सभी अंग एक दूसरेसे घनिष्ठ रूपमें सम्बन्धित हैं। इन्हें निम्नलिखित दो वर्गोंमें विभाजित किया जा सकता है: सरकारके नीति-निर्धारक (policy-making) अंग और सरकारके नीति-प्रवर्तक (policy-enforcing) अर्थात् नीतियोंको लागू करने वाले अंग।

---

[१] और [२] G. H. Sabine: A History of Political Theory.

Select Readings

Blunt, E.—*The. I. C. S.*
Dicey, A. V.—*The Law of the Constitution.*
Finer, H.—*The British Civil Service.*
Finer, H.—*Theory and Practice of Modern Government—Vol.2.*
Garner, J. W.—*Political Science and Government.*
Gettell, R. G.—*Introduction to Political Science.*
Gilchrist, R. N.—*Principles of Political Science.*
Iyengar, S. S.—*Problems of Indian Democracy.*
Marriott, J. A. R.—*The Mechanism of the Modern State—Vol. 2.*
Ramaiyer—*Politics.*

१३

लोकतंत्र
(Democracy)

१. लोकतंत्र पर पुनर्विचार (Democracy Under Revision)

आमतौर पर यह कहा जाता है कि आज संसार लोकतंत्रकी सफलताके सम्बन्ध में उतना आशावान नहीं है जितना कि कुछ पीढ़ियों पहले था। लोकतंत्रके सम्बन्धमें साधारण मनुष्योंकी प्रवृत्ति आलोचनात्मक नहीं तो कमसे कम उसकी ओरसे सावधान रहनेकी अवश्य है। वुड्रो विल्सन (Woodrow Wilson) के शब्दोंमें महायुद्ध संसारको 'लोकतंत्रके लिए सुरक्षित' बनानेके उद्देश्यसे लड़ा गया था। परन्तु उस समयके बादसे मुख्य समस्या यह हो गयी है कि संसार के लिए लोकतंत्रको किस प्रकार सुरक्षित रखा जाय। दूसरे विश्व-युद्धके बादकी घटनाओंने यह सिद्ध कर दिया है कि लोकतंत्र शान्ति, समृद्धि और प्रगतिके लिए जादूका मंत्र नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि बहुसंख्यक लोगोंकी चिल्लपोंमें कोई बुद्धिमत्ता निहित हो। आजका युग बेन्थम की इस आशासे भी सहमत नहीं है कि इस कुटिल जगतमें गणराज्योंकी स्थापना करके उसमें क्रान्तिकारी सुधार किये जा सकते हैं। वर्तमान कालमें लोकतंत्र के मायावी स्वरूपका पर्दा यदि बिल्कुल हमारी आंख से नहीं हट गया है तो कमसे कम हम इस सम्बन्धमें पहलेसे अधिक विवेकशील हो गये हैं। ल्यूडोविसी (Ludovici) ने अपने इन आलंकारिक प्रश्नोंमें लोकतंत्रके प्रति वर्तमान पीढ़ीके असन्तोषका दिग्दर्शन कराया है: 'आजकल कौन लोकतंत्रमें विश्वास करता है? कौन संसदीय सरकार, विश्व-बन्धुत्व या व्यापक मताधिकारमें विश्वास करता है?' वह तो एलसीबाइडीस (Alcibiades) की भाँति लोकतंत्रको 'स्वीकृत पागलपन' (acknowledged madness) मानते हैं।

आज लोकतंत्रकी अनेक प्रकारसे आलोचना की जा रही है। प्रतिक्रियावादियों और क्रान्तिकारियों दोनों ने ही उस पर प्रहार किये हैं। एकतंत्र और तानाशाहीके समर्थकोंने लोकतंत्रकी कटु आलोचना की है। इनमें से अनेक हिंसात्मक या प्रत्यक्ष कार्यवाही करनेका उपदेश करते हैं, जिसके अनुसार एक सुसंगठित और दृढ़ इच्छा रखनेवाला अल्पमत निस्सहाय बहुसंख्यकों पर आवश्यकतानुसार निर्दयी आतंकवाद द्वारा अपनी इच्छा लाद सके। ऑलिवर क्रॉमवेल (Oliver Cromwell) ने प्रत्यक्ष

कार्यवाहीके सिद्धान्तको, दूसरे प्रसंगमें, इस प्रकार व्यक्त किया है—'प्रश्न यह है कि उनका (जनसाधारणका) कल्याण किस बातमें है, न कि यह कि उन्हें क्या अच्छा लगता है।' हर्नशॉ (Hearnshaw) ने प्रत्यक्ष कार्यवाहीमें विश्वास रखनेवालोंके जो मुख्य तर्क बताये हैं, वे इस प्रकार हैं:

(१) पार्लियामेण्ट मज़दूर वर्गका पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करती।

(२) औद्योगिक प्रश्नोंको सुलझानेके लिए राजनीतिक तरीक़े उपयुक्त नहीं होते।

(३) प्रत्यक्ष कार्यवाही अधिक शीघ्र और प्रभावशाली हो सकती है।

(४) अल्पसंख्यक वर्ग साधारणतया ठीक और बहुसंख्यक वर्ग ग़लत काम करते हैं।

इसलिए बहुसंख्यकोंकी बात अनसुनी कर देनी चाहिए और उन पर शक्तिका प्रयोग किया जाना चाहिए। शक्तिका यह प्रयोग बहुसंख्यकों के अपने कल्याणको ही सुरक्षित रखेगा। प्रत्यक्ष कार्यवाहीकी एक अवस्था वह भी होती है जिसमें औद्योगिक शक्तिका पूरा-पूरा प्रयोग किया जाता है। 'यह अल्पतंत्र (oligarchy) और अन्तमें निरंकुशताके परस्पर विरोधी सिद्धान्तोंकी स्पष्ट रूपसे मान्यता स्थापित करना है।'

एच० जी० वेल्स (H. G. Wells) का विश्वास है कि आजकल संसदीय लोकतंत्र (parliamentary democracy) द्वारा विकसित होनेवाले राजनीतिक विधानों और राजनीतिज्ञोंके प्रति अविश्वास और असन्तोष बढ़ता जा रहा है। उनका कहना है कि अब आम चुनावों द्वारा सरकार बनानेकी पद्धतिका जादू समाप्त हो गया है और 'लोकतंत्र प्रत्यालोचनके एक ऐसे युगमें प्रवेश कर रहा है जिसमें हमारी आजकी परिचित संसदों, संसदात्मक संस्थाओं और राजनीतिक जीवनका समाप्त हो जाना अनिवार्य है।' वेल्स इन सभी कठिनाइयोंका मूल कारण सार्वजनिक मसलोंके प्रति जनसाधारणकी उदासीनता, अज्ञानता और असमर्थतामें पाते हैं। उनका विश्वास है कि साधारण मतदाताको अपने मतकी 'बिल्कुल परवाह' नहीं होती।

लोकतंत्रके विरोधियोंमें वे लोग प्रमुख हैं जो 'सर्वोत्तम' *(elite)* द्वारा शासनके सिद्धान्तमें विश्वास रखते हैं। उनके अनुसार लोकतंत्रकी नींव सरासर ग़लत मान्यताओं या आदर्शों पर आधारित है। लोकतंत्र यह मान लेता है कि सामान्य नागरिक राजनीतिक मसलों और उनकी जटिलताओंको समझता है और उसमें स्वयं शासन करनेकी क्षमता है। 'सर्वोत्तम द्वारा शासन' सिद्धान्तको माननेवाले इन दोनों बातोंको ग़लत बताते हैं। उनका कहना है कि ज्यादातर लोग राजनीतिक प्रश्नोंको नही समझते और वे स्वयं अपना शासन करनेमें बिल्कुल अयोग्य होते हैं। इसलिए शासनकी बागडोर कुछ बुद्धिमान और समर्थ लोगोंके हाथोंमें होनी चाहिए।

इन सब आलोचनाओंके होते हुए यह मान लेना मूर्खता होगी कि लोकतंत्रका भविष्य उज्ज्वल है और हमारी सभी सामाजिक और राजनीतिक बराइयोंके लिए

लोकतंत्र रामबाण सिद्ध होगा। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यदि हम लोकतंत्रके उन दोषोंको दूर नहीं करते जो अधिकाधिक रूपमें सामने आ रहे हैं तो कोई दूसरी शासन-प्रणाली अवश्य ही लोकतंत्रका स्थान ले लेगी।

२. लोकतंत्र का अर्थ (The Meaning of Democracy)

लोकतंत्र केवल सरकार या शासनका स्वरूप ही नहीं है। यह राज्यका एक प्रकार और समाजकी एक व्यवस्था भी है। लोकतंत्रके शुभचिन्तकोंने कभी-कभी उसकी व्याख्या शासनके एक प्रकारके रूपमें की है। इस प्रकार जे० आर० लॉवेल (J. R. Lowell) कहते हैं कि लोकतंत्र शासनके क्षेत्रमें 'एक प्रयोग' है। लिकन इसकी परिभाषा 'जनताके लिए, जनता द्वारा, जनताका शासन' कह कर कहते हैं। सीले (Seeley) कहते हैं कि लोकतंत्र 'वह शासन है जिसमें हर व्यक्ति भाग लेता है।' डायसी (Dicey) लोकतंत्रको सरकारका एक ऐसा स्वरूप बताते हैं 'जिसमें शासन सत्ता जनताके एक बड़े भागमें निहित रहती है।' अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'आधुनिक लोकतंत्र' (Modern Democracies) में लॉर्ड ब्राइस (Lord Bryce) भी लोकतंत्रको सरकारका एक प्रकार मात्र मानते हैं। इस सबको देखते हुए हम कह सकते हैं, 'परमात्मा हमारे मित्रोंकी रखवाली करे, हम अपने शत्रुओंसे निबट लेंगे।'

लोकतंत्र सरकारका केवल एक स्वरूप मात्र नहीं है। लोकतंत्रात्मक सरकार का अर्थ है लोकतंत्रात्मक राज्य परन्तु लोकतंत्रात्मक राज्यका मतलब यह नहीं है कि उसकी सरकार भी आवश्यक रूपसे लोकतंत्रीय हो। एक लोकतंत्रात्मक राज्यमें सरकार लोकतंत्रीय, निरंकुश अथवा राजतंत्रीय किसी भी प्रकार की हो सकती है। वह चाहे तो सर्वोच्च अधिकार-सत्ता किसी एक अधिनायकके हाथोंमें सौंप दे जैसा कि अमरीकामें संकट-कालमें राष्ट्रपतिको अधिकार देकर किया जाता है। जैसा कि हर्नशॉ ने कहा है, लोकतंत्रात्मक राज्यका मतलब केवल इतना है कि पूरे समाजको अन्तिम सम्प्रभु शक्ति प्राप्त रहती है और वह सभी मामलों पर अन्तिम नियंत्रण रखता है। 'राज्यके एक प्रकार के रूपमें लोकतंत्र किसी सरकारको नियुक्त करने, उसका नियंत्रण करने और उसे बरखास्त करनेकी एक पद्धति मात्र है।'

सरकारका एक विभेद और राज्यका एक प्रकार होनेके साथ-साथ लोकतंत्र समाजकी एक व्यवस्था भी है। एक लोकतंत्रीय समाज वह समाज है जिसमें समानता और बन्धुत्वकी भावना प्रधान हो। पर यह जरूरी नहीं है कि ऐसे समाज में एक लोकतंत्रात्मक राज्य या लोकतंत्रात्मक सरकार भी हो। मुस्लिम समाज आमतौर पर लोकतंत्रात्मक है यद्यपि साधारणतया उसमें न लोकतंत्रात्मक राज्य है और न लोकतंत्रात्मक सरकार। पाकिस्तानका नया राज्य अपनेको इस्लामी गणतंत्र कहता है परन्तु बहुत-से लोगोंकी रायमें धर्मतंत्र और गणतंत्रवाद या लोकतंत्र एक दूसरेके विरोधी हैं।

लोकतंत्रको शासन व सरकारका एक विभेद, राज्यका एक प्रकार और समाजकी एक व्यवस्था समझना ही पर्याप्त नहीं है। उद्योगके क्षेत्रमें भी उसका प्रसार होता है। आज अनेक लोग ऐसे हैं जिनका कहना है कि लोकतंत्रका प्रसार तब तक समाप्त नहीं होगा जब तक कि उद्योगोंका भी पूरा-पूरा लोकतंत्रीकरण नहीं हो जाता। उनका कहना है कि सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रोंमें तो लोकतंत्र ने बड़ी प्रगति की है पर आर्थिक या औद्योगिक क्षेत्रमें उसकी प्रगति बहुत कम है। इनमें से कुछ लोग समाजवादको लोकतंत्रकी अगली अवस्था बताते हैं। उनका यह कहना चाहे ठीक हो या ग़लत, इतना तो हमें मानना ही होगा कि कोई भी समाज अपनेको तब तक पूर्ण रूपसे लोकतंत्रीय नहीं कह सकता जब तक जीवनके कुछ क्षेत्रोंमें वह लोकतंत्रीय पद्धति का उपयोग करता है और कुछ क्षेत्रोंमें स्वेच्छाचारी पद्धतिका।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके सम्बन्धमें मैक्सी (Maxey) लिखते हैं कि बीसवीं शताब्दीमें लोकतंत्र एक राजनीतिक सिद्धान्त, एक शासन-पद्धति या एक सामाजिक व्यवस्था मात्र नहीं है। 'यह एक ऐसी जीवन-पद्धतिकी खोज है जिसमें न्यूनतम बलप्रयोग या दबावसे व्यक्तिकी स्वतः प्रेरित स्वतंत्र बुद्धि और उसके कार्यकलापका मेल बैठाया जा सके और यह विश्वास है कि ऐसी पद्धति समग्र मानव जातिके लिए आदर्श पद्धति होगी जो मनुष्यकी प्रकृति और विश्वकी प्रकृतिके साथ अधिकतम सामंजस्य स्थापित करेगी' (Political Philosophies, पृ० ६९०)।

लोकतंत्रके प्रत्यक्ष और प्रतिनिधिमूलक स्वरूप. संकीर्ण अर्थोंमें लोकतंत्र अनेक लोगों द्वारा शासन है।[1] लोकतंत्रका प्रारम्भ यूनानके प्राचीन नगर राज्योंमें हुआ था। इन सभी नगर राज्योंको स्थानीय स्वशासन प्राप्त था। इन्होंने राजतंत्र, निरंकुश शासन, कुलीनतंत्र, वर्गतंत्र और लोकतंत्र आदि सरकारके विभिन्न रूपोंके प्रयोग किये थे। इस प्रश्न पर भी पर्याप्त विचार किया गया था कि इनमें कौन सबसे अच्छा है। सभीके पक्ष और विपक्षके तर्कों पर विचार करनेके बाद अरस्तू ने अपना निर्णय लोकतंत्रके संयमित स्वरूपके पक्षमें दिया था। यूनानके नगर राज्योंका लोकतंत्र शुद्ध अथवा प्रत्यक्ष लोकतंत्र था। सभी स्वतंत्र व्यक्ति (freemen) आम सभाओंमें एकत्र होते, क़ानून बनाते और उन्हें कार्यान्वित करते, राजदूतों से मिलते और जूरियोंकी भाँति काम करते थे। इस प्रकारके लोकतंत्रका पुनर्जन्म मध्ययुगमें इटलीके नगर राज्योंमें हुआ था। स्विटज़रलैण्डके फॉरेस्ट कैण्टनों (forest cantons) में भी प्रत्यक्ष लोकतंत्र था और आधुनिक समय तक बना हुआ है। १८ वीं शताब्दीमें रूसो इस प्रकारके शासनके प्रबल समर्थक थे। वह अप्रत्यक्ष

---

[1] इस प्रकार ब्राइस लोकतंत्रका प्रयोग 'एक ऐसी सरकार जिसमें योग्य नागरिकोंके बहुमतकी इच्छासे शासन होता है,' के अर्थमें करते हैं। यह योग्य नागरिक जनता का बहुत बड़ा भाग—मोटेतौर पर तीन-चौथाई भागसे अधिक—होते हैं जिससे कि जनताकी शारीरिक शक्ति उसके मत देनेकी शक्तिके बराबर हो जावे (Modern Democracies, खं० १, पृ० २६)।

अथवा प्रतिनिधिमूलक लोकतंत्रको बुरा मानते थे। परन्तु आधुनिक परिस्थितियोंमें एक बड़े पैमाने पर प्रत्यक्ष लोकतंत्रकी सफलतामें आनेवाली कठिनाइयोंका उन्होंने भी अनुभव किया था। इस प्रकार वह कहते हैं कि शुद्ध लोकतंत्रके लिए अनेक चीज़ों की आवश्यकता है जिनका एक साथ होना कठिन है। ये आवश्यकताएँ निम्नलिखित हैं:

(१) एक छोटा राज्य जिसके नागरिक आसानीसे एक जगह एकत्र हो सकें और जिसमें हर नागरिक दूसरे नागरिकोंको आसानीसे पहचान सके;

(२) व्यवहारकी अत्यधिक सादगी;

(३) पद, प्रतिष्ठा और सम्पत्तिमें पर्याप्त समानता; और

(४) बहुत कम, विलास या विलास-हीनता।

हमारा आधुनिक अनुभव यह सिद्ध करता है कि शुद्ध और अप्रत्यक्ष लोकतंत्र एक ऐसा लक्ष्य है जो प्राप्त नहीं किया जा सकता। अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधिमूलक लोकतंत्र ही आज हमारे लिए सम्भव है। इसके अनुसार वास्तविक शासन जनताके हाथोंसे लेकर प्रतिनिधियोंके हाथोंमें सौंप दिया जाता है। कुछ आधुनिक राज्योंमें प्रचलित लोकमत-संग्रह (referendum), उपक्रम (initiative) और प्रत्यावर्तन (recall) की प्रणालियाँ ही आजकल प्रत्यक्ष लोकतंत्रका निकटतम स्वरूप हैं। परन्तु ये तरीक़े सब जगह काममें नहीं लाये जा सकते। कुछ अन्य साधन जो बहु-प्रचलित हैं, इस प्रकार हैं—निर्वाचक-मण्डलको व्यापक बनाना, बार-बार चुनाव करना और स्थानीय स्वशासनकी व्यवस्था। लोकतंत्र और संसदीय शासन अनिवार्यतः एक ही चीज़ नहीं हैं यद्यपि इंगलैण्ड और उसके राजनीतिक आदर्शको अपनानेवाले दूसरे देशोंमें लोकतंत्र और संसद एक दूसरेसे अविच्छिन्न रूपसे जुड़े हुए हैं।

सरकारके प्रकार. पुराने समयसे चले आनेवाले सरकारोंके राजतंत्र, कुलीनतंत्र और लोकतंत्रमें वर्गीकरणका आज हमारे लिए अधिक महत्व नहीं है। आजकलकी अधिकांश सरकारें मिश्रित प्रकारकी होती हैं। उनमें राजतंत्रीय, कुलीनतंत्रीय और लोकतंत्रीय तत्व भिन्न-भिन्न मात्रामें रहते हैं। इंगलैण्डका संविधान ऊपरसे देखने पर राजतंत्रात्मक मालूम होता है पर मौलिक रूपसे वह लोकतंत्रात्मक है और साथ ही कुलीनतंत्रकी भी उस पर गहरी छाप है। अनुभव बताता है कि एक स्वस्थ लोकतंत्रमें कुलीनतंत्रको भी स्थान मिलना चाहिए। यह कुलीन सम्पत्तिके आधार पर नहीं बल्कि बुद्धि, सामर्थ्य और चरित्रके आधार पर होने चाहिए। ब्राइस का कहना है कि वास्तवमें सभी सरकारें कुलीनतंत्रीय होती हैं क्योंकि थोड़ेसे लोग ही शासनका संचालन करते हैं।

आजकल विभिन्न प्रकारकी लोकतंत्रात्मक सरकारें हैं। ब्राइस कहते हैं:

१. लोकतंत्रीय सरकारें एक गणतंत्र या नाममात्रके राजतंत्रके अधीन रह सकती हैं।

२. वे एक आनम्य (flexible) या अनम्य (rigid) संविधानके अधीन रह सकती हैं।

पर उन सबका आधार सार्वजनिक सम्प्रभुता है। इसके परिणाम स्वरूप इन सब प्रणालियोंमें राजस्व वसूल करने और राज्यकी विभिन्न सेवाओंमें उसे खर्च करने का अधिकार जनताके प्रतिनिधियोंको रहता है।

लोकतंत्रका व्यापक अर्थ. अपने व्यापक अर्थमें लोकतंत्र 'एक राजनीतिक स्थिति' 'एक नैतिक धारणा' और 'एक सामाजिक परिस्थिति' है। लोकतंत्रका अर्थ है, सामान्य मनुष्यमें विश्वास। अथवा ए० डी० लिण्डसे (A. D. Lindsay) के अनुसार इसका अर्थ है कि सभी मनुष्योंका अपना-अपना महत्व है। कोई भी किसी दूसरेकी उद्देश्य सिद्धिका साधन-मात्र नहीं है। इस सम्बन्धमें काण्ट का प्रसिद्ध सूत्र यह है, 'ऐसा व्यवहार करो जिसमें तुम्हारी अपनी या किसी अन्य व्यक्तिके मनुष्यत्वका उपयोग हर हालतमें एक उद्देश्यके रूपमें हो सके और उसका उपयोग केवल एक साधन के रूपमें कदापि न हो।' १७ वीं शताब्दीके एक कम प्रसिद्ध लेखकके शब्दोंमें 'इंगलैण्ड के ग़रीब से ग़रीब व्यक्तिको भी वैसा ही जीवन व्यतीत करना है जैसा कि सबसे धनी व्यक्ति को।' (५३)

लोकतंत्रमें व्यक्तित्वको अत्यधिक महत्व दिया जाता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सभी व्यक्ति एक समान या बराबर हैं। लोकतंत्रमें समानताके सिद्धान्त या समानताकी भावनाका प्राकृतिक असमानताके साथ सामंजस्य करनेका प्रयत्न किया जाता है। लोकतंत्र इस बातकी कोशिश करता है कि एक 'ऐसी सामाजिक व्यवस्थाकी स्थापना हो जिसमें व्यक्तिको उन्नति और अभिव्यक्तिके लिए अनुकूल अवसर प्राप्त हो सकें।' सी० डी० बर्न्स (C. D. Burns) कहते हैं कि व्यवहारमें लोकतंत्र यह मानता है कि सभी व्यक्ति समान हैं और इस मान्यताका प्रयोग सर्वोत्तम व्यक्तियोंकी खोजके लिए किया जाता है।

प्रो० स्मिथ (Prof. Smith) का कहना है कि इस दृष्टिसे देखने पर लोकतंत्र एक धार्मिक सिद्धान्त है और लोकतंत्रीय जीवन ही सच्चा धार्मिक जीवन है। हमारा विश्वास है कि लोकतंत्र मानवताके प्रति हमारे उत्साहका व्यावहारिक प्रदर्शन है। स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्वके परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले सिद्धान्तके समन्वयकी ओर यह एक ठोस प्रयत्न है। समाजके हर व्यक्तिके लिए यह सम्भव बनाना है कि वह यथाशक्ति अपने लिए सर्वोच्च कल्याणकी सिद्धि कर सके। हम सर फ़िट्ज़जेम्स स्टीफेन (Sir Fitzjames Stephen) के इस कथनसे सहमत नहीं हैं कि 'स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्वके द्वारा जिस विचार-क्रमकी ओर संकेत किया गया है, उसके प्रति विवेकपूर्ण उत्साहके लिए कोई अवसर शेष नहीं रह जाता; क्योंकि····अनेक ऐसी बातें हैं जिनके बारेमें मनुष्यको स्वतंत्रता मिलनी ही नहीं चाहिए। मनुष्य मौलिक रूपसे असमान हैं; वे परस्पर बन्धु तो हैं ही नहीं और यदि हैं तो ऐसे प्रतिबन्धोके साथ कि उनके बन्धुत्वका दावा महत्वहीन हो जाता है।'

३. लोकतंत्र के समर्थन में शास्त्रीय तर्क

लोकतंत्रके व्यावहारिक दोषों पर थोड़ी देरके लिए ध्यान न देकर हम यह देखना चाहते हैं कि लोकतांत्रिक सिद्धान्तके पक्षमें कौनसे तर्क दिये जा सकते हैं। ये तर्क इस प्रकार हैं:

(१) पूर्वाविधान-मूलक तर्क (The precautionary reason);
(२) मनोवैज्ञानिक तर्क (The psychological reason);
(३) शिक्षा सम्बन्धी तर्क (The educational reason);
(४) नैतिक तर्क (The moral reason); और
(५) व्यावहारिक तर्क (The practical reason)।

प्रथम तीन तर्कोंकी पूरी-पूरी विवेचना प्रो० डब्ल्यू० ई० हॉकिंग (Prof. W. E. Hocking) ने इस प्रकार की है:

(१) **पूर्वाविधानमूलक तर्क.** लोकतंत्र हमें इस बातका विश्वास दिलाता है कि समाजके हर व्यक्तिकी इच्छा पर यथोचित विचार किया जायगा और सरकार द्वारा जो कुछ भी किया जायगा उसमें किसी भी व्यक्तिकी अवहेलना नहीं की जायगी। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि लोकतंत्र हर व्यक्तिकी इच्छाओंको कार्यान्वित करने का वचन देता है, क्योंकि यह तो किसी भी समाजमें असम्भव है। इसका मतलब तो यह है कि 'गरीबसे गरीब व्यक्ति' को भी अपनी इच्छा प्रकट करनेकी उतनी ही स्वतंत्रता मिलेगी जितनी 'धनीसे धनी व्यक्ति' को। यदि दक्षता ही अच्छी सरकारकी एकमात्र कसौटी होती तो नौकरशाही या तानाशाही लोकतंत्रकी अपेक्षा अच्छी व्यवस्थाएँ होतीं। पर कार्यदक्षता ही एकमात्र कसौटी नहीं है। नागरिकोंको यथासम्भव सर्वोत्तम बनानेवाली सरकार ही सर्वोत्तम सरकार है। यदि हम अपने शासकोंका चुनाव ठीक-ठीक कर सकें तो निरंकुश-शासन या नौकरशाही बहुत सन्तोषजनक ढंगसे काम कर सकती है। पर इस प्रकारकी सरकारोंमें कठिनाई यह है कि वे समाजके किसी वर्गसे विशेष रूपसे सहानुभूति नहीं रखतीं। निरंकुश शासन या नौकरशाही में व्यक्तियों और व्यक्ति समूहोंको जहां-तहां कष्ट हो सकता है पर शेष समाज पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पर दूसरी ओर लोकतंत्रमें, कमसे कम सैद्धान्तिक रूपसे, एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं हो सकता जिसे कोई कष्ट हो और शेष समाज उसके कष्टमें साझीदार न बने। दूसरे शब्दोंमें निरंकुश शासन या नौकरशाहीमें एक भागकी उपेक्षा की जाती है। इसके विपरीत यह कहा जाता है कि लोकतंत्र अपने सभी सदस्योंकी इच्छाओं और उनके कष्टोंका अनुभव करता है। निरंकुश शासन तथा नौकरशाहीमें सरकारकी ओरसे जनताको अनेक आदेश और विनियम दिये जाते हैं जिनका पालन करना उसके लिए अनिवार्य होता है परन्तु जनताकी इच्छा और सम्मतिको जाननेका प्रयत्न बहुत कम किया जाता है। प्रो० हॉकिंग का कहना है कि लोकतंत्र व्यक्ति और केन्द्रके बीच एक सम्बन्ध सूत्र

स्थापित कर देता है। उसमें बहिर्गामी सम्बन्धोंकी जितनी संख्या होती है उतनी अन्तःगामी सम्बन्धोंकी भी होती है। 'एक पूर्ण लोकतंत्रमें कोई भी यह शिकायत नहीं कर सकता कि उसे अपनी बात कहनेका अवसर नहीं मिला।' (ए० एल० लॉवेल)

(२) **मनोवैज्ञानिक तर्क.** जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कार्यदक्षता ही प्रयाप्त नहीं है। हृदयदीन कार्यदक्षता ने ही रोमको समाप्त कर दिया। हर प्रकार की सरकारमें हमारा प्रयत्न यही होगा कि शासन विशेषज्ञों द्वारा हो। पर विशेषज्ञ जनताकी पूरी इच्छाओं व सम्मतियोंको नहीं जानते। विशेषज्ञता मस्तिष्क को जकड़ देती है। विशेषज्ञ विषयके अपने पक्षको भली-भांति जानता है। पर उसे हमेशा इस बातका ज्ञान नहीं रहता कि उसकी तदबीरोंका जनता पर सामान्य रूपसे क्या प्रभाव पड़ता है। दर्द तो वही समझता है जिसके पैरमें कांटा चुभता है। एक अच्छे शासनके लिए यह आवश्यक है कि विशेषज्ञों और सर्वधारण मनुष्योंके बीच सहयोग और एक व्यावहारिक समझौता हो। लोकतंत्र इस आवश्यकताको सबसे अच्छे ढंगसे पूरा करता है। प्रो० हॉकिंग तो यहाँ तक कहते हैं कि केवल अत्यन्त उच्चकोटिके शिक्षित मनुष्य द्वारा शासित होना एक दुर्योग है। ऐसे शासकके लिए एक भावसूक्ष्म सिद्धान्तवादी हो जाना, जीवनकी ठोस परिस्थितियोंसे परे दूरकी ऊँची उड़ान लेना बहुत स्वाभाविक है।

यदि एक क्षणके लिए हम विभिन्न व्यवसायोंकी ओर ध्यान दें तो हम पाते हैं कि इन क्षेत्रोंके विशेषज्ञ अब सामान्य जनता पर अधिकाधिक भरोसा करने लगे हैं। जो डॉक्टर अब तक एक अधिनायककी भाँति काम करता था वह अब रोगीको सहयोगी बनाकर इस बातका प्रयत्न करता है कि रोगी स्वयं अपनेको अच्छा कर ले। इसी प्रकार संगीतका विशेषज्ञ संगीत-शास्त्रके नियमोंको सिखाकर ज्ञान भी देता है ; साथ ही अच्छे संगीतकी धारणाके सम्बन्धमें जनताके निर्णय पर भी ध्यान देता है और अपना एक पक्षीय निर्णय नहीं देता कि जनताको कैसा संगीत पसन्द करना चाहिए। इसी प्रकार लोकतंत्र भी साधारण व्यक्तिको सार्वजनिक समस्याओंके सार्वजनिक हल ढूंढ़नेमें सरकारसे सहयोग करनेके लिए आमंत्रित करता है। लोकतंत्रका पहला काम यह है कि वह जनताके प्रश्न 'क्यों' का समाधान करे और जब वह ऐसा कर देता है तभी सरकार और जनताके बीच एक सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। व्यक्ति चुपचाप स्वीकृति देनेवालेके बजाय एक सक्रिय सहयोगी बन जाता है। प्रो० हॉकिंग कहते हैं, 'लोकतंत्र चेतन और उपचेतन मनकी एकता है।'

(३) **शिक्षा-सम्बन्धी तर्क.** लोकतंत्र सार्वजनिक शिक्षाके क्षेत्रमें एक व्यापक प्रयोग है। यह जनसाधारणमें अभिरुचि पैदा करता है और ज्ञान बढ़ाता है। जिन लोगों पर लोकतंत्रका शासन होता है उनमें वह एक उच्च कोटिकी मनोवृत्ति पैदा करता है। जब कभी आम चुनाव होता है तब सभी उचित समितियोंको अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है। समस्याओंका सभी दृष्टिकोणोंसे विवेचन होता है और जो बातें व्यक्तिगत थीं वे सार्वजनिक हो जाती हैं। भाषण दिये जाते हैं, लेख लिखे जाते

हैं, योजनाएँ बनायी जाती हैं और विभिन्न नीतियोंकी व्याख्या होती है। फलतः सरकार व शासन-सम्बन्धी समस्याओंके विषयमें जनताका ज्ञान बहुत बढ़ जाता है। कुछ ही दिनों या सप्ताहोंमें जनता तत्कालीन समस्याओंसे भली-भाँति परिचित हो जाती है। काफी बहस, सोच-विचार और निर्णयके बाद चुनाव किया जाता है। सभीके दृष्टिकोण और विचार परिवर्तित, स्पष्ट और शुद्ध हो जाते हैं। प्रारम्भमें यदि जितने व्यक्ति उतने ही विचार होते हैं तो अन्तमें हम एक लोक-सम्मति या सार्वजनिक इच्छा तक पहुँच जाते हैं। हर व्यक्तिका मस्तिष्क अधिक व्यापक और विकसित हो जाता है। शासनका धीमा-धीमा प्रभाव उसमें भाग लेनेवालों पर यह होता है कि उनका मानसिक स्तर ऊपर उठ जाता है। सी० डी० बर्न्स लिखते है: 'सभी प्रकारका शासन शिक्षा प्रदान करनेकी एक पद्धति है, पर आत्म-शिक्षा ही सर्वोत्तम शिक्षा है; इसलिए सर्वोत्तम शासन स्वशासन है जो लोकतंत्र ही है।'

(४) **नैतिक तर्क.** लोकतंत्र जनताका नैतिक उत्थान करता है। लोकतंत्र इस सिद्धान्त पर आधारित है कि किसी व्यक्तिके लिए स्वयं अर्जित वस्तुका मूल्य दूसरे द्वारा की गयी वस्तुसे कहीं अधिक है। लोकतंत्र स्वावलम्बन, प्रेरणा और व्यक्तिगत उत्तरदायित्वकी भावनाको सबसे अधिक बल देता है। जे० एस० मिल कहते हैं, 'अन्य किसी भी शासन प्रणालीकी अपेक्षा लोकतंत्र एक उत्तम और उच्च कोटिके राष्ट्रीय चरित्रका विकास करता है। संयुक्त-राज्य अमरीकामें लोकतंत्रके कारण मानव सहानुभूतिका विस्तार और विकास हुआ है। लोकतंत्रके विकासके परिणाम स्वरूप अमरीकामें लोकोपकारकी भावना बढ़ी है और राजस्वके अनुसार जनताके लिए शिक्षाकी सुविधाजनक व्यवस्था की गयी है। प्रेसीडेण्ट लॉवेल ठीक ही कहते हैं कि किसी भी सरकारकी उत्तमताकी कसौटी शान्ति और व्यवस्था, आर्थिक समृद्धि या न्याय नहीं है बल्कि यह कसौटी है, 'राज्य व्यवस्थाको स्थिर रखनेवाला नागरिकोंका वह चरित्र जिसका निर्माण शासन-प्रणाली करती है। अन्तिम रूपमें सबसे अच्छा शासन वह है जो एक जातिकी नैतिकता, उसकी शक्तिशीलता, उसके परिश्रम, आत्मनिर्भरता और साहसको दृढ़ बनाता है।' यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि लोकतंत्र अपनी सर्वोच्च स्थितिमें इस कसौटी पर खरा उतरता है। इसी प्रकार ब्राइस कहते है कि राजनीतिक मताधिकार द्वारा नागरिकोंका महत्त्व बढ़ जाता है। हम कह सकते हैं कि लोकतंत्र मनुष्यके सर्वांगीण विकासमें सहायक है। किसी भी अन्य प्रकारके शासनमें आत्म-सिद्धि इतनी आसान नहीं है जितनी कि लोकतंत्र में।

(५) **व्यावहारिक तर्क.** व्यावहारिक दृष्टिकोणसे लोकतंत्रके निम्नलिखित लाभ हैं:

(क) यह देश-प्रेमकी भावनाको बढ़ाता है। जिस व्यक्तिको मताधिकार प्राप्त नहीं होता है उसका राजनीतिक प्रश्नोंकी ओरसे उदासीन हो जाना स्वाभाविक है। साधारण मनुष्य अपने देशकी समस्याओंके प्रति सच्ची रुचि इसलिए लेता है कि वह जानता है कि यदि तत्कालीन सरकार लोकमतकी ओर ध्यान नहीं देती है तो उसे

तुरन्त ही बदला जा सकता है। लेवलेये (Leveleye) का कहना है कि फ्रांसके लोगों को क्रान्तिके बाद जब शासनमें भागीदार बनाया गया तभीसे उन्होने फ्रांसको सच्चे हृदयसे प्यार किया, उसके पहले नहीं। क्रान्तिके बादसे ही फ्रांसकी जनता कट्टर देश भक्त है।

(ख) लोकतंत्र देश प्रेमकी भावनाको दृढ़ करता है और इस कारण क्रान्तिके खतरेको कम करता है। लोकतंत्रका आधार है जनताको समझा-बुझाकर उसकी स्वीकृतिसे शासन करना। हर दूसरे प्रकारका शासन शक्ति पर ही आधारित होता है; उसका प्रयोग चाहे कम मात्रामें हो या अधिक मात्रामें। लोकतंत्र विवाद और विचार-विमर्शमें विश्वास करता है और यही ढंग अन्तमें सफल होगा। जैसा हर्नशॉ कहते हैं, 'जनताको शिक्षित करनेमें और अपने मतानुकूल बनानेमें समय चाहे जितना लग जाय पर केवल शिक्षा और मतपरिवर्तनके द्वारा ही कोई उद्देश्य अन्तिम रूपमें सफल हो सकता है।' जनप्रिय सरकारके लिए यह एक अनन्त गौरवकी बात है कि उसका आधार भाषण-स्वातंत्र्य, सभा करनेकी स्वतंत्रता और सामूहिक कार्य है।

इसके अतिरिक्त लोकतंत्र ही एक ऐसी शासन-पद्धति है जिसमें व्यवस्था और प्रगति दोनों साथ-साथ आसानीसे चल सकती हैं। इससे क्रान्तिकी सम्भावना पर एक और रोक लगती है। तानाशाहीमें व्यवस्था तो रहती है पर अधिक प्रगति नहीं होती। जो कुछ थोड़ी बहुत प्रगति होती भी है वह एक व्यक्ति द्वारा अथवा एक छोटे से अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा निर्धारित होती है और उसके पीछे सम्भवतः जनताका कोई समर्थन नहीं होता।

लोकतंत्र क्रान्तिको एक और ढंगसे रोकता है। वह ढंग है समानताके सिद्धान्त पर जोर देना। लोकतंत्रमें कोई गहरा सामाजिक विभेद नही होता और प्रतिभाके लिए विकासका रास्ता खुला रहता है। अन्य प्रकारकी शासन व्यवस्थाओंमें जो सामाजिक असमानता और सामाजिक असन्तोष रहता है वह उचित अवसर पाने पर क्रान्तिका रूप धारण कर लेता है।

(ग) कुछ लोगोंका दावा है कि अन्य किसी प्रकारकी शासन प्रणालीकी अपेक्षा लोकतंत्रमें कार्यदक्षता अधिक होती है। उनका तर्क यह है कि 'अन्य किसी प्रकारकी सरकारकी अपेक्षा आमचुनाव, सार्वजनिक नियंत्रण और सार्वजनिक उत्तरायित्वसे उच्चकोटिकी कार्यदक्षता अधिक सम्भव है (२३ : ३९०)।'

(घ) सार्वजनिक इच्छा या लोक-सम्मतिके सिद्धान्तका व्यावहारिक अर्थ यही है कि वह अपनेको लोकतंत्रात्मक संगठनके रूपमें अभिव्यक्त करे। हम इस बातको अस्वीकार नहीं करते कि कुछ विशेष परिस्थितियोंमें लोक-सम्मतिकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति केवल एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियोंके मतसे हो सकती है; पर, सामान्य रूपसे उसके लिए लोकतंत्रीय संगठनकी आवश्यकता है।

४. लोकतंत्र के विरुद्ध तर्क

सैद्धान्तिक रूपसे लोकतंत्रमें चाहे जितने गुण हों पर इसमें सन्देह नहीं कि दैनिक व्यवहारमें इसमें अनेक बुराइयाँ भी मिलती हैं। इसके समर्थकोंने प्रारम्भमें इससे जो आशाएँ की थीं वे पूरी नहीं हुई हैं। लोकतंत्रकी जो अनेक आलोचनाएँ उसके शत्रुओं और मित्रों दोनोंके द्वारा की गयी हैं उनका मूल्यांकन हम इस समय नहीं करेंगे बल्कि केवल उनके महत्त्वके अनुसार उनकी चर्चा करेंगे।

(१) प्रारम्भमें लोकतंत्र पर कुलीन वर्गकी ओरसे प्रहार हुए। बहुत-से लोगोंकी धारणा थी कि लोकतंत्रका मतलब है, 'उत्तरदायित्वहीन भीड़का शासन।' अरस्तू लोकतंत्रको वैधानिक शासनका भ्रष्ट रूप मानते थे। मिल बहुमतकी निरंकुशतासे भयभीत थे। लेकी (Lecky) का विचार था कि लोकतंत्र स्वतंत्रताके विरुद्ध है। आज भी ऐसे बहुत-से लोग हैं जो कहते हैं कि लोकतंत्रमें गुणकी अपेक्षा संख्याको अनावश्यक और अनुचित महत्त्व दिया जाता है। मत गिने जाते हैं, परखे नहीं जाते। विशेष प्रशिक्षण, विवेकपूर्ण निर्णय और विशेषज्ञताको बहुत कम महत्त्व दिया जाता है। हर व्यक्तिको हर दूसरे व्यक्तिके बराबर मानना ही लोकतंत्रका आधार है। इसका व्यावहारिक परिणाम यह होता है कि शासन सूत्र अनजान, अशिक्षित और अयोग्य व्यक्तियोंके हाथोंमें चला जाता है। लोकतंत्र संख्याको अत्यधिक महत्त्व देता है। इसमें लोगोंके सिर ही गिने जाते हैं और इस बातकी चिन्ता नहीं की जाती कि खोपड़ियोंके भीतर क्या है। लोकतंत्र भीड़का शासन है। उसमें बहुमत सर्वोपरि होता है, वह चाहे जितना संकीर्ण हो। उच्चतर ज्ञान और विवेक होने पर भी अल्पमतकी अवहेलना की जाती है। लोकतंत्रमें प्रभावपूर्ण उत्तरदायित्वकी व्यवस्था कर सकना कठिन है। आम चुनाव, अल्प कार्यकाल और बारी-बारीसे पदाधिकार आदिसे उत्तरदायित्वकी स्थापनामें सहायता नहीं मिलती। लोकतंत्रका अर्थ है सामान्य व्यक्तियों द्वारा अर्थात् सीमित दृष्टिकोणवाले व्यक्तियों द्वारा शासन। इसमें भीड़ मनोवृत्ति प्रकट करनेका पूरा-पूरा अवसर दिया जाता है। सारांश यह है कि चंचल बुद्धिवाले, भावावेशमें बह जानेवाले और बुद्धिहीन लोगोंको शासन करने का इसमें पूरा-पूरा अवसर रहता है।

(२) कुछ अन्य लोग भिन्न दृष्टिकोणसे तर्क करते हैं। उनका कहना है कि लोकतंत्रका परिणाम होता है निकृष्ट कोटिका वर्गतंत्र। टेलीरैण्ड (Talleyrand) लोकतंत्रको 'दुष्ट लोगोंका कुलीनतंत्र' (an aristocracy of blackguards) मानते हैं। लोकतंत्रमें अधिकार सत्ता दुष्ट नेताओं, इधर-उधर दाँवपेंच करनेवालों और दलोंके अधिपुरुषोंके हाथोंमें रहती है। उच्च कोटिके नेता नहीं चुने जाते। लोग अपने से अच्छे लोगोंसे ईर्ष्या रखते हैं इसलिए वे समर्थ व्यक्तियोंके बजाय जनप्रिय लोगोंको अपना नेता चुनते हैं। इतिहासमें ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जबकि लोगोंने वुड्रो विल्सन और वेनजेलॉस (Venezelos) जैसे उच्च कोटिके व्यक्तियोंको अस्वीकार करके

मध्यम और निम्न कोटिके ऐसे व्यक्तियोंको चुन लिया जो अपनेको लोकप्रिय बनानेमें बहुत चतुर थे। इससे यह सिद्ध होता है कि लोकतंत्रमें नेता बननेके लिए अपेक्षित गुण यही है कि वह एक अच्छा मनोवैज्ञानिक हो, समझौता करा सकनेवाला हो और आवश्यकता पड़ने पर स्वयं अपने सिद्धान्तोंको छोड़ सकता हो। प्रायः समर्थ और प्रशान्त व्यक्ति पीछे छोड़ दिये जाते हैं। परिणाम यह होता है कि योग्य और कुशल व्यक्ति चुनावके लिए खड़े ही नहीं होते। लोकतंत्रके विरुद्ध लिखते हुए मैक्सी (Maxey) कहते हैं कि लोकतंत्र बड़ी आसानीसे उत्तेजनात्मक प्रचारकों, अधिपुरुषों और दबाव डालनेवाली कुटिल राजनीतिका शिकार हो जाता है।

यह कहा जाता है कि साधारण मतदाताको राज्यके मसलोंमें कोई रुचि नहीं होती। जिन विषयों पर विवाद होता है उनमें से सभी विषयोंके बारेमें कोई लोक-सम्मति या सामान्य दृष्टिकोण नहीं होता। अनेक लोकतंत्रीय देशोंमें मतदाताओंकी उदासीनता प्रसिद्ध है। जब कभी कोई चुनाव होता है तब लोगोंको उनके कार्यालयों, या दफ़्तरोंसे ज़बरदस्ती मत देनेके लिए लाया जाता है। यह हिसाब लगाया गया है कि अमरीकामें मताधिकार प्राप्त लोगोंमें से लगभग पचास प्रतिशत ही मत देते हैं।[1] अमरीकाके एक राज्यके चुनावमें केवल ६ प्रतिशत मतदाताओंने मत दिये थे। इस प्रकारकी उदासीनताका नतीजा यह होता है कि शक्ति कुछ ऐसे अविवेकी लोगोंके हाथमें चली जाती है जो लम्बे-चौड़े वादों और झूठे-सच्चे तर्कोंसे जनताको बहलाने और उसका शोषण करनेके लिए हमेशा तैयार रहते हैं।

(३) इसी तर्कसे मिलता-जुलता एक दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि व्यावहारिक तौर पर लोकतंत्रका अर्थ है दलबन्दीकी राजनीतिसे पैदा होनेवाली बुराइयाँ। राजनीतिक दल वास्तवमें एक अदृश्य वर्गतंत्रका ही निर्माण करते हैं। लोकतंत्रके लिए दल व्यवस्था अनिवार्य है ; पर इससे

(क) चरित्रके खोखलेपन और असत्यताको प्रोत्साहन मिलता है

(ख) राष्ट्रीय विभेदोंको स्थानीय चुनावमें भी घसीटा जाता है

(ग) लूट-खसोटकी प्रथाका श्रीगणेश होता है; और

(घ) नैतिक मानदण्डोंका पतन होता है (७ : ख० १, अ० ११)।

दल व्यवस्था इतनी सुसंगठित होती है कि जो व्यक्ति अपने विवेकका उपयोग करना चाहता है उसे ऐसा करनेकी स्वतंत्रता या तो मिलती ही नहीं या बहुत कम मिलती है। उसे दो या अधिक ऐसे उम्मीदवारोंमें से किसी एकको चुनना होता है जो या तो दुष्ट या मूर्ख होते हैं और जिनमें से किसी एक की भी वह परवाह नहीं करता। उसे अपना निर्णय दो या तीन ऐसी समस्याओंको लेकर करना होता है जिनमेंसे किसी एकका भी वह समर्थन नहीं करता। ए० आर० लॉर्ड (A. R. Lord)

---

[1] द्वितीय विश्व-युद्धके दिनोंके बादसे आजके युगकी वर्तमान तनातनी-पूर्ण परिस्थितिके कारण स्थिति कुछ सुधर गयी है।

का कहना है, 'प्रतिनिधित्वके आलोचकोंको दल-प्रथा लोगोंकी राय जाननेके लिए इतनी अधिक यांत्रिक जान पड़ती है कि उससे किसी भी अंशमें सार्वजनिक इच्छाका सही-सही प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता (५४ : १६२)।'

(४) फ्रांसीसी लेखक फैंगवे (Faguet) लोकतंत्रको अयोग्यताका सिद्धान्त (cult of incompetence) मानते हैं। यही विचार कुछ ऐसे और लोगोंका भी है जिनके हृदयमें लोकतंत्रके विरुद्ध कोई विशेष द्वेष-भावना नहीं है। कुछ लोग तो खुले आम कहते हैं कि लोकतंत्रका अर्थ उत्तरदायित्वहीन सरकार है। वह यह भी कहते हैं कि लोकतंत्र विवेकपूर्ण नीति निर्धारित नहीं कर सकता। लोकतंत्र मंत्रियोंकी योग्यता, राष्ट्रीय सुरक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध और कूटनीतिक मसलोंमें विशेष रूपसे बहुत कमजोर रहता है। यह तो नौसिखियों या पूर्णतः अपरिपक्व लोगोंका शासन है। लोकतंत्रका आधार बहुत ही कमजोर होता है क्योंकि इसका आधार सामान्य भीड़ है जो अकृतज्ञ और भावुक होती है और भावनाकी बाढ़में बह जाती है। साधारण लोग बहुत अधिक तर्क-वितर्क नहीं करते। आज वे किसी व्यक्तिकी प्रशंसा करके उसे आसमान पर चढ़ा सकते हैं तो दूसरे दिन उसे कूड़ेकी नालीमें ढकेलनेको तैयार हो जाते हैं। सिद्धान्तों और व्यक्तियों दोनोंके ही बारेमें उनकी धारणाएँ बड़ी अस्थिर और चंचल होती हैं। किसी स्थिर और सामंजस्य-मूलक आदर्शसे वे प्रेरित नहीं होते। कभी-कभी वे आदर्शवाद और वीर-पूजाकी भावनासे प्रेरित होते हैं, 'राष्ट्रोंके आत्म-निर्णय' जैसे आकर्षक सूत्रों और 'क़ैसरको फाँसी दो' जैसे नारोंके आवेशमें वे स्थिर नहीं रह पाते। कभी वे अस्पष्टवादी बन जाते हैं और सभी प्रकारकी प्रगतिका विरोध करते हैं। वे संकीर्ण बुद्धिके होते हैं। इन आलोचकोंको कुछ लोकतंत्रीय देशोंकी जनतामें नियोगों (mandates), याचिकाओं और विरोधी-पत्रों द्वारा विवरणोंमें हस्तक्षेप करनेकी प्रवृत्ति दिखायी देती है। दूसरे देशोंमें अवहेलना और अराजकताकी प्रवृत्ति दिखायी देती है। नेताओंका अपमान किया जाता है। हर्नशॉ का कहना है कि नेताओंकी हालत उन अध्यापकोंकी तरह होती है जिनका चुनाव विद्यार्थियों द्वारा होता हो और जो विद्यार्थियों द्वारा दण्डित और पदच्युत किये जा सकते हों। बहुधा यह आरोप लगाया जाता है कि बहुमत शासनकी प्रवृत्ति हमेशा बहुमतकी निरंकुशतामें बदल जाने की होती है।[१]

(५) कुछ लोग मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे लोकतंत्रका विरोध करते हैं। उनका तर्क यह है कि लोग (मैक्सी के कथनानुसार) भेड़ों, बन्दरों और भेड़ियोंकी मनोवृत्ति वाले होते हैं। दूसरे शब्दोंमें 'वे सहज ही विश्वास कर लेनेवाले, भावावेशमें बह जाने वाले, डरपोक, असहिष्णु, अविवेकी, निर्दयी, अन्यायी, मूर्ख आदि सब कुछ होते हैं; केवल विचारवान नहीं होते।' यह भी कहा जाता है कि 'लोकतंत्रीय सरकारमें

---

[१] लोकतंत्रकी विस्तृत आलोचनाके लिए हर्नशॉ की पुस्तक 'लोकतंत्र निर्णयके द्वार पर' (Democracy at the Crossways) पढ़िये।

निश्चयहीनता, दुर्बलता, अस्थिरता और मूर्खताकी प्रवृत्ति होती है और इसका कारण होता है, जनताकी चंचलता, विचार-शून्यता और अरुचि।'

(६) लोकतंत्रको जनताका शासन बतलाया जाता है, परन्तु आलोचक पूछते हैं कि क्या वास्तवमें ऐसा ही है? वे कौन लोग हैं जिन्हें बुद्धिमत्ता, न्याय और शक्ति का स्वरूप माना जाता है? क्या इसका अर्थ निर्वाचकोंके बहुमतसे है? यदि यही बात है तो उन लोगोंको हम क्या उत्तर दे सकते हैं जिनका यह कहना है कि मत-दाताओंके बहुमतसे जनताके बहुमतका पता चलना अनिवार्य नहीं है। इंगलैण्डमें त्रिदलीय पद्धति[1] के कारण और कुछ अन्य देशोंमें प्रचलित गुट पद्धति (group system) के कारण जो लोग शासन करते हैं वे वास्तवमें बहुधा अल्पमतका ही प्रतिनिधित्व करते हैं न कि बहुमतका। और यदि यह मान भी लिया जाय कि बहुमतका मतलब देशके बहुसंख्यक लोगोंका मत है तो दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या यह आवश्यक है कि बहुमत सदैव ठीक ही हो? बहुत सम्भव है कि जनताकी आवाज़ शैतानकी आवाज़ हो। यह समझना ग़लत है कि प्रतिनिधि सदा जनताकी इच्छाका ही प्रतिनिधित्व करते हैं। वे सदैव स्वतंत्र नहीं रहते। दलगत अनुशासनका अंकुश उन पर हमेशा रहता है और वे अपने निर्वाचकोंकी अपेक्षा कभी-कभी समाचार-पत्रों और निहित स्वार्थोंसे अधिक भयभीत रहते हैं।

(७) लोकतंत्रके विरुद्ध फैगवे का एक प्रभावशाली तर्क यह है कि जीव-विज्ञान की दृष्टिसे लोकतंत्र अनुपयुक्त है। उनकी आलोचनाका मतलब यह है कि लोकतंत्र का विकासकी प्रक्रियासे मेल नहीं बैठता। उनका कहना है कि विकास-क्रममें हम ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ते हैं, हमें अधिकाधिक मात्रामें केन्द्रीकरण मिलता है; शरीरके विभिन्न अंगोंको विभिन्न कार्य सौंप दिये जाते हैं। लोकतंत्र विकास-विरोधी सिद्धान्त है क्योंकि उसमें कोई केन्द्रीय स्नायविक व्यवस्था है ही नहीं। मस्तिष्कको सम्पूर्ण शरीरके लिए विचार करने और योजना बनानेका कार्य न सौंप कर इसमें यह आशा की जाती है कि मस्तिष्क कहीं भी और सब कहीं केन्द्रित हो सकता है। फैगवे का तात्पर्य यह है कि शासनका काम बुद्धिमान वर्गतंत्र पर छोड़ देना चाहिए और बाक़ी लोगोंको उसकी आज्ञाका स्वतः पालन करना चाहिए। लोकतंत्रात्मक शासनकी व्याख्या वह अत्यधिक विकेन्द्रीकरण और असमर्थताके रूपमें करते हैं।

जीव-विज्ञान और जातिमूलक तर्क देनेवाले कभी-कभी यह दावा करते हैं कि गोरी जातियोंकी अपेक्षा गैर-गोरी जातियाँ लोकतंत्रको व्यावहारिक रूप देनेमें अक्षम हैं।

(८) लोकतंत्रके विरुद्ध एक गम्भीर आरोप यह लगाया जाता है कि यह एक बहुत ही खर्चीली शासन-प्रणली है। लोकतंत्रका अर्थ है लोकमतका निर्माण, प्रचार

---

[1] हालके कुछ वर्षोंमें उदार दलके समाप्तप्राय हो जानेसे वस्तुतः द्विदलीय पद्धतिकी पुनः स्थापना हो गई है।

और बार-बार चुनाव। इन सब कार्योंमें बहुत खर्च होता है। उदाहरणके लिए अमरीकामें हर चौथे साल राष्ट्रपतिके चुनावमें लाखों डालर खर्च हो जाते हैं। अभी हाल ही में सीनेटके एक सदस्यके चुनावमें पाँच लाख डालर का खर्चा हुआ था। जो धन रचनात्मक योजनाओंमें लगना चाहिए वह चुनाव प्रतियोगितामें और 'निर्वाचन-क्षेत्रको अनुकूल बनाने' में व्यय किया जाता है। लोकतंत्रका खर्चीलापन एक ऐसी वास्तविकता है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इसमें धनका ही नहीं समय और अवसरका भी दुरुपयोग होता है। एक आधुनिक लेखक ने लोकतंत्रकी परिभाषा एक 'अतिवर्धित समिति' (exaggerated committee) के रूपमें की है और समिति की परिभाषा हास्यजनक ढंगसे यह दी है कि जो काम एक व्यक्ति एक दिनमें कर सकता है वही काम सात आदमियों द्वारा सात दिनमें किये जानेका नाम समिति है। यह परिभाषा लोकतंत्रमें निहित अपव्ययके सामान्य सिद्धान्तकी ओर इंगित करती है। संसदात्मक सरकारका काम बहुत धीरे-धीरे होता है क्योंकि उसे लोगोंको समझा-बुझाकर बहुमत प्राप्त करना होता है। मैक्सी के अनुसार कुछ विचारक तो यहाँ तक कहते हैं कि लोकतंत्र सबसे अधिक अकुशल और खर्चीला, सबसे अधिक दलबन्दी और असहनशीलतासे भरा हुआ और प्रगतिका सबसे अधिक विरोधी या उसकी ओर से उदासीन रहता है।

(९) कुछ लोगोंने लोकतंत्रके नैतिक महत्व पर भी गम्भीर आशंका प्रकट की है। आलोचकोंका कहना है कि लोकतंत्रमें सर्वदा असत्य भाषणकी प्रवृत्ति रहती है। 'क' कहता है कि 'ख' झूठा है और 'ख' इसका प्रत्युत्तर 'क' को और भी बड़ा झूठा कह कर देता है। जनताको प्रभावित करनेके लिए समस्याओंको गँवारू रूप देकर जनप्रिय बनाया जाता है। शान्ति और सन्तुलित ढंगसे समस्याओं पर विचार नहीं किया जाता। उन पर इस ढंगसे विवाद किया जाता है जिससे अधिक मत मिल सकें। सत्य या न्यायका तो बहुत कम अथवा बिल्कुल ही ख्याल नहीं किया जाता। वोटों द्वारा जनताका समर्थन प्राप्त करना ही प्रधान लक्ष्य रहता है।

घूसखोरी और भ्रष्टाचारको लोकतंत्रकी बहु-प्रचलित बुराइयाँ बतलाया जाता है। ब्राइस ने 'राजनीतिमें सम्पत्तिका बल' (The Money Power in Politics: ९, अ० ६९) शीर्षक अध्यायमें कहा है कि ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि निर्वाचकों, विधान-मण्डलोंके सदस्यों, प्रशासकीय अधिकारियों और न्यायाधिकारियों तक ने भी धनके लोभके सामने सिर झुका दिया है। पर यह बुराई साधारणतः आजकल कम हो रही है। फिर भी भारतमें स्वाधीनताके बादसे ग़ैर-क़ानूनी आमदनीके अवसर बढ़ गये हैं और इसलिए उन अवसरोंसे लाभ उठानेवालोंकी संख्या भी बढ़ गयी है।

(१०) लोकतंत्र के विरुद्ध एक आरोप यह लगाया जाता है कि वह शिक्षाके स्थान पर अशिक्षा या कुशिक्षाका साधन है। इसमें जनताकी चापलूसी की जाती है। इससे एक अहंकारपूर्ण सर्वहारा वर्गकी उत्पत्ति होती है। इसमें जनताके दोषोंको जनतासे ही छिपाया जाता है। जनतामें समानताकी एक झूठी भावना पैदा हो जाती

है क्योंकि हर व्यक्ति यह सोचता है कि अपने देशके शासनके लिए वह उतना ही योग्य है जितना अन्य कोई व्यक्ति। इसमें किसी विशेष प्रयास या प्रशिक्षणकी आवश्यकता नहीं समझी जाती। इससे मानदण्ड गिर जाते हैं। लोग अपनेको विज्ञान, साहित्य और कलाका पारखी समझने लगते हैं। भीड़ मनोवृतिको उकसाया जाता है और जनताकी ओछी प्रवृत्तियोंमें योग देनेका प्रयत्न किया जाता है। अपने समष्टि रूपमें जनता शिक्षा, विज्ञान, साहित्य और कलाके विकासकी यदि विरोधी नहीं होती तो उस ओर से उदासीन अवश्य ही रहती है। विशिष्ट वर्गोंकी अपेक्षा सामान्य जनता वैज्ञानिक निष्कर्षोंका अधिक विरोध करती है। लोकतंत्रसे जिस सभ्यताका उदय होता है वह 'निम्नकोटिकी, साधारण और जड़' सभ्यता होती है। (बर्न्स)

इसके अतिरिक्त लोकतंत्रीय देशोंमें साक्षरताका व्यापक प्रचार तो रहता है पर इसका मतलब यह नहीं है कि उन देशोंकी जनता बुद्धिमान हो जाती है और ठीक प्रकारसे सोचने-समझने लगती है। आजकल चिन्तनके स्थान पर अधिकाधिक पढ़ने की प्रवृत्ति है। लॉर्ड ब्राइस का कहना बिल्कुल ठीक है कि जिस लोकतंत्रमें केवल पढ़ना ही सिखाया जाता है और सोचना तथा निर्णय करना नहीं सिखाया जाता, उसमें पढ़नेकी सामर्थ्यसे कोई लाभ नहीं हो सकता। सी० डी० बर्न्स व्यंगात्मक ढंग से कहते हैं कि कुछ लोग शिक्षाका उपयोग जुए सम्बन्धी समाचारों और स्वास्थ्य सम्बन्धी सूचना-पत्रोंके पढ़नेमें करते हैं ताकि वह और अधिक मादक पेय पी सकें।

(११) यह कहा जाता है कि लोकतंत्र स्वतंत्रता और व्यक्तित्वका समर्थक नहीं हैं। इसमें दखलन्दाज़ीकी प्रवृत्ति होती है जिसका सबसे अच्छा उदाहरण है हालके वर्षोंमें अमरीकाका मैकार्थीवाद (McCarthyism)। अनेक आलोचकोंने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि लोकतंत्रमें 'ऐसे विधानोंकी संख्या अधिक होती है, जो बिना अच्छी तरह सोचे-विचारे जल्दबाज़ीमें बनाये जाते हैं' (५४:६१३)। एक सामान्य प्रतिनिधि बहुधा यह सोचता है कि अपने अस्तित्वका औचित्य सिद्ध करनेका केवल यही तरीक़ा है कि कोई न कोई नया क़ानून परिनियम पुस्तकों में दर्ज हो जाय। उसे इस बातकी चिन्ता नहीं रहती कि ऐसा कोई क़ानून पहले कभी पारित हुआ है या नहीं या यह क़ानून बहुत आवश्यक और उचित है या नहीं और यह कार्यान्वित हो सकेगा या नहीं। उसे केवल वाहवाही लूटने और जिन लोगों ने उसे अपना प्रतिनिधि चुना है उनके सम्मुख अपनेको योग्य सिद्ध करनेकी चिन्ता रहती है। निस्सन्देह आधुनिक विधान-मण्डलोंमें नये-नये विधान बनानेकी एक धुन-सी रहती है।

(१२) लोकतंत्रीय देशोंमें ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब राष्ट्रीय हितोंको स्थानीय हितोंके लिए बलिदान किया गया (५४:१६४)। शक्ति और संरक्षकत्वकी होड़में कुछ थोड़ेसे लोगोंके लाभके लिए समग्र राष्ट्रके हितोंकी उपेक्षा की जाती है। प्रतिनिधियोंमें जो कुछ मिल सके उसीको छीनने-झपटनेकी आपसमें होड़ लगी रहती है। वे इस बातकी परवाह नहीं करते कि राष्ट्रके हितों पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा।

उनका उद्देश्य केवल अपने निर्वाचक-मण्डलका समर्थन प्राप्त करना होता है। जनताके हितोंका ध्यान रखना तो किसीका काम ही नहीं होता। 'सामुदायिक भावना' का अभाव रहता है जिससे राष्ट्रीय एकता संकटमें पड़ जाती है। पाश्चात्य देशोंमें एक प्रवृत्ति अधिक ज़ोर पकड़ती जा रही है—संगठित अल्पसंख्यक समुदाय अपने उद्देश्योंकी सिद्धिके लिए जनहितकी अवहेलना करते हैं। हाल ही में भारतवर्षमें राज्योंके भाषा-वार पुनर्गठनके प्रश्नको लेकर जो बवण्डर उठा था, वह इस बातका उदाहरण है कि किस प्रकार कुछ थोड़ेसे लोग सब पर हावी होनेकी कोशिश करते हैं और देशका एक भाग दूसरे भागके विरुद्ध लड़ाई छेड़ देता है।

(१३) प्रेसीडेण्ट लॉवेल का कहना है कि अमरीकी लोकतंत्रकी सबसे बड़ी असफलता उसके बड़े नगरोंका कुशासन है। यह बड़ी पुरानी बुराई है और अभी तक इसका कोई स्थायी इलाज नहीं खोजा जा सका है।

आधुनिक लोकतंत्रीय राज्योंमें पायी जानेवाली बीमारियोंको लॉर्ड ब्राइस ने निष्कर्ष रूपमें इस प्रकार दिया है:

(१) 'प्रशासन और विधि-निर्माणको दूषित करनेमें सम्पत्तिकी शक्ति।'

(२) 'राजनीतिको एक लाभप्रद व्यवसाय बनानेकी प्रवृत्ति।'

(३) 'प्रशासनमें अनावश्यक व्यय।'

(४) 'समानताके सिद्धान्तका दुरुपयोग और प्रशासकीय कौशलका महत्व परखनेमें असफलता।'

(५) 'दलगत संगठनकी अनुचित अधिकार शक्ति।'

(६) 'विधायकों और राजनीतिक पदाधिकारियों द्वारा वोट प्राप्त करनेके उद्देश्यसे क़ानून पारित करने और व्यवस्थाकी अवहेलना बर्दाश्त किये जानेकी प्रवृत्ति।' (९: खं० २, पृ० ५०४)

५. लोकतंत्रकी आलोचनाओंका मूल्यांकन

निस्सन्देह उपर्युक्त आलोचनाओंमें से अनेक कुछ न कुछ सही हैं पर अधिकतर वह एक व्यंग चित्र मात्र हैं। इन आलोचनाओंके बारेमें एक ध्यान देने योग्य दिल-चस्प बात यह है कि इनमें से कई आलोचनाएँ एक दूसरेके विपरीत हैं और इस तरह एक दूसरेको ग़लत सिद्ध करती हैं। कुछ लेखकोंके अनुसार लोकतंत्रका अर्थ है वीर-पूजा तथा मूर्त्ति-पूजा और कुछ दूसरे लेखकोंके अनुसार उसका अर्थ है अवज्ञा और अराजकता। एक ओर कुछ आलोचक कहते हैं कि लोकतंत्र आदर्शवाद और सूक्ष्म सिद्धान्तका उपासक है तो दूसरी ओर कुछ अन्य लेखकोंका आरोप है कि लोकतंत्रमें भावनाओं और सिद्धान्तोंके लिए कोई स्थान ही नहीं है। इन पारस्परिक विरोधोंमें ही एक दूसरेका खण्डन छिपा हुआ है।

(१) यदि लोकतंत्र एक दोषपूर्ण शासन प्रणाली है तो यह पूछा जा सकता है कि

दूसरा रास्ता क्या है ? क्या कोई ऐसी दूसरी शासन प्रणाली है जो यदि लोकतंत्रसे ज्यादा अच्छी न हो तो कम से कम उतनी ही अच्छी हो ? हमारा उत्तर 'नहीं' में है। संसारमें कुलीनतंत्र और वर्गतंत्रकी परख समय-समय पर की गयी है और उन्हें साधारणतः असफल पाया गया है। हम अब उन तक वापस नहीं जा सकते; क्योंकि सी० डी० बर्न्स के प्रभावपूर्ण शब्दोंमें, 'कोई भी इस बातको अस्वीकार नहीं करता कि वर्तमान प्रतिनिधि सभाएँ दोषपूर्ण हैं; पर यदि एक मोटरकार ठीक ढंग से काम नहीं करती तो भी उसके स्थान पर बैलगाड़ीको स्वीकार करना मूर्खता है, ऐसा करना चाहे कितना भी आकर्षक क्यों न मालूम पड़े (९ : ८०)।' संसार अभी इस योग्य नहीं है कि एक ऐसे समाजकी स्थापना की जाय जिसका बहुत समयसे दार्शनिक अराजकतावादी स्वप्न देखते आ रहे हैं। पिछले कुछ दिनों से वर्तमान प्रवृत्ति अधिनायकवादकी ओर है। अधिनायकवाद में चाहे जितनी अच्छाइयाँ हों पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि उसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता और प्रेरणाका अभाव रहता है, और इस दृष्टिसे वह उस व्यक्तित्वके विकासके प्रतिकूल है, जिसे हम मनुष्यका सर्वोच्च लक्ष्य और उद्देश्य मानते हैं। अधिनायकवादी शासन सभी प्रकारकी आलोचनाओंको दबा देता है। वह उन सभी संगठनोंको कुचल देता है जो खुद उसके अपने नहीं होते। लॉर्ड लोदियन (Lord Lothian) के शब्दोंमें अधिनायकतंत्र तत्कालीन संकटकी परिस्थितियोंमें अस्थायी शान्ति व्यवस्था और दृढ़ताका विश्वास दिलाता है।

(२) लोकतंत्र आजकल उन अनेक बुराइयोंके लिए दोषी ठहराया जाता है जो पिछले दो महायुद्धोंसे उत्पन्न हुई हैं। इस शताब्दीके तीसरे दशककी मन्दी और आज की मुद्रा स्फीति और मँहगाई संसारकी अव्यवस्थित परिस्थितियोके परिणाम स्वरूप हैं जिसके लिए अकेले लोकतत्र ही उत्तरदायी नहीं है। आज संसार जिस आर्थिक और राजनीतिक दुर्व्यवस्थामें पड़ा है वह ऐसी नहीं है कि उसमें लोकतंत्रके गुणोंका निष्पक्ष रूपसे मूल्यांकन किया जा सके। जैसा ए० एल० लॉवेल कहते हैं 'यह उचित नहीं है कि किसी व्यक्तिके व्यवहारकी परख उस समय की जाय जब वह लड़ रहा हो, या नशेमें हो या उत्तेजित हो। लोकतंत्रकी परख भी हम अत्यन्त असाधारण परिस्थितियोंमें होनेवाली घटनाओंके आधार पर नहीं कर सकते।'

(३) फैगवे लोकतंत्रको जीव विज्ञानके सिद्धान्तोंके विपरीत व्यवस्था बतलाते हैं। उनका कहना है कि लोकतंत्रमें मस्तिष्कको सामाजिक संगठनमें कहीं भी, किसी भी अंगमें खोज निकालनेकी आशा की जाती है। यह आलोचना न्यायोचित नहीं है। लोकतंत्र अधिकार-सत्ताका दुरुपयोग करनेका समर्थन नहीं करता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सुव्यवस्थित लोकतंत्रमें सुव्यवस्थित कुलीनतंत्रके लिए भी स्थान रहता है। मैज़िनी (Mazzini) का कहना है, 'लोकतंत्रमें सर्वोत्तम और सर्वाधिक बुद्धिमान लोगोंके नेतृत्वमें सबके माध्यमसे सबकी उन्नति होती है।' आधुनिक लोकतंत्रीय राज्य यह अनुभव करते हैं कि शासन एक कला है और यह कार्य उन्हीं लोगों को सौंपा जा सकता है जो इसकी विशेष योग्यता रखते हों। हम दोहराना चाहते हैं कि

लोकतंत्रमें विशेषज्ञों द्वारा शासन किये जानेकी व्यवस्थाकी अवहेलना नहीं है। कुलीनतंत्रमें विशेषज्ञ अपने आपको जनतासे दूर रखता है; लोकतंत्रमें उससे उन सामाजिक सद्‌गुणोंकी आशा की जाती है जो उसे उन लोगोंको अपना माननेमें समर्थ बना सकते हैं जिन पर उन्हें शासन करना होता है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि यह अन्तर लोकतंत्रके पक्षमें है। ब्रिटिश लोकतंत्रमें योग्य और समर्थ व्यक्तियों का बाहुल्य है। यद्यपि ब्रिटिश मंत्रिमण्डलीय शासनको प्रायः 'नौसिखियोंका शासन' कहा जाता है।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उन सबको ध्यानमें रखते हुए हम लोकतंत्रको एक अयोग्य शासन प्रणाली माननेको तैयार नहीं हैं। कुछ लेखकोंका यह कहना है कि बहुत बड़ी शासन व्यवस्थाओंमें लोकतंत्रकी भावना भरना असम्भव है और राजनीतिक लोकतंत्रकी सफलताका केवल एक यही मार्ग है कि उसमें उद्योगोंकी एकतंत्रीय प्रणालीको प्रारम्भ किया जाय। हम इस दृष्टिकोणको स्वीकार नहीं करते जिसमें डॉ० ए० डी० लिण्डसे (A. D. Lindsay) के अनुसार 'शैतान ही से शैतानको बाहर निकालने' की आशा की जाती है। डॉ० लिण्डसे का यह भी कहना है, 'उद्योगों में लोगोंको मशीन बना दिया जाता है, उसमें हीन व क्षीण व्यक्तित्वकी आवश्यकता होती है, समृद्ध व्यक्तित्व की नहीं।'

जीव-विज्ञान और जाति-विज्ञानके आधार पर बनी इस धारणाके बारे में कि लोकतंत्र गोरी जातियों का विशेष गुण है, मैक्सी का यह कथन बिल्कुल ठीक है, 'इस बातका कोई विश्वसनीय वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है कि गोरी जातियाँ राजनीतिक प्रतिभामें या अन्य किसी बौद्धिक विशेषतामें काली, पीली या भूरी जातियोंसे श्रेष्ठ होती हैं।' प्राचीन भारत और चीन ने स्थानीय स्वशासनकी पद्धतियोंका सुन्दर विकास और संचालन किया था।

(४) जो लोग लोकतंत्रके कट्टर विरोधी हैं वे साधारण जनताकी ओर घृणापूर्वक संकेत करते हुए कहते हैं कि जनता अपना शासन अपने आप कर सकनेमें असमर्थ है। हमें इसमें सन्देह है। हम यह स्वीकार करते हैं कि लोकतंत्रमें नेताका चुनाव हमेशा ठीक नहीं होता पर इसके लिए जनता को ही सारा दोष नहीं दिया जा सकता। अयोग्य नेताओंके चुने जानेका आंशिक कारण लोकतंत्रके बजाय एकतंत्र हो सकता है। समाजमें अब भी सम्पत्ति, शक्ति और पदसे सम्बन्धित प्रतिष्ठाकी भावना समाप्त नहीं हुई है। इसका उपाय लोकतंत्रको सीमित करना नहीं है बल्कि उसे और अधिक व्यापक बनाना है। समर्थ व्यक्तियोंके नेता न चुने जानेका एक और कारण यह है कि उनमें सामाजिक विनम्रताकी कमी होती है और वे अपनी बात जनताको समझाने योग्य सरल नहीं बना पाते। सी० डी० बर्न्स कहते हैं, 'प्रतिनिधि को ऐसा होना ही चाहिए कि उसे समझा जा सके। यदि वह समझदार भी हों तो यह सौभाग्यकी बात है पर उसे समझा जाने लायक तो होना ही चाहिए।' यह सोचना भूल है कि लोग हमेशा ग़लत आदमियोंको ही चुनते हैं। लोकतंत्रीय देशोंका अनुभव

यह सिद्ध करता है कि निम्नलिखित बातोंके सम्बन्धमें जनता अधिक सही निर्णय देती है: (क) विधानोंकी अपेक्षा मनुष्योंके सम्बन्धमें; (ख) आदेशमूलक विधानों की अपेक्षा निषेधात्मक विधानोंके सम्बन्धमें; (ग) उन प्रश्नोंके सम्बन्धमें जो प्राविधिक और विवरणयुक्त मसलोंकी अपेक्षा सामान्य नीतिसे सम्बन्धित होते हैं; (घ) भावनाओंको जगानेवाले प्रश्नोंकी अपेक्षा ऐसे मसलोंके सम्बन्धमें जिनमें नैतिक सिद्धान्तोंकी बात होती है (उदाहरणके लिए वैदेशिक नीति सम्बन्धी प्रश्न)।

यदि हम चाहते हैं कि जनता समझदारीसे चुनाव करे तो हमें एक समय एक ही प्रश्न उसके सामने रखना चाहिए और इस प्रश्नको स्पष्ट रूपसे प्रस्तुत करना चाहिए। अनेक विवरणों और प्राविधिक बातोंसे उसे लादना उचित नही है। जो लोग यह कहते हैं कि साधारण मनुष्यको अपना शासन स्वयं करनेमें रुचि नहीं होती और लोकतंत्रमें सबसे बड़ी बुराई मतदाताकी उदासीनता है, उनसे हम यह कह सकते हैं कि दूसरी शासन पद्धतियोंसे भी जो परिणाम निकलते हैं वे लोकतंत्रके परिणामसे अच्छे नहीं होते। यदि लोकतंत्रमें जनता कभी-कभी उदासीन रहती है तो कभी-कभी वह अत्यन्त सक्रिय और निष्ठावान भी हो जाती है। लोकतंत्रसे भिन्न सरकार जब तक जनता पर सुख-सुविधाकी वर्षा करती है तब तक निश्चित रूपसे उसे उसका सहयोग प्राप्त रहता है पर जैसे ही वह कोई भार डालना प्रारम्भ करती है वैसे ही गहरा असन्तोष फैल जाता है।

(५) यद्यपि लोकतंत्रके कुछ आधुनिक आलोचक प्रतिनिधित्वके सिद्धान्तको बुरा कहते हैं, फिर भी वे अपने मस्तिष्कको उससे भली-भांति मुक्त नहीं कर पाये हैं। कोई भी प्रसिद्ध विचारक आज शुद्ध एकतंत्रको उचित कहनेके लिए तैयार नहीं है। यह ध्यान देने योग्य शिक्षाप्रद बात है कि अधिनायक तंत्रके अत्यन्त प्रबल समर्थक भी इसका औचित्य इस आधार पर ही बताते हैं कि वह जनताका सही-सही प्रतिनिधित्व करता है। मेजर येट्स ब्राउन (Major Yeats Brown) का कहना था कि फ़ासीवाद आधुनिक लोकतंत्रकी अपेक्षा जनताका अधिक प्रतिनिधित्व करता है। उनका कहना था कि लोकतंत्र अधिनायकतंत्रका विरोधी नहीं है, बल्कि आधुनिक जीवनकी कठिनाइयोंके लिए वह अनुपयुक्त है। हम उनके इस कथनसे सहमत हों या न हों पर प्रतिनिधित्वके आधार पर अधिकार सत्ताका सिद्धान्त आजके राजनीतिक दर्शनका एक स्थायी अंग बन चुका है। यदि हम इस बातको स्वीकार कर लेते हैं तो फिर प्रश्न यह उठता है कि जनताके प्रतिनिधित्वका सबसे अधिक सफल तरीका क्या है? हम इस विचारको स्वीकार नहीं करते कि अधिनायकतंत्र जनताका सच्चा प्रतिनिधि है, विशेषकर जब हम यह देखते हैं कि उसमें आलोचना और स्वतंत्र विचारों को कुचल दिया जाता है।

(६) इस आरोपका कि लोकतंत्रमें दलगत शासन आवश्यक होता है और दल शासन लोकतंत्रका एक असन्तोषजनक ढंग है। हमारा उत्तर इस प्रकार है:

(क) दल अनिवार्य हैं, क्योंकि उनके बिना लोकतंत्रीय सरकारका चलना असम्भव है। दल अव्यवस्थामें व्यवस्था क़ायम करते हैं। वे लोकमतका निर्माण करते हैं और उसे शिक्षित करते हैं। ब्राइस का कहना है कि जिस प्रकार ज्वार भाटे की लहरें सागरकी लम्बी खाड़ियोंके जलको स्वच्छ रखती हैं उसी प्रकार राजनीतिक दल राष्ट्रके दिमाग़को सजग रखते हैं।

(ख) ब्राइस के शब्दोंमें, 'दलगत अनुशासन स्वार्थपरता और भ्रष्टाचारको रोकता है।'

(७) लोकतंत्रका अर्थ कुशिक्षा है—इस आरोपका तथ्योंके आधार पर शायद कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं है। लोकतंत्रसे जनतामें बहानेबाज़ी और खुशामदकी भावना बढ़ जाती है, सर्वसाधारण तक पहुँचनेके लिए मानदण्ड गिरा दिये जाते हैं। लोग अपने आपको कला, विज्ञान और साहित्यका पारंगत मानने लग जाते हैं। यह सब ठीक है पर प्रश्न यह है कि इससे बचनेका रास्ता क्या है? दूसरी शासन प्रणालियोंमें तो जन-शिक्षाका इससे भी कम अवसर मिलता है। और फिर उचित विनम्रता लोकतंत्रमें असम्भव नहीं है। जनताकी कुशिक्षाको क्रमशः उसके भीतर शिक्षित किये जानेकी भावना भर कर दूर किया जा सकता है। इस दिशामें प्रगतिके संकेत मिलने लगे हैं। लोकतंत्रके विरोधियोंके इस आरोपको हम स्वीकार करते हैं कि लोकतंत्रमें बहुत अधिक अपव्यय और बर्बादी होती है। पर हमारा कहना यह है कि यह बुराई लोकतंत्रके लिए अनिवार्य नहीं है। लोकमतके शिक्षित हो जानेसे बहुत अधिक अंशोंमें यह बुराई समाप्त हो जायगी।

(८) अपव्यय और बर्बादीके साथ-साथ अधिकांश लोकतंत्रीय राज्योंमें घूसखोरी और भ्रष्टाचार बहुत प्रचलित हैं। पर बुराइयोंके लिए हमें देशके सार्वजनिक जीवनको दोष देना चाहिए न कि केवल लोकतंत्रको। लॉवेल का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि व्यापारिक जीवनमें जिन बुराइयोंको हम सहन करते हैं उनके लिए हम न्यायपूर्वक लोकतंत्रको दोषी नहीं ठहरा सकते। 'उचित और अनुचितका अस्तित्व हमेशा रहा है और रहेगा। सार्वजनिक जीवनमें सच्चाई व ईमानदारीका अभाव कोई नयी बात नहीं है। 'अठारहवीं शताब्दीके यूरोपमें पदाधिकारियोंमें जितना भ्रष्टाचार था उसकी अपेक्षा आज निस्सन्देह कम है। जन-प्रिय सरकारें भ्रष्टाचारसे तब तक बिल्कुल मुक्त नहीं हो सकतीं जब तक राह चलते साधारण नागरिक पर उच्चतर व्यावहारिक मानदण्ड नहीं लागू किया जाता और उसका उल्लंघन करने वालोंका सामाजिक बहिष्कार नहीं किया जाता।'

(९) आजकल यह घोषणा करना एक फ़ैशन-सा हो गया है कि 'लोकतंत्र समाप्त हो चुका है।' सम्भव है अनेक फ़ैशनोंकी तरह इस फ़ैशनका भी कोई ठोस आधार न हो। कुछ समय तक अधिनायकतंत्रका प्रयोग करनेके बाद स्पेन लोकतंत्र की ओर वापस आया; यद्यपि अब वह फिर अधिनायकतंत्रकी ओर लौट गया है। इंगलैण्ड और अमरीका जैसे देशोंमें, जहां लोकतंत्रका विकास हुआ है और वह एक

लम्बे समयसे सफलतापूर्वक प्रयोगमें लाया जा रहा है, उसे त्यागनेके कोई लक्षण नहीं दिखाई देते। अधिनायकतंत्रके प्रति उत्साह केवल यही संकेत करता है कि लोकतंत्र को अपने आप कोबदली हुई परिस्थितियोके अनुकूल बनाना चाहिए। फ्रांसीसी लेखक आन्द्रे-मोरौ (Andrie Maurois) का कहना है कि यदि कोई देश संसदात्मक शासनके अधीन है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि निश्चित समयके लिए और एक निश्चित उद्देश्यकी सिद्धिके लिए वह एक व्यक्तिके नेतृत्वको स्वीकार न करे। लोकतंत्रको परिस्थितियोंके अनुकूल बनानेका अर्थ यह नहीं है कि अधिनायकतंत्रके लिए द्वार खोल दिया जाय बल्कि उसका अर्थ है अधिनायकतंत्रको हटा दिया जाय (५३:३१-३२) जैसा कि डॉ० ए० डी० लिण्डसे ने कहा है, 'एक आत्मविश्वास-पूर्ण लोकतंत्रीय समाज अपनी कार्यप्रणालीमें बहुत अधिक नम्य हो सकता है। वह अपनी सरकारके हाथोमें अपरिमित शक्ति दे सकता है, जैसा कि संकटकालमे किया जाता है, और कुशलतापूर्वक इस विश्वासके साथ दे सकता है कि संकटकाल टल जाने पर वह उन अधिकारोंको वापस ले सकता है (५२:१७)।' इंगलैण्डमें चर्चिल और अमरीकामें राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने थोड़े ही समयमें जो अपरिमित शक्ति प्राप्त कर ली थी और उनके देशवासियोंने जिस शान्ति और विश्वासके साथ उनके अधिकारकी वृद्धि स्वीकार कर ली वह उनकी दुर्बलताका नहीं बल्कि उनकी शक्ति और लोकतंत्र पर उनके विश्वासका प्रमाण है। लगभग यही बात श्री जवाहरलाल नेहरू के सम्बन्धमें भी कही जा सकती है जिन्होंने पिछले दस वर्षोंमें भारतीय जनता पर विलक्षण प्रभाव डाला है।

(१०) कुछ लोगोंका कहना है कि लोकतंत्र एक मिथ्या-धारणा है और वास्तवमें संसारमें लोकतंत्र जैसी कोई चीज है ही नहीं। इस आलोचनाका एक सम्भव उत्तर यह है कि मनुष्य मिथ्या-धारणाओंके सहारे ही जीते हैं। यदि यह सही है तो फिर प्राकृतिक अधिकार, मनुष्यकी समानता और लोक सम्मतिकी मिथ्या-धारणाओंके सहारे ही क्यों न जिया जाय। डेवी (Dewey) कहते हैं, 'लोकतंत्रकी नींव मानव प्रकृतिकी क्षमताओं, सद्बुद्धि पर विश्वास और संचित तथा सहयोगमूलक अनुभव की शक्ति पर आधारित है।'

६. उपचार और निष्कर्ष

अब हम आवश्यक रूपसे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लोकतंत्रका केवल सापेक्षिक महत्व (conditional value) है। संसारकी सभी बुराइयोंको दूर करनेके लिए वह कोई रामबाण नहीं है। लोकतंत्रकी सबसे बड़ी बुराइयां केवल अपरिपक्वता के कारण हैं और अनुभव बढ़नेके साथ-साथ उन्हें दूर किया जा सकता है। उसका सबसे बड़ा महत्व नैतिक और शैक्षिक है। मानव व्यक्तित्वके महत्व रूपी जिस आधार पर लोकतंत्र टिका हुआ है वह अटल है। हमारा बिश्वास है कि डी० ताकूवील

का यह कथन सत्य है: 'लोकतंत्रकी प्रगति अनिवार्य प्रतीत होती है, क्योंकि यह इतिहासमें मिलनेवाली सबसे अधिक एकरूप, प्राचीन और स्थायी प्रवृत्ति है।' एक आधुनिक लेखकका कहना है, 'सैद्धान्तिक रूपमें लोकतंत्र सामाजिक जीवनके अन्य सिद्धान्तोंका विकल्प नहीं है। वह समाजका ही सिद्धान्त है····लोकतंत्र अपनी पूर्ण स्थितिको प्राप्त करेगा क्योंकि लोकतंत्र स्वतंत्र व समृद्धिपूर्ण संसर्गका ही नाम है।'

हमारा विश्वास है कि लोकतंत्र एक उचित व्यवस्था है जिसमें एक सुन्दर सिद्धान्त निहित है। हमें उसमें जो दोष दिखाई देते हैं वह ऐसे नहीं है कि दूर न किये जा सकें। शिक्षा, चिन्तन और अनुभव द्वारा जनता उन दोषोंको स्वयं दूर कर सकती है। हम उन लोगोंकी बात स्वीकार नहीं कर सकते जो यह कहते हैं कि लोकतंत्रके दोषोंको दूर करनेका एक यही मार्ग है कि लोकतंत्रको ही समाप्त कर दिया जाय। यदि समाप्त ही करना हो तो प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय अराजकताको समाप्त किया जाना चाहिए, जिसके साधन हैं—एक प्रभावशाली विश्व-सरकार, एक सुनियोजित अर्थ-नीति, निःशस्त्रीकरण एवं आयात-निर्यात करों तथा जातीय विभेदोंकी समाप्ति।

यदि लोकतंत्रको समाप्त करनेके बजाय उसे और अधिक सही रूपमें लोकतांत्रिक बनानेकी आवश्यकता है, और हमारा विश्वास है कि ऐसी आवश्यकता है, तो प्रश्न यह है कि इसके लिए निश्चित उपाय क्या होंगे। अनेक लेखकोंने इस प्रश्न पर विचार किया है। कुछ लोगोंने सार्वजनिक शिक्षा और चरित्र-सुधारको लोकतंत्रकी सफलताके लिए आवश्यक माना है और इन दोनों बातों पर उन्होंने ध्यान दिया है। दूसरे लोगों का कहना है कि लोकतंत्रको बदली हुई परिस्थितियोंके अनुकूल बनानेके लिए उसमें कुछ निश्चित सुधार किये जाने चाहिए। ये सुधार क्रमशः नैतिक व यांत्रिक सुधार कहे जा सकते है।

पहले हम प्रथम वर्गके लेखकोंके सुझावों पर विचार करेंगे। प्रोफ़ेसर हर्नशॉ निम्नलिखित बातोंको आवश्यक मानते हैं:

(१) ऊँचे दर्जेकी ईमानदारी, आत्मगौरव और नैतिकता परमावश्यक हैं। जब तक लोगों, विशेषकर नेताओंके कार्य व भावनाएँ अच्छी न होंगी लोकतत्रकी असफलता निश्चित है। एक भ्रष्ट लोकतंत्र सभी प्रकारकी शासन-प्रणालियोंसे गया बीता और अधम कोटिका होता है। लोकतंत्रके लिए यह आवश्यक है कि जनतामें अपनी सच्चाईके लिए गर्व हो, आत्मनिर्भरताका संकल्प हो और आत्मगौरवकी विनम्र बुद्धि हो। सामान्य लोगोंमें मौलिक ईमानदारी और न्यायप्रियताका होना लोकतंत्रके लिए नितान्त आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्तिके लिए समान अधिकार, समान क़ानून और समान अवसर होने चाहिए।

(२) उच्चकोटिकी बुद्धिमत्ता और सुन्दर शिक्षा-पद्धति भी वांछनीय है। व्यवहार-बुद्धिका अभाव लोकतंत्रके लिए घातक होता है। सामान्य जनतामें यदि साधारण न्यायबुद्धि न हो तो लोकतंत्र या तो भीड़का शासन बन जायगा या वह हमें अधिनायकवादकी ओर ले जायगा। मूर्ख सज्जन चतुर दुष्टोंसे भी गये बीते होते हैं।

यदि हमें लिंकन के इस कथनको सत्य बनाना है कि, 'जनताके कुछ अंशको आप हमेशा मूर्ख बना सकते हैं, सारी जनताको कुछ समयके लिए मूर्ख बना सकते हैं, पर सारी जनताको हमेशाके लिए मूर्ख नहीं बना सकते,' तो हमें सार्वजनिक शिक्षाकी एक स्वस्थ प्रणालीकी आवश्यकता होगी।

(३) एक सुस्पष्ट सामाजिक चेतनाके लिए लोकतंत्रमें 'परस्पर संगठित होने की प्रबल भावना, एकता पर गम्भीर विश्वास और सामाजिक जीवनकी एक व्यापक भावना' बहुत आवश्यक होती है। जातीय विद्वेष, धार्मिक विवाद, वर्ग संघर्ष और सामाजिक अन्तर लोकतंत्रको कमजोर बनाते हैं। यह कथन लोकतंत्र पर जितना अधिक लागू होता है उतना किसी और पर नहीं कि 'भेड़ियेकी शक्ति झुण्डमें है और झुण्डकी शक्ति भेड़िये में है।'

(४) स्वस्थ लोकमत, एक जागरूक सामाजिक चेतना और प्रभावपूर्ण लोक-सम्मति भी लोकतंत्रके लिए आवश्यक हैं। लोकतंत्र तत्कालीन लोकमतकी अपेक्षा न तो बहुत अच्छा हो सकता है और न बहुत बुरा। इसलिए जब कभी और जहां-कहीं भी लोकतंत्र असफल होता है उसकी असफलताका एक प्रधान कारण होता है, अस्वस्थ और प्रभावहीन लोकमत। इन शर्तोंके साथ हम एक शर्त और भी जोड़ सकते हैं :

(५) सामाजिक और औद्योगिक लोकतंत्र। यदि लोकतंत्रको सफल बनाना है तो मनुष्यके सामाजिक सम्बन्धों और आर्थिक जीवन पर भी उसका अधिकारपूर्ण प्रयोग होना चाहिए। मैक्सी ठीक ही कहते हैं कि राजनीतिक लोकतंत्रके भीतर या उसके समानान्तर ही औद्योगिक लोकतंत्रकी स्थापना होनी चाहिए।

जे० डब्ल्यू० गार्नर लोकतंत्रके लिए निम्नलिखित आवश्यक शर्तोंको बताते हैं :

(१) उच्चकोटिकी राजनीतिक समझदारी, सार्वजनिक मामलोंमें स्थायी रुचि, सार्वजनिक उत्तरदायित्वकी तीव्र भावना और बहुमतके निर्णयोंको स्वीकार करने और उनका पालन करनेकी तत्परता (२३ : ४०५),' और इसके साथ ही साथ अल्पसंख्यकों के अधिकारोंका सम्मान।

(२) प्रारम्भिक शिक्षाकी सुविधाएँ।

(३) राजनीतिक विषयोंकी शिक्षा और सरकारी कार्य-विधियोंका प्रशिक्षण।

(४) उच्च कोटिका नैतिक स्तर।

प्रोफ़ेसर डब्ल्यू० ई० हॉकिंग इसी बातको इस प्रकार कहते हैं :

(१) लोकतंत्र जनताकी शिक्षा, प्रशिक्षण और कार्य-दक्षताकी अपेक्षा अधिक उच्च कोटिका नहीं हो सकता। लोकतंत्रकी सफलताके लिए बाहरी समानताओंमें अन्तर्निहित तत्त्वोंको सोचने-समझनेकी क्षमता आवश्यक होती है।

(२) सच्चाई और तथ्योंके अभावमें लोकतंत्र सफल नहीं हो सकता। इसका मतलब यह है कि समाचार सच्चे होने चाहिए।

(३) लोकतंत्र जनताकी सदिच्छा पर निर्भर है। लोकतंत्र जन-समूहके लिए सम्भव है या नहीं, इस प्रश्नका उत्तर है, जन-समूहके लिए विनम्रता सम्भव है या

नहीं? और विनम्रता जन-समूहके लिए सम्भव है या नहीं, इसका उत्तर इस प्रश्नके रूपमें दिया जा सकता है कि जनसमूहके लिए धर्म सम्भव है या नहीं? क्योंकि धर्म मनुष्यको निरन्तर उसकी अपूर्णताका स्मरण कराता रहता है। दूसरे शब्दोंमें लोकतंत्रके लिए जनतामें विनम्रताकी भावना या शिक्षित किये जानेकी अनुभूति अनिवार्य है और इसके लिए धार्मिक भावनाकी आवश्यकता है।

(४) नेताओंका जनतामें विश्वास होना लोकतंत्रकी सफलताके लिए आवश्यक है। हर व्यक्ति और व्यक्तियोंका नेता जैसे-जैसे वृद्ध होता जाता है, वैसे-वैसे वह सनकी होता जाता है। अनेक बातें ऐसी होती हैं जिनसे उसकी आस्थाओंको धक्का लगता है। यदि लोकतंत्रको सफल बनाना है तो उसे मनुष्योंके वास्तविक रूपको अपना आधार न बनाकर उसके आदर्श रूपको अपना आधार बनाना चाहिए। इसका मतलब है विश्वास। लोकतंत्र धर्म और विश्वासकी एक अन्तर्धाराके बल पर ही फल-फूल सकता है।

ए० एल० लॉवेल लोकतंत्रके लिए आवश्यक शर्तोंको निष्कर्ष रूपमें इन शब्दोंमें देते हैं: 'किसी प्रकारकी भी शासन-व्यवस्थाका जीवन इस बात पर निर्भर करता है कि वह किस हद तक ऐसे व्यक्तियोंका निर्माण कर पाती है जो उसे आगे चला सकें और किस हद तक वह नेतृत्वके लिए सबसे अधिक समर्थ व्यक्तियोंको आगे बना पाती है।...क्या लोकतंत्रमें एक ऐसी जातिका निर्माण करनेकी प्रवृत्ति है जो अपने आंशिक हितोंकी अपेक्षा सार्वजनिक कल्याणको अधिक महत्व दे, जिसके विभिन्न वर्गोंमें ईर्ष्या की भावना न होकर परस्पर सहानुभूति हो, जो भावी कल्याणके लिए वर्तमान कठिनाइयोंको दूरदर्शिता और साहसके साथ झेल सकें? क्या लोकतंत्र अपने प्रतिनिधियों और दण्डाधिकारियोंके पदों पर ऐसे व्यक्तियोंको चुनता है जिनमें यह सब गुण विद्यमान हों? यदि लोकतंत्र यह सब करता है तो जो भी तूफान उठेंगे वे उसकी जड़ोंको न हिला सकेंगे और वह अडिग रहेगा, भले ही दूसरे देशोंमें उत्पात मचें और यदि वह ऐसा नही करता तो उसका आधार अस्थिर समझना चाहिए।

लोकतंत्रीय व्यवस्थाको सुधारनेके लिए जो सुझाव दिये गये हैं उनमेंसे निम्न-लिखित लेखकोंके विचार उल्लेखनीय हैं:

लॉर्ड लोदियन का कहना है कि

(१) सरकारका शासन-यंत्र इस गारण्टीके साथ चले कि व्यक्तिके लिए भाषण, आलोचना और राजनीतिक तथा आर्थिक उद्योगकी स्वतंत्रता होनी चाहिए, और

(२) वयस्क-निर्वाचक-मण्डलके अन्तिम निर्णय पर सरकारके बिना हिंसात्मक कार्यवाहीके बदली जा सकनेकी व्यवस्था होनी चाहिए।

आन्द्रे मोरो तानाशाहीका अवरोध करनेके लिए 'एक निश्चित अवधि और निश्चित उद्देश्य सिद्धिके लिए' वैयक्तिक नेतृत्वका सुझाव देते हैं। कुछ दूसरे लोग शक्तिशाली कार्यपालिकाका सुझाव देते हैं। लॉर्ड यूस्टेस पर्सी (Lord Eustace Percy) का दावा है कि ब्रिटेनका संविधान राजतंत्रात्मक प्रधान-मंत्रित्व द्वारा अपनी

रक्षा करता है और जिस दिन प्रधान मंत्री दलगत सत्ताधिकारियों के दबावमें पड़कर असफल हो जायगा उसी दिन अधिनायकतंत्रसे बचनेके लिए कोई रास्ता बाकी न रह जायगा। 'इसलिए पार्लियामेण्टका मुख्य और प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह सशक्त प्रधान मंत्री बनाये। प्रधान मंत्रियोंकी स्वतंत्रता संसदकी स्वतंत्रता और उनकी शक्ति उसकी शक्ति है।'

लॉर्ड पर्सी ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं :

(१) संसदको नीति सम्बन्धी व्यापक प्रश्नों पर विचार करना चाहिए, छोटे-छोटे विवरणोंमें नहीं पड़ना चाहिए। नीति-सम्बन्धी व्यापक प्रश्नोंके रूपमें उसे कर लगाने और व्यय करनेकी व्यवस्था पर विचार करना चाहिए और अनुचित व्यय और करोंसे पैदा होनेवाली शिकायतोंको सामने रखना चाहिए। 'संसदको कार्य-पद्धतिकी उस अर्थहीन परम्पराको समाप्त कर देना चाहिए जिसके अनुसार प्रायः सभी साधारण विवादोंमें विधि-निर्माणसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नोंके पूछे जाने पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है।'

(२) विधेयकोंकी रचनामें संसदको क़दम उठाना चाहिए। विधि-निर्माण सम्बन्धी प्रस्तावोंकी रचनाके लिए संसदको सरकारी विभागों पर बहुत अधिक निर्भर नहीं रहना चाहिए और इस कामके लिए संसदको कई समितियां बना लेनी चाहिए। इन समितियोंको केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारों और व्यक्तियोके बीच सम्बन्धों पर पुनर्विचार करना चाहिए।

(३) विशिष्ट विभागोंके प्रशासकीय कार्यका निरीक्षण करनेके लिए जारी होने वाली विभागीय आज्ञाओं और विज्ञप्तियोंकी जाँच करनेके लिए, व्यक्तिगत शिकायतों का पता लगानेके लिए और मंत्रियोके पास आवश्यक प्रतिनिधित्वके लिए संसदकी अन्य समितियोंका निर्माण किया जाना चाहिए।

(४) सम्राट द्वारा मनोनीत सदस्योंकी एक अर्थ-परिषद होनी चाहिए जो यथा-सम्भव आर्थिक सम्मतिके बजाय आर्थिक शक्तिका प्रतिनिधित्व कर सके। सरकार और संसदको अपने विधि-निर्माणकी तैयारीमे इस परिषदका उपयोग करना चाहिए। इस परिषदको सरकार और उद्योगोंके पारस्परिक सम्बन्धोंकी पूरी-पूरी जाँच करनी चाहिए।

(५) सम्राटको आजीवन लॉर्ड (life peers) बनानेकी स्वतंत्रता रहनी चाहिए। लॉर्ड सभाको विधि-निर्माणकी पुनर्योजनामें पूरा-पूरा भाग मिलना चाहिए।

सर स्टेफर्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) ने अपनी पुस्तक 'संसदका आदर्श स्वरूप' (Parliament as it Should Be) में लोकतंत्रके निम्नलिखित तीन विशिष्ट तत्व बताये हैं :

(१) जनताको अपने प्रतिनिधियोंके चुननेकी पूरी-पूरी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। जनताको निश्चित समय पर अपने प्रतिनिधियोंके प्रत्यावर्तन (recall) करनेका अधिकार होना चाहिए।

(२) जनता द्वारा स्पष्ट रूपसे यह प्रदर्शित किया जाना चाहिए कि वह कौन-सी नीति कार्यान्वित करना चाहती है।

(३) प्रतिनिधियोंमें इतनी योग्यता और सामर्थ्य होनी चाहिए कि वह वांछित नीतिको अनावश्यक विलम्ब किये बिना और बिना किसी भी स्वार्थ या व्यक्ति-विशेषके हस्तक्षेपके सफलतापूर्वक कार्यान्वित कर सकें।

लोकतंत्रके इन व्यावहारिक गुणोंको कार्य रूप देनेके लिए सर स्टैफर्ड क्रिप्स निम्नलिखित साधनोंका समर्थन करते हैं:

(१) विधान-निर्माणके उन्नीसवीं सदीवाले मन्दगामी तरीक़ोंको समाप्त करना।

(२) लोकसभा द्वारा, जब उसे देशका समर्थन प्राप्त हो, एक साहस-पूर्ण नीति का अपनाया जाना और अलोकतंत्रीय दूसरे सदनकी धमकीमें न आकर देशके विकास की प्रगति और पद्धतिका प्रभावपूर्ण नियत्रण किया जाना।

(३) मंत्रियोंके विधायी तथा प्रशासकीय कार्योंका निरीक्षण करनेके लिए कार्याधिकारी परिषदों (functional committees) का संगठन करना।

एच० साइडबॉदम (H. Sidebotham) का विश्वास है कि संसदात्मक पद्धति का समितियोंकी तानाशाहीसे ठीक मेल बैठ सकता है।

लोकतंत्रके गुण-दोषोंका विवेचन लॉर्ड ब्राइस ने निष्कर्ष रूपमें इस प्रकार किया है:

यदि आदर्शवादियोंने लोकतंत्रके नैतिक प्रभावको बढ़ा-चढ़ाकर कहा तो निराशा-वादियोंने उसकी व्यावहारिक क्षमताको बहुत कम समझा। अन्य शासन-पद्धतियोंमें जो भी बुराइयाँ थीं उनमेंसे अधिकांश लोकतंत्रमें फिरसे दिखायी दे रही हैं यद्यपि उनका रूप बदल गया है। जो नये दोष लोकतंत्रमें दिखायी दे रहे हैं, वे इतने गम्भीर नहीं हैं जितने गम्भीर पुरानी सरकारोंके वे दोष थे जिनसे लोकतंत्र पूरी तरह मुक्त है।

(१) व्यक्तिगत नागरिककी स्वतंत्रता सुरक्षित रखते हुए भी लोकतंत्रने सार्वजनिक व्यवस्था क़ायम रखी है।

(२) लोकतंत्रका नागरिक प्रशासन उतना ही अच्छा है जितना कि किसी अन्य प्रकारकी सरकारका।

(३) अन्य प्रकारकी सरकारोंकी अपेक्षा लोकतंत्रीय सरकारोंके विधि-निर्माण में गरीबोंके हितोंकी ओर अधिक ध्यान दिया जाता है।

(४) लोकतंत्र अस्थिर और अकृतज्ञ नहीं रहा है।

(५) लोकतंत्रने देशभक्ति और साहसको कम नहीं किया है।

(६) लोकतंत्र प्रायः दुरुपयोगी और साधारणतः अपव्ययी रहा है।

(७) लोकतंत्रने प्रत्येक राष्ट्रमें सार्वजनिक सन्तोष पैदा नहीं किया है।

(८) लोकतंत्रने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंको सुधारने तथा शान्ति स्थापित करने

का प्रयत्न बहुत कम किया है, वर्गगत स्वार्थोंको कम नहीं किया, विश्वबन्धुत्व और मानवताका प्रसार नहीं किया और न विभिन्न वर्णोंके प्रति घृणा-भावको ही कम किया है।

(९) लोकतंत्र भ्रष्टाचारको और सरकार पर सम्पत्तिके अवांछनीय प्रभावको दूर नहीं कर सका है।

(१०) लोकतंत्र क्रान्तियोंके भयको दूर नहीं कर सका है।

(११) लोकतंत्र राज्यकी सेवामें सबसे अधिक ईमानदार और समर्थ नागरिकों को भर्ती नहीं कर सका है।

(१२) फिर भी लोकतंत्रने, सब मिलाकर, एक व्यक्तिके शासन या एक वर्गके शासनकी अपेक्षा उत्तम व्यावहारिक परिणाम दिखाये हैं क्योंकि इसने कम-से-कम उन अनेक बुराइयोंको समाप्त कर दिया है, जिनके कारण वे शासन-पद्धतियाँ विनष्ट हो गयीं।

लोकतंत्र के सफल संचालन की शर्तें

(१) लोकतंत्रके सफलतापूर्वक संचालनके लिए पहली महत्वपूर्ण शर्त यह है कि कुछ मौलिक लोकतांत्रिक सिद्धान्तों पर विश्वास उत्पन्न किया जाय। इन सिद्धान्तोंमें प्रत्येक मनुष्यके महत्वको गौरवका स्थान दिया जाना चाहिए। कम-से-कम सैद्धान्तिक रूपमें लोकतंत्रका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि कोई दूसरा व्यक्ति और सरकारके किसी भी काममें किसीकी भी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त, जिसे आज भारतमें विशेष रूपसे ध्यानमें रखना चाहिए, यह है कि लोकतंत्रका अर्थ है परस्पर विवाद या परामर्श द्वारा शासन। लोकतंत्र सहमति या अनुमति द्वारा शासन है। हिंसा और प्रत्यक्ष कार्यवाहीको इसमें कोई स्थान नहीं है। लोकतंत्रमें अल्पमतको एक महत्वपूर्ण अधिकार यह प्राप्त है कि वह वैधानिक उपायोंसे अपनेको बहुमतमें परिणित कर ले। विशिष्ट परिस्थितियोंमें अल्पमत सत्याग्रहका सहारा भी ले सकता है, पर सत्याग्रह एक ओषधि है जो कभी-कभी ही ली जा सकती है, दैनिक खूराककी तरह उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता।

(२) सार्वजनिक शिक्षाके अभावमें कोई लोकतंत्र स्थायी नहीं रह सकता। यह दावा तो नहीं किया जा सकता कि केवल शिक्षा ही लोकतंत्रको सफल बना सकती है पर इससे लोकतंत्रके सफल होनेमें बहुत बड़ी सहायता अवश्य मिलती है। इतिहासने शिक्षित कुटिल व्यक्ति देखे हैं। परन्तु आमतौर पर यह कहा जा सकता है कि शिक्षा व्यक्तिको बहुश्रुत, सन्तुलित और विवेकशील बनानेमें सहायता देती है। भारतवर्ष की ८०-८२ प्रतिशत जनता निरक्षर है। यदि इस निरक्षरताको जल्दी दूर नहीं किया जाता है तो लोकतंत्रका भविष्य बहुत उज्वल नहीं है।

(३) सार्वजनिक शिक्षाकी पूर्ति नागरिकता और विधानको माननेकी उच्च भावनासे की जानी चाहिए। जब तक जनता और जनताके नेता दोनोंके कार्य और भावना निष्कलंक और शुद्ध न होंगे तब तक लोकतंत्रके स्थायी रहनेकी सम्भावना कम है। लोकतंत्रकी सफलताके लिए यह बहुत आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति नागरिक जीवनमें अपना भाग अदा करनेके लिए तैयार रहे। उसे दूसरोंके अधिकारोंकी रक्षाके लिए तैयार रहना चाहिए और निरपराध लोगोंको कष्ट झेलते हुए चुपचाप नहीं देखना चाहिए। यदि सतत जागरूकता ही स्वतंत्रताकी क़ीमत है तो लोकतंत्रकी भी यही कीमत है। लोकतंत्रमें समझदार नागरिकको व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर होने वाले सभी प्रकारके हस्तक्षेपोंके विरुद्ध सतर्क रहना चाहिए—यह हस्तक्षेप चाहे सरकारकी ओरसे हो, चाहे समाचार-पत्रोंकी ओरसे, चाहे मजदूर संघों और धर्म संघोंकी ओरसे या ऐसे ही किसी अन्य संघकी ओरसे।

(४) वर्तमान युगमें आर्थिक समानता और यथासम्भव अवसरकी समानता पर अधिक ज़ोर दिया जाता है, परन्तु आर्थिक समानताका यह तात्पर्य नहीं है कि हर व्यक्तिको समान पारितोषिक या वेतन मिले, हाँ यह मतलब जरूर है कि लोगोंकी आयमें अत्यधिक असमानता न होने पावे। आधुनिक युगमें लोकतंत्रके सफल संचालन के लिए यह आवश्यक है कि एक ओर बहुत अधिक सम्पत्ति और दूसरी ओर बहुत अधिक ग़रीबी न होने पाये। आजसे सैकड़ों वर्ष पहले अरस्तू ने जब यह कहा था कि एक सबल मध्यम वर्ग लोकतंत्रकी आधारशिला है तब उन्होंने एक महत्वपूर्ण सत्यकी खोज की थी। इससे स्थिरता और दृढ़ताके साथ-साथ प्रगतिको भी बढ़ावा मिलता है।

(५) अपने एक महत्वपूर्ण पहलूमें लोकतंत्रका अर्थ है, सामाजिक समानता। जाति और वर्गके भेद और व्यक्ति-व्यक्तिके बीच सामाजिक दूरीका अर्थ होता है लोकतंत्रका विनाश। आधुनिक भारतमे सबसे अधिक उत्साहजनक बात यह हो रही है कि शिक्षित और शहरोंमें रहनेवाले लोगोंमें जातीय भेदभावकी भावनाका साधारणतः लोप होता जा रहा है। देहाती क्षेत्रोंमें अब भी यह भावना पायी जाती है पर वहाँ भी थोड़े ही समयमें इसका बिल्कुल लोप हो जायगा। परन्तु भाषायी और प्रान्तीय विभेद अभी पर्याप्त मात्रामें विद्यमान हैं। लोकतंत्रमें प्रतिभाके विकासका मार्ग खुला रहना चाहिए। और अवसरके अभावमें प्रतिभाको नष्ट नहीं होने देना चाहिए। निःशुल्क शिक्षा, उदार छात्रवृत्तियोंकी व्यवस्था और राजकीय पदों पर क्षमता और चरित्रके आधार पर ही नियुक्तियाँ करके ऐसी स्थिति उत्पन्न की जा सकती है। दुखके साथ यह स्वीकार करना पड़ता है कि अन्तिम बात अभी भारतमें सामान्य नियम नहीं बन पायी है।

(६) यदि लोकतंत्रको सफल होना है तो सावधानीके साथ चुने गये नेताओंकी आवश्यकता है। एक बार जब वे चुन लिये जायँ तब जनताको उन पर विश्वास और उनका सम्मान करना चाहिए। नेताओंकी बात न मानना उतना ही बुरा है जितना

उनके पीछे आँख मूंद कर चलना। कभी कोई राष्ट्र सत्तारूढ़ व्यक्तियोंकी चापलूसी और पूजा करके महान नहीं बन सकता। फिर भी भारतमें सामान्य नियम यही है कि 'देवता बदल सकते हैं पर उपासक वही बने रहते हैं।' आवश्यकता इस बातकी है कि जनता राजनीतिक सिद्धान्तों और नीतियों तथा व्यक्तियोंके बीच भेद करना सीखे और अनुचित रूपसे व्यक्तियोंके साथ बँधी न रहे। दूसरी ओर नेताओंको भी अपनी आस्थाओं और अपने विश्वास पर दृढ़ रहना चाहिए। उन्हें लोकमतके हर झोंकेके साथ बह नहीं जाना चाहिए। संयुक्त-राज्य अमरीकामें आइज़नहॉवर और भारतमें नेहरू के इतना अधिक जनप्रिय होनेका एक कारण यह भी है कि ये लोग भीड़-मनोवृत्तिके प्रवाहमें बह जानेसे इनकार करते हैं। लोकतंत्रमें नेताओंको स्वस्थ, विवेक, मौलिक सामर्थ्य, असाधारण क्षमता और निष्कलंक चरित्रवाले होना चाहिए। यदि एक बार ऐसे नेता मिल जायँ तो जनताको उनके कार्यमें बहुत अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

(७) बहुत अधिक आम चुनाव लोकतंत्रके सफल संचालनमें सहायक नहीं होते। इस सम्बन्धमें संयुक्त-राज्य अमरीकाके बहुतसे राज्योंमें प्रचलित न्यायाधीशों और विभागीय अध्यक्षोंके थोड़ी-थोड़ी अवधिके लिए होनेवाले चुनाव तथा स्कूल बोर्डोंके चुनाव आदिको हमें सन्देहकी दृष्टिसे ही देखना चाहिए।

(८) यदि एक ओर निर्वाचक-मण्डल पर अत्यधिक आम चुनावोंका बोझ नहीं डाला जाना चाहिए तो दूसरी ओर तमाम तरहकी समस्याएँ भी उनके सामने न रखी जायँ। पर सभी मौलिक और प्रमुख प्रश्नों पर जनताकी राय ली जानी चाहिए। किसी भी संसदको या संसदके किसी भी सदस्यको इस बातका अधिकार नहीं है कि वह पिछले चुनावके समय या अन्य किसी ऐसे ही प्रभावपूर्ण ढंगसे व्यक्त की गयी निर्वाचकोंकी इच्छाओंके विरुद्ध कार्य करें। जब शंका हो तब संसद या संसदके सदस्योंको फिरसे जनताकी समाज्ञा (mandate) प्राप्त करनी चाहिए।

(९) प्रायः यह समझा जाता है कि युद्ध और शान्ति, अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री और समझौता एवं साम्प्रदायिक एकता सरीखे नैतिक सिद्धान्तोंसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों पर जनता सही निर्णय देती है। परन्तु हालकी घटनाओंसे इस विश्वास पर आशंकाएँ प्रकट होने लगी हैं। फिर भी यह सम्भव है कि जिन असाधारण परिस्थितियोंमें मानव जाति आज रह रही है, उनके हट जाने पर फिरसे यह विश्वास दृढ़ हो जाय।

(१०) लोकतंत्रकी सफलताके लिए यह ज़रूरी है कि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मसलोंके बारेमें सही-सही निष्पक्ष जानकारीकी सुविधा जनताको हो, दुखके साथ यह मानना पड़ेगा कि संसारके काफी बड़े हिस्सेमें यह सुविधा नहीं है। विचार स्वातंत्र्य, भाषण व लेखन स्वातंत्र्य और संगठन स्वातंत्र्य तो लोकतंत्रके लिए अत्यावश्यक हैं।

लोकतंत्रके सम्बन्धमें हमारे सम्पूर्ण विचार-विमर्शका निष्कर्ष वही है जो कि एडवर्ड कारपेण्टर (Edward Carpenter) का है: 'हे असम्मानित लोकतंत्र ! मैं

तुझे प्यार करता हूँ।' टी० वी० स्थिम (T. V. Smith) के शब्दोंमें, यदि हमें स्वर्ग नहीं मिल सकता तो नरकसे बचनेके साधन हाथमें रहते हुए निराश होना मूर्खता है।'

लोकमत पर टिप्पणी

इस बातमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि आधुनिक लोकतंत्र और लोकमतमें परस्पर गहरा सम्बन्ध है। व्यापक मताधिकार, राजनीतिक दलोंका संगठन और लोकमतके आधार पर संगठित विधान-मण्डल, इन सबने लोकमतकी महत्ताको स्पष्ट कर दिया है। हममें से कोई भी रॉबिन्सन क्रूसो की भाँति निर्जन द्वीपमें रहनेवाला नहीं है। हमारे ऊपर सभी ओरसे प्रभाव पड़ते हैं। समाचार-पत्र, भाषण, मंच, रेडियो, सिनेमा और कहीं-कहीं टेलीविजन इन सबका प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है। इन सबका सम्मिलित प्रभाव इतना अधिक और व्यापक होता है कि हममें से बहुत ही कम लोग उसका सामना कर सकते हैं। बहुत-से लोग लोकमतका अनुगमन करते हैं और यह जानते भी नहीं कि लोकमत जैसी कोई चीज़ भी है, जो उनके जीवनमें उनके भाग्यका संचालन करनेवाली एक केन्द्रीय सत्ता है। स्पेनके प्रसिद्ध लेखक जोज़ वाइ गैसेट ने ठीक ही कहा है, 'लोकमतके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुको अपने शासनका मौलिक आधार बनाकर धरती पर कोई शासन नहीं कर सका।' [१]

यद्यपि राजनीतिज्ञ तथा अन्य लोग 'लोकमत' शब्दका प्रयोग राजनीति-शास्त्रके अन्य शब्दोंकी भाँति व्यापक रूपमें करते हैं, फिर भी इस शब्दके विविध और कभी विरोधी अर्थ किये जानेकी सम्भावनाएँ हैं। जैसाकि एक आधुनिक लेखकने लिखा है, यह एक अस्पष्ट शब्द है जिसका प्रयोग लेखक और व्याख्याता राजनीतिक और आर्थिक मसलोंकी चर्चा करते समय मनमाने ढंगसे किया करते हैं। रूसेक के इस कथन में एक चेतावनी है : 'लोकमत और प्रचारकी धारणाको स्पष्ट करनेमें सतर्कता बरती जानी चाहिए। इस बातको हमेशा ध्यानमें रखना चाहिए कि लोकमत शब्द ऐसा है जिसकी परिभाषा देनेके बजाय अध्ययन अधिक होना चाहिए।' [२]

लोकमतकी परिभाषा देनेके अनेक प्रयत्न किये गये हैं पर अन्य ऐसे प्रयत्नोंकी भाँति इस सम्बन्धमें भी परिभाषाएँ रूपनिर्देश बहुत कम कर पायी हैं। लोकमतके सम्बन्धमें दो महत्वपूर्ण विचार यह हैं:(१) लोकमत किसी धार्मिक मत या सिद्धान्तके विपरीत केवल एक विश्वास है। (२) लोकमतकी उत्पत्ति समग्र जनतासे होती है। एल० डब्ल्यू० डूब लिखते हैं : 'लोकमतका अर्थ है एक ही सामाजिक गुटके सदस्योंके रूपमें जनताका किसी प्रश्न या समस्याके प्रति रुख या विचार।' [३] रूसेक का कहना है कि 'लोकमत किसी विशेष समय या स्थानमें प्रचलित प्रभावपूर्ण विरोधी

---

[१] Jose Y Gassett : The Revolt of the Masses.
[२] Roucek, J.S. (Ed.) : Twentieth Century Political Thought, P.355.
[३] Leonard W. Doob : *Public Opinion and Propaganda*, P. 35.

विचारधाराओंके आधार पर बना हुआ सार्वजनिक मतकी तरह होता है ..... सम्पूर्ण गुटसे सम्बन्धित विवादमूलक समस्याओके बारेमें गुटके सदस्यों द्वारा अभिव्यक्त अपेक्षाकृत समांग वरेण्यता ही लोकमत है।'[१]

विल्हेल्म बॉवर 'शुद्ध लोकमत' और 'जनता द्वारा अभिव्यक्त मत' में अन्तर बतलाते हैं। जनता द्वारा अभिव्यक्त मत तो तत्वत: वैयक्तिक होता है जबकि लोकमत 'एक गम्भीर व्यापक आंगिक शक्ति है जो उन सामाजिक गुटोंकी सैद्धान्तिक और भावात्मक अन्त:प्रक्रियाके साथ घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध है जिसमें आदिकालसे ही सामाजिक व्यक्ति संगठित होता आया है; यह शक्ति न केवल सामुदायिक संहतिके भीतर विचारशील तत्वोंके सक्रिय विवेकको ही मुखर और मूर्त्त बनाती है बल्कि शीघ्र विलीन होनेवाली सामान्य इच्छाको भी मुखर और मूर्त बनाती है जिसमें जनताकी जब तब उभड़नेवाली भावनाएँ और निष्ठाएँ भी किसी प्रकार सम्बद्ध होती हैं और एक मूर्त रूप पा जाती हैं।'[२]

प्रसिद्ध समाज-शास्त्री मॉरिस गिन्सबर्ग कहते हैं, 'लोकमत अनेक बुद्धियोंकी अन्त:प्रक्रियासे उत्पन्न एक सामाजिक तत्व है।'[३] अमरीकी मनोवैज्ञानिक किम्बॉल यंग लिखते हैं : 'लोकमत उन मतोंसे बनता है जो किसी एक निश्चित समयमें जनताके मत होते हैं।'[४]

रूसेक का कहना है कि इन विभिन्न मतोंका विश्लेषण करनेसे मालूम होता है कि लोकमतमें चार तत्व निहित हैं। पहली बात यह है कि सदस्योंका गुट या एक 'जनता' होती है। दूसरी बात यह है कि गुटके इन सदस्योंके कुछ सामान्य हित या समस्याएँ होती हैं जिनके सम्बन्धमें वे एक दूसरेसे विचार विनिमय करते हैं, भले ही कभी-कभी किसी हद तक वे एक दूसरे से मतभेद भी रखें। तीसरी बात यह है कि एक या अधिक नेता होते हैं जिनका काम किसी निश्चित समयमें उत्पन्न मसलों पर अपना मत स्थिर करना और फिर गुटके सदस्योंका ध्यान उस मतकी ओर आकर्षित करना होता है। चौथी बात है गुटके सदस्यों द्वारा इस मतका स्वीकार किया जाना और इस मतसे उत्पन्न आवश्यक कार्यवाहीका समर्थन करना।

एक दूसरे लेखकका कहना है कि मतभेद लोकमतका सार है। लोकमतके निर्माण में विचारों और विरोधी शक्तियोंकी अन्त:प्रक्रिया काम करती है। जब किसी मतको गुटके अधिकांश भाग का समर्थन प्राप्त होता है तब वह मत उस समयके लिए सत्य मालूम होने लगता है। लेकिन जब नवीन तथ्यों और नवीन अनुभवों द्वारा इस सत्यका खण्डन होता है तब वह फिर एक 'मत' बन जाता है। इस प्रकार किसी निश्चित समयमें किसी निश्चित गुटमें सत्य और मतके बीच रस्साकशी चला करती

---

[१] Ibid, P. 358.
[२] Wilhelm Bauer : Public Opinion (Article contributed to the Encyclopaedia of Social Sciences, Vol. XII, P. 670).
[३] Morris Ginsberg : *The Psychology of Society*, p. 145.
[४] Kimball Young : Social Psychology.

है; अन्तर केवल यह है कि 'सत्यको तथ्यके रूपमें स्वीकार किया जाता है, मतको केवल विश्वासके रूपमें।'

[1] 'लोकमत' शब्दकी स्पष्ट स्वीकृति अट्ठारहवीं शताब्दीके पिछले भागमें मिली। फिर भी इससे मिलते-जुलते समानार्थक शब्द बहुत पहलेसे मिलते हैं। एथेन्सवासी 'ओसा' (*ossa*), 'फेमा' (*phema*) और 'नोमस' (*nomas*) तथा रोमनिवासी 'फेमा पॉपूलैरिस' (*fama popularis*) और 'वॉक्स पॉपुली' (*vox populi*) जैसी धारणाओंसे काम लेते थे। मध्यकालीन विचारधारा परम्परागत मतके प्रचलित रूपकी समर्थक थी। मैकियावेली ने 'पब्लिका वोसी ए फेमा' (*publica voce e fama*) की शक्तिकी ओर ध्यान आकर्षित किया था। सत्रहवीं शताब्दीमें इंगलैण्डमें होनेवाले गृह-युद्धने पहली बार लोकमतके स्वरूप और उसके कार्यको स्पष्ट किया। गौरवमय क्रान्ति (Glorious Revolution) के दार्शनिक जॉन लॉक ने सर्वप्रथम लोकमतको नैतिक और न्यायिक रूप देनेका प्रयत्न किया। अपने निबन्ध 'Essay Concerning Human Understanding (१६९०)' में उन्होंने लिखा है:

'अपने कर्मोंकी नैतिकता और अनैतिकताका निर्णय करनेके लिए जिन विधानों का सहारा प्रायः लोग लेते हैं, वे विधान तीन हैं:

(१) दैवी विधान, (२) नागरिक विधान, (३) मत या यशका विधान, यदि उसे यह नाम दिया जा सके। रूसो की 'वोलोन्ती जेनरेल' (लोकसम्मति) और जर्मनीके रोमाण्टिक लोगोंकी 'वोक्सज़ीस्त' लोकमतकी समानार्थी धारणाएँ हैं। फ्रांसीसी क्रान्तिके ठीक पहले 'ओपीनियन पब्लीक (opinion publique) शब्दका अत्यधिक प्रचलन हो गया था।

अनेक लेखकोंने लोकमतकी रूपहीनताकी आलोचना की है। मॉरिस गिन्सबर्ग ने लोकमतकी तुलना 'एक ऐसी वीणासे की है जिसमें लाखों तार लगे हैं। इन तारों को हर दिशासे आनेवाला झोंका छेड़ता है और जो स्वर निकलते हैं वे हमेशा संगीतात्मक नहीं होते।' सिसरो लोकमतको असंगत, अविवेकी और अविचारशील बताते हैं। फ्लॉबर्ट (Flaubert) की रायमें लोकमत एक शिशु है जो सामाजिक विकासकी सीढ़ीमें हमेशा नीचे ही खड़ा रहेगा।

ऐसा लगता है कि लोकमतमें एक स्वाभाविक अन्तर्विरोध है, जैसा कि एक लेखक ने लिखा है, जहां तक इसका 'लोक' पक्ष है यह अच्छा है पर 'मत' के रूपमें यह बुरा है। इसी कारण लोकमतको कुछ लोग भ्रामक, असंगत, रूपहीन और बालूके कणों की भांति दिन प्रतिदिन चलायमान बताते हैं। फिर भी इस विविधता और भ्रमके बीचसे ही कुछ ऐसे स्पष्ट विचार निकल आते हैं जिन्हें लोकमत कहा जा सकता है और जो किसी देशके बहुसंख्यक नागरिकोंके कार्योंका निर्देशन करते हैं। ध्यान देनेकी

---

[1] यहां दिये गये ऐतिहासिक अंशके लिए हम विल्हेल्म बॉवर के लेख पर निर्भर करते हैं।

एक बात यह है कि प्रसिद्ध लेखक वाल्टर लिपमैन (Walter Lippmann) ने १९२२ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'लोकमत' में जनताको अविचारशील बताया था परन्तु तीन वर्ष बाद इन्होंने अपनी नयी पुस्तक '*The Phantom Public* (१९२५) में अपने विचार बदल दिये।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोकमतका स्वरूप शिक्षामूलक होता है। 'अनेक बार सोचकर ही जनता सोचना सीख सकती है।' आज कोई भी सरकार साधारणतः लोकमतकी अवहेलना नहीं करेगी; क्योंकि ऐसा करनेका अन्तिम परिणाम होगा जनताका कोपभाजन बनना।

सरकारको लोकमत पर ध्यान देना चाहिए, इस रायके पक्षमें एक तर्क यह दिया जाता है कि जिसके काँटा लगता है वही उससे होनेवाले दर्दको महसूस करता है। किसी वस्तुके सम्बन्धमें निर्णय उस वस्तुका प्रयोग करनेवाला दे सकता है न कि उसे बनाने वाला विशेषज्ञ। अरस्तू की भाषामें रसोइये की अपेक्षा अतिथि ही परसे गये भोजनके बारेमें सही निर्णय दे सकता है। जनताकी राय ही अन्य किसी रायकी अपेक्षा जनता की अधिक भलाई कर सकती है और अधिक समय तक क़ायम रह सकती है।

लोकमतका मूल्यांकन. लोकमतकी पहचान हमेशा आसानीसे नहीं होती और पहचान लेने पर भी यह निश्चय करना आसान नहीं होता कि उसमें 'लोक' और 'मत' दोनों ही हैं। यदि हम चाहते हैं कि लोकमतसे सचमुच जनताको लाभ हो तो हमें सही लोकमत और ग़लत लोकमतमें अन्तर करना होगा। आजकल जो कुछ लोकमत मान लिया जाता है उसका निर्माण अत्यन्त कृत्रिम परिस्थितियोंमें होता है। यह वह मत है जिसका निर्माण और गठन दबाव डालनेवाले गुटों और निहित स्वार्थों द्वारा होता है, यह गुट और स्वार्थ किसी प्रकारके भी क्यों न हों। यह गुट और निहित स्वार्थ प्रायः इतने गुप्त ढंगसे और कृत्रिम रूपमें काम करते हैं कि जनता उनके बनाये हुए मतको स्वयं अपना मत और अपने लिए कल्याणकारी मत मानने लगती है, जबकि वास्तवमें यह मत कुछ इने-गिने लोगोंका अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिए होता है। जो लोग इस प्रकार लोकमतका निर्माण करते हैं वे जन-मनोविज्ञानके जाने-बूझे तत्वोंसे काम लेते हैं। वे लोग जनतामें फैली भय, घृणा, द्वेष और निषेधमूलक भावनाओंसे लाभ उठाते हैं। कभी वे जनताकी चापलूसी करते हैं और कभी उसकी निन्दा करते हैं।

लोकमतका निर्माण करनेवाली शक्तियोंमें पहला स्थान समाचार-पत्रोंको दिया जाना चाहिए। लोगोंकी विचार धारा प्रायः उनके प्रिय समाचार-पत्रसे प्रभावित होती है। बुद्धिमान लोग तो उस समाचार-पत्रके सम्पादक या प्रबन्धककी पृष्ठभूमि और उनके व्यक्तिगत अथवा वर्गीय स्वार्थोंको जाननेका प्रयत्न करेंगे, पर समाचार-पत्रोंके अधिकांश पाठक इतनी सावधानी नहीं रखते। इस प्रकार समाचार-पत्र और रायटर (Reuter) तथा प्रेस ट्रस्ट ऑफ़ इण्डिया जैसी समाचार एजेन्सियां पाठकोंके मन और मस्तिष्क पर अत्यधिक नियंत्रण रखने लगती हैं।

समाचार-पत्रोंके समान ही महत्वपूर्ण हैं सुसंगठित राजनीतिक दल, साम्प्रदायिक गुट और किसी न किसी रूपमें दबाव डालनेवाले गुट। सोवियत रूसमें जनताके कुछ प्रतिशत लोग ही साम्यवादी दलके सदस्य हैं, शेष लोग निष्क्रियसे ही हैं और वे लोग साम्यवादी दलके मतोंका समर्थन कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते हैं। फिर भी उस देशमें जिसे लोकमत कहा व माना जाता है वह प्रायः साम्यवादी दलके भीतरी गुटके ही विचार होते हैं। यद्यपि यही बात इसी हद तक भारतके बारेमें ठीक नहीं हो सकती फिर भी यह कहा जा सकता है कि अधिकतर मसलोंके बारेमें लोकमत कांग्रेस हाई कमाण्डके विचारोंका पर्यायवाची हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि कांग्रेस हाई कमाण्ड के विचार आवश्यक रूपसे स्वार्थमूलक या राष्ट्र विरोधी ही हों। इसका मतलब केवल इतना ही है कि सम्भव है कांग्रेस हाई कमाण्डके विचार वास्तवमें जनताके विचार न हों। साम्यवादी चीनमें जो भी लोकमत हो सकता है वह सावधानीपूर्वक किये गये मस्तिष्क-शोधन (brain-washing) का परिणाम है। हो सकता है कि उस देशमें अनेक लोग सरकारकी सफलताओंकी सराहना करते हों पर उन सफलताओंके साधनोंकी नहीं।

भारत जैसे देशमें जहां साम्प्रदायिक और जातीय निष्ठाओंका आज भी जोर है किसी खास गुटका मत समूचे देशके कल्याणका विरोधी हो सकता है। इसका यह अर्थ है कि किसी देशमें एक लोकमत होनेके बजाय लोकमतके क्रमशः ऊपर उठनेवाले विविध स्तर हो सकते हैं—स्थानीय, प्रान्तीय, भाषामूलक, साम्प्रदायिक अथवा जातीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय। अनेक बुद्धिमान लोगोंका विश्वास है कि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय निष्ठाओंको ऊँचा स्थान दिया जाना चाहिए और निम्नतर निष्ठाओंको उनके साथ सम्बद्ध कर देना चाहिए बशर्ते कि वह उनके विरोधमें न हों। यदि कोई निम्नतर निष्ठा या लोकमत उच्चतर निष्ठा या लोकमतके साथ सम्बद्ध नहीं किया जा सकता तो उसे अस्वीकार कर देना चाहिए।

सभी रोमन कैथोलिक देशोंमें और अनेक मुस्लिम देशोंमें गिरजाघर और मस्जिदोंका लोकमतके निर्माणमें महत्वपूर्ण भाग रहता है। सन्तति-निरोधके सम्बन्ध में सभी कैथोलिक मतावलम्बियोंकी समान राय इसका एक उदाहरण है। अनेक मुस्लिम देशोंमें आज भी राज्य, सम्पत्ति, उत्तराधिकार, विवाह और स्त्रियों तथा अन्य धर्मानुयायियोंके बारेमें मध्यकालीन विचार माने जाते हैं। ऐसे देशोंमें विचार-शील लोकमतको एक बहुत कठिन काम करना है।

अमरीका जैसे देशोंमें दबाव डालनेवाले गुटोंका प्रभाव सबसे अधिक स्पष्ट दिखायी देता है। वहां विभिन्न प्रकारके गुट विधान-मण्डल पर, हर स्तर पर अपना-अपना प्रभाव डालनेमें लगे रहते हैं। अनेक गुट हैं जो व्यावसायिक-मण्डल, राष्ट्रीय उत्पादक संघ, किसान संघ, मजदूर दल और यहूदी, नीग्रो, धर्म संघ आदि विविध अल्पसंख्यक समुदायोंका प्रतिनिधित्व करते हैं। यह जरूरी नहीं है कि इन गुटोंका प्रभाव बुरा ही हो या गुप्त ही हो। कुछ ऐसे भी गुट हैं जिनके बारेमें यह सोचा जा

सकता है कि उनका प्रभाव साराका सारा भलाई करनेवाला नहीं होता।

सरकार भी एक दबाव डालनेवाले गुटका स्थान ले सकती है। ऐसा विशेष रूप से युद्धकालमें हो सकता है या उस समय जब सरकारको किसी योजना या कार्यक्रम को स्वीकार करनेके लिए लोगोंको उभाड़ना या तैयार करना ज़रूरी होता है। आज-कल हर सरकारका एक सुसंगठित सूचना विभाग, प्रचार विभाग या जन-सम्पर्क विभाग होता है। इतने से हो सन्तुष्ट न होकर दूसरे देशोंमें भी उन देशोंकी स्वीकृतिसे सूचना विभाग खोले जाते हैं। सरकारी प्रचारमें प्रायः बहुत अधिक नमक-मिर्च लगा रहता है और प्रचारका आधार हमेशा सच्ची बातें नहीं होतीं। समाचारों और विचारोंके चयनमें एक उच्चकोटिकी छानबीन बरती जाती है और चुने हुए समाचार और विचार इस प्रकार रखे जाते हैं कि जनता उन्हें आसानीसे स्वीकार कर सके।

इस सबका यह मतलब नहीं है कि सरकार या अन्य दबाव डालनेवाले गुट जनताकी भावनाओं, इच्छाओं और उनके मौलिक विचारोंके प्रति बिल्कुल उदासीन रहते हैं। अच्छी सरकार हमेशा इस बातकी सावधानी रखती है कि नीतियों और कार्योंके बारेमें अन्तिम निर्णय करनेके पहले यह जान लिया जाय कि उन नीतियों और कार्योंके बारेमें जनताकी क्या राय है। पर यह भी सही है कि सरकारें व्यापारियोंकी भांति ग्राहकोंकी भावनाकी अनुयायी नहीं होतीं। संयुक्त-राज्य अमरीकामें बड़े-बड़े विभागीय गोदाम, रेस्ट्राँ और होटल अपने उपभोक्ता समाजकी आवश्यकताओं, इच्छाओं और प्रतिक्रियाओंकी गहरी छानबीन किया करते हैं। जहाँ आवश्यकता नहीं होती वहाँ भी वे नयी आवश्यकताएँ पैदा किया करते है। पर सरकारें बहुधा नौकरशाही मनोवृत्तिकी होती हैं। उन्हें यह विश्वास रहता है कि जनताकी आवश्यकताओं और प्रतिक्रियाओंकी कष्टदायक और सूक्ष्म छानबीन किये बिना ही उन्हें इस बातका पता रहता है कि जनताके लिए क्या कल्याणकारी है।

किसी सरकारके निरंकुश हो जाने और जनताकी पूरी अवहेलना करनेकी सम्भावना पर जो रोक लगी रहती है वह है क्रांतिका भय। जहाँ लोगोंके दिलमें यह भावना जम जाती है कि जान-बूझ कर उनके साथ अन्याय किया गया है वहाँ उनके द्वारा क्रान्तिका मार्ग अपनाये जानेकी सम्भावना रहती है। आँग्ल भाषा-भाषी देशों में ऐसी क्रान्तियां बहुत कम होती हैं क्योंकि अन्यायके इस सीमा तक पहुँचनेके पहले ही उसे सुधार दिया जाता है। इसके विपरीत लैटिन अमरीकी देशोंमें, जहाँके लोग अधिक चंचल बुद्धि और भावावेशी होते हैं, क्रान्तियाँ अधिकतर हुआ करती हैं। पर वहाँकी क्रान्तियोंका अर्थ हमेशा लोकमतके पक्षमें ही कोई स्पष्ट निर्णय नहीं होता।

लोकमत और लोकसम्मतिका पर्यायवाची धारणाएँ होना वाँछनीय है लेकिन ऊपर बतायी गयी परिस्थितियोंमें वह आवश्यक रूपसे एक ही नहीं होतीं। कुछ विशेष मामलोंमें तो लोकमत कुछ या अनेक लोगोंकी सामूहिक स्वार्थपरता भी हो सकता है। जैसा कि अरस्तू ने बहुत समय पहले कहा था, अनेक लोगोंका अनेक लोगोंके हितके

लिए शासन सच्चा लोकतंत्र नहीं है और न वह लोक सम्मतिकी अभिव्यक्ति ही है। लोकमत सबके हितमें होना चाहिए।

यदि लोकमतको सार्थक बनाना है तो यह आवश्यक है कि वह विचारपूर्ण, विचारगम्य और व्यापक हो। उसे इस योग्य होना चाहिए कि सावधानीसे उसकी व्याख्या की जा सके और उसे इस प्रकार प्रकट किया जा सके कि समझमें आ जाय। उसमें विरोधी शक्तियोंका समन्वय होना चाहिए। हीगेलवादी द्वन्द्ववादकी भाषामें कहें तो लोकमतका उदय एक पूर्वगामी सिद्धान्तके साथ उसके प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्तके संघर्षसे होता है। फिर लोकमत स्वयं शीघ्र ही एक सिद्धान्त बन जाता है जिसका विरोध कोई दूसरा प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्त करता है, इन दोनोंकी अन्तःप्रक्रियासे उच्चतर लोकमत बनता है।

स्वस्थ लोकमतके निर्माण और प्रचारके लिए निम्नलिखित बातोंकी आवश्यकता होती है:

१. तथ्योंको जाननेकी पूर्ण सुविधा। यह सुविधा सभी प्रकारके तथ्योंके जानने के लिए होनी चाहिए, केवल उन तथ्यों तक ही नहीं जो उन्हें प्रस्तुत करनेवालोंके अनुकूल हों।

२. नेताओं और जनता दोनोंमें निष्पक्ष दृष्टिकोण, शान्त विचार और प्रौढ़ विवेक। यदि लोकमतके निर्माणमें जनताको महत्वपूर्ण भाग लेना है तो यह जरूरी है कि लोग सुशिक्षित हों, विचारशील हों और पूर्वधारणाओं, द्वेष आदिसे मुक्त हों और उन्हें इतना अवकाश हो कि वे प्रमाणोंकी परख करके एक सुविचारित निर्णय तक पहुँच सकें।

३. व्यक्तित्व अथवा चरित्रकी स्वतंत्रता। व्यक्तिमें यह भावना और तत्परता होनी चाहिए कि वह अपनी निष्ठाओं और विश्वासों पर दृढ़ रहे और समयके प्रवाह के साथ बह न जाय।

४. राजनीतिक दलों, मजदूर-संघों, धार्मिक अथवा जातीय अधिकारियों और साम्प्रदायिक अथवा भाषा-परक गुटोंके कठोर नियंत्रणसे अपेक्षाकृत मुक्ति।

यद्यपि लोकमतकी सही-सही खोज कठिन होती है फिर भी वही एक ऐसी सुदृढ़ आधारशिला है जिस पर स्थायी लोकतंत्रका निर्माण किया जा सकता है।

Select Readings

Burns, C. D.—*Democracy : Its Defects and Advantages.*
Bryce, J.—*Modern Democracies* (Especially Part III).
Dewey, J.—*The Public and its Problems.*
Faguet, E.—*The Cult of Incompetence.*
Faguet, E.—*The Horror of Responsibility.*
Follett, M. P.—*The New State.*

GARNER, J. W.—*Political Science and Government*—pp. 305-11 and 387-412.

GETTELL, R. G.—*Introduction to Political Science*—Chs. XIII and XVI.

HEARNSHAW, F. J. C.—*Democracy at the Crossways.*

HEARNSHAW, F. J. C.—*Democracy and Labour.*

LINDSAY, A. D.—*Essentials of Democracy.*

„ „ —*I Believe in Democracy.*

„ „ —*The Modern Democratic State.*

LOTHIAN, LORD AND SEVERAL OTHERS—*Parliament or Dictatorship* (Spectator Series).

MALLOCK, W. H.—*Limits of Pure Democracy.*

MAXEY.—*Political Philosophies ch.*

MILL J. S.—*Representative Government.*

SMITH, T. V.—*The Democratic Way of Life.*

STEPHEN FITZJAMES—*Liberty, Equality & Fraternity.*

WATKINS, F.—*The Political Tradition of the West.*

WELLS, H. G.—*Democracy under Revision.*

१४

स्थानीय स्वशासन

(Local Self-Government)

स्थानीय स्वशासनका अर्थ. स्थानीय शासनका स्वरूप विभिन्न देशोंमें विभिन्न प्रकारका होनेके कारण इसकी बिल्कुल सही व्याख्या करना सम्भव नहीं है। फिर भी स्थानीय शासनका ऐसा साधारण अर्थ बतलाया जा सकता है जो अधिकांश परिस्थितियोंके उपयुक्त हो। आजकल राज्यकी शासकीय व्यवस्थाका क्षेत्र व्यापक होता है। देशके क़ानूनोंको लागू करनेके लिए राज्यके हर भागमें.....सरकारी एजेन्सियाँ और अधिकारीगण फैले रहते हैं। इन अधिकारियों या एजेन्सियोंकी नियुक्ति ऐसे छोटे-छोटे क्षेत्रोंमें भी हो सकती है जिनका अधिकार-क्षेत्र सीमित हो। देखने में यह भी एक प्रकारका स्वशासन मालूम पड़ सकता है क्योंकि इसका अर्थ होता है राज्यकी सरकार द्वारा नियुक्त ऐजेण्टों और अधिकारियोंका स्थानीय क्षेत्रों पर शासन। पर यह 'केन्द्रीय व्यवस्थाका एक भाग मात्र होता है और इसे "स्थानीय राज्य सरकार" कहा जा सकता है'।[1] दूसरे शब्दोंमें यह स्थानीय शासनका सही अर्थ नहीं है। यह तो केन्द्रीय सरकारका स्थानीय स्वरूप ही हो जाता है जिससे देशके विभिन्न भागोंमें सरकारी चौकियाँ या कार्यालय स्थापित होते हैं। केन्द्रीय या राज्य सरकारकी इन 'चौकियों' या 'अधिकारियों' को स्थानीय सरकार नहीं कहा जा सकता।

स्थानीय शासनका अर्थ है उन स्थानीय संस्थाओं द्वारा शासन जो जनता द्वारा चुनी गयी हो तथा जिन पर राष्ट्रीय सरकारका नियंत्रण होते हुए भी कुछ मामलोंमें अधिकार, विवेक (discretion) और जिम्मेदारी प्राप्त हो, जिनका प्रयोग वे किसी उच्चतर अधिकारीके नियंत्रणके बिना कर सकें'।[2] स्थानीय शासनको 'ऐसा शासन भी बतलाया गया है जो अपने सीमित क्षेत्रमें प्रदत्त (delegated) अधिकारोंका प्रयोग करता है'।[3] पर स्थानीय शासन अपने क्षेत्रमें सम्प्रभुता सम्पन्न नहीं होता। स्थानीय स्वशासन संस्थाओंका निर्माण राष्ट्रीय या राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है और वे अपने निर्माताओं पर बहुत कुछ निर्भर करती हैं। उदाहरणके लिए भारत

---

[1] G. Montague Harris : Comparative Local Government, P. 9.
[2] Ibid, p. 9.
[3] G. D. H. Cole : Local and Regional Government, p 28.

में स्थानीय संस्थाओंका निर्माण राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है। ये संस्थाएँ राज्य सरकार द्वारा दिये गये अधिकारोंका प्रयोग करती हैं और राज्य विधान-मण्डलों द्वारा बनाये गये क़ानूनोंको लागू करती हैं। इसलिए मोटेतौर पर यह कहा जा सकता है कि राज्य या केन्द्रीय सरकार और स्थानीय शासन अपने पारस्परिक सम्बन्धोंमें एक दूसरे पर निर्भर हैं। साथ ही साथ स्थानीय संस्थाओंको पर्याप्त स्वशासन प्राप्त रहता है। प्रदत्त अधिकारोंके ढाँचेके भीतर रहते हुए स्थानीय संस्थाएँ स्थानीय आवश्यकताओं और समस्याओंको हल करने में बहुत कुछ स्वतंत्र रहती हैं।

स्थानीय शासनके अंगों और स्थानीय जनतामें जो सम्बन्ध रहता है उससे स्थानीय शासनके एक अन्य स्वरूपका पता लगता है। स्थानीय संस्थाएँ स्थानीय जनता द्वारा चुनी जाती हैं। उस क्षेत्रके निवासी स्थानीय शासनके विभिन्न अंगोंके निर्माण और कार्य कलापमें स्वतंत्रतापूर्वक भाग लेते हैं।

इससे पता चलता है कि स्थानीय शासनका अर्थ है शासकीय अधिकारोंका पर्याप्त विकेन्द्रीकरण। यह न तो सम्भव है और न वांछनीय कि कोई सरकार समूचे देश पर एक केन्द्रीय संगठन द्वारा शासन करे। स्थानीय आवश्यकताओं, हितों और समस्याओंको सबसे अच्छी तरह वे लोग ही समझ सकते हैं जो वहाँ रहते हैं। स्थानीय प्रशासन पर स्थानीय जनताका नियंत्रण ही उपयुक्त है। उदाहरणके लिए किसी स्थानकी सड़कों, सफाई, नालियों, स्वास्थ्य, प्रारम्भिक स्कूलों और अस्पतालों आदिके मामलोंको वहाँके रहने वाले ही सबसे अच्छी तरह समझ सकते हैं और वे ही उनका प्रबन्ध करके और उनको संगठित करके अधिक से अधिक लाभ उठा सकते हैं। इसके अतिरिक्त लोकतंत्रमें जनताको यह अवसर मिलना ही चाहिए कि वह अपने मामलों का प्रबन्ध और अपने हितोंकी रक्षा स्वयं अपने ढंगसे करे। इसका परिणाम यह होता है कि केन्द्रीय सरकार अथवा राज्य सरकार उन लोगोंके प्रति अपनी जिम्मेदारियोंसे मुक्त हो जाती है, जो ऐसे क्षेत्रोंमें रहते हैं जहाँ स्थानीय स्वशासनकी स्थापनाकी जा सके। स्थानीय क्षेत्रोंमें स्थापित ऐसी स्थानीय संस्थाओंको केन्द्रीय सरकार अपने कुछ अधिकार दे देती है।

विकेन्द्रीकरणके सम्बन्धमें एक समस्या यह उठ खड़ी होती है कि विकेन्द्रीकरण किस हद तक होना चाहिए अर्थात् कौन-कौन अधिकार स्थानीय संस्थाओंको दिये जायँ और कौन-कौन अधिकार केन्द्रीय सरकार अथवा राज्य सरकार अपने पास बनाये रखें? इस प्रश्नका कोई निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता। केन्द्रीकरण या विकेन्द्रीकरणकी मात्रा एक देशसे दूसरे देशमें भिन्न होती है। प्रत्येक देशमें इसका निश्चय परिनियमों द्वारा किया जाता है। पर निर्धारित सीमाओंके भीतर स्थानीय शासन स्वतंत्र होते हैं।

लीकॉक का कहना है कि स्थानीय शासन और राज्य या केन्द्रीय शासनमें जो अन्तर होता है वह 'अंशतः उनकी वैधानिक स्थितियोंके सम्बन्धमें और कुछ उनके

द्वारा की गयी सार्वजनिक सेवाओंके रूपमें होता है।' इसी प्रकार सिजविक ने बताया है कि 'एकात्मक राज्यमें "स्थानीय शासन" शब्दका तात्पर्य शासनके उन अंगोंसे है जो पूर्णतया केन्द्रीय विधानमण्डलोंके अधीन होते हुए भी नियुक्तियोंमें केन्द्रीय कार्य-पालिकासे स्वतंत्र होते हैं। ये अंग अपने निर्णयोंमें भी बहुत कुछ स्वतंत्र होते हैं और सार्वजनिक धनके कुछ भागों पर उनका कुछ-कुछ स्वतंत्र नियंत्रण रहता है'।[1]

यह अन्तर स्थानीय और केन्द्रीय शासनों द्वारा शासित क्षेत्रोंके विस्तार या जनसंख्या पर आधारित नहीं है। उदाहरणार्थ मोनाको राज्यका क्षेत्रफल केवल आठ वर्ग मील है और उसकी जनसंख्या केवल २३,००० है। कलकत्ता कॉरपोरेशनका अधिकार इससे कहीं अधिक बड़े क्षेत्र और जनसंख्या पर है। लेकिन मोनाको एक स्वतंत्र राज्य है और कलकत्तेका कॉरपोरेशन स्थानीय शासनकी एक इकाई मात्र है।

लेकिन स्थानीय शासन और राज्य या केन्द्रीय शासनमें एक महत्वपूर्ण अन्तर उनके द्वारा किये गये कार्योंके आधार पर किया जा सकता है। एक राज्यकी केन्द्रीय सरकार बाहरी खतरोंसे राज्यकी रक्षा करती है, देशमें शान्ति और व्यवस्था कायम रखती है, वैदेशिक सम्बन्धोंका संचालन करती है, मुद्रा चलाती है, सशस्त्र सेनाका संगठन करती है, वाणिज्य और व्यापारका नियमन करती है, और संवहन और यातायात आदिके साधनोंका नियंत्रण करती है। दूसरी ओर स्थानीय शासनकी इकाइयोंके कार्य इस प्रकार हैं : जल, बिजली, और गैसका प्रबन्ध, ट्राम और बसोंकी सेवाएँ, नगरकी नालियां और सफाईकी व्यवस्था, स्कूल, पुस्तकालय, उद्यानों, अस्पतालों आदि का प्रबन्ध। इस प्रकार स्थानीय शासनोंका सम्बन्ध स्थानीय मामलोंसे होता है जिनके लिए स्थानीय विवरणका ज्ञान और स्थानीय अनुभवकी आवश्यकता होती है। दूसरी ओर केन्द्रीय शासनका सम्बन्ध राष्ट्रीय महत्वके मामलोंसे या उन विषयोंसे होता है जिसमें पूरे देश और समूची जनसंख्याका हित निहित हो।

स्थानीय स्वशासनकी व्याख्या. स्थानीय शासनके अर्थके बारेमें ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्थानीय शासनकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है : स्थानीय शासन केन्द्रीय सरकार (या संघ राज्यमें राज्य सरकार) के अधिनियम द्वारा निर्मित एक शासकीय इकाई है जिसमें नगर या गाँवकी भाँति एक क्षेत्रकी जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं और जो अपने अधिकार क्षेत्रकी सीमाओंके भीतर लोक-कल्याण के लिए प्रदत्त अधिकारोंका प्रयोग करती है।

स्थानीय स्वशासनका महत्व. स्थानीय शासनका अर्थ समझनेके बाद उसके अस्तित्वके महत्वका विश्लेषण करना उचित होगा।

(१) स्थानीय शासनका पहला लाभ यह है कि इससे कार्यदक्षता बढ़ती है। स्थानीय शासनके क्षेत्रमें रहनेवाली जनता स्थानीय संस्थाके प्रदत्तकार्योंमें दिलचस्पी लेने लगती है। वे कार्योंमें भाग लेनेके अवसरका उपयोग करते हैं। वे ही स्थानीय

---

[1] H. Sidgwick : Elements of Political Science.

समस्याओं और आवश्यकताओंको सबसे अच्छी तरह समझते हैं और वे ही यह जानते हैं कि स्थानीय समस्याओंको किस प्रकार हल किया जा सकता है और स्थानीय आवश्यकताओंकी पूर्ति किस प्रकार की जा सकती है। स्थानीय शासकीय संस्थाओंमें जनताकी इस दिलचस्पीके कारण शासकीय कार्य दक्षतापूर्वक किये जाते हैं। सम्भव है कि केन्द्रीय सरकारके प्रतिनिधि स्थानीय समस्याओंको न समझ सकें और स्थानीय समस्याओंका हल ढूंढ़ निकालना उनके लिए सम्भव न हो। दूरस्थ क्षेत्रोंमें कार्य करने में उन्हें अवश्य ही बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। इन कार्योंको स्थानीय शासन आसानीसे दक्षतापूर्वक कर सकता है।

(२) स्थानीय शासनसे खर्चमें कमी होती है। जब कुछ लाभप्रद कार्य केवल एक विशेष क्षेत्रके लिए किये जाते हैं तो यह उचित ही है कि उन कार्योंका खर्च वह क्षेत्र ही उठाये। फलतः केन्द्रीय सरकार कुछ खर्च करनेसे बच जाती है। स्थानीय शासनको अपना खर्च पूरा करनेके लिए कर लगानेका अधिकार होता है। केन्द्रीय सरकार स्थानीय संस्थाको कुछ आर्थिक सहायता दे सकती है, पर उसका खर्च तो कम हो ही जाता है।

(३) स्थानीय शासन केन्द्रीय शासनका कुछ बोझ अपने ऊपर ले लेता है। केन्द्रीय शासन अपने कुछ कार्य स्थानीय शासनको सौंप देता है। फलतः स्थानीय शासन केन्द्रीय या राज्य सरकारोंको बहुत-से कार्यों या जिम्मेदारियोंसे मुक्त कर देता है।

(४) स्थानीय शासनसे जनताको राजनीतिक प्रशिक्षण लेने का अवसर मिलता है। स्थानीय शासनके कार्योंमें भाग लेकर जनता स्वयं शासनकी रीति-नीतिको देख और समझ सकती है। जनता राजनीतिक तौर पर सजग रहती है और करोंके औचित्य, चुनावके तरीक़े और शासनके कार्योंको समझ सकती है कि शासन अपने कर्तव्य पूरे कर रहा है या नहीं। नागरिक सार्वजनिक मामलोंसे परिचित हो जाता है। स्थानीय संस्थाएँ नागरिकोंको राज्य और देशकी राजनीतिमें भाग लेनेके योग्य बनाती हैं।

(५) यह केन्द्रीय या राज्य-शासनको परामर्श देनेवाली संस्थाकी भाँति काम करता है। किसी प्रस्तावित विधानके सम्बन्धमें केन्द्रीय सरकार स्थानीय संस्थाओं से महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकती है। स्थानीय संस्थाओंको स्थानीय परिस्थितियों और कठिनाइयोंका ज्ञान और अनुभव होता है और वे अपने ज्ञान और अनुभव के बल पर केन्द्रीय सरकारकी बहुत सहायता कर सकती हैं।

(६) इससे जन-सहयोग मिलना अधिक आसान हो जाता है। लोकतंत्रमें शासकीय कार्योंमें जनताका सहयोग अनिवार्य होता है। स्थानीय शासनके द्वारा जनता शासनके कार्योंमें सक्रिय भाग लेने लगती है। जब जनता निचले स्तरों पर सहयोग करना प्रारम्भ कर देती है तब राज्य और केन्द्रके शासनमें जनताका उच्च-स्तरीय सहयोग आसान हो जाता है।

(७) स्थानीय शासन जनताको सुविधाएँ पहुँचानेका एक साधन है। स्थानीय शासन सफ़ाई, सड़कों, स्वास्थ्य, जल, बिजली आदि की समस्याएँ हल करके जनता को सुविधाएँ पहुँचाता है। जनताके लिए भी यह अधिक असुविधाजनक होता है कि उनकी समस्याएँ केन्द्रीय शासनके प्रतिनिधि द्वारा हल न की जाकर स्थानीय शासन द्वारा हल की जायँ।

(८) इन सब बातोंके अतिरिक्त स्थानीय शासनका लोकतंत्रमें एक विशेष महत्व होता है। स्थानीय शासनके बिना लोकतंत्र जनताके लिए अर्थहीन हो जाता है। आमतौर पर सरकारकी कार्य प्रणालीमें जनताको रुचि नहीं होती। जनता आम चुनावोंमें विधान-मण्डलोंके सदस्योंके लिए या राष्ट्रपतिके लिए वोट दे सकती है। पर वह स्वयं यह तय नहीं कर सकती कि किसी विशेष क्षेत्रमें सड़क होना चाहिए या नहीं, पीनेके पानी और बिजली का प्रबन्ध होना चाहिए या नहीं, और नालियों आदि का प्रबन्ध होना चाहिए या नहीं। दूसरे शब्दोंमें मनुष्यके दैनिक जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओंको जनता उस समय तक स्वयं हल नहीं कर सकती जब तक कि स्थानीय संस्थाएँ न हों जिनके द्वारा जनता अपनी समस्याओं और आवश्यकताओंको प्रकट कर सकें। स्थानीय शासन-प्रणालीसे जनता अपनी समस्याओंको हल करनेमें सक्रिय भाग ले सकती है। दूसरे शब्दोंमें हम यह कह सकते हैं कि स्थानीय शासन द्वारा लोकतंत्र वास्तविक और व्यावहारिक रूप ग्रहण कर सकता है। स्थानीय शासन प्रत्येक व्यक्तिके मकानके दरवाजे पर लोकतंत्रको लाकर खड़ा कर देता है।

(९) स्थानीय शासन जनतामें जन भावना और उदार दृष्टिकोणका निर्माण भी करता है। जनता यह समझने लगती है कि व्यक्तिगत लाभ सार्वजनिक हितके अधीनहोना चाहिए। जनता यह भी समझने लगती है कि सबकी भलाईसे ही उसकी भलाई है। स्थानीय शासनके कार्य-कलापसे जनता यह आसानीसे समझ सकती है कि उसे अपने सुख और लाभ के लिए त्याग करना होगा।

(१०) स्थानीय शासनसे नागरिक गुणोंका प्रशिक्षण होता है तथा अधिकारों और कर्तव्योंको ठीक प्रकार समझा जाने लगता है। जनता यह समझने लगती है कि यदि वह अधिकारोंका आनन्द उठाना चाहती है तो उसे पहले अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। जनता यह अनुभव करती है कि उसे जो सुविधाएँ मिली हैं वे उसके द्वारा पूरे किये गये कर्त्तव्यों तथा दिये गये करों का परिणाम हैं। इस प्रकार अधिकारों और कर्तव्योंके अनिवार्य सम्बन्धको जनता समझने लगती है और परिणाम स्वरूप उसमें अच्छी नागरिकताकी भावना फैल जाती है।

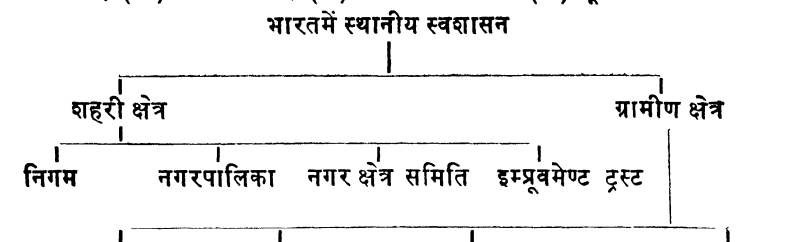
(११) स्थानीय शासनसे शासन-कलामें प्रशिक्षित होनेका भी अवसर मिलता है। कुछ लोग स्थानीय संस्थाके अधीन अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं, कुछ लोग स्थानीय संस्थाके सदस्य चुने जाते हैं, और फिर कुछ अन्य लोग कार्यालयमें या अन्य निम्न स्तरोंमें काम करते हैं। इस प्रकार लोग यह सीखते हैं कि एक चुनी हुई संस्था

किस प्रकार काम करती हैं; समितियाँ किस प्रकार काम करती हैं, प्रशासन किस प्रकार चलता है; कार्यालयका संगठन किस प्रकार होता है और कार्यालयके कर्मचारी गण किस प्रकार काम करते हैं, इत्यादि। दूसरे शब्दोंमें स्थानीय-शासन शासनके विभिन्न तरीकोंको आसानीसे सीखनेका अवसर देता है।

(१२) राजनीतिक शिक्षा और शासन कलामें प्रशिक्षणका अवसर देकर स्थानीय शासन व्यक्तिके व्यक्तित्वका विकास करनेका साधन बन जाता है। यह ऐसे अवसर देता है जिससे व्यक्तिकी प्रेरणा और जनताकी सेवा करनेकी क्षमताका विकास होता है। यह व्यक्तिके दृष्टिकोणको व्यापक बना देता है और इससे लोकतंत्रकी आवश्यकताके अनुसार व्यक्तिके व्यक्तित्वको सुधारनेमें बड़ी सहायता मिलती है।

(१३) अन्तमें स्थानीय शासन स्वतंत्रता और स्वाधीनताके गढ़ हैं। वे जनता को अत्याचार तथा व्यक्तिको केन्द्रीय शासनके अधिनायकवादी आधिपत्यसे बचाते हैं। बहुधा यह कहा जाता है कि व्यावहारिक तौर पर जनताके लिए लोकतंत्रका कोई अर्थ नहीं है। लोकतंत्रमें जनकल्याणकी प्रगति बहुत धीमी होती है, स्थानीय स्वशासन लोकतंत्रके विरुद्ध इस चुनौतीका उत्तर है। स्थानीय स्वशासन लोकतंत्र के लाभोंको सामान्य जन तक पहुँचाता है और उन आलोचनाओंका समुचित उत्तर है जो लोकतंत्रके विरुद्ध की जाती हैं।

स्थानीय शासनका ढाँचा (Structure of Local Government). भारतमें स्थानीय शासनका वर्तमान ढाँचा ब्रिटिश शासनकी देन है। ब्रिटिश सरकार ने यहाँ भी स्थानीय शासनको वही रूप दिया था जो इसे इंगलैण्डमें प्राप्त है। इंगलैण्डमें स्थानीय शासनके दो क्षेत्र होते हैं—शहरी और ग्रामीण। भारतमें भी दो पृथक् क्षेत्र हैं और दो पृथक् प्रणालियाँ हैं। एक शहरी क्षेत्रके लिए और दूसरी ग्रामीण क्षेत्रोंके लिए। स्थानीय क्षेत्रोंका यह दो विभागोंमें विभाजन—एक नगरोंके लिए और दूसरी ग्रामीण क्षेत्रोंके लिए—अधिकांश देशोंमें पाया जाता है। भारतमें शहरी क्षेत्रोंमें चार मुख्य प्रकारकी स्थानीय संस्थाएँ पायी जाती हैं: (क) बड़े नगरोंमें निगम (Corporation), (ख) छोटे नगरोंमें नगरपालिका (Municipal Board), (ग) इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट और (घ) नगर क्षेत्र समिति (Town or Notified Area Committee)। ग्रामीण क्षेत्रोंमें स्थानीय शासन संस्थाएँ इस प्रकार की हैं—(क) जिला बोर्ड, (ख) स्थानीय बोर्ड, (ग) ग्राम पंचायत और (घ) यूनियन बोर्ड।



भारतीय संविधानके अनुसार स्थानीय शासनका विषय राज्योंके अधिकार क्षेत्रमें है। हर राज्यको अपने क्षेत्रमें स्थानीय संस्थाओके निर्माण और कार्योंसे सम्बन्धित क़ानून बनानेका अधिकार है। फलतः स्थानीय संस्थाओंके मौलिक ढाँचे और स्वरूप में विभिन्नता न होते हुए भी उनका वाह्यस्वरूप विभिन्न राज्योंमें विभिन्न प्रकारका हो सकता है।

शहरी क्षेत्र. भारतमें शहरी क्षेत्रोंका स्थानीय शासनका ढाँचा सोपानतंत्रीय (hierarchical) नहीं है। यह ढांचा इंगलैण्डके स्थानीय शासनके ढांचेसे मिलता-जुलता है।

निगम (Corporation). भारतमें कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, दिल्ली और पटना जैसे बड़े नगरोंमें निगम स्थापित किये जा चुके है। हमारे नगरोंमें निगमोंकी संख्या तेज़ीसे बढ़ रही है। हर राज्य क़ानून बनाकर बड़े-बड़े नगरोंमें निगमोंकी स्थापना कर रहा है। निगमोंकी तुलना इंगलैण्डके काउण्टी बरो (County Boroughs) से की जा सकती है। भारतमें निगमोंकी प्रगति दिनप्रति दिन बढ़ने वाली शहरी आबादी और शहरोंके औद्योगीकरणका परिणाम है। नगरी आबादीकी आवश्यकताएँ बदल गयी हैं और पहलेसे बहुत बढ़ गयी हैं। इसलिए शहरोंमें निगमोंकी आवश्यकता हो गयी है। 'निगमोंके कार्य और अधिकार नगर-पालिकाओं के कार्यों और अधिकारोंसे अधिक होते हैं'—(कर जांच कमीशनकी रिपोर्ट)। दूसरे शब्दोंमें निगम नगरपालिकाओंके विकसित और विस्तृत रूप हैं। साथ ही साथ निगमों में जनसंख्याका स्तर एकसा नहीं होता। उदाहरणके लिए बम्बई और सिकन्दराबाद दोनोंमें निगम हैं। बम्बईकी जनसंख्या १८ लाख से अधिक है पर सिकन्दराबादकी जनसंख्या २ लाखसे भी कम है। निगमोंके क्षेत्र भी एक समान नहीं होते। निगम परिषदमें चुने जानेवाले सदस्योंकी संख्या भी विभिन्न निगमोंमें विभिन्न होती है। पर सभी राज्योंमें निगमोंका ढांचा और उनके कार्य लगभग एकसे होते हैं।

नगरपालिका (Municipal Board). भारतमें नगरपालिकाओंकी स्थापना ऐसे नगरोंमें की गयी है जिनकी जनसंख्या ५ हज़ार से अधिक होती है। नगर-पालिकाओंकी रूपरेखा, अधिकार और कार्य राज्य सरकार द्वारा बनाये गये क़ानूनों पर निर्भर करते हैं। कुछ नगरपालिकाओंमें सभी सदस्य निर्वाचित ही होते हैं, पर कुछ नगरपालिकाओंमें मनोनीत सदस्य भी होते हैं। भारतमें लगभग ६०० नगर-पालिकाएँ हैं।

नगर क्षेत्र समितियां (Town or Notified Area Committees). छोटी जनसंख्याके शहरी क्षेत्रोंमें नगर क्षेत्र समितियां स्थापित की जाती हैं। इस प्रकारकी यह समितियां पंजाब, उत्तर प्रदेश और बिहारमें पायी जाती हैं। इन्हें छोटी नगरपालिका कहा जा सकता है। इनके कुछ सदस्य चुने जाते हैं और कुछ उस क्षेत्रके जिला बोर्ड द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। इन समितियोंकी आमदनी नगरपालिकाओंकी आमदनीसे कम होती है। इन समितियों पर जिलाधीश या

हाकिम-परगनाका नियंत्रण भी अधिक रहता है। नगर क्षेत्र समितियोंकी तुलना इंगलैण्डके शहरी ज़िलों (urban districts) मे की जा सकती है।

इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट (Improvement Trust). इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट की स्थापना मुख्यत: नगरोंमें रहनेवाली जनताकी सफ़ाई, स्वास्थ्य और अन्य सुविधाओंमें सुधार करनेके लिए की जाती है। इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट इमारतोंको बेसिलसिलेवार बननेसे रोककर नगरका व्यवस्थित विकास करते हैं। नगरमें खुले स्थानों, पार्कों, चौड़ी सड़कों, बाजारों, सार्वजनिक पाखानों आदिकी व्यवस्था करना इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्टोंका काम है। इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्टोंकी स्थापना एक निश्चित उद्देश्यके लिए की जाती है इनको 'तदर्थ संस्थाएं' (ad hoc bodies) भी कहते हैं।

बन्दरगाह ट्रस्ट (Port Trust). कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, विशाखपट्टनम और कोचीनमें स्थानीय संस्थाओंके रूपमें बन्दरगाह ट्रस्ट होते हैं। इन ट्रस्टोंके सदस्य वाणिज्य और व्यापारकी संस्थाओं द्वारा चुने जाते हैं। कुछ सदस्य सरकार भी मनोनीत करती है। इन ट्रस्टोंका बन्दरगाहों पर अधिकार होता है और ये बन्दरगाहोंके डॉकयार्डों (Dockyards) और गोदामोंका नियंत्रण करते हैं।

छावनी बोर्ड (Cantonment Board). छावनी बोर्ड उन स्थानों पर पाये जाते हैं जहां सैनिकोंके अड्डे होते हैं। इन बोर्डोंका काम छावनी क्षेत्र की देख-भाल करना होता है। इसके सदस्य आमतौर पर चुने हुए होते हैं पर बोर्डका अध्यक्ष सरकार द्वारा मनोनीत अधिकारी होता है। छावनी बोर्डोंका निरीक्षण और नियंत्रण सैनिक नियमोके अनुसार होता है।

ग्रामीण क्षेत्र. भारतके ग्रामीण क्षेत्रोंके स्थानीय शासनका ढांचा इंगलैंडके ग्रामीण क्षेत्रोके स्थानीय शासनके ढांचेसे भिन्न होता है। भारतमें यह ढांचा सोपान-तंत्रीय होता है। इंगलैण्डमें ऐसा नहीं है। भारतमें स्थानीय बोर्डों (Local Boards) और ग्राम पंचायतों पर जिला बोर्डोंका नियंत्रण रहता है।

ज़िला बोर्ड (District Board). भारतके हर राज्यमें ज़िला बोर्ड होते हैं। पर आसाममें जिला बोर्डके स्थान पर स्थानीय बोर्ड होते हैं। भारतमें लगभग १८७ ज़िला बोर्ड हैं। भारतमें ज़िला मुख्य प्रशासकीय इकाई है। ज़िलेके स्थानीय विषयों और समस्याओंसे निपटनेके लिए ज़िला बोर्डोंकी स्थापना सर्वप्रथम १८७० में लॉर्ड मेयो (Lord Mayo) द्वारा की गयी थी। ज़िला बोर्डोंकी तुलना इंगलैण्डमें प्रशास-कीय काउण्टी (Administrative County) से की जा सकती है।

स्थानीय बोर्ड (Local Board). यह स्थानीय इकाइयां ज़िला बोर्डोंके निरीक्षणमें होती हैं। इन्हें स्थानीय बोर्ड और कुछ राज्योंमें तालुका बोर्ड या सर्किल बोर्ड कहते हैं। इनका स्थान ज़िलोंके परगनोंमें होता है। इनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। इनके बजट जिला बोर्डों द्वारा निश्चित किये जाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रोंमें स्थानीय शासनको सरल करनेके लिए स्थानीय बोर्डोंको समाप्त करनेका प्रस्ताव है।

यूनियन बोर्ड (Union Board). यूनियन बोर्डोंकी स्थापना बड़े गांवोंमें या

गांवोंके एक समूहमें की जाती है। वे स्थानीय बोर्डोंके समान होते हैं। वे बहुत उपयोगी सिद्ध नहीं हुए हैं।

ग्राम पंचायत. ग्राम पंचायत भारतमें स्थानीय स्वशासनका निम्नतर स्तर है। इसकी तुलना इंगलैण्डमें ग्रामीण पेरिश (rural parish) से की जा सकती है। एक बड़ा गांव या कुछ छोटे गांव मिलकर एक ग्राम पंचायतका क्षेत्र बन सकते हैं। ग्राम पंचायतके लिए कमसे कम एक हज़ारकी आबादी आवश्यक है। पर यह संख्या विभिन्न राज्योंमें विभिन्न हो सकती है। एक बड़ी जनसंख्या वाले बड़े गांवमें दो ग्राम पंचायतें भी हो सकती हैं। भारत गांवोंका देश है जहांके अधिकतर लोग खेती-बारी करते हैं। इसलिए पंचायतोंका महत्व स्पष्ट है। आशा की जाती है कि ग्राम पंचायतें छोटे गणतंत्रका रूप ग्रहण करके भारतमें सच्चे लोकतंत्रकी स्थापना करेंगी।

स्थानीय शासनके कार्य. स्थानीय शासनकी इकाइयोंके कार्य नाना प्रकारके हैं। यह कार्य बहुत कुछ स्थानीय आवश्यकताओं और समस्याओं पर और स्थानीय संस्थाके स्वरूप पर निर्भर करते हैं। पर आमतौर पर किये जानेवाले कार्योंका वर्गीकरण निम्न प्रकारसे किया जा सकता है:

(१) **नागरिक कार्य (Civil functions).** स्थानीय शासन ऐसे अनेक कार्य करते हैं जिनका सम्बन्ध नागरिकोंके जीवनकी सुविधाओंसे होता है।

(क) इसका सर्वप्रथम काम स्वास्थ्यकी देखरेख करना है। इसके अतिरिक्त स्थानीय शासनके निम्नलिखित कार्य भी हैं: गन्दे पानी आदिको बाहर निकालनेकी व्यवस्था करना, गांव या शहरको साफ़ रखना, संक्रामक बीमारियोंको रोकना, दवाइयों तथा अस्पतालकी व्यवस्था करना, खुले स्थानों, उद्यानों और क्रीड़ा स्थलोंकी व्यवस्था करना आदि।

(ख) स्थानीय शासनका दूसरा कार्य है अपने क्षेत्रमें अच्छी सड़कों और यातायातकी व्यवस्था करना। चौड़ी सड़कें, बस, ट्रामों, टैक्सियों आदि किराये की गाड़ियोंका नियमन करना स्थानीय शासनका महत्वपूर्ण कार्य है।

(ग) एक और महत्वपूर्ण कार्य है—पीनेके पानीकी और जहाँ सम्भव हो वहाँ बिजलीकी व्यवस्था करना। कुछ नगरोंमें चौराहोंके लिए गैसकी व्यवस्था की जाती है।

(२) **सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य (Social and Cultural functions).** स्थानीय शासन जनताके मनोरंजनकी व्यवस्था भी करता है। कुछ स्थानों पर नगरपालिकाकी ओरसे सिनेमा-भवन और क्लब होते हैं। विभिन्न खेल-कूदोंकी भी व्यवस्था की जाती है। क्रीड़ा स्थलों (stadiums) का निर्माण किया जाता है जहाँ बैठकर हज़ारों लोग फुटबाल आदिके मैच देख सकते हैं। जनताके सांस्कृतिक विकासके लिए पुस्तकालयों और वाचनालयोंकी व्यवस्था की जाती है। स्थानीय शासन संग्रहालयों, जिन्दा अजायबघरों, कला-गैलरियों (art-gallaries)

की भी व्यवस्था करता है। यह प्रारम्भिक या बुनियादी शिक्षाका प्रबन्ध और नियंत्रण करता है। वयस्कों और बूढ़े लोगोंकी शिक्षाका भी प्रबन्ध किया जाता है।

(३) **आर्थिक कार्य** (**Economic functioms**). स्थानीय आर्थिक व्यवस्था बहुत कुछ स्थानीय शासन पर निर्भर करती है। खाद्य-पदार्थों, तरकारियों और इसी प्रकारकी अन्य वस्तुओंके मूल्य निर्धारणका नियमन स्थानीय शासन द्वारा किया जाता है। स्थानीय शासन कभी-कभी निम्नलिखित आर्थिक कार्य भी करता है: ग्रामीण या कुटीर उद्योग, खेतीबारीके तरीक़ोंमें सुधार, बीजों और खादोंका वितरण, पशुपालन आदि।

(४) **विकास कार्य** (**Developmental functions**). स्कूल, अस्पताल, सड़कें, जलाशय, आदि बनाना स्थानीय शासनका महत्वपूर्ण कार्य है। आमतौर पर स्थानीय जीवनमें सुधार करना स्थानीय संस्थाओंका कार्य होता है।

(५) **प्रशासकीय कार्य** (**Administrative functions**). स्थानीय-स्वशासन संस्थाएँ प्रशासकीय इकाई भी होती हैं। वे कर आदि वसूल करती हैं तथा अपने द्वारा बनाये गये कार्यक्रमों और नियमोंको कार्यान्वित करती हैं। स्थानीय क्षेत्रों के विकासकी विभिन्न योजनाओं और कार्यक्रमोंको वे पूरा करती हैं।

(६) **पुलिस कार्य** (**Police functions**). स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ नागरिकोंके जान व मालकी सुरक्षाका भी प्रबन्ध करती हैं। कहीं-कहीं नियमित पुलिस दल भी रखा जाता है।

(७) **न्यायिक कार्य** (**Judicial functions**). स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ स्थानीय झगड़ोंको भी निपटाती हैं। स्थानीय शासनके अधीन अदालतें क़ानूनके छोटे-छोटे मुकदमोंका भी फ़ैसला करती हैं।

(८) **विविध कार्य** (**Miscellaneous functions**). स्थानीय शासन स्थानीय आवश्यकताओंसे सम्बन्धित अन्य फुटकर कार्य भी करते है। उदाहरणार्थ बांध बनाना, व्यापार या उद्योग, निगम खोलना और अपाहिजों, अनाथों, असहाय बालकों, भिखारियों, कोढ़ियों, भूचाल, बाढ़ आदि प्राकृतिक संकटोंके पीड़ितोंकी देख-भाल तथा इसी प्रकारके अन्य कल्याणकारी कार्य स्थानीय शासन संस्थाओं द्वारा किये जाते हैं।

स्थानीय शासनके कार्योंकी उपर्युक्त विवेचनासे यह स्पष्ट है कि सच्चे लोकतंत्र की स्थापनाके लिए स्थानीय संस्थाएँ अनिवार्य हैं। लोकतंत्रके वास्तविक फल स्थानीय शासनके ही द्वारा जनताके लिए प्राप्य हो सकते हैं। हेरल्ड जे० लास्की ने कहा है, 'हम लोकतंत्रीय शासनसे पूरा लाभ उस समय तक नहीं उठा सकते जब तक कि हम यह न मान लें कि सभी समस्याएँ केन्द्रीय समस्याएँ नहीं हैं और उन समस्याओंको उन्हीं स्थानों पर उन्हीं लोगों द्वारा हल किया जाना चाहिए जो उन समस्याओंसे सबसे अधिक प्रभावित होते हैं।' डी० ताकूविल (De Tocqueville) ने भी कहा है, 'स्वतंत्र राष्ट्रोंकी शक्ति स्थानीय संस्थाएँ होती हैं। एक राष्ट्र स्वतंत्र शासनकी

स्थापना कर सकता है पर स्थानीय संस्थाओंके बिना स्वतंत्रताकी भावना नहीं रह सकती।' आजकल राज्यका अस्तित्व जनताके कल्याणके लिए होता है। सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य लोक-सेवा राज्य हो गया है। उसने कल्याणकारी राज्यका रूप ग्रहण कर लिया है। पर स्वतंत्र स्थानीय संस्थाओंके बिना कल्याणकारी राज्य अर्थहीन है। स्थानीय शासन जनताकी सेवा जन्मसे मृत्यु तक करता है। बच्चे प्रसूति केन्द्रमें जन्म लेते हैं और उस क्षेत्रके स्थानीय शासन द्वारा उनका पालन पोषण होता है। स्थानीय अस्पतालमें चिकित्सा की जाती है। स्थानीय पाठशालाओंमें शिक्षा दी जाती है। व्यक्तिका जीवन ऐसे गांव या नगरमें व्यतीत होता है जिसमें स्थानीय शासन होता है। अन्तमें जब व्यक्ति मरता है तब स्थानीय अधिकारी मृत्युका प्रमाण-पत्र देते हैं। मांके पेटसे लेकर कब्र तक और पलनेसे लेकर कब्रिस्तान तक मनुष्यका जीवन स्थानीय शासन पर निर्भर करता है।

Select Readings

Clarke—*Outlines of Local Government.*
G. Montague Harris—*Comparative Local Government.*
G. D. H. Cole—*Local and Regional Government.*
R. N. Gilchrist—*Principles of Political Science.*
H. Sidgwick—*Elements of Political Science.*
W. A. Robson—*The Development of Local Government.*
M. P. Sharma—*Local Government in India.*
Dr. Gyan Chand—*Local Finance in India.*

१५

लोक-कल्याणकारी राज्य

(Welfare State)

कल्याणकारी राज्यका अर्थ. कल्याणकारी राज्यकी धारणा राजनीति-शास्त्रके लिए नयी है। यह अभी प्रयोगकी अवस्थामें ही है। भावी सरकारें कल्याणकारी राज्यका लक्ष्य प्राप्त करनेके अपने साधनों और तरीक़ोंको बदलती रहेंगी। फिर भी इस धारणाको आधुनिक युगका आविष्कार मानना भूल होगी। राज्यके कार्य-कलापों द्वारा जनताका कल्याण करनेका विचार राजनीतिक विकासकी सभी अवस्थाओंमें पाया जाता है। यह हमेशा अनुभव किया जाता रहा है कि सरकारको कुछ न कुछ कल्याणकारी कार्य करने चाहिएँ। सरकारें भी समय-समय पर यह विश्वास करती रही हैं कि उन्हें लोक-कल्याणके कुछ कार्य करने चाहिएँ। भारतमें राम-राज्यकी धारणा लोक-कल्याणकारी राज्यकी ही धारणा है। यह धारणा दो हजार वर्षसे भी अधिक पुरानी है। राम-राज्यका अर्थ है राज्य (अथवा राजा) द्वारा ऐसी परिस्थितियोंका निर्माण किया जाना जिनमें प्रत्येक व्यक्तिके व्यक्तित्वका स्वतंत्र रूपसे सर्वांगीण विकास हो सके। इसका अर्थ है जनताका कल्याण या प्रत्येक व्यक्तिका कल्याण। इसी प्रकार अन्य देशोंमें भी वर्तमान कल्याणकारी राज्यके विचार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मिलती है। पर अभी कुछ वर्षोंसे ही लोक-कल्याणके कर्त्तव्यों को अधिक स्पष्ट और व्यापक रूप दिया गया है। दिन प्रति दिन यह अनुभव किया जा रहा है कि राज्यको अपने कार्य-क्षेत्रका विस्तार करना चाहिए। ऐसा अनुभव किये जानेके मुख्य कारण लोकतंत्रीय आदर्शोंका विकास और समाजमें वैज्ञानिक औद्योगिक विकास है। लोकतंत्र और औद्योगिक क्रान्तिकी शक्तियोंने सामाजिक सुधारकी आवश्यकता और आन्दोलनका निर्माण किया। धीरे-धीरे यह विचार दृढ़ होता गया कि राज्यको लोक-कल्याणके कार्य करने चाहिएँ। सम्प्रभु राज्य क्रमशः सेवा राज्यका रूप ग्रहण करता गया। इस प्रकार कल्याणकारी राज्यके विचारने एक निश्चित रूप धारण किया।

कल्याणकारी राज्यके अर्थको ठीक प्रकार समझनेके लिए यह आवश्यक है कि पहले लोक-कल्याणका अर्थ ठीक प्रकार समझा जाय। लोक-कल्याणकी व्याख्या आर० डब्ल्यू० कैल्सो[1] ने इस प्रकार की है, 'सामाजिक सेवाका वह लक्ष्य जो एक

---

[1] आर० डब्ल्यू० कैल्सो (R. W. Kelso): लोक-कल्याण विज्ञान (*The Science of Public Welfare*)।

व्यक्तिको और साथ ही अन्य व्यक्तियोंको विचार करने और कार्य करनेकी उच्चतम स्वतंत्रता देता है।' इसी प्रकार एच० डब्ल्यू० ऑडम[1] ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है, 'लोकतंत्रीय सरकारकी वह निश्चित सेवा जो असमान स्थानोंमें लोकतंत्रको प्रवाहपूर्ण बनानेके लिए संगठन, कला, विज्ञान और साधनोंकी व्यवस्था करती है।' यह कहा जा सकता है कि एक राज्य कल्याणकारी राज्य तभी होता है जब वह लोक-कल्याणके एक विस्तृत कार्यक्रमको कार्यान्वित करनेका प्रयत्न करता है।

साथ ही हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि राज्यके प्रायः हर कार्यको लोक-कल्याणकारी कार्य कहा जा सकता है। इस प्रकार हर राज्य कम या अधिक मात्रामें कल्याणकारी राज्य होता है। उदाहरणार्थ नागरिकोंके जीवन स्वतंत्रता और सम्पत्तिकी सुरक्षाके कार्यका भी सार्वजनिक कल्याणके क्षेत्रमें शामिल किया जा सकता है और इस कार्यको एक कल्याणकारी राज्यका कार्य माना जा सकता है। पर यह कार्य एक कल्याणकारी राज्यकी विशेषता नहीं है; यद्यपि हर कल्याणकारी राज्य हमेशा लोगोंके जीवन और उनकी स्वतंत्रता तथा सम्पत्तिकी रक्षा करेगा। इसलिए कल्याणकारी राज्य वह राज्य है जो राज्य द्वारा किये जानेवाले साधारण कार्योंके अतिरिक्त लोक-कल्याणके निम्नलिखित कार्य करता है: सार्वजनिक शिक्षा, स्वास्थ्य बीमा योजनाएँ, बेकारी दूर करना, बुढ़ापेकी पेंशन, और सुरक्षा तथा अन्य सहायता कार्य।

दूसरे शब्दोंमें कल्याणकारी राज्यका अर्थ है राज्यके कार्य-क्षेत्रका विस्तार ताकि (यदि समूची जनताका नहीं तो) अधिक से अधिक लोगोंका कल्याण अवश्य ही हो सके। राज्यके कार्य-क्षेत्रके विस्तारका अर्थ प्रायः यह होता है कि व्यक्तिके निजी कार्य-क्षेत्र पर भी बन्धन लग जाता है। पर कल्याणकारी राज्यका लक्ष्य होता है राज्यके कार्य-क्षेत्रका इस प्रकार विस्तार करना कि व्यक्तिकी स्वतंत्रता पर कोई विशेष बन्धन न लगे। व्यक्तिका अपना कार्य-क्षेत्र हो जिसमें काम करने या कोई निर्णय करनेकी उसे पूरी स्वतंत्रता हो।

साम्यवादी या अधिनायकवादी राज्योंमें सभी कार्य राज्यों द्वारा ही प्रारम्भ किये जाते हैं। व्यक्तिगत नागरिकको कोई काम करने या न करनेकी स्वतंत्रता नहीं रहती। उसे राज्य द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य-क्रमोंमें योग देना पड़ता है। शिक्षा, स्वास्थ्य, लोगोंको काममें लगाने, कारोबार या कृषि आदि जीवनके सभी क्षेत्रोंकी विस्तृत रूपरेखा राज्य द्वारा निश्चित की जाती है और व्यक्तिको उसीके अनुकूल काम करना पड़ता है। सभी क्षेत्रोंके सभी अधिकार राज्यमें ही निहित रहते हैं, अतः राज्य जनताके कल्याण करनेका साधन होनेका दावा करता है। व्यक्तिगत प्रेरणा और निजी उद्योगका कोई स्थान नहीं रहता।

---

[1] एच० डब्ल्यू० ऑडम (H. W. Odum) और डी० डब्ल्यू० विलार्ड (D. W. Willard): लोक कल्याणकी प्रणालियाँ (*Systems of Public Welfare*)।

दूसरी ओर व्यक्तिवाद पर आधारित राज्यका कार्य-क्षेत्र न्यूनतम होता है। अधिकांश कार्य-क्षेत्रोंमें व्यक्तिको पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। फलतः दरिद्र अपंग और साधनहीन लोग दूसरों पर आश्रित रहते हैं और उनके व्यक्तित्वका विकास रुक जाता है। ऐसे राज्योंमें कल्याणकारी कार्य निजी संगठनों अथवा व्यक्तियों द्वारा किये जाते हैं। फलतः कल्याणकारी कार्य गरीबोंके प्रति अमीरोंकी कृपा और उदारता समझे जाते हैं। व्यक्तियों या निजी संगठनों द्वारा किये गये कल्याणकारी राज्य इतने व्यापक और विस्तृत नहीं होते कि वे सभी नागरिकोंकी आवश्यकताओंको पूरा कर सकें।

व्यक्तिवादी राज्य और कल्याणकारी राज्यमें अन्तर. कल्याणकारी राज्यमें परिस्थितियां साम्यवादी और व्यक्तिवादी दोनों राज्योंसे भिन्न होती हैं। कल्याणकारी राज्यमें कल्याणकारी कार्य राज्य द्वारा किये जाते हैं। इन कार्योंमें दया या दान की भावना नहीं रहती है। जनताको जो लाभ पहुँचाया जाता है वह उसका अधिकार होता है। इसके बारेमें कोई अनिश्चितता नहीं होती। कल्याणकारी राज्यों से लाभ उठानेका दावा सभी कर सकते हैं। उदाहरणार्थ इंगलैण्डमें राष्ट्रीय स्वास्थ्य योजना (National Health Scheme) के लाभ सभी व्यक्तियोंको प्राप्य हैं। ये अधिकारकी भांति प्राप्य हैं, दान स्वरूप नहीं। लाभ उठानेवालोंमें दरिद्रताकी भावना नहीं होती। व्यक्तिकी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। उसकी अशक्तता (disability) की देखभाल की जाती है परन्तु इसके लिए उसे अपनी स्वतंत्रताका बलिदान नहीं करना पड़ता।

साम्यवादी राज्य और कल्याणकारी राज्यमें अन्तर. दूसरे शब्दोंमें कल्याणकारी राज्यमें मौलिक स्वतंत्रताओं पर किसी प्रकारका बन्धन नहीं लगाया जाता जैसा कि साम्यवादी राज्योंमें होता है। साम्यवाद या अधिनायकवाद इसके एकदम विपरीत होता है क्योंकि उसमें सभी कार्य राज्य द्वारा ही किये जाते हैं। व्यक्तिको स्वयं निर्णय करनेका अधिकार नहीं होता। स्वतंत्र व्यक्तित्वके लिए साम्यवादी राज्यमें कोई स्थान नहीं रहता। उदाहरणार्थ, कृषिके मामलेमें व्यक्तिको सरकारी फार्मोंमें काम करना पड़ता है और वह भी राज्य द्वारा निर्धारित ढंगसे। व्यक्ति पर राज्यका अधिकार एकदम पूर्ण होता है। दूसरी ओर कल्याणकारी राज्यमें व्यक्तिगत प्रेरणा बहुत अंश तक बनी रहती है। व्यक्तिको सोचने-विचारने, कार्य करने तथा अपनी पसन्दका कार्य चुननेका अधिकार सुरक्षित रहता है। निजी उद्योगका क्षेत्र इतना व्यापक रहता है कि हरएक व्यक्तिको अपने काममें व्यक्तिगत दिलचस्पी रहती है। साथ ही सभीको राज्यके कल्याणकारी कार्योंसे लाभ उठानेका अधिकार होता है।

व्यक्तिवाद और साम्यवादमें समझौता. इस प्रकार कल्याणकारी राज्य परस्पर विरोधी साम्यवाद और व्यक्तिवादमें समझौता है। यह दोनोंके बीचका मार्ग है। पर अभी तक इस मार्गकी निश्चित व्याख्या नहीं की गयी है। कल्याणकारी राज्यकी रूपरेखा विभिन्न देशोंमें विभिन्न हो सकती है। निस्सन्देह कल्याणकारी

राज्य व्यक्तिवाद और साम्यवादके लक्ष्योंके बीच समझौता है। पर यह समझौता अभी बहुत ही अस्पष्ट है। कुछ देशोंमें साम्यवादके तत्वोंका और अन्य देशोंमें व्यक्तिवादके तत्वोंका विशेष महत्व हो सकता है। पर फिर भी इतना तो है ही कि दोनों आदर्शोंकी कुछ-कुछ बातोंको लेकर राजनीतिक क्षेत्रमें नयी दिशाकी ओर एक मार्ग प्रशस्त किया गया है।

कल्याणकारी राज्यकी विशेषताएँ. यद्यपि कल्याणकारी राज्यका नया प्रयोग विकासकी प्रारम्भिक अवस्थामें ही है फिर भी इसकी कुछ विशेषताएँ बतलायी जा सकती हैं।

(१) पहली विशेषता है स्वतंत्र उद्योगका अस्तित्व समाप्त किये बिना सभी व्यक्तियोंके लिए न्यूनतम जीवनस्तरकी गारण्टी। हरएक व्यक्तिको ऐसा काम करनेका अवसर मिलना चाहिए जिससे वह अच्छा जीवन बिता सके। यह न्यूनतम जीवन स्तर इतना तो होना ही चाहिए कि एक परिवार अच्छी प्रकार रह सके। पर सबके लिए न्यूनतम जीवन स्तरकी गारण्टीसे व्यक्तिगत उद्योग और प्रेरणामें बाधा नहीं पड़नी चाहिए। व्यक्तिगत प्रेरणा तथा स्वतंत्रताके लिए पर्याप्त अवसर रहना चाहिए। यही कल्याणकारी राज्य और साम्यवादी प्रणालियोंमें मुख्य अन्तर है। साम्यवादी प्रणालियोंमें न्यूनतम स्तरकी गारण्टी तो रहती है पर व्यक्तिगत प्रेरणा और वरण (selection) की गुंजाइश नहीं होती। कल्याणकारी राज्य और पूंजीवादी प्रणालियोंमें यह अन्तर होता है कि पूंजीवादी प्रणालीमें व्यक्तिगत और निजी प्रेरणाके लिए पूरा अवसर रहता है पर न्यूनतम जीवन स्तरकी गारण्टी नहीं होती।

(२) कल्याणकारी राज्यकी दूसरी विशेषता यह है कि आयके सीमित पुनर्वितरणके लिए ऐसे ऊँचे कर लगाये जाते हैं जो आयके साथ बढ़ते जाते हैं। इस कर प्रणालीसे निजी उद्योगोंकी आमदनियोंके अन्तर कम हो जाते हैं। व्यक्तियोंकी आयका अन्तर हट जानेसे ऐसी आर्थिक समानता कायम हो जाती है जिसमें आमदनियोंमें अन्तर तो कायम रहता है पर यह अन्तर कम और सीमित हो जाता है।

(३) कल्याणकारी राज्यकी एक महत्वपूर्ण विशेषता है, सभी जरूरतमन्द लोगोंको सहायताका आश्वासन। बूढ़े लोग, ऐसे लोग जो काम करने लायक नहीं रह जाते, बीमार, अनाथ साधनहीन विधवाओं, ऐसे लोग जो प्राकृतिक संकटों और दुर्घटनाओंके शिकार हो जाते हैं, तथा इसी प्रकारके अन्य लोगोंको राज्य आवश्यक सहायता देता है। पर यह सहायता दानके रूपमें नहीं होती। यह तो अधिकारकी भाँति दी जाती है।

(४) सार्वजनिक शिक्षा कल्याणकारी राज्यमें आधारभूत आवश्यकता है। सभी नागरिकोंके लिए एक निश्चित स्तर तक शिक्षाकी व्यवस्था राज्यको करनी होती है। कल्याणकारी राज्यकी शिक्षा-प्रणाली साम्यवादी राज्योंकी शिक्षा-प्रणालीसे भिन्न होती है। कल्याणकारी राज्यकी शिक्षा-प्रणाली उदार होती है। जिसमें व्यक्तियोंको

बाध्य नहीं किया जाता और उन्हें अपना मनचाहा ज्ञान प्राप्त करनेका बहुत अवसर रहता है।

(५) सार्वजनिक स्वास्थ्य योजना भी अनिवार्य है। कल्याणकारी राज्यमें राज्यको सभी नागरिकोंके स्वास्थ्यकी चिन्ता करनी होती है। राज्यकी ओरसे सार्वजनिक अस्पताल खोले जाते हैं, डाक्टर नियुक्त किये जाते हैं और बीमारोंको दवाइयां दी जाती हैं। सभी नागरिकोंके स्वास्थ्य और पौष्टिक भोजनकी देखभाल करना राज्यका कर्तव्य हो जाता है।

(६) कल्याणकारी राज्यकी एक दूसरी विशेषता है बेकारोंको काममें लगाना। जो लोग काम करनेके योग्य होते हैं लेकिन उन्हें काम नहीं मिलता ऐसे लोगोंको काम में लगानेकी व्यवस्था राज्यको करनी होती है। कामकी इस व्यवस्थामें और अधिनायकवादी राज्योंकी उस व्यवस्थामें बड़ा अन्तर है जिसमें लोगोंको काम करनेके लिए मजबूर किया जाता है। राज्यकी ओरसे सबको काम करनेका अवसर दिया जाता है और एक व्यक्तिको इस बातका मौका रहता है कि वह अपना मनचाहा काम पसन्द कर ले।

(७) सब व्यक्तियोंके लिए बीमेंकी व्यवस्था एक और अनिवार्य विशेषता है। हर व्यक्तिको दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटनाओंसे बचानेकी व्यवस्था होनी चाहिए। किसी भी समय मृत्यु हो सकती है या कोई भी व्यक्ति काम करनेके अयोग्य हो सकता है। ऐसी हालतके लिए राज्यकी ओरसे बीमेंकी व्यवस्था होती है।

(८) उपेक्षित बच्चोंकी देखभाल करना कल्याणकारी राज्यकी एक और विशेषता है। हर राज्यमें ऐसे बहुत-से उपेक्षित बच्चे होते हैं जो या तो अपराध करने लगते हैं या उचित देखभाल और शिक्षाके अभावके कारण बिगड़ जाते हैं। ऐसे बच्चोंकी देखभाल करना, उनका पालन-पोषण करना और फिर उन्हें काममें लगाना राज्यका कर्तव्य होता है।

(९) कल्याणकारी राज्यके लिए एक व्यापक प्रशासकीय व्यवस्था अनिवार्य है। यदि राज्यका कार्य-क्षेत्र बढ़ता है तो यह आवश्यक है कि राज्यके कार्योंको करनेके लिए अतिरिक्त प्रशासकीय अधिकारीगण हों। बड़ी संख्यामें एजेन्सियों, ब्यूरों, कमीशनों और बोर्डों तथा साधारण और विशेष प्राविधिक योग्यता प्राप्त व्यक्तियोंका होना कल्याणकारी राज्यकी एक और विशेषता है।

(१०) कल्याणकारी राज्यकी अन्तिम विशेषता है लोकतंत्रीय आदर्श और प्रणालियाँ। व्यक्तियोंकी सामाजिक और आर्थिक समानताका लोकतंत्रीय आदर्श कल्याणकारी राज्यका आधार है। साथ ही लोकमतको लागू करनेका लोकतंत्रीय तरीक़ा हमेशा क़ायम रखा जाता है। व्यक्तिकी मौलिक स्वतंत्रताओं और अधिकारों को एक पवित्र स्थान दिया जाता है। और ऐसी परिस्थितियोंका निर्माण किया जाता है कि व्यक्तिके व्यक्तित्वका उच्चतम विकास हो सके।

कल्याणकारी राज्यकी ये कुछ विशेषताएँ हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि

और भी विशेषताएँ हो सकती हैं। पर ये सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। उदाहरणके लिए यातायात और संवहनकी सुन्दर प्रणाली निस्सन्देह अनिवार्य विशेषता है। पर यह अन्य राज्योमें भी पायी जाती है अतः यातायात और संवहन केवल कल्याणकारी राज्यके लिए ही नहीं बल्कि किसी भी आधुनिक राज्यके लिए आवश्यक हैं।

भारत और कल्याणकारी राज्यकी धारणा. कल्याणकारी राज्यकी स्थापना भारतीय संविधानका लक्ष्य है। राज्यकी नीतिके निर्देशक तत्व वर्तमान सरकारकी नीति, कार्यक्रम और कार्यप्रणालीसे भी यही संकेत मिलता है कि इस लक्ष्य तक पहुँचनेके प्रयत्न किये जा रहे है। पर यह लक्ष्य अब भी हमसे बहुत दूर है। न्यूनतम जीवन स्तर सबके लिए अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाया है। लोगोंको काममें लगाने की व्यवस्था इतने बड़े पैमाने पर नही हो पायी है कि समयकी मांग पूरी हो सके। सार्वजनिक शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, बीमा, और अन्य आवश्यकताएँ अभी तक पूरी नहीं हुई हैं। पर सभी क्षेत्रोंमें शुभारम्भ हो गया है। बड़ी निजी आमदनियोंके पुनर्वितरणके लिए और कामके अधिक अवसर पैदा करनेकी दिशामें प्रयत्न किये जा रहे हैं। कांग्रेसके अजमेर अधिवेशनमें २३ जुलाई, १९५४, को समाजवादी समाज और कल्याणकारी राज्यके लक्ष्यकी घोषणा जोरदार शब्दोमें की गयी थी। हमारी पंचवर्षीय योजनाओंका लक्ष्य भी इसी आदर्शको प्राप्त करना है। वह समय दूर नहीं है जब भारतकी जनता कल्याणकारी राज्यका आनन्द प्राप्त करना शुरू कर देगी।